न्यायमञ्जरी

(प्रथमो भागः)

हिन्दीभाषानुवादकः

पण्डित आनन्द झा न्यायाचार्यः

●

सम्पादकः

डा० किशोर नाथ झा

प्रवाचकः

गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठम्

चन्द्रशेखर आजाद पार्क, इलाहाबाद – 2

कामेश्वर-सिंह-दरभङ्गा-संस्कृत-विश्वविद्यालयः

दरभङ्गा

[विश्वविद्यालयानुदानायोगप्रदत्तेन धनेन प्रकाशिता]

प्रकाशकः

कामेश्वर-सिंह-दरभंगा-संस्कृत-विश्वविद्यालयः
कामेश्वरनगरम्
दरभंगा - 846004 (बिहार)

प्रथम-संस्करणम् : पुस्तकानि (५००) २००१ ई०

मूल्यम् - रु० 510/-

अक्षरसंयोजनम्

प्रभा कम्प्यूटर्स
टैगोर टाउन, इलाहाबाद
फोन : (0532) 467213

मुद्रक :

एकेडमी प्रेस
दारागंज, इलाहाबाद - 211006
फोन : (0532) 500970

तृतीयमाह्निकम्

[शब्दप्रमाणलक्षणम्]

उपमानानन्तरं शब्दस्य विभागसूत्रे निर्देशात्तस्य लक्षणं प्रतिपादयितुमाह –

आप्तोपदेशः शब्दः ।१।१।७।

उपदेशः शब्द इत्युच्यमाने पर्यायमात्रोच्चारणादकारके शब्दमात्रे प्रसक्तिरिति प्रत्यक्षसूत्राज् ज्ञानपदस्य स्मृतिजनकस्य व्यवच्छेदार्थं चार्थग्रहणस्य संशय-विपर्ययजनकनिराकरणाय च व्यवसायात्मकाव्यभिचारिपदयोरनुवृत्तिरित्येवमव्यभिचारादि-विशेषणार्थप्रतीतिजनक उपदेशः शब्द इत्युक्तं भवति ।

तदेवं पर्यायमेवोपदेशशब्दं शब्दलक्षणमपेक्षितपूर्वसूत्रोपात्तविशेषणपदं केचिद् व्याचक्षते, आप्तग्रहणं च लक्षणनिश्चयार्थमाहुः। एवं हि ऐतिह्यस्य न प्रमाणान्तरता भविष्यति उपदेशरूपत्वाविशेषादिति ।

अन्ये तु ब्रुवते युक्तमुपदेशपदमेव शब्दलक्षणं युक्तं च तन्निश्चयार्थमाप्तग्रहणं पूर्वसूत्रोपात्तविशेषणपदानुवृत्तिस्तु नोपयुज्यते सामान्यलक्षणानन्तरं विशेषलक्षणप्रक्रमात्।

तृतीय आह्निक

[शब्द प्रमाण का लक्षण]

प्रमाण के विभाग सूत्र में यतः उपमान के अनन्तर शब्द-प्रमाण का निर्देश है, अतः उपमान के पश्चात् उसका लक्षण बतलाने के लिए सूत्रकार महर्षि ने कहा है कि 'आप्तोदेशः शब्दः' अर्थात् आप्तजनों के वाक्य ही होते हैं शब्द प्रमाण। सूत्र में 'उपदेशः शब्दः' अर्थात् उपदेश ही शब्द प्रमाण है – ऐसा कहने पर पर्याय मात्र शब्द का उच्चारण करने से अकारक अर्थात् प्रमात्मक बोध के अजनक शब्द में भी शब्द प्रमाणता की आपत्ति होगी। इसलिए प्रत्यक्ष सूत्र से ज्ञान पद की और स्मृतिजनक के व्यवच्छेदार्थ अर्थग्रहण की, संशयजनक और विपर्ययजनक के निराकरणार्थ व्यवसायात्मक और अव्यभिचारि इन दोनों पदों की भी अनुवृत्ति करनी होगी। तदनुसार अव्यभिचार आदि विशेषणों से युक्त अर्थ की उक्त प्रकार प्रतीति का जनक शब्द है शब्द प्रमाण– यह उक्त होता है। तदनुसार कुछ लोग पूर्वसूत्र में कथित विशेषण पदों की अपेक्षा रखने वाले पर्याय शब्द को ही शब्द प्रमाण का लक्षण कहते हैं। सूत्र में आप्त का उल्लेख लक्षण निर्णय के लिए किया गया है। ऐसा होने पर ऐतिह्य में प्रमाणान्तरता की आपत्ति भी नहीं होगी। क्योंकि उपदेश रूप तो ऐतिह्य में भी अन्य प्रमाण शब्द के साथ रहेगी ही।

अन्य लोग तो इस प्रकार कहते हैं कि केवल उपदेश पद ही शब्द का उचित लक्षण है और उसके निश्चयार्थ ही सूत्र में 'आप्त' पद दिया गया है। पूर्ववर्ती सूत्र से पदों की अनुवृत्ति भी उपयुक्त नहीं अर्थात् उपयोगी नहीं है। क्योंकि सामान्य लक्षण के अनन्तर ही विशेष

सामान्यलक्षणेन च स्मृत्यादिजनकसकलप्रमाणाभासव्युदासे कृते सजातीयप्रत्यक्षादि व्यवच्छेद एव केवलमिदानीं वक्तव्यः। तत्र च पर्यायतापर्याप्तमुपदेशपदमेव बुद्ध्यादिपदवदिति किं विशेषणानुवृत्तिक्लेशेनेति ।

अपर आह अनवलम्बितसामान्यलक्षणानुसरणदैन्यमनध्याहृतप्राक्तनविशेषण-पदमाप्तोपदेशः शब्दलक्षणम् न चाकारकेण शब्दान्तरकारिणा वा स्मृतिजनकेन वा संशयाधायिना वा शब्देन किञ्चिदुपदिश्यते इति। निर्वचनसव्यपेक्षादुपदेशग्रहणादेव तन्निवृत्तिः सिद्धा। मिथ्योपदेशे तु रथ्यापुरुषादिवचसि विपरीतप्रतीतिकारिणि प्रसङ्गो न निवर्त्तत इति तत्प्रतिक्षेपार्थमाप्तग्रहणम्। ऐतिह्ये यथार्थप्रतीतिहेतावाप्तानुमानान्न प्रमाणान्तरत्वमिति। तस्माद्यथाश्रुतमेव सूत्रं शब्दलक्षणार्थं युक्तम् ।

भवत्वेवम् उपदिश्यत इति कोऽर्थः, अभिधानक्रिया क्रियते। केयमभिधानक्रिया नाम? प्रतीतिरिति चेच्चक्षुरादेरपि तत्करणत्वादुपदेशत्वप्रसङ्गः। स्वसादृश्येन प्रतीतिरिति चेद्, बिम्बस्यापि पादाद्यनुमितावुपदेशत्वप्रसङ्गः। शब्दे च तदभावादनुपदेशत्वं स्यात्।

लक्षण का प्रक्रम होता है। प्रमाण के सामान्य लक्षण से ही स्मृति आदि के जनक सभी प्रमाणाभासों का व्युदास कर लिए जाने पर अब केवल सजातीय प्रत्यक्ष आदि का व्युदास ही वक्तव्य रह जाता है। उसके लिए तो बुद्धि आदि पद के समान उपदेश पद ही पर्यायिता बतलाने के लिए पर्याप्त है। फिर उक्त विशेषण पदों की अनुवृत्ति प्रयुक्त क्लेश की क्या आवश्यकता?

अपर लोग इस पर यह कहते हैं कि प्रमाण के सामान्य लक्षण के अवलम्बन कृत दैन्य का स्वीकार न करते हुए और प्राक्तन विशेषणों का अध्याहार भी न करते हुए 'आप्तोपदेश' ही शब्द प्रमाण का लक्षण मान्य है। क्योंकि कारक रहित शब्दान्तरकारी, स्मृति जनक एवं संशयाधायक शब्द के द्वारा किसी वस्तु का उपदेश दिया जाता है। ऐसी परिस्थिति में निर्वचन की अपेक्षा रखने वाले 'उपदेश' शब्द से ही उनकी निवृत्ति हो जायेगी। गली कूचे के लोगों के उन उपदेशों में, जो कि मिथ्या प्रतीति कराते हैं, अतिप्रसङ्ग अन्यथा निवारित नहीं होगा। अतः सूत्र में 'आप्तपद' का ग्रहण किया गया है। यथार्थ प्रतीति के हेतुभूत ऐतिह्य में आप्त के अनुमान प्रयुक्त प्रमाणान्तरता नहीं होगी। अतः शब्द प्रमाण के लक्षणार्थ यथाश्रुत सूत्र ही उचित है।

अस्तु रहे अब शब्द प्रमाण के अन्यादृश लक्षण की बात। 'उपदिश्यते' इस का अर्थ क्या है? क्या यह उस का अर्थ है कि अभिधान क्रिया की जाती है? तो यह अभिधान क्रिया क्या है? यदि उसे प्रतीति माना जाय तब तो चक्षु आदि भी उस के करण होंगे। इसलिए उन्हें भी उपदेशता आपन्न हो उठेगी। यदि प्रतीति मात्र को अभिधान क्रिया न कहकर सादृश्य मूलक प्रतीति को अभिधान क्रिया कहा जायगा तो प्रतिविम्ब में भी पांव आदि की अनुमिति के प्रति उपदेशता आपन्न हो उठेगी। शब्द में उसके अभाव के कारण

शब्दावच्छिन्ना प्रतीतिरिति चेत्। श्रोत्रस्य तज्जनकत्वादुपदेशत्वप्रसङ्गः। शब्दस्य च स्वावच्छेदेन प्रतीतिजनकत्वनिषेधादनुपदेशत्वप्रसङ्गादित्यभिधानक्रियास्वरूपानिश्चयान्न तस्याः करणमुपदेशः। उच्यते, श्रोत्रग्राह्यवस्तुकरणिका तदर्थप्रतीतिरभिधानक्रिया इत्थं लोके व्यवहारात्। उक्तोऽभिहितश्च स एवार्थो लोके व्यपदिश्यते, यस्तु तथाविधप्रतीतिविषयतां प्रतिपन्नः। श्रोत्रग्राह्यस्य वर्णराशेरेवार्थप्रतीतिकरणत्वान्न तु श्रोत्रप्रत्ययाविषयविशेषः स्फोटात्मा शब्दः। श्रोत्रग्रहणे ह्यर्थे शब्दशब्दः प्रसिद्धः वर्णा एव च श्रोत्रग्रहणाः। यतोऽर्थप्रतीतिः स शब्द इति तूच्यमाने धूमादिरपि शब्दः स्यात्। अगृहीतसम्बन्धश्च शब्दः शब्दत्वं जह्यादर्थप्रतिपत्तेरकरणात्।

ननु प्रतीतेः संविदात्मकत्वान्नाभिधानक्रिया नाम काचिदपूर्वा संविदन्या विद्यते तत्करणस्य चोपदेशतायामतिप्रसङ्ग इत्युक्तम्। सत्यम्, सम्विदात्मैव सर्वत्र प्रतीतिः सा चक्षुरादिकरणिका प्रत्यक्षफलं, श्रोत्राग्राह्यकरणिकानुमानफलम्, श्रोत्रग्राह्यकरणिका शब्दफलम्, न हि दृश्यते अनुमीयतेऽभिधीयते इति पर्यायशब्दः। तत्प्रतीतिविशेषजनने

अनुपदेशता हो पड़ेगी। यदि शब्दावच्छिन्न प्रतीति को अभिधान क्रिया कहा जाय तो श्रोत्र को तज्जनकता प्रयुक्त उपदेशत्व आपन्न हो उठेगा। साथ ही शब्द में स्वावच्छिन्न प्रतीतिजनकता न होने के कारण उपदेशता नहीं आयेगी। इस प्रकार अभिधान क्रिया के स्वरूप का निश्चय नहीं हो पाने के कारण उसका करण उपदेश नहीं कहा जा सकता।

अब इसका उत्तर कहा जा रहा है कि श्रोत्रग्राह्यकरणक तदर्थ प्रतीति है अभिधान क्रिया। क्योंकि लोक में ऐसा ही व्यवहार होता है। 'उक्त' 'अभिहित' आदि शब्दों से लोक में वही अर्थ कहा जाता है, जो कि उस प्रकार की प्रतीति की विषयता को प्राप्त करता है। श्रोत्रग्राह्य वर्णराशि ही अर्थप्रतीति का यतः करण होता है। अतः श्रोत्रके द्वारा जिसकी विशेषता प्रतीत होती नहीं, वह स्फोटात्मक शब्द मान्य नहीं ठहराया जा सकता। जो श्रोत्र से गृहीत होता है, उसी अर्थ में समाज में शब्द-शब्द का व्यवहार होता पाया जाता है। श्रोत्र के द्वारा वर्ण ही गृहीत होते हैं, जिससे अर्थ की प्रतीति होती है वह है शब्द, ऐसा कहने पर तो धूम आदि अनुमापक भी शब्द कहलाने लगेगा और अगृहीत सम्बन्ध शब्द भी शब्दत्व का त्याग कर बैठेगा। क्योंकि वह तो अर्थ प्रतीति का जनक होगा नहीं। इस पर प्रश्न यह उठाया जाता है कि प्रतीति सम्विदात्मक होने के कारण अभिधान क्रिया नाम की सम्वित् से अन्य कोई अपूर्व वस्तु नहीं है। उस के करण को उपदेश मानने पर अतिप्रसङ्ग होगा – यह कहा जा चुका है। इसका उत्तर यह है कि – सत्य है कि सर्वत्र प्रतीति सम्विदात्मक ही होती है। वह चक्षु आदि इन्द्रियकरणक होने पर प्रत्यक्ष का फल श्रोत्राग्राह्यकरणक होने पर अनुमान का फल, और श्रोत्रग्राह्य करणक होने पर शब्द प्रमाण का फल मान्य है। 'दृश्यते' अर्थात् देखा जा रहा है, 'अनुमीयते' अर्थात् अनुमान किया जा रहा है और 'अभिधीयते' अर्थात् कहा जा रहा है, इन्हें पर्याय शब्द नहीं माना जा

च शब्दस्योपदेशत्वमुच्यते विवक्षादौ तु तस्य लिङ्गत्वमेवेत्यलं प्रसंगेन ।

आप्तो भाष्यकृता व्याख्यातः। आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्तः उपदेष्टा चेति ।

धर्म इत्युपदेष्टव्यः कश्चिदर्थो विवक्षितः ।
साक्षात्करणमेतस्य यथार्थ उपलम्भनम् ।।

न तु प्रत्यक्षेणैव ग्रहणमिति नियमः, अनुमानादिनिश्चितार्थोपदेशिनोऽप्याप्तत्वानपायात्।

चिख्यापयिषया युक्त इत्युक्ता वीतरागता ।
उपदेष्टेत्यनेनोक्तं प्रतिपादनकौशलम् ।।

वीतरागोऽपि मूकादिरुपदेष्टुमशक्तः किं कुर्यात्। वक्तुं शक्तोऽपि साक्षात्कृतधर्माप्यवीतरागो न वक्ति तूष्णीमास्त इति ।

तस्य च प्रतिपाद्येऽर्थे वीतरागत्वमिष्यते ।
सर्वथा वीतरागस्तु पुरुषः कुत्र लभ्यते ।।
ऋष्यार्यम्लेच्छसामान्यं वक्तव्यं चाप्तलक्षणम् ।
एवं हि लोकेऽप्याप्तोक्त्या व्यवहारो न नङ्क्ष्यति ।।

सकता। शब्द के द्वारा अपने अर्थ की प्रतीति कराने पर शब्द में उपदेशता कही जाती है। और लिङ्ग रूप में उसकी विवक्षा होने पर उसमें लिङ्गता ही होती है। इस विचार को अब इतना ही रखा जाय, अधिक व्यर्थ है।

सूत्रगत 'आप्त' शब्द की व्याख्या भाष्यकार वात्स्यायन के द्वारा इस प्रकार की गयी है कि – आप्त वह कहलाता है, जो कि साक्षात्कृतधर्मा अर्थात् प्रकृति परिस्थिति का यथार्थज्ञाता होता हुआ उस सही रूप से ज्ञात अर्थ के ख्यापन की इच्छा से प्रेरित होकर उपदेष्टा होता है अर्थात् उस अर्थ का उपदेश करता है। 'धर्म' पद से प्रकृत में कोई उपदेष्टव्य अर्थ विवक्षित है और 'साक्षात्कार' पद से उस अर्थ का उपलम्भन अर्थात् उपलब्धि, फलतः ज्ञान विवक्षित है। आप्त को प्रत्यक्ष प्रमाण से ही अर्थ का ज्ञान होता है– यह नियम नहीं है। क्योंकि अनुमान आदि से ज्ञात अर्थों का उपदेश करने वाले भी आप्तत्व से वञ्चित नहीं होते है। भाष्योक्त आप्त के लक्षण में 'चिख्यापयिषया युक्तः' अर्थात् ख्यापन करने की इच्छा से युक्त होना कहा गया है, इस का अभिप्रेत अर्थ है वीतरागता। अर्थात् छिपा रखने के लिए अनुकूल राग का अभाव। लक्षण में 'उपदेष्टा' कहकर वक्ता का अपेक्षित उपपादन कौशल बतलाया गया है। उपदेश करने में असमर्थ गूंगा व्यक्ति वीतराग होकर भी क्या करेगा? और बोलने में समर्थ तथा उपदेश्य वस्तु का यथार्थ ज्ञाता होने पर भी जो वीतराग नहीं होगा अर्थात् उसे छिपाने की प्रवृत्ति से हीन नहीं होगा, वह बोलेगा नहीं चुप रह जायेगा। ऐसा ही होता है। यहाँ वीतरागता का अभिप्रेत अर्थ है उपदेश्य अर्थ के प्रति वीतरागता। सर्वथा वीतराग व्यक्ति तो कहाँ पाया जाता है? ऋषि, आर्य और म्लेच्छ सर्वसाधरण आप्तत्व का प्रतिपादन यहाँ करना है। क्योंकि ऐसा करने पर

येऽप्याप्तिं दोषक्षयमाचक्षते तैरपि दोषक्षयः प्रतिपाद्यार्थेष्वेव वर्णनीयोऽन्यथा लोके दृश्यमानस्याप्तोक्तिनिबन्धस्य व्यवहारस्य निह्नवः स्यात्। अथ वा वेदप्रामाण्यसिद्ध्यर्थत्वाच्छास्त्रस्य तत्प्रणेतुराप्तस्येश्वरस्य यथाश्रुतमेवेदं लक्षणं साक्षात्कृतधर्मैव धर्मस्येश्वरप्रत्यक्षगोचरत्वात्। चिख्यापयिषया प्रयुक्त इति कारुणिक एव भगवानिति वक्ष्यते। उपदेष्टा च वेदाद्यागमानां तत्प्रणीतत्वस्य समर्थयिष्यमाणत्वादिति।

आह आस्तां तावदेतद् इदं तु चिन्त्यतां किमर्थमिदं पुनः शब्दस्य पृथग्लक्षणमुपवर्ण्यते –

[शब्दस्यानुमानान्तर्भावाक्षेपः]

शब्दस्य खलु पश्यामो नानुमानाद्विभिन्नताम् ।
अतस्तल्लक्षणाक्षेपान्न वाच्यं लक्षणान्तरम् ।।
परोक्षविषयत्वं हि तुल्यं तावद् द्वयोरपि ।
सामान्यविषयत्वं च सम्बन्धापेक्षणाद् द्वयोः ।।
अगृहीते तु सम्बन्धे नैकस्यापि प्रवर्त्तनम् ।

आप्तोक्तिमूलक लोक व्यवहार नष्ट नहीं होगा। जो लोग 'आप्त' शब्द घटक 'आप्ति' का अर्थ दोषक्षय करते हैं, उन्हें भी वह दोषक्षय प्रतिपाद्य विषय रूप अर्थ में कहना होगा। अन्यथा समाज में चलने वाले आप्तोक्तिमूलक व्यवहार का निह्नव अर्थात् अपलाप हो उठेगा। अथवा शास्त्र है वेदगत प्रामण्य की सिद्धि के लिए। वेद प्रणेता ईश्वर के लिए तो यथाश्रुत ही लक्षण ठीक रह जाता है। क्योंकि वे तो साक्षात्कृतधर्मा ही हैं। यतः धर्म अर्थात् पाप पुण्यात्मक अदृष्ट भी ईश्वर के प्रत्यक्ष का गोचर अर्थात् विषय होता ही है। 'चिख्यापयिषया प्रयुक्तः' कहकर यह बतलाया गया है कि भगवान् परम करुणिक हैं। उनकी कारुणिकता के सम्बन्ध में आगे चलकर कहा जायेगा। वे परमेश्वर वेद आदि शास्त्रों के उपदेष्टा हैं। क्योंकि वेदादि आगमों की ईश्वर प्रणीतता का समर्थन आगे चलकर किया जाने वाला है।

एतदनन्तर शब्द के प्रामाण्य पर आक्षेप करने वाले इस प्रकार कहते हैं कि रहे यह ऐसा। किन्तु विचार यह किया जाय कि शब्द प्रमाण का अलग लक्षण क्यों वर्णित हो रहा है?

[शब्द को अनुमान में ही अन्तर्भाव का आक्षेप]

शब्द प्रमाण की अनुमान से कोई विशेषता नहीं देखी जा रही है। हम लोग दोनों में कोई विशेषता नहीं देखते हैं। अतः शब्द प्रमाण के लक्ष्य पर आक्षेप प्राप्त होने के कारण अनुमान के अतिरिक्त शब्द प्रमाण का लक्षण वक्तव्य नहीं। अनुमान और शब्द दोनों में परोक्षविषयता अर्थात् परोक्ष अर्थ की ही प्रतिपादकता समान रूप से विद्यमान है। दोनों का समान विषय वाला होना – यह बतलाता है कि दोनों में घनिष्ठता है। वह घनिष्ठता है स्वार्थ बोधन में दोनों को सम्बन्ध की अपेक्षा। सम्बन्ध का ज्ञान न होने पर दोनों के अन्दर

सम्बन्धश्च विशेषाणामानन्त्याददतिदुर्गमः ।।
यथा प्रत्यक्षतो धूमं दृष्ट्वाग्निरनुमीयते ।
तथैव शब्दमाकर्ण्य तदर्थोऽप्यवगम्यते ।।
अन्वयव्यतिरेकौ च भवतोऽत्रापि लिङ्गवत् ।
यो यत्र दृश्यते शब्दः स तस्यार्थस्य वाचकः ।।
पक्षधर्मत्वमप्यस्ति शब्द एव यतोऽर्थवान् ।
प्रकल्पयिष्यते पक्षो धूमो दहनवानिव ।।
तत्र धूमत्वसामान्यं तद्वदत्रापि वक्ष्यते ।
एवं विषयसामग्रीसाम्यादेकत्वनिश्चये ।।
न विलक्षणतामात्रं किञ्चिदन्यत्वकारणम् ।
पूर्ववर्णक्रमोद्भूतसंस्कारसहकारिता ।।
पुरुषापेक्षवृत्तित्वं विवक्षानुसृतिक्रमः ।
इत्यादिना विशेषेण न प्रमाणान्तरं भवेत् ।।
कार्यकारणधर्मादिविशेषोऽत्रापि नास्ति किम् ।
यथेष्टविनियोज्यत्वमपि नान्यत्वकारणम् ।
हस्तसंज्ञादिलिङ्गेऽपि तथाभावस्य दर्शनात् ।।
दृष्टान्तनिरपेक्षत्वमभ्यस्ते विषये समम् ।

किसी की भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है और विशेषणों के आनन्त्य से संबन्ध का ज्ञान अत्यन्त कठिन है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण से धूम को देखकर उस से अग्नि का अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण से शब्द को सुनकर शब्द का अर्थ समझा जाता है। अनुमान के समान अन्वय और व्यतिरेक यहाँ भी होता है। जो शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त होता पाया जाता है, वह उस अर्थ का वाचक होता है। पक्षधर्मता भी यहाँ है, क्योंकि शब्द ही अर्थवान् होता है। अनुमान स्थल में भी धूम पक्ष अग्नियुक्त पर्वत की तरह होता है, इस प्रकार की कल्पना की जायेगी। वहाँ धूमत्व सामान्य होता है उसी प्रकार यहाँ भी सामान्य आगे कहा जायेगा। इस प्रकार विषय और सामग्री की समानता के कारण अनुमान और शब्द दोनों की एकता का निश्चय होने पर अल्प विलक्षणता प्रयुक्त दोनों को अन्य नहीं माना जा सकता है। पूर्व वर्ण के क्रम से उद्भूत संस्कार शब्द प्रमाण का सहकारी होता है। वृत्ति अर्थात् पद पदार्थ का सम्बन्ध व्यक्ति की अपेक्षा करता है और विवक्षा के अनुसरण का क्रम होता है इत्यादि विशेषता के कारण शब्द प्रमाणान्तर नहीं हो सकता है। कार्यकारण और धर्म आदि विशेष क्या अनुमान स्थल में भी होते नहीं है। यथेष्ट विनियोग योग्यता भी भिन्नता का कारण नहीं है। हाथ के इसारे आदि लिङ्ग में भी तो यथेष्ट विनियोग योग्यता होती ही है। विषय के अभ्यस्त होने पर दृष्टान्त की अपेक्षा का

अनभ्यस्ते तु सम्बन्धस्मृतिसापेक्षता द्वयोः ।।
अनेकप्रतिभोत्पत्तिहेतुत्वमपि विद्यते ।
अस्पष्टलिङ्गे कस्मिंश्चिदश्व इत्यादिशब्दवत् ।।
स्फुटार्थानवसायाश्च प्रमाणाभासतो यथा ।
लिङ्गे तथैव शब्देऽपि नानार्थभ्रमकारिणि ।।
अपि च प्रतिभामात्रे शब्दाज्जातेऽपि कुत्रचित् ।
आप्तवादत्वलिङ्गेन जन्यते निश्चिता मतिः ।।
अत एव हि मन्यन्ते शब्दस्यापि विपश्चितः ।
आप्तवादाविसम्वादसामान्यादनुमानताम् ।।
किं च शब्दो विवक्षायामेव प्रामाण्यमश्नुते ।
न बाह्ये व्यभिचारित्वात्तस्यां चैतस्य लिङ्गता ।।

[शब्दस्यानुमानात् पार्थक्यम्]

तत्राभिधीयते – द्विविधः शब्दः, पदात्मा वाक्यात्मा चेति। तत्र वाक्यमनवगतसम्बन्धमेव वाक्यार्थमवगमयितुमलम्। अभिनवविरचितश्लोकश्रवणे सति पदसंस्कृतमतीनां तदर्थावगमनदर्शनात्। अतः सम्बन्धाधिगममूलवृत्तिनानुमानेन तस्य कथं साम्यसम्भावना। पदस्य तु सम्बन्धाधिगमसापेक्षत्वे सत्यपि सामग्रीभेदाद्

अभाव दोनों जगह समान ही होता है। विषय के अनभ्यस्त होने पर सम्बन्ध स्मृति की अपेक्षा दोनों को होती है। लिङ्ग की अस्पष्टता स्थल में भी 'अश्वः' इत्यादि शब्द प्रयोग स्थल के समान अनेक प्रतिभा में अर्थात् पूर्ण प्रतिभा में उत्पत्ति के प्रति हेतुता होती है। नाना अर्थों के भ्रम कराने वाले लिङ्ग और शब्द दोनों स्थलों में प्रमाणाभास से स्फुट अर्थ का निश्चय न होना समान है। और यह भी कि शब्द से प्रतिभा मात्र के होने पर भी निश्चयात्मक बोध आप्तवादत्व अर्थात् आप्तवाक्यत्व लिङ्ग से ही होता है। इसलिए विद्वान् लोग शब्द को भी आप्तवाद और अविसम्बाद की समानता के कारण अनुमान मानते हैं। और यह भी कि शब्द विवक्षा के होने पर ही प्रामाण्य को प्राप्त करता है। विवक्षा-बाह्य अर्थात् अविवक्षित अर्थ में नहीं होती है, क्योंकि वहाँ वह व्यभिचारी हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में यह मानना होगा कि विवक्षा के प्रति ही शब्द की लिङ्गता होती है।

अनुमान से शब्द की भिन्नता

इस पर अब कहा जा रहा है – शब्द दो प्रकार का है पदात्मक और वाक्यात्मक। उन दोनों के अन्दर वाक्य सम्बन्ध ज्ञान के बिना ही वाक्यार्थ को समझाने में समर्थ होता है। क्योंकि कवि रचित अभिनव श्लोक के श्रवण स्थल में पदसंस्कृतबुद्धि अर्थात् पदपदार्थज्ञानसम्पन्न जनों को उस श्लोक का अर्थावगम होता पाया जाता है। अतः व्याप्ति सम्बन्ध की ज्ञान मूलकता का स्वभाव रखने वाले अनुमान की समानता शब्द में कैसे

विषयभेदाच्चानुमानाद् भिन्नत्वम्। विषयस्तावद्विसदृश एव पदलिङ्गयोः। तद्वन्मात्रं पदस्यार्थ इति च स्थापयिष्यते। अनुमानं तु वाक्यार्थविषयम् अत्राग्निरग्निमान् पर्वत इति ततः प्रतिपत्तेः। उक्तं च तत्र धर्मविशिष्टो धर्मी साध्य इति ।

ननु पदान्यपि वाक्यार्थवृत्तीनि सन्ति गोमानौपगवः कुम्भकार इति। सत्यम्, किंतु तेष्वपि निराकाङ्क्षप्रत्ययानुत्पादात्, गोमान् क इत्याकाङ्क्षाया अनिवृत्तेः ।

अपि च पर्वतादिविशेष्यप्रतिपत्तिपूर्विका पावकादिविशेषणावगतिर्लिङ्गादुदेति पदात्तु विशेषणावगतिपूर्विका विशेष्यावगतिरिति विषयभेदः ।

ननूक्तं यथानुमाने धर्मविशिष्टो धर्मी साध्य एवमिहार्थविशिष्टः शब्दः साध्यो भवतु। मैवम्, शब्दस्य हेतुत्वात्। न च हेतुरेव पक्षो भवितुमर्हति ।

ननु यथा अग्निमानयं धूमो धूमत्त्वान्महानसधूमवदित्युक्तं 'सा देशस्याग्नियुक्तस्य धूमस्यान्यैश्च कल्पिता' इति। एवं गोशब्द एवार्थवत्त्वेन साध्यतां गोशब्दत्वादित्यादि सामान्यं च हेतूक्रियतामिति। एतदपि दुर्घटम्, शब्दस्य धर्मिणः किमर्थविशिष्टत्वं वा

सम्भावित ठहराई जा सकती? पद को स्वार्थ बोधन में सम्बन्ध ज्ञान की अपेक्षा होने पर भी सामग्री भेद और विषय भेद प्रयुक्त भी शब्द को अनुमान से भिन्नता होगी। पद और लिङ्ग के विषय विसदृश अर्थात् असमान होते ही हैं। पद का अर्थ तद्वान् मात्र अर्थात् जातिमान् मात्र फलतः व्यक्ति ही होता है, यह आगे चलकर स्थापित किया जाने वाला है। अनुमान वाक्यार्थ विषयक होगा, जैसे 'यहाँ अग्नि है' अथवा 'पर्वत अग्निमान्' है, इस प्रकार ही अनुमान प्रमाण से प्रतिपत्ति होती है। कहा भी गया है कि वहाँ अर्थात् अनुमान स्थल में धर्मविशिष्ट धर्मी साधित होता है अर्थात् सिद्ध किया जाता है। इस पर प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि पद भी तो वाक्यार्थ तक को समझाने वाले पाये जाते हैं? जैसे 'गोमान्' 'औपगवः' 'कुम्भकारः' इत्यादि। तो उत्तर यह है कि कथन सही है, किन्तु निराकांक्ष प्रतिपत्ति वहाँ भी नहीं होती है। क्योंकि कौन गोमान अर्थात् गायवाला? यह आकांक्षा वहाँ भी रहती ही है, इसकी निवृत्ति होती नहीं है। और यह भी कि लिङ्ग से अनुमान स्थल में अग्नि आदि विशेषण की अवगति पर्वत आदि विशेष्य की प्रतिपत्तिपूर्वक होती है और शब्दस्थल में उसके विपरीत विशेष्य पदार्थ की प्रतीति विशेषणावगम पूर्वक ही अर्थात् पहले विशषण को समझ लेने के अनन्तर ही होती है। इस प्रकार अनुमान और शब्द इन दोनों में विषय का भेद होता है।

इस पर यह कहा जा सकता है कि 'यह धूम अग्निमान् है क्योंकि इसमें धूमत्व है महानसीय धूम के समान' यह कहा गया है। जैसा कि श्लोकवार्तिक के अनुमान ग्रन्थ में भी कहा गया है कि 'वह अग्निमत्ता अग्नियुक्त स्थान में या धूम में अन्य हेतु के द्वारा कल्पित होती है'। उसी प्रकार गो शब्द ही अर्थयुक्त रूप में सिद्ध किया जाय गोशब्दत्व हेतु के द्वारा। फलितार्थ यह कि सामान्य को हेतु बना लिया जाय। परन्तु यह भी दुर्घट है।

साध्यते प्रत्यायनशक्तिविशिष्टत्वं वा अर्थप्रतीतिविशिष्टत्वं वा। न तावदर्थविशिष्टत्वं साध्यं शैलज्वलनयोरिव शब्दार्थयोः धर्मधर्मिभावाभावात् ।

अथार्थविषयत्वाच्छब्दस्यार्थविशिष्टतेत्युच्यते, तदप्ययुक्तम्, तत्प्रतीतिजननमन्तरेण तद्विषयत्वानुपपत्तेः। प्रतीतौ तु सिद्धायां किं तद्विषयत्वद्वारकेण तद्धर्मत्वेन। यदि तु तद्विषयत्वमूलं तद्धर्मित्वपूर्विकार्थप्रतीतिरर्थप्रतीतिमूलं तद्विषयत्वं तदितरेतराश्रयम्। तस्मान्नार्थविशिष्टः शब्दः साध्यः, नाप्यर्थप्रत्यायनशक्तिविशिष्टः तदर्थितया शब्दप्रयोगाभावात् ।

न शक्तिसिद्धये शब्दः कथ्यते श्रूयतेऽपि वा ।
अर्थगत्यर्थमेवामुं शृण्वन्ति च वदन्ति च ।।

नाप्यर्थप्रतीतिविशिष्टः शब्दः पक्षतामनुभवितुमर्हति सिद्ध्यसिद्धिविकल्पानुपपत्तेः।

असिद्ध्यापि तद्वत्त्वं शब्दस्यार्थधिया कथम् ।
सिद्धायां तत्प्रतीतौ वा किमन्यदनुमीयते ।।

ज्वलनादावपि तुल्यो विकल्प इति चेद् न हि तत्राग्निर्धूमेन जन्यते अपि तु गम्यते।

क्योंकि शब्द स्वरूप धर्मी में क्या अर्थविशिष्टता सिद्ध की जा रही है या प्रत्यायनशक्तिविशिष्टता, या अर्थप्रतीतिविशिष्टता? अर्थविशिष्टता तो सिद्ध नहीं की जा सकती है। क्योंकि शब्द और अर्थ के बीच पर्वत और अग्नि की तरह धर्मधर्मिभाव नहीं है। यदि यह कहा जाय कि शब्द अर्थविषयक होता है, इसलिए शब्द में अर्थविशिष्टता कही जा रही है, तो वह भी युक्त नहीं होगा। क्योंकि तत्प्रतीतिजनन के बिना तद्विषयत्व अनुपपन्न है। और जब प्रतीति सिद्ध ही हो जाय तो तद्विषयत्व द्वारक तद्धर्मत्व से क्या प्रयोजन? यदि तद्विषयत्व का मूल हो तद्धर्मित्वपूर्वक अर्थ प्रतीति और अर्थप्रतीति का मूल तद्विषयत्व तो इतरेतराश्रय अर्थात् अन्योन्याश्रय दोष आपन्न हो उठेगा। इसलिए शब्द अर्थविशिष्ट रूप में साध्य अर्थात् सिद्धि का विषय नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार शब्द अर्थ प्रत्यायन विशिष्ट रूप में भी साध्य नहीं कहा जा सकता। क्योंकि तादृश प्रयोजन युक्त रूप में शब्द का प्रयोग नहीं होता। सारांश यह कि शक्ति की सिद्धि के लिए शब्द न तो कहा जाता है और न सुना जाता है। लोग अर्थ के ज्ञान के लिए शब्द को सुनते भी हैं और बोलते भी है।

अर्थ प्रतीति विशिष्ट शब्द भी पक्षता का अनुभव नहीं कर सकता है अर्थात् उसमें भी पक्षता नहीं कही जा सकती है। क्योंकि सिद्धि और असिद्धि दोनों का विकल्प अनुपपन्न है अथ त् उस रूप में विकल्प उपस्थित करने पर कोई भी पक्ष उपपन्न नहीं ठहराया जा सकता है। असिद्ध अर्थधी को लेकर शब्द की तद्वत्ता कैसे कही जा सकती है। और उस अर्थ की प्रतीति हो जाने पर उससे भिन्न और क्या अनुमान किया जायेगा? इस पर यदि यह कहा जाय कि इस प्रकार का विकल्प तो अग्नि आदि साध्यक अनुमान स्थल में भी उठाया जा सकता है, तो उसके सम्बन्ध में कहना यह है कि वहाँ अग्नि धूम से उत्पन्न नहीं होता है

इयं त्वर्थप्रतीतिर्जन्यते शब्देनेत्यस्यामेव सिद्धासिद्धत्वविकल्पावसरः। तस्मात् त्रिधापि न शब्दस्य पक्षत्वम् ।

अपि च गोशब्दे धर्मिणि गोत्वादिसामान्यात्मकस्य हेतोर्ग्रहणं ततो व्याप्तिस्मरणं ततः परामर्शः ततोऽर्थप्रतिपत्तिरिति कालद्राघीयस्त्वाद्धर्मी तिरोहितो भवेद् न पर्वतवदवस्थितिस्तस्यापि तूच्चरितप्रध्वसित्वं शब्दस्य। न च शब्दमर्थवत्त्वेन लोकः प्रतिपद्यते किं तु शब्दात्पृथगेवार्थमिति न सर्वथा शब्दः पक्षः। अतो धर्मविशिष्टस्य धर्मिणः साध्यस्येहासम्भवाच्छब्दलिङ्गयोर्महान् विषयभेदः ।

सामग्रीभेदः खल्वपि पक्षधर्मान्वियादिरूपसापेक्षमनुमानं व्याख्यातं शब्दे तु न तानि सन्ति रूपाणि। तथा च शब्दस्य पक्षत्वप्रतिक्षेपान्न तद्धर्मतया गोत्वादिसामान्यस्य लिङ्गता। न चार्थस्य धर्मित्वं सिद्ध्यसिद्धिविकल्पानुपपत्तेः। न च तद्धर्मत्वं शब्दस्य शक्यते वक्तुं तत्र वृत्त्यभावात्। प्रतीतिजनकत्वेन तद्धर्मतायामुच्यमानायां पूर्ववदितरेतराश्रयम्।

किन्तु उससे अवगत किया जाता है। यहाँ तो यह अर्थ प्रतीति शब्द से उत्पन्न होती है। इस लिए सिद्धता और असिद्धता के विकल्प का अवसर यहाँ नहीं है। वह अनुपपन्न है। इसलिए उक्त तीनों प्रकारों के अन्दर किसी प्रकार से भी शब्द पक्षता नहीं होती।

और यह भी कि गोशब्द स्वरूप धर्मी में गोत्व आदि सामान्यात्मक हेतु का पहले ग्रहण होगा। तदनन्तर व्याप्ति का स्मरण, तब परामर्श, तब अर्थ की प्रतीति होगी। इसके अनुसार अधिक काल लग जाने के कारण धर्मी तिरोहित हो उठेगा, अर्थात् ज्ञान का अविषय हो उठेगा। इसीलिए उसकी अवस्थिति पर्वत की तरह नहीं होगी। क्योंकि उस शब्द का भी तो स्वभाव यही है कि वह उत्पन्न प्रध्वंसी होता है। और जनता शब्द को अर्थवान् रूप में कभी समझती नहीं है। किन्तु अर्थ को अर्थ से अलग अर्थात् असम्पृक्त रूप में ही समझती है। इसलिए सर्वथा शब्द पक्ष नहीं बनाया जा सकता है। अतः धर्मविशिष्ट धर्मी स्वरूप साध्य का यहाँ अभाव होने के कारण शब्द और लिङ्ग में महान् भेद का विषय है अर्थात् परिस्थितिगत भेद है। इसी प्रकार सामग्री का भी महान् भेद है। अनुमान में पक्षधर्म और अन्वय अर्थात् व्याप्ति आदि सापेक्ष होता है, यह कहा जा चुका है। शब्द में वे सब अपेक्षित नहीं होते हैं। अभिप्राय यह कि अनुमान स्थल की तरह शाब्दबोध स्थल में लिङ्ग में 'पक्षसत्त्व' आदि पाँच रूपों की तरह शब्द में उन 'पक्षसत्त्व' आदि पाँच रूपों की अपेक्षा नहीं होती है। ये सारी बातें कथित कल्प है। ऐसी परिस्थिति में शब्द में पक्षता के प्रतिक्षेप के कारण शब्द धर्म के रूप में गोत्व आदि को लिङ्गता नहीं हो सकती है। और अर्थ को भी धर्मी नहीं बनाया जा सकता। क्योंकि सिद्धि और असिद्धि के विकल्प को उठाने पर अनुपपत्ति प्राप्त होती है। शब्द को अर्थ का धर्म नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि उस में उसका सम्बन्ध नहीं है। प्रतीति जनक होने के कारण यदि शब्द को अर्थ का धर्म ठहराया जाय तो पहले की तरह अन्योन्याश्रय दोष होगा। क्योंकि पक्ष

पक्षधर्मादिबलेन प्रतीतिः प्रतीतौ च सत्यां पक्षधर्मादिरूपलाभः ।

अपि च यद्यर्थधर्मतया शब्दस्य पक्षधर्मत्वं भवेत्तदानवगतधूमाग्निसम्बन्धोऽपि यथा धूमस्य पर्वतधर्मतां गृह्णात्येव तथानवगतशब्दार्थसम्बन्धोऽपि अर्थधर्मतां शब्दस्य गृह्णीयान्न च गृह्णातीत्यतो नास्ति पक्षधर्मत्वं शब्दस्येति। अन्वयव्यतिरेकावपि तस्य दुरुपपादौ देशे काले च शब्दार्थयोरनुगमाभावात्। न हि यत्र देशे शब्दः तत्रार्थः। यथोक्तं श्रोत्रियैः, मुखे हि शब्दमुपलभामहे भूमावर्थमिति। वयं तु कर्णाकाशे शब्दमुपलभामहे इत्यास्तामेतत्। नापि यत्र काले शब्दः तत्रार्थः। तदानीं युधिष्ठिरार्थाभावेऽपि तद्बुद्ध्योरन्वयो ग्रहीष्यत इत्युच्यते। तर्हि वक्तव्यम् किमर्थं बुद्धावुत्पन्नायामन्वयो गृह्यते अनुत्पन्नायां वा? अनुत्पन्नायां तावत्स्वरूपासत्त्वात्कुतोऽन्वयग्रहणम्। उत्पन्नायां त्वर्थबुद्धौ किमन्वयग्रहणेनेति नैष्फल्यम्। तत्पूर्वकत्वे तु पूर्ववदितरेतराश्रयम्। एतेन व्यतिरेकग्रहणमपि व्याख्यातम्।

धर्मता होने के कारण प्रतीति होगी और प्रतीति होने पर पक्षधर्मता आदि रूप का लाभ होगा। और यह भी कि अर्थ का धर्म होने के कारण यदि शब्द को पक्षधर्मता हो तो जिस प्रकार जिस व्यक्ति को धूम और अग्नि के बीच विद्यमान व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध का ज्ञान नहीं है, वह भी धूम की पक्षधर्मता का ज्ञान करता ही है, उस प्रकार जिस व्यक्ति को शब्द और अर्थ के बीच होने वाले सम्बन्ध का ज्ञान नहीं रहेगा वह भी शब्द में अर्थधर्मता का ज्ञान करने लगेगा। किन्तु वह उसका ग्रहण करता नहीं है। अतः शब्द को पक्षधर्मता नहीं है। शब्द तथा अर्थ के बीच अन्वय और व्यतिरेक भी दुरुपपाद हैं। क्योंकि देश एवं काल में शब्द तथा अर्थ का अनुगम नहीं है। शब्द जिस देश में रहता है अर्थ उस देश में नहीं रहता है, जैसा कि मीमांसकों ने कहा है कि शब्द को मुँह में पाता हूँ तो अर्थ को भूमि पर। हम लोग तो कर्णाकाश में शब्द का उपलम्भ करते हैं – यह बात अलग है, रहे ऐसा। इसी प्रकार जिस काल में शब्द रहता है उस काल में अर्थ रहता है – यह बात भी नहीं है। यदि यह कहा जाय कि उस समय अर्थात् जिस समय शब्द रहता है, युधिष्ठिर आदि अर्थ के अभाव होने पर भी दोनों के दो बुद्धियों के बीच सम्बन्ध गृहीत होगा ही, तो तब यह बतलाना चाहिए कि क्या बुद्धि के उत्पन्न होने पर या अनुत्पन्न होते हुए भी अन्वय गृहीत होता है: बुद्धि के अनुत्पाद की परिस्थिति में उसका स्वरूप ही न होने के कारण कैसे अन्वय का अर्थात् सम्बन्ध का ग्रहण हो पायेगा? और शब्द के अर्थ की बुद्धि हो जाने पर अन्वय के ग्रहण से क्या लाभ? इसलिए अन्वय का ग्रहण निष्फल हो उठेगा। शब्द के अर्थ की बुद्धि अन्वय ग्रहण पूर्वक होती है। ऐसा मानने पर अन्योन्याश्रयदोष अनिवार्य हो पड़ेगा। इस विचार से अन्वय-ग्रहण के समान व्यतिरेक का भी ग्रहण व्याख्यात अर्थात् विचारित हो गया।

नन्वापोद्वापद्वारेण शब्दार्थसम्बन्धे निश्चीयमाने उपयुज्येते एवान्वयव्यतिरेकौ। यथोक्तं 'तत्र योऽन्वेति यं शब्दमर्थस्तस्य भवेदसौ' इति।

सत्यमेतत्, किं तु समयबलेन सिद्धायामर्थबुद्धौ समयनियमार्थावन्वयव्यतिरेकौ शब्देनान्वयव्यतिरेककृता च धूमादेरिव ततोऽर्थबुद्धिः। अपि –

धूमादिभ्यः प्रतीतिश्च नैवावगतिपूर्विका
इहावगतिपूर्वैव शब्दादुत्पद्यते मतिः ।।
स्थविरव्यवहारे हि बालः शब्दात् कुतश्चन ।
दृष्ट्वार्थमवगच्छन्तं स्वयमप्यवगच्छति ।।

यत्राप्येवं समयः क्रियते एतस्माच्छब्दादयमर्थः त्वया प्रतिपत्तव्य इति। तत्रापि प्रतीतिरेव, अन्याविनाभावो नाम सम्बन्धः अन्यश्च शब्दार्थयोः समयापरनामा वाच्यवाचकभावः सम्बन्धः कारणत्वेन निर्दिष्टो द्रष्टव्यः। तस्मादन्यो लिङ्गलिङ्गिनोरविनाभावाद्वाच्यवाचकभावः सम्बन्धः प्रतीत्यङ्गम्। एवंविधविषयभेदात् सामग्रीभेदाच्च प्रत्यक्षवदनुमानादन्यः शब्द इति सिद्धम् ।

इस पर यह कहा जा सकता है कि आवाप और उद्वाप के द्वारा अर्थात् ग्रहण और त्याग के द्वारा शब्द और अर्थ के बीच सम्बन्ध के निश्चय होने पर अन्वय और व्यतिरेक का उपयोग होता ही है। जैसा कि कहा गया है कि,

'तत्र योऽन्वेति यं शब्दमर्थस्तस्य भवेदसौ'

अर्थात् शब्द और अर्थ इन दोनों के बीच जो जिस शब्द से अन्वय रखता है, वह उस शब्द का अर्थ होता है। तो इसका उत्तर यह है कि यह कथन सत्य है। किन्तु शक्ति के बल से अर्थ की बुद्धि सिद्ध होने पर शक्ति के नियम के लिए अन्वय और व्यतिरेक अपेक्षित होते हैं। और अन्वय तथा व्यतिरेक के अधीन धूम आदि के समान शब्द से अर्थ की बुद्धि होती है।

और यह भी कि धूम आदि से होने वाली प्रतीति शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की अवगति की पहले अपेक्षा नहीं करती है। किन्तु यहाँ अर्थात् शाब्दबोध स्थल में शब्द से उत्पन्न होने वाली मति अर्थात् बुद्धि उक्त सम्बन्धावगतिपूर्वक ही होती है। वृद्ध व्यवहार के स्थल में बालक किसी शब्द से किसी अर्थ को समझने वाले व्यक्ति को देख कर ही स्वयं भी समझता है। जहाँ पर इस प्रकार भी समय किया जाता है अर्थात् इस प्रकार भी किसी वक्ता के द्वारा अपना अभिप्राय व्यक्त किया जाता है कि 'इस शब्द से तुम इस अर्थ को समझना' वहाँ भी शक्ति की प्रतीति ही पहले होती है। अविनाभाव अर्थात् व्याप्ति नामक सम्बन्ध अन्य है और शब्द तथा अर्थ का समय अर्थात् शक्ति नामक सम्बन्ध अन्य। फलतः वाच्यवाचकभाव नामक सम्बन्ध अन्य है जो कि कारण रूप में कथित है। इसलिए लिङ्ग और लिङ्गी के बीच होने वाले अविनाभाव सम्बन्ध की तरह उससे भिन्न वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध प्रतीति का अङ्ग होता है। इस प्रकार विषय भेद से और सामग्री

यत्तु पूर्ववर्णक्रमापेक्षणादिवैलक्षण्यमाशङ्क्य दूषितं कस्तत्र फल्गुप्राये निर्बन्धः ।

यत्पुनरभिहितम् –'आप्तवादाविसंवादसामान्यादनुमानता' इति। तदतीव सुभाषितम्, विषयभेदात्। आप्तवादत्वहेतुना हि शब्दार्थबुद्धेः प्रामाण्यं साध्यते न तु सैव जन्यते। यदाह–

अन्यदेव हि सत्यत्वमाप्तवादत्वहेतुकम् ।
वाक्यार्थश्चान्य एवेह ज्ञातः पूर्वतरं च सः ।।
ततश्चेदाप्तवादेन सत्यत्वमनुमीयते ।
वाक्यार्थप्रत्ययस्यात्र कथं स्यादनुमानता ।।
जन्म तुल्यं हि बुद्धीनामाप्तानाप्तगिरां श्रुतौ ।
जन्माधिकोपयोगी च नानुमायां त्रिलक्षणः।। इति ।

न च प्रामाण्यनिश्चयाद्विना प्रतिभामात्रं तदिति वक्तव्यं शब्दार्थसम्प्रत्यय-स्यानुभवसिद्धत्वात् ।

एतेन विवक्षाविषयत्वमपि प्रत्युक्तम्। न हि विवक्षा नाम शब्दस्य वाच्यो विषयः किं त्वर्थ एव तथा ।

विवक्षायां हि शब्दस्य लिङ्गत्वमिह दृश्यते ।
आकाश इव कार्यत्वान्न वाचकतया पुनः ।।

भेद से प्रत्यक्ष के समान शब्द भी अन्य एक प्रमाण है – यह सिद्ध हुआ। पूर्व वर्णक्रम की अपेक्षा आदि मूलक वैलक्षण्य की आशङ्का उठाकर पूर्वपक्षी के द्वारा उस पर दूषण उपस्थित किया गया है, वह यतः अत्यन्त छिछला सारहीन है, अतः उसके खण्डन का क्यों आग्रह रखा जाय?

पुनः यह जो कहा गया है कि आप्तवाद के विसम्वाद प्रयुक्त शब्द को अनुमान प्रमाण मानना चाहिए, वह तो अच्छा कथन निकला? क्योंकि विषय भेद विद्यमान है। आप्तवादता अर्थात् आप्तोक्ति के निश्चय से तो वाक्यार्थ बोध में प्रामाण्य का अवधारण होता है न कि वाक्यार्थ बुद्धि उससे उत्पन्न होती है। जैसा कि 'अन्यदेव हि सत्यत्वमाप्तवादत्वहेतुकम्' इत्यादि तीन श्लोकों के द्वारा कहा गया है कि 'आप्तवचनत्व प्रयुक्त वाक्य की सत्यता और वस्तु है, और उसके ज्ञान से पहले ही ज्ञात होने वाला वाक्यार्थ अन्य, उस आप्तवचनत्व हेतु से यदि वाक्य में सत्यता का अनुमान किया जाता है तो उससे वाक्यार्थ बोध में अनुमितित्व या शब्द की अनुमान प्रमाणता कैसे सिद्ध होगी? कान में आप्त और अनाप्त वचन की उत्पत्ति एक जैसी होती है। अनुमान में त्रिलक्षण उन वचनों की उत्पत्ति का अधिक उपयोगी नहीं होता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि प्रामाण्य निश्चय के बिना तो वह प्रतिभामात्र होकर ही रह जायेगा। क्योंकि शब्द से होने वाला अर्थ का सम्प्रत्यय अनुभव सिद्ध है। इससे विवक्षा की बात भी खण्डित हो गई। क्योंकि विवक्षा शब्द का वाच्य विषय नहीं है किन्तु वाच्य अर्थ ही उसका विषय होता है। विवक्षा के प्रति शब्द को उस प्रकार लिङ्गता ही देखी जाती है जिस प्रकार आकाश के प्रति

शब्दादुच्चरिताच्च वाच्यविषया तावत्समुत्पद्यते
संवित्तिस्तदनन्तरं तु गमयेत्कामं विवक्षामसौ ।
अर्थोपग्रहवर्जिता तु नियमात्सिद्धैवमाजीविता
तद्वाच्यार्थविशेषिता त्वविदिते नैषां तदर्थे भवेत् ।।

[शब्दप्रामाण्याक्षेपः]

ननु सिद्धे प्रमाणत्वे भेदाभेदपरीक्षणम् ।
क्रियते न तु शब्दस्य प्रामाण्यमवकल्पते ।।
अर्थप्रतीतिजनकं प्रमाणमिति वर्णितम् ।
विकल्पमात्रमूलत्वान्नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यमी ।।
अर्थो निरूप्यमाणश्च को वा शब्दस्य शक्यते ।
वक्तुं न जातिर्न व्यक्तिर्न तद्वन्नाम कश्चन ।।
सम्बन्धोऽप्यस्य नार्थेन नित्योऽस्ति समयोऽथ वा ।
शक्यः सन्नपि वा बोद्धुमर्थे कथमतीन्द्रिये ।।
वाक्यार्थोऽपि न निर्णेतुं पार्यते पारमार्थिकः ।
नियोगभावनाभेदसंसर्गादिस्वभावकः ।।

कार्य होने के कारण उसे लिङ्गता होती है। वाचक होने के कारण तो उच्चारित शब्द से वाच्य अर्थ के विषय में सम्वित्ति अर्थात् बुद्धि उत्पन्न होती है। उसके अनन्तर वह शब्द समझाया करे उस विवक्षा को, जो कि अर्थग्रह वर्जित होती है। इसलिए वाच्यार्थ विशेषित आश्रयणीयता नियमतः सिद्ध है। जहाँ वाक्य का अर्थ अविदित होता है वहाँ अर्थ से अविशेषित ही विवक्षा समझी जाती है अर्थ विशेषित विवक्षा नहीं।

[शब्द के प्रामाण्य पर आक्षेप]

अब प्रश्न यह उपस्थापित है कि शब्द में प्रमाणता सिद्ध होने पर तो यह विचार करना उचित होगा कि वह अनुमान आदि किसी प्रमाण से भिन्न माना जाय या अभिन्न? शब्द में तो प्रामाण्य ही स्थिर नहीं हो सकता है। क्योंकि प्रमाण वह माना जाता है, जो कि अर्थ प्रतीति का जनक होता है अर्थात् किसी वस्तु की प्रतीति का जनक होता है। शब्द तो विकल्प मात्र मूलक होने के कारण अर्थ को स्पर्श तक नहीं करता। शब्द का अर्थ क्या मान्य है– इसका निरूपण करने पर यह नहीं कहा जा सकता कि शब्द का अर्थ केवल जाति है या केवल व्यक्ति या जाति सहित व्यक्ति? अर्थ के साथ शब्द का कोई सम्बन्ध भी स्थायी नहीं है। समय अर्थात् सङ्केतात्मक शक्ति कथञ्चित्, सम्भव होने पर भी वह अतीन्द्रिय अर्थ में कैसे समझा जा पायेगा? पारमार्थिक रूप में वाक्य का वह अर्थ भी निर्णीत नहीं किया जा सकता जो कि नियोग, भावनाप्रभेद एवं संसर्ग स्वभावक होता है।

तत्प्रतीत्यभ्युपायश्च किं पदार्थः पदानि वा ।
वाक्यं वा व्यतिषक्तार्थं स्फोटो वेति न लक्ष्यते ।।
सिद्धायामपि तद्बुद्धौ तस्या द्रढिमकारणम् ।
नित्यत्वमाप्तोक्तत्वं वा न सम्यगवतिष्ठते ।।
पदे नित्येऽपि वैदिक्यो रचनाः कर्तृपूर्विकाः ।
नित्या वा कृतकत्वेऽपि कृताः केनेति दुर्गमम् ।।
कर्त्तास्ति स च निर्द्वन्द्वः स चैकः स च सर्ववित् ।
स च कारुणिको वेति प्रतिपत्तुं न शक्यते ।।
परस्परविरुद्धाश्च सन्ति भूयांस आगमाः ।
तेषां कस्येश्वरः कर्त्ता कस्य नेति न मन्महे ।।
वेदे दोषाश्च विद्यन्ते व्याघातः पुनरुक्तता ।
फलस्यानुपलम्भश्च तथा फलविपर्ययः ।।
कीदृशश्चार्थवादानां विरुद्धार्थाभिधायिनाम् ।
मन्त्राणां नामधेयादिपदानां वा समन्वयः ।।
सिद्धकार्योपदेशाच्च वेदे संशेरते जनाः ।
किमस्य कार्ये प्रामाण्यं सिद्धेऽर्थे वोभयत्र वा ।
तेन वेदप्रमाणत्वं विषमे पथि वर्त्तते ।
जीविकोपायबुद्ध्या वा श्रद्धयाभ्युपेयताम् ।।

अर्थ की प्रतीति का उपाय क्या है पदार्थ या पद? अथवा अर्थ से सम्बन्ध रखने वाला वाक्य? या स्फोट? यह पता नहीं चल रहा है। वाक्यार्थ बोध सिद्ध होने पर भी उसकी दृढ़ता का कारण क्या है? नित्यता या आप्तोक्तत्व कोई सही रूप में स्थिर नहीं होता है। पद के नित्य होने पर वेद की रचनाएं अवश्य कर्तृपूर्वक मान्य होंगी या वे भी नित्य मानी जायेंगी? यदि रचना अनित्य भी माना जाय तो वे रचनाएँ किस के द्वारा हुई – यह समझना कठिन है। वेद का कर्ता है और वह सुख दुःख, शीत उष्ण आदि के परे है, एक है सर्वज्ञ है और वह कारुणिक है इत्यादि समझा नहीं जा सकता है। अधिक संख्यक रूप में प्राप्त होने वाले शास्त्र परस्पर विरुद्ध पाये जाते हैं। उनके अन्दर किस का कर्ता ईश्वर हैं और किस का नहीं है – यह निर्णय नहीं हो पा रहा है। वेद में दोष भी बहुत विद्यमान हैं, जैसे व्याघात, पुनरुक्ति, फल की अनुपलब्धि तथा विपरीत फल की प्राप्ति। उन अर्थवाद वाक्यों का, जो कि विधिवाक्य के अर्थ से अलग अर्थ रखते हैं, विधिवाक्यों के साथ कैसे समन्वय सम्भव हो सकता है? इसी प्रकार मन्त्रों और नामधेय पदों का भी। वेद में सिद्ध और कार्य दोनों के उपदेश पाये जाते हैं, ऐसी परिस्थिति में उस का प्रामाण्य सिद्ध अर्थ में है या कार्य अर्थ में अथवा दोनों अर्थों में इसके सम्बन्ध में लोग सन्दिग्ध पाये जाते हैं। इन सब कारणों से वेद का प्रामाण्य कण्टकाकीर्ण मार्ग में पड़ गया है। क्या वेद को जीविका का उपाय समझकर अपनाया जाय या उसमें अन्ध श्रद्धा के कारण उसे अपनाया जाय?

[शब्दप्रमाणसमर्थनम्]

अत्राभिधीयते, सर्व एवैते दोषा यथाक्रमं परिहरिष्यन्ते इत्यलं समाश्वासेन, सुप्रतिष्ठमेव वेदप्रामाण्यमवगच्छत्वायुष्मान् ।

नन्वर्थासंस्पर्शित्वमेव तावत्कथं परिह्रियते न हि बाह्येऽर्थे शब्दाः प्रतीतिमादधति ते हि दुर्लभवस्तुसंपर्कविकल्पमात्राधीनजन्मानः स्वमहिमानमनुवर्त्तमाना स्तिरस्कृतबाह्यार्थसमन्वयान् विकल्पप्रायान् प्रत्ययानुत्पादयन्तो दृश्यन्ते अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते इति स्वभाव एव शब्दानामर्थासंस्पर्शित्वम्। चक्षुरादीना मप्यलीककचकूर्चकादिप्रतीतिकारणत्वमस्ति न च तेषामर्थासंस्पर्शित्वमिति चेत् तेषां हि तिमिरादिदोषकलुषितवपुषां तथाविधविभ्रमकारणत्वं न तु स्वमहिम्नैव। इहापि पुरुषदोषाणामेष महिमा न शब्दानामिति चेद् –

मैवम् दोषवतोऽपि पुरुषस्य मूकादेरनुच्चारितशब्दस्येदृशविप्लवोत्पादनपाटवाभावात्। असत्यपि च पुरुषहृदयकालुष्ये यथा प्रयुज्यमानान्यङ्गुल्यग्रादिवाक्यानि विप्लवमावहन्त्येवेति शब्दानामेवैष स्वभावो न वक्तृदोषाणाम्। अपि च न चक्षुरादि

[शब्द में प्रामाण्य का समर्थन]

अब इन सब के सम्बन्ध में कहा जा रहा है। ये सारे दोष क्रम से हटा दिये जायेंगे, इसलिए विश्वास रखकर पूर्ण रूप से वेद में प्रामाण्य को सुप्रतिष्ठित ही आप दीर्घजीवी समझें। इस पर प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि शब्द में अर्थसम्बन्ध के अभाव का ही परिहार कैसे कर्त्तव्य है? दूरवर्ती अर्थ के सम्बन्ध में शब्द प्रतीति का आधान कर नहीं सकते हैं। वे दुर्लभ वस्तु के साथ सम्बन्ध की विकल्पवृत्ति मात्र के अधीन जन्मवाले होते हैं। और अपनी महिमा के अनुव्रजन में संलग्न रहते हुए बाह्य अर्थ के साथ सम्बन्ध रहित भाव से विकल्पात्मक अर्थात् अर्थशून्य फलतः निस्सार विकल्प नामक ज्ञान को ही उत्पन्न करते पाये जाते हैं। जैसे 'अङ्गुली पर गज यूथ है' इत्यादि वाक्य के प्रयोगस्थल में। शब्द का तो यह स्वभाव ही है कि वह अर्थ का स्पर्श करता नहीं, उससे दूर रहता है। चक्षु आदि में भी कहीं मिथ्या केश दाढ़ी आदि की प्रतीति होती पायी जाती है सही परन्तु उन्हें सर्वथा वस्तु का असंस्पर्श अर्थात् सम्बन्ध का अभाव नहीं होता। उनमें तिमिर आदि दोष होने पर ही वे उस प्रकार की मिथ्या प्रतीति को उत्पन्न करते हैं। उनका स्वभाव ही ऐसा नहीं होता है कि वे असम्बद्ध अर्थ को ही बतलावें।

तदनुसार यदि यहाँ भी यह कहा जाय कि उक्त प्रकार महिमा वक्ता व्यक्ति के दोष से ही होती है स्वभावतः नहीं। तो एसा नहीं, क्योंकि शब्दोच्चारण सामर्थ्य से रहित होने के कारण दोषयुक्त भी मूक आदि में उक्त प्रकार अर्थसंस्पर्शशून्य विकल्पात्मक ज्ञान की जनकता पायी नहीं जाती है और वक्ता के हृदय में कालुष्य के न होने पर भी उक्त प्रकार 'अङ्गुली पर गजयूथ है' इत्यादि रूप में प्रयुज्यमान वाक्य विकल्पात्मक निस्सार प्रतीति को करते पाये ही जाते हैं। इसलिए शब्द का ही यह स्वभाव मानना होगा कि वक्ता

बाधकज्ञानोदये सति न विरमति विपरीतवेदनजन्मनः शुक्तिकारजतादिबुद्धिषु विभ्रमस्यापायदर्शनात्। शब्दस्तु शतकृत्वोऽपि बाध्यमानो यथैवोच्चरितः 'करशाखादिशिखरे करेणुशतमास्ते' इति। तदैव तथाभूतं भूयोऽपि विकल्पमयथार्थमुत्पादयत्येवेति विकल्पाधीनजन्मत्वाच्छब्दानामेवेदं रूपं यदर्थासंस्पर्शित्वं नामेति । तदुक्तम् –

विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पाः शब्दयोनयः ।
तेषामन्योन्यसम्बन्धे नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यमी ।। इति ।

अत्राभिधीयते – भवेदेतदेवं यदि न कदाचिदपि यथार्थं शब्दः प्रत्ययमुपजनयेत्। अर्थसंस्पर्शित्वमेवास्य स्वभाव इत्यवगम्यते। भवति तु गुणवत्पुरुषभाषितान्नद्यास्तीरे फलानि सन्तीति वाक्यादतिरस्कृतवाच्यार्थो यथार्थः प्रत्ययः। ततः प्रवृत्तस्य तदर्थप्राप्तेः। न चेयमर्थप्राप्तिरर्थस्पर्शशून्यादपि शब्दविकल्पात् पारम्पर्येण मणिप्रभामणिबुद्धिवदवकल्पते इत्युपरिष्टाद् वक्ष्यामः ।

ननु गुणवद्वक्तृकादङ्गुल्यादिवाक्याद् दृष्ट एवासमीचीनः प्रत्ययः। मैवम् –

व्यक्ति के दोष का नहीं। और यह भी कि बाधक ज्ञान के होने से चक्षु आदि उस ओर से निवृत्त नहीं होता है – ऐसी बात नहीं है, निवृत्त होता ही है। तभी आंख से शुक्तिका में होने वाली रजत आदि की बुद्धि स्थल में बाधक ज्ञान हो जाने पर विभ्रमात्मक ज्ञान होता नहीं पाया जाता है। परन्तु शब्द स्थल में ऐसी परिस्थिति नहीं होती है। वहाँ तो शब्द सैकडो बार बाधित होने पर भी 'हाथ की शाखा के शिखर पर सैकड़ों हथिनियां हैं' यह सुनते ही पूर्ववत् विकल्पात्मक ज्ञान उत्पन्न हो उठता है। वह शब्द विकल्पज्ञान का उत्पादन करता ही है। क्योंकि शब्द विकल्प कार्य की उत्पत्ति के लिए ही हुआ करते हैं। अतः शब्द का यह स्वभाव ही है कि वह अर्थासंस्पर्शी हुआ करता है। अर्थ के साथ उसका सम्बन्ध होता नहीं है, जैसा कि 'विकल्पयोनयः शब्दाः' इत्यादि के द्वारा कहा गया है कि शब्द विकल्पयोनि होता है और विकल्प शब्द योनि होते हैं। उन का इसी प्रकार पारस्परिक सम्बन्ध के कारण शब्द अर्थ का स्पर्श नहीं करते है।

अब इसके सम्बन्ध में यहाँ कहा जा रहा है। ऐसा तब मान्य होता यदि शब्द कभी यथार्थ प्रत्यय का उत्पादन ही नहीं करता। अतः शब्द का स्वभाव यही है कि वह अर्थसंस्पर्शी होता है। यही मालूम भी पड़ता है। गुणी अर्थात् यथार्थवक्ता व्यक्ति के द्वारा कथित 'नदी के तीर में पांच फल हैं' इस वाक्य से अबाधित वाच्यार्थ होने के कारण यथार्थ प्रत्यय होता ही है। क्योंकि उस वाक्य को सुनकर प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति को उस वाक्य के अर्थ की प्राप्ति होती है। वह होने वाली अर्थ की प्राप्ति अर्थरहित विकल्पात्मक शब्द से परम्परया मणि प्रभा में होने वाली मणिबुद्धि स्थल के समान हो जाती है। इसके सम्बन्ध में आगे चलकर हम कहेंगे। इस पर प्रश्न यह उठता है कि गुणी व्यक्ति के द्वारा

गुणवतामेवंविधवाक्योच्चारणचापलाभावात् ।

यत्तु आप्तोऽपि कं चिदनुशास्ति मा भवानभूतार्थं वाक्यं वादीः 'अङ्गुलिकोटौ करिघटाशतमास्ते' इति तत्रेतिकरणावच्छिन्नस्य दृष्टान्ततया शब्दपरत्वेनोपादानात् प्रतिषेधैकवाक्यतया यथार्थत्वमेव। अर्थपरत्वे तु निषेधैकवाक्यतैव न स्यादिति। तस्मादाप्तवाक्यानामयथार्थत्वाभावान्न स्वतोऽर्थासंस्पर्शिनः शब्दाः पुरुषदोषानुषङ्गकृत एवायं विप्लवः ।

नन्वाप्तैरेवंविधवाक्याप्रयोगेऽपि सन्दिग्धो व्यतिरेकः किं शब्दाभावाद यथार्थप्रत्ययानुत्पादः उत वक्तृदोषाभावादिति । नैतदेवम् –

अनुच्चरितशब्दोऽपि पुरुषो विप्रलम्भकः ।
हस्तसंज्ञाद्युपायेन जनयत्येव विप्लवम् ।।

न च हस्तसंज्ञादिना शब्दानुमानं तत्कृतश्च विप्लव इति वक्तव्यम्, इत्थमप्रतीतेः। उत्पन्ने च क्वचिन्नद्यादिवाक्याद्विज्ञाने तरङ्गिणीतीरमनुसरन्ननासादितफलः प्रवृत्तबाधकप्रत्ययः पुरुषमेवाधिक्षिपति धिक् हा तेन दुरात्मना विप्रलब्धोऽस्मीति न

पूर्वोक्त 'अङ्गुली पर सैकड़ों हथिनियां हैं' इत्यादि वाक्य से असमीचीन भी प्रत्यय तो होता पाया ही जाता है? तो ऐसा कहना सही नहीं। क्योंकि गुणी लोगों में ऐसी चपलता होती नहीं कि वे उस प्रकार वाक्य कहेंगे। जहाँ आप्तजन भी इस प्रकार किसी से कहते हैं कि 'आप अङ्गुलियों पर सैकड़ों हथिनिया हैं ऐसा वाक्य नहीं कहें' वहाँ पर 'ऐसा' इससे सीमित उस वाक्य को दृष्टान्त रूप में उपस्थापन के कारण पूरा वाक्य निषेधक ही होता है। अतः पूरे वाक्य की यथार्थता ही होती है। यदि पूर्ण वाक्य घटक 'अङ्गुलियों पर' इत्यादि खण्डवाक्य को यथार्थ माना जाय तो पूरे वाक्य को निषेध वाक्यता ही नहीं हो पायेगी। इसलिए आप्तवाक्यों में अयथार्थता के अभाव के कारण शब्द स्वतः अर्थासंस्पर्शी अर्थात् अर्थसम्बन्ध रहित नहीं होते। अतः जहाँ विप्लव होता है अर्थात् उससे यथार्थ ज्ञान नहीं होते हैं वहाँ उसके मूल में पुरुष गत दोष का ही सम्बन्ध रहता है, तत्कृत ही शब्द से अयथार्थ ज्ञान होता है। इस पर यह कहा जा सकता है कि ऐसे वाक्य के प्रयोग को आप्तकर्तृक न मानने पर भी व्यतिरेक इस प्रकार सन्दिग्ध ही है कि – अयथार्थ प्रत्यय का अनुत्पाद क्या शब्दाभाव प्रयुक्त होता है या पुरुषदोषाभाव प्रयुक्त? तो ऐसा नहीं, क्योंकि कोई व्यक्ति शब्द का उच्चारण न करके भी विप्रलम्भक होता है। हाथ आदि के द्वारा इसारे से भी वह अर्थविप्लव अर्थात् भ्रमज्ञान का जनन करता ही है। वहाँ हाथ के इसारे से अनुमान होता है और उससे विप्लव होता है, ऐसा नहीं कहा जाता है। क्योंकि ऐसी प्रतीति नहीं होती है। यतः कहीं पर 'नदी के तीरमें पाँच फल हैं' इस वाक्य को सुनकर उस के अर्थ का ज्ञान करके वहाँ जाकर व्यक्ति जब उक्त पाँच फलों को नहीं पाता है, तब बाध प्रत्यय करने वाला वह ठगा गया व्यक्ति वक्ता व्यक्ति को ही इस प्रकार कोशता है कि 'हाय उस दुरात्मा के द्वारा ही मैं ठगा गया' वह व्यक्ति शब्द को अर्थात् वाक्य को नहीं कोशता है।

शब्दम्। प्राप्तफलश्च पुमांसमेव श्लाघते साधु साधुना तेनोपदिष्टमित्यतः पुरुषदोषान्वयानुविधानात्तदभावकृत एव आप्तेषु 'तूष्णीमासीनेषु विभ्रमानुत्पाद इति न सन्दिग्धो व्यतिरेकः। पुरुषदोषकृत एव शब्दाद्विप्लवो न स्वरूपनिबन्धनः ।

ननु पुरुषदोषास्तत्र किं कुर्युः, पुरुषस्य हि गुणवतो दोषवतो वा शब्दोच्चारणमात्रे एव व्यापारः। ततः परं तु कार्यं शब्दायत्तमेवेति तत्स्वरूपकृत एवायं विभ्रमः। हन्त तर्हि वक्तरि गुणवति सति सरितस्तीरे फलानि सन्तीति सम्यक् प्रत्ययेऽपि शब्दस्यैव व्यपारात् पुरुषस्योच्चारणमात्रे चरितार्थत्वान्नैकान्ततः शब्दस्यार्थासंस्पर्शित्वमेव स्वभावः। युक्तं चैतदेव यद्दीपवत्प्रकाशत्वमात्रमेव शब्दस्य स्वरूपं न यथार्थत्वमयथार्थत्वं वा। विपरीते ऽप्यर्थे दीपस्य प्रकाशत्वानतिवृत्तेः। अयं तु विशेषः प्रदीपे व्युत्पत्तिनिरपेक्षमेव प्रकाशत्वं शब्दे तु व्युत्पत्त्यपेक्षमिति। प्रकाशात्मनस्तु शब्दस्य वक्तृगुणदोषाधीने यथार्थेतरत्वे। अत एवाङ्गुलिशिखराधिकरणकरेणुशतवचसि बाधितेऽपि पुनः

इसी प्रकार किसी के कथनानुसार पाँच फलों को पाकर प्राप्तिकर्ता व्यक्ति कहने वाले व्यक्ति की ही इस प्रकार प्रशंसा करता है कि उस सज्जन ने ही बतलाया था कि 'वहां पाँच फल हैं'। इसलिए पुरुष दोष के ही सम्बन्ध का अनुविधान पाये जाने के कारण आप्तजन की अनुक्ति स्थल में विभ्रम का अनुत्पाद होता है। अतः व्यतिरेक उक्त प्रकार से सन्दिग्ध नहीं कहा जा सकता है। फलितार्थ यह कि शब्द से होने वाला विप्लव पुरुष दोषकृत ही होता है शब्दस्वरूप निबन्धन नहीं।

इस पर यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति के दोष वहाँ क्या करेंगे? क्योंकि व्यक्ति गुणवान् हो या दोषवान् उसका व्यापार तो शब्द के उच्चारण मात्र में होता है। तदनन्तर तो कार्य शब्द के ही अधीन होता है? इसलिए शब्दस्थलीय विभ्रम शब्दकृत ही होता है। हाय तब वक्ता के गुणवान् होने पर 'नदी के तीर में फल हैं' इस प्रकार उनके कथन से यथार्थ प्रत्यय होने पर भी व्यापार शब्दगत ही होगा, वक्ता व्यक्ति तो उस वाक्य के उच्चारण मात्र में चरितार्थ होगा। अतः शब्द का यह स्वभाव उचित नहीं माना जायेगा कि वह अर्थ का असंस्पर्शी ही होता है। युक्त तो यही होगा कि शब्द को दीप की तरह प्रकाश स्वभाव ही माना जाय, ज्ञान में होने वाले यथार्थत्व या अयथार्थत्व से उसका सम्बन्ध न जोड़ा जाय। क्योंकि विपरीत अर्थ के सम्बन्ध में भी तो दीप की प्रकाशता निवृत्त होती नहीं देखी जाती है? विशेषता केवल यह है कि प्रदीप में व्युत्पत्ति निरपेक्ष प्रकाशत्व होता है किन्तु शब्द में रहने वाला प्रकाशत्व व्युत्पत्ति सापेक्ष होता है। अभिप्राय यह है कि प्रदीप द्वारा होने वाले विषय के प्रकाशन स्थल में प्रकाशनार्थ प्रदीपगत प्रकाशशक्ति का ज्ञान अपेक्षित नहीं होता है किन्तु शब्द से होने वाले अर्थ के प्रकाशन स्थल में अर्थ के प्रकाशनार्थ शब्दगत अर्थप्रकाशनशक्ति का ज्ञान अपेक्षित होता है। शब्द जनित ज्ञान की यथार्थता और तदितरता अर्थात् अयथार्थता के लिए वक्ता के व्यक्तिगत गुण और दोष की अपेक्षा होती है। अतः वे तदधीन होते हैं। इसीलिए 'अङ्गुली पर सैकड़ों हथिनियां हैं' ऐसे वाक्यों के बाधित होने पर भी विभ्रमात्मक ज्ञान अर्थात् विकल्पात्मक ज्ञान होता है

पुनरुच्चार्यमाणे भवति विभ्रमः प्रकाशकत्वतद्रूपानपायात् न त्वेष शब्दस्य दोषः ।

पदार्थानां तु संसर्गमसमीक्ष्य प्रजल्पतः ।
वक्तुरेव प्रमादोऽयं न शब्दोऽत्रापराध्यति ।।

तदुक्तम्, प्रमाणान्तरदर्शनमत्र बाध्यते न पुनर्हस्तियूथशतमिति शाब्दोऽन्वयः। पुरुषो हि स्वदर्शनं शब्देन परेषां प्रकाशयति। तत्र तद्दर्शनं चेद् दुष्टं, दुष्टः शाब्दः प्रत्ययः अदुष्टं चेददुष्ट इति गुणवतः पुरुषस्यादुष्टं दर्शनं भवति दोषवतो दुष्टमिति। अदृष्ट्वापि वस्तु यदुपदिश्यते सोऽपि बुद्धिदोष एव। तस्मात् पुरुषगतगुणदोषान्वय व्यतिरेकानुविधायित्वात् तत्कृते एव शाब्दयथार्थत्वायथार्थत्वे। तदुक्तं 'तथ्यमपि भवति वितथमपि भवति' इति।

तेनाभिधातृदौरात्म्यकृतेयमयथार्थता ।
प्रत्ययस्येति शब्दानां नार्थासंस्पर्शिता स्वतः ।।
या तु जात्यादिशब्दार्थपराकरणवर्त्मना ।
अर्थासंस्पर्शिता प्रोक्ता सा पुरस्तान्निषेत्स्यते ।।

शब्दगत प्रकाशकत्व स्वभाव का अपाय नहीं होने के कारण। इसमें शब्द का कोई दोष नहीं है।

कहने का तात्पर्य यह कि पदार्थों के संसर्ग की ओर ध्यान न देकर बोलने वाले वक्ता का ही प्रमाद वहाँ होता है, शब्द का कोई अपराध नहीं होता है। तभी कहा गया है कि उक्त अङ्गुली पर हथिनियों के अस्तित्व कथन स्थल में प्रमा ज्ञान का बाध अर्थात् होने वाले ज्ञान में प्रमात्व का बाध होता है, सौ हथिनियों का नहीं। इस लिए शाब्द अन्वय होता है। परिस्थिति यह होती है कि वक्ता अपने ज्ञान को शब्द के द्वारा दूसरों के लिए प्रकाशित करता है। वहाँ उस वक्ता का ज्ञान यदि दोष युक्त रहता है तो शाब्द ज्ञान दोषयुक्त होता है और यदि वक्ता का ज्ञान दोष रहित रहता है तो शाब्दज्ञान दोषरहित होता है। सारांश यह कि गुणवान् व्यक्ति का ज्ञान अदुष्ट अर्थात् दोष रहित होता है और दोषवान् व्यक्ति का ज्ञान दुष्ट अर्थात् दोष सहित फलतः अयथार्थ होता है। न देखकर भी जो उपदेश दिया जाता है वह भी बुद्धिदोष ही होता है। इसलिए पुरुषगत दोष और गुण के अनुविधान के कारण तन्मूलक ही ज्ञान में यथार्थता या अयथार्थता होती है। इसीलिए यह कहा गया है कि 'ज्ञान तथ्य भी होता है और वितथ भी' अर्थात् सही भी होता है और वे सही भी। इसलिए ज्ञानगत यह अयथार्थता अभिधाता व्यक्ति के दौरात्म्य अर्थात् दोष के कारण ही होती है। शब्द में स्वतः अर्थास्पर्शिता अर्थात् अर्थसम्बन्ध का अभाव नहीं होता। जाति आदि की शब्दार्थता का विकल्प उठाकर जो शब्दमें अर्थासंस्पर्शिता बतलायी गयी है। उसका निषेध अर्थात् खण्डन आगे चलकर किया जायेगा।

[प्रामाण्यं स्वतः परतो वेति विचारावतरणम्]

प्रमाणत्वं तु शब्दस्य कथमित्यत्र वस्तुनि ।
जैमिनीयैरयं तावत्पीठबन्धो विधीयते ।।
प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा सर्वविज्ञानगोचरः ।
स्वतो वा परतो वेति प्रथमं प्रविविच्यताम् ।।

ननु शब्दप्रामाण्यचिन्तावसरे सकलप्रमाणप्रामाण्यविचारस्य कः प्रसङ्गः, न स्वातन्त्र्येण परीक्षणमपि तु तदर्थमेव समानमार्गत्वात् ।

अथान्येषां स्वतः परतो वा प्रामाण्यं तथा शब्दस्यापि भविष्यतीति, न हि तस्य स्वरूपमिव प्रामाण्यमपि तद्विसदृशमिति। तदुच्यते, किं विज्ञानानां प्रामाण्यमप्रामाण्यं चेति द्वयमपि स्वतः उत उभयमपि परतः आहो स्विदप्रामाण्यं स्वतः प्रामाण्यं तु परतः उतस्वित् प्रामाण्यं स्वतः अप्रामाण्यं तु परत इति ।

[मीमांसकमतेन सर्वप्रमाणानां स्वतः प्रामाण्यनिरूपणम्]

तत्र द्वयमपि स्वत इति तावदसांप्रतम्, प्रवृत्तस्य विसम्वाददर्शनात्। यदि हि प्रामाण्यमितरद्वा स्वत एव ज्ञानस्य गम्यते तर्हि शुक्तौ रजतज्ञानं प्रमाणतया वा प्रतिपन्नमन्यथा वा।

[शब्द में प्रामाणत्व स्वतः होता है या परतः इस विचार की अवतारणा]

शब्द में प्रमाणता कैसे होती है? इस विषय पर मीमांसकों द्वारा यह पीठिका बांधी जाती है कि पहले सकल ज्ञानगत प्रमात्व या अप्रमात्व स्वतः होता है या परतः– यह विवेचन किया जाय। इस पर प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि शब्दगत प्रामाण्य और अप्रामाण्य के विचारावसर पर सभी प्रामाण्यों अर्थात् ज्ञानगत प्राभाण्य और अप्रामाण्य के विचार का क्या प्रसङ्ग उठता है? इसका उत्तर यह है कि स्वतन्त्र रूप से ज्ञानगत प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य का यहाँ विचार नहीं किया जा रहा है किन्तु शब्दगत प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य के निर्णयार्थ ही ज्ञानगत प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य का भी परीक्षण यहाँ किया जा रहा है। क्योंकि दोनों के मार्ग समान हैं। यदि अन्य का भी अर्थात् ज्ञान का भी प्रामाण्य एवं अप्रमाण्य स्वतः या परतः होगा तो उसी प्रकार शब्द का भी वह स्थिर हो जायेगा। ज्ञान और शब्द के स्वरूप के समान प्रामाण्य भी विसदृश कहा जा सकता है। इसलिए पूछा जा रहा है कि ज्ञानगत प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य अर्थात् प्रमात्व तथा अप्रमात्व दोनों स्वतः ही होता है या दोनों ही परतः? अथवा अप्रामाण्य स्वतः और प्रामाण्य परतः, अथवा प्रमाण्य ही स्वतः और अप्रामाण्य परतः होता है?

[मीमांसकमत से सभी प्रमाणों के स्वतः प्रामाण्य का निरूपण]

उनके अन्दर दोनों स्वतः गृहीत होते हैं-- यह सङ्गत नहीं, उचित नहीं है। क्योंकि प्रवृत्त व्यक्ति का विसम्वाद देखा जाता है अर्थात् उसकी प्रवृत्ति की विफलता देखी जाती है। यदि ज्ञान का प्रामाण्य या अप्रमाण्य स्वतः गृहीत हो तो शुक्तिका में होने वाला रजत

प्रमाणत्वपरिच्छित्तौ विसंवदति तत्कथम् ।
अप्रामाण्यगृहीतौ वा तस्मिन् कस्मात्प्रवर्त्तते ।।

एतेन तृतीयोऽपि पक्षः प्रत्युक्तः यदप्रामाण्यं स्वतः प्राणाण्यं परत इति। स्वतो ह्यप्रामाण्ये निश्चिते प्रवृत्तिर्न्न प्राप्नोतीति। किं च अप्रामाण्यमुत्पत्तौ कारणदोषापेक्षं निश्चये च बाधकज्ञानापेक्षं तत्कथं स्वतो भवितुमर्हति। यच्च 'अप्रामाण्यमवस्तुत्वान्न स्यात्कारणदोषत' इति कैश्चिदुच्यते, तदपि यत्किञ्चित्। संशयविपर्ययात्मनः अप्रमाणस्य वस्तुत्वात्तद्गतमप्रामाण्यमपि वस्त्वेवेति। परतस्तु प्रामाण्यं यथा नावकल्पते तथा विस्तरेणोच्यते। एवं चायं द्वयमपि परत इति द्वितीयपक्षप्रतिक्षेपोऽपि भविष्यति। अर्थतथात्वप्रकाशकं हि प्रमाणमित्युक्तम्, तस्य स्वप्रमेयाव्यभिचारित्वं नाम प्रामाण्यम्। अतश्च परापेक्षायां सत्यां परत इति कथयितुमुचितम्। न चास्य परापेक्षा क्व चिद्विद्यते, सा हि भवन्ती उत्पत्तौ वा स्यात् स्वकार्यकरणे वा प्रामाण्यनिश्चये वा? उत्पत्तौ कारकस्वरूपमात्रापेक्षा तदतिरिक्ततद्गतगुणापेक्षा वा? कारकस्वरूपमात्रापेक्षायां सिद्धसाध्यत्वम्। असत्सु कारकेषु कार्यस्य ज्ञानस्यात्मलाभाभावात्। कस्य

का ज्ञान प्रमाण समझा गया अथवा अप्रमाण? यदि प्रामाण्य की परिच्छिति मानी जाय अर्थात् उसका ज्ञान माना जाय तो ज्ञाता व्यक्ति विसम्वाद क्यों करता है अर्थात् विफल प्रवृत्तिवाला क्यों होता है? और यदि अप्रामाण्य का ग्रह करता है तो उस ओर रजत के लिए प्रवृत्त क्यों होता है? इस से यह तृतीय पक्ष भी खण्डित हो जाता है कि अप्रामाण्य स्वतः गृहीत होता है और प्रामाण्य परतः। क्योंकि स्वतः अप्रामाण्य का निश्चय मानने पर प्रवृत्ति प्राप्त नहीं होती है। और यह भी कि उत्पत्तिगत अप्रामाण्य कारण दोषापेक्ष होगा और उसका निश्चय बाधकज्ञानापेक्ष, तो फिर सापेक्ष होने के कारण स्वतः कैसे होगा? यह जो कहा गया है कि अप्रामाण्य अवस्तु होने के कारण कारणदोष से नहीं हो सकता है' वह भी कथन सारवान् नहीं कुछ कह डालना मात्र है। क्योंकि संशय और विपर्यय स्वरूप अप्रमाण ज्ञान वस्तुभूत होने के कारण तद्गत अप्रामाण्य भी वस्तु स्वरूप ही होगा। प्रामाण्य परतः जिस प्रकार सम्भव नहीं होगा – वह विस्तार पूर्वक कहा जा रहा है। ऐसा होने पर प्रमात्व और अप्रमात्व दोनो परतः इस द्वितीय पक्ष का प्रतिक्षेप भी हो जायेगा। वस्तु के तथात्व का अर्थात् वस्तुत्व का प्रकाशक होने वाला होता है प्रमाण – यह कहा जा चुका है। अपने प्रमेय का अव्यभिचारी होना है प्रामाण्य। इसलिए अन्य की अपेक्षा होने के कारण 'परतः' यह कहना उचित है। किन्तु इसको किसी प्रकार अन्य की अपेक्षा तो है नहीं। क्योंकि वह यदि होगी तो उत्पत्ति में होगी या अपने कार्य के करने में अथवा प्रामाण्य के निश्चय में? उत्पत्ति में कारक स्वरूपमात्र की अपेक्षा होगी या उसके अतिरिक्त तद्गत गुण की अपेक्षा? कारक मात्र स्वरूप की अपेक्षा कहने पर सिद्धसाध्यता होगी। कारक के न रहने पर कार्यभूत ज्ञान ही नहीं हो पायेगा तो फिर किस के प्रामाण्य या अप्रामाण्य का

प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा चिन्त्यते। कारकातिरिक्ततदधिकरणगुणापेक्षणं तु दुर्घटम्, अप्रामाणिकत्वेन कारणगुणानामाकाशकुशेशयसदृशवपुषामपेक्षणीयत्वाभावात् ।

न कारणगुणग्राहि प्रत्यक्षमुपपद्यते ।
चक्षुरादेः परोक्षत्वात् प्रत्यक्षास्तद्गुणाः कथम् ।।
लिङ्गं चादृष्टसम्बन्धं न तेषामनुमापकम् ।
यथार्थबुद्धिसिद्धिस्तु निर्दोषादेव कारकात् ।।

यदि हि यथार्थत्वायथार्थत्वरूपद्वयरहितं किञ्चिदुपलब्ध्याख्यं कार्यं भवेत्ततः कार्यत्रैविध्यात् कारणत्रैविध्यमवश्यमवसीयेत। यथार्थोपलब्धेर्गुणवत्कारकं कारकम्, अयथार्थोपलब्धेर्दोषकलुषं कारकं कारकम्, उभयरूपरहितायास्तु तस्याः स्वरूपावस्थितमेव कारकं कारकमिति। न त्वेवमस्ति, द्विविधैव खल्वियमुपलब्धिः यथार्थत्वायथार्थत्वभेदेन। तत्रायथार्थोपलब्धिस्तावद् दुष्टकारककार्यैव दृष्टा ।

दृष्टः कुटिलकुम्भादिसम्भवो दुष्टकारणात् ।
तथा मानान्तरमितात्तिमिरादेर्द्विचन्द्रधीः ।।

अयथार्थोपलब्धौ च दुष्टकारककार्यत्वेन सिद्धायामिदानीं तृतीयकार्याभावात् यथार्थोपलब्धिः स्वरूपावस्थितेभ्य एव कारकेभ्योऽवकल्पत इति न गुणकल्पनायै

विचार किया जायेगा? कारक के अतिरिक्त गुण की अपेक्षा तो असम्भव होगा। क्योंकि अप्रामाणिक होने के कारण कारण गुण तो आकाश कमल के समान स्वरूप वाले होंगे। अतः उनकी अपेक्षा नहीं कही जा सकती। कारण भूत गुण का ग्राहक प्रत्यक्ष उपपन्न नहीं है। क्योंकि चक्षु आदि के परोक्ष होने के कारण तद्गत गुणों को प्रत्यक्ष कैसे कहा जा सकता? कोई हेतु जिस में उन चक्षु एवं तद्गत गुणों की व्याप्ति गृहीत नहीं होगी, किस प्रकार गुण का अनुमापक हो पायेगा? अतः ज्ञान यथार्थ है प्रमाण है और इसकी सिद्धि दोष रहित कारक से ही मान्य है।

यदि यथार्थता और अयथार्थता इन दो रूपों से रहित कोई उपलब्धि नामक कार्य हो तब कार्य की त्रिविधता से कारण की भी त्रिविधता अवश्य निश्चित होगी कि यथार्थ उपलब्धि का अर्थात् यथार्थ ज्ञान का कारक गुणवान् होता है और अयथार्थ उपलब्धि का अर्थात् अयथार्थ ज्ञान का कारक दोषकलुषित कारक होता है। एवं यथार्थता और अयथार्थता दोनों से रहित उपलब्धि का कारक स्वरूपावस्थित अर्थात् गुणदोषोभयानपेक्ष होता है। किन्तु ऐसा तो है नहीं। क्योंकि दो प्रकार की हीं उपलब्धियां हैं – यथार्थ और अयथार्थ के भेद से। उक्त दो प्रकार की उपलब्धियों के अन्दर अयथार्थ उपलब्धि से दुष्ट कारक का ही कार्य होती पायी जाती है। दोषयुक्त कारण से टेढ़ापन आदि दोषयुक्त घट आदि का उत्पाद देखा जाता है। उसी प्रकार प्रमाणान्तर से अवगत होने वाले 'तिमिर' आदि से दो चन्द्र का ज्ञान आदि कार्य होता है। अयथार्थ उपलब्धियां दोष घटित कारकों से उत्पन्न होती हैं। ऐसा सिद्ध हो जाने पर अब तृतीय प्रकार के कार्य के अभाव प्रयुक्त यथार्थ उपलब्धियां स्वरूप में अवस्थित कारक से ही उत्पन्न होने वाली मान्य हैं। इसलिए वे

प्रभवति। अनुमाने च यैव पक्षधर्मान्वयादिसामग्री ज्ञानस्य जनिका सैव प्रामाण्यकारणत्वेन दृष्टा। न च स्वरूपस्थितानि कारणानि कार्यजन्मन्युदासते एव, येन यथार्थोपलब्धिजनने तेषां गुणसहकारिता कल्प्यते इत्यतो न सन्ति कारणगुणाः। नैर्मल्यव्यपदेशस्तु लोचनादेः काचकामलादिदोषापायनिबन्धन एव न स्वरूपातिरिक्तगुणकृतः अञ्जनाद्युपयोगोऽपि दोषनिर्हरणायैव न गुणजन्मने ।

तस्मादवितथा संवित् स्वरूपस्थितहेतुजा ।
दोषाधिकैस्तु तैरेव जन्यते विपरीतधीः ।।
अत एवाप्रमाणत्वं परतोऽभ्युपगम्यते ।
जन्मन्यपेक्षते दोषान् बाधकं च स्वनिश्चये ।।

तस्मान्नोत्पत्तौ गुणापेक्षं प्रामाण्यम्। नापि स्वकार्यकरणे किञ्चिदपेक्षते अर्थप्रकाशनस्वभावस्यैव तस्य स्वहेतोरुत्पादात्। अर्थप्रकाशनमेव च प्रमाणकार्यं प्रवृत्त्यादेः पुरुषेच्छानिबन्धनत्वात् ।

नैव वा जायते ज्ञानं जायते वा प्रकाशकम् ।
अर्थप्रकाशने किञ्चिन्न तूत्पन्नमपेक्षते ।।

उपलब्धियां गुण के लिए कल्पक नहीं हो पाती हैं। अनुमान स्थल में जो ही पक्षता और व्याप्ति आदि घटित सामग्री ज्ञान की उत्पादिका होती है, वही प्रामाण्य के भी कारण रूपमें दृष्ट है।

स्वस्वरूप में अवस्थित कारण कार्य की उत्पत्ति में उदासीनता का ग्रहण करते हैं – ऐसी बात नहीं है। जिसके कारण यथार्थ ज्ञान की उत्पादन में उनके लिए गुण की सहकारिता की कल्पना की जाय। इसलिए कारण गुण मान्य नहीं है। निर्मलता आदि का व्यवहार भी काच कामला आदि दोषों के अपनयन प्रयुक्त ही होते हैं, कारण स्वरूपातिरिक्त गुण के सम्पादन प्रयुक्त नहीं। अञ्जन आदि का उपयोग भी दोषों के अपनयन के लिए ही किया जाता है, अतिरिक्त गुण की उत्पत्ति के लिए नहीं। इसलिए ज्ञान यथार्थ स्वरूप में स्थित कारणों से ही होता है और तदधिक दोष के जुट आने पर विपरीत ज्ञान अर्थात् अयथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिए अप्रामाण्य को परतः माना जाता है। अप्रमाज्ञान अपने जन्म में दोषो की अपेक्षा रखता है और अपने निश्चय में अपेक्षा रखता है बाध ज्ञान की। इसलिए प्रामाण्य अपनी उत्पत्ति में गुण की अपेक्षा नहीं रखता है और अपने कार्य के करने में भी किसी और की अपेक्षा नहीं करता है, क्योंकि अपने हेतुओं से ज्ञान का उत्पाद अर्थ प्रकाशन सामर्थ्य युक्त रूप में ही होता है। प्रमाज्ञान का कार्य अर्थ का प्रकाशन ही है। क्योंकि प्रवृत्ति आदि तो व्यक्ति की इच्छा के अधीन हुआ करती है। सारांश यह कि प्रमा ज्ञान उत्पन्न न हो – यह बात दूसरी है। परन्तु यदि वह उत्पन्न होता है तो अपने विषय के प्रकाशन में किसी और की अपेक्षा नहीं करता। जैसा कि कहा भी गया है कि 'घड़ा अपने जन्म में तो दण्ड चक्र आदि की अपेक्षा रखता है किन्तु जलाहरण में

तथा चोक्तम् –

मृद्दण्डचक्रसूत्रादि घटो जन्मन्यपेक्षते ।
उदकाहरणे त्वस्य तदपेक्षा न विद्यते ।। इति ।

अथ वा –

सापेक्षत्वं घटस्यापि सलिलाहरणं प्रति ।
यत्किञ्चिदस्ति न त्वेवं प्रमाणस्योपपद्यते ।।
न च स्वग्रहणापेक्षं ज्ञानमर्थप्रकाशकम् ।
तस्मिन्ननवबुद्धेऽपि तत्सिद्धेश्चक्षुरादिवत् ।।

उक्तं च 'न ह्यज्ञातेऽर्थे कश्चिद् बुद्धिमुपलभते ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति' इति। तस्मात्स्वकार्यकरणेऽपि न स्वग्रहणापेक्षं प्रमाणम्। नापि प्रामाण्यनिश्चये किञ्चिदपेक्षते अपेक्षणीयाभावात्। तथा ह्यस्य कारणगुणज्ञानाद्वा प्रामाण्यनिश्चयो भवेद्बाधकाभावज्ञानाद् वा संवादाद्वा। न तावत्कारणगुणज्ञानात् कारणगुणानामिदानीमेव निरस्तत्वात् ।

अपि च न कारकगुणज्ञानमिन्द्रियाकारणकम् अतीन्द्रियकारकाधिकरणत्वेन परोक्षत्वाद् गुणानाम्। अपि तूपलब्ध्याख्यकार्यपरिशुद्धिसमधिगम्यगुणस्वरूपम्, अप्रवृत्तस्य च प्रमातुर्न कार्यपरिशुद्धिर्भवति, तन्नेदानीं प्रमाण्यनिश्चयपूर्विका प्रवृत्तिर्भवेत्। अन्यथा वा अनिश्चितप्रामाण्यादेव ज्ञानात् प्रवृत्तिसिद्धौ किं पश्चात्तन्निश्चयेन प्रयोजनम्। निश्चितप्रामाण्यात्तु

उनकी अपेक्षा बिलकुल नहीं करता है। अथवा घड़े को भी जलाहरण के प्रति और किसी की अपेक्षा भले ही हो जाय परन्तु प्रमा ज्ञान के उस प्रकार अर्थ प्रकाशन में स्वग्रहण तक की अपेक्षा नहीं होती है। उसके न समझे जाने पर भी चक्षु आदि के समान उस से अर्थ का प्रकाशन सिद्ध हो जाता है। तभी यह कहा गया है कि 'जब तक विषय नहीं समझ लिया जाता है तब तक कोई भी व्यक्ति बुद्धि की उपलब्धि करता नहीं। इसलिए प्रमाण अपने कार्य के करने में अपने ग्रहण की अपेक्षा नहीं रखता है। इसी प्रकार वह स्वगत प्रामाण्य के ग्रहण में भी किसी की अपेक्षा नहीं करता। क्योंकि वैसा कोई अपेक्षणीय नहीं होता। इसे इस प्रकार समझा जाय कि ज्ञानगत प्रामाण्य का निश्चय क्या कारणीभूत गुण के ज्ञान से होगा, या बाधकाभाव के ज्ञान से, अथवा सम्वाद से? कारणीभूत गुण के ज्ञान से वह होगा, यह इसलिए नहीं कहा जा सकता कि गुण की कारणता खण्डित की जा चुकी है। और यह भी कि कारणीभूत गुण का ज्ञान इन्द्रिय कारण से नहीं कहा जा सकता। क्योंकि चक्षु आदि अतीन्द्रिय कारकाश्रित होने के कारण गुण भी अतीन्द्रिय ही होगा। किन्तु गुण का स्वरूप उपलब्धि रूप कार्य के द्वारा समधिगम्य होगा। अप्रवृत्त प्रमाता को कार्य की परिशुद्धि नहीं होती। इसलिए तब प्रवृत्ति प्रामाण्य निश्चयपूर्वक हो नहीं पायेगी। और अन्य प्रकार से भी वह नहीं हो पायेगी। यदि अनिश्चित प्रामाण्यक ज्ञान से ही प्रवृत्ति हो तो उसके पश्चात्कालिक निश्चय से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? और निश्चित प्रामाण्यक ज्ञान से प्रवृत्ति

प्रवृत्तौ दुरतिक्रमः चक्रककक्रकचपातः। प्रवृत्तौ सत्यां कार्यपरिशुद्धिग्रहणं, कार्यपरिशुद्धिग्रहणात्कारणगुणावगतिः, कारणगुणावगतेः प्रामाण्यनिश्चयः, प्रामाण्यनिश्चयात्प्रवृत्तिरिति। नापि बाधकाभावपरिच्छेदात्प्रामाण्यनिश्चयः, स हि तात्कालिको वा स्यात्कालान्तरभावी वा ।

तात्कालिको न पर्याप्तः प्रामाण्यपरिनिश्चये ।

कूटकार्षापणादौ किञ्चित् कालमनुत्पन्नबाधकेऽपि कालान्तरे तदुत्पाददर्शनात् ।

सर्वथा तदभावस्तु नासर्वज्ञस्य गोचरः।।

अथ संवादात्प्रामाण्यनिश्चय उच्यते, तर्ह्युच्यतां कोऽयं संवादो नाम। किमुत्तरं तद्विषयं ज्ञानमात्रम् उतार्थान्तरज्ञानम् आहोस्विदर्थक्रियाज्ञानमिति। आद्ये पक्षे कः पूर्वोत्तरज्ञानयोर्विशेषो यदुत्तरज्ञानसम्वादात्पूर्वं पूर्वं ज्ञानं प्रामाण्यमश्नुवीत ।

अपि चोत्तरसंवादात्पूर्वपूर्वप्रमाणताम् ।
वदन्तो नाधिगच्छेयुरन्तं युगशतैरपि ।।
सुदूरमपि गत्वा तु प्रामाण्यं यदि कस्य चित् ।
स्वत एवाभिधीयेत को द्वेषः प्रथमं प्रति ।।

मानने पर चक्रक देषात्मक क्रकच का अर्थात् फाड़ डालने वाले आरे का सर पर गिरना हटाया नहीं जा पायेगा। चक्रक दोष इस प्रकार होगा कि प्रवृत्त होने पर कार्य परिशुद्धि का ग्रहण होगा, फिर कार्य परिशुद्धि के ग्रहण से कारणभूत गुण की अवगति होगी। तब कारणभूत गुण की अवगति से ज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय होगा और तब प्रामाण्य निश्चय से प्रवृत्ति होगी।

बाधकाभाव के ज्ञान से भी प्रामाण्य का निश्चय नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वह बाधकाभाव उसी समय माना जायेगा या कालान्तरभावी? तात्कालिक बाधकाभाव प्रामाण्य निश्चय के लिए पर्याप्त नहीं होगा। क्योंकि नकली चौअन्नी आदि के स्थल में कुछ काल तक बाध न होने पर भी पीछे बाध हो उठता है। और सर्वथा बाधक का अभ व तो असर्वज्ञ व्यक्ति के द्वारा ज्ञात नहीं किया जा सकता। यदि सम्वाद से प्रामाण्य का निश्चय माना जाता है तो कहिए यह 'सम्वाद' क्या है? क्या परवर्ती तद्विषयक ज्ञानमात्र या परवर्ती अर्थान्तर का ज्ञान अथवा अर्थक्रिया का ज्ञान अर्थात् प्रयोजन सिद्धि का ज्ञान? प्रथम पक्ष में प्रश्न यह उठेगा कि पूर्वज्ञान से उत्तरवर्त्ती ज्ञान में क्या ऐसी विशेषता होगी कि उत्तर ज्ञानात्मक सम्वाद से पूर्ववर्ती ज्ञान प्रामाण्य को प्राप्त करेगा। और यह भी कि उत्तर ज्ञानात्मक सम्वाद से पूर्व पूर्व ज्ञान की प्रमाणता को मानने एवं कहने वाले तब अन्तिम ज्ञान को कभी प्रमात्मक नहीं समझ पायेंगे। और दूर जाकर यदि किसी अर्थात् अन्तिम ज्ञान को स्वतः प्रमाण माना एवं समझा जाय तो प्रथम ज्ञान के प्रति ऐसा द्वेष क्यों कि वह परतः प्रमाण हो और समझा जाय? जैसा कि कहा भी गया है कि 'किसी भी ज्ञान में यदि

प्रवृत्तौ दुरतिक्रमः चक्रकक्रकचपातः। प्रवृत्तौ सत्यां कार्यपरिशुद्धिग्रहणं, कार्यपरिशुद्धिग्रहणात्कारणगुणावगतिः, कारणगुणावगतेः प्रामाण्यनिश्चयः, प्रामाण्यनिश्चयात्प्रवृत्तिरिति। नापि बाधकाभावपरिच्छेदात्प्रामाण्यनिश्चयः, स हि तात्कालिको वा स्यात्कालान्तरभावी वा ।

तात्कालिको न पर्याप्तः प्रामाण्यपरिनिश्चये ।
कूटकार्षापणादौ किञ्चित् कालमनुत्पन्नबाधकेऽपि कालान्तरे तदुत्पाददर्शनात् ।
सर्वथा तदभावस्तु नासर्वज्ञस्य गोचरः।।

अथ संवादात्प्रामाण्यनिश्चय उच्यते, तर्ह्युच्यतां कोऽयं संवादो नाम। किमुत्तरं तद्विषयं ज्ञानमात्रम् उतार्थान्तरज्ञानम् आहोस्विदर्थक्रियाज्ञानमिति। आद्ये पक्षे कः पूर्वोत्तरज्ञानयोर्विशेषो यदुत्तरज्ञानसम्वादात्पूर्वं पूर्वं ज्ञानं प्रामाण्यमश्नुवीत ।

अपि चोत्तरसंवादात्पूर्वपूर्वप्रमाणताम् ।
वदन्तो नाधिगच्छेयुरन्तं युगशतैरपि ।।
सुदूरमपि गत्वा तु प्रामाण्यं यदि कस्य चित् ।
स्वत एवाभिधीयेत को द्वेषः प्रथमं प्रति ।।

मानने पर चक्रक देषात्मक क्रकच का अर्थात् फाड़ डालने वाले आरे का सर पर गिरना हटाया नहीं जा पायेगा। चक्रक दोष इस प्रकार होगा कि प्रवृत्त होने पर कार्य परिशुद्धि का ग्रहण होगा, फिर कार्य परिशुद्धि के ग्रहण से कारणभूत गुण की अवगति होगी। तब कारणभूत गुण की अवगति से ज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय होगा और तब प्रामाण्य निश्चय से प्रवृत्ति होगी।

बाधकाभाव के ज्ञान से भी प्रामाण्य का निश्चय नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वह बाधकाभाव उसी समय माना जायेगा या कालान्तरभावी? तात्कालिक बाधकाभाव प्रामाण्य निश्चय के लिए पर्याप्त नहीं होगा। क्योंकि नकली चौअन्नी आदि के स्थल में कुछ काल तक बाध न होने पर भी पीछे बाध हो उठता है। और सर्वथा बाधक का अभ व तो असर्वज्ञ व्यक्ति के द्वारा ज्ञात नहीं किया जा सकता। यदि सम्वाद से प्रामाण्य का निश्चय माना जाता है तो कहिए यह 'सम्वाद' क्या है? क्या परवर्ती तद्विषयक ज्ञानमात्र या परवर्ती अर्थान्तर का ज्ञान अथवा अर्थक्रिया का ज्ञान अर्थात् प्रयोजन सिद्धि का ज्ञान? प्रथम पक्ष में प्रश्न यह उठेगा कि पूर्वज्ञान से उत्तरवर्त्ती ज्ञान में क्या ऐसी विशेषता होगी कि उत्तर ज्ञानात्मक सम्वाद से पूर्ववर्ती ज्ञान प्रामाण्य को प्राप्त करेगा। और यह भी कि उत्तर ज्ञानात्मक सम्वाद से पूर्व पूर्व ज्ञान की प्रमाणता को मानने एवं कहने वाले तब अन्तिम ज्ञान को कभी प्रमात्मक नहीं समझ पायेंगे। और दूर जाकर यदि किसी अर्थात् अन्तिम ज्ञान को स्वतः प्रमाण माना एवं समझा जाय तो प्रथम ज्ञान के प्रति ऐसा द्वेष क्यों कि वह परतः प्रमाण हो और समझा जाय? जैसा कि कहा भी गया है कि 'किसी भी ज्ञान में यदि

यदाह – कस्य चित्तु यदीष्येत स्वत एव प्रमाणता ।
प्रथमस्य तथाभावे विद्वेषः किन्निबन्धनः ।। इति ।

अथान्यविषयज्ञानमप्यस्य संवाद उच्यते, तदयुक्तम् अदर्शनात्। न हि स्तम्भज्ञानं कुम्भज्ञानस्य संवादः।

अथार्थक्रियाज्ञानसंवादात् प्रथमस्य प्रवर्त्तकस्य ज्ञानस्य प्रामाण्यमिष्यते तदपि ह्यनवसितप्रामाण्यं कथमादिमस्य प्रामाण्यमवगमयेत्। कश्चार्थक्रियाज्ञानस्य पूर्वस्माद्विशेषो यदेतदायत्तस्तस्य प्रामाण्याधिगमः। अर्थक्रियाज्ञानत्वमेव विशेष इति चेत्किल सलिलज्ञानमाद्यमविद्यमानेऽपि पयसि पूषदीधितिषु दृष्टमिति न भवति विस्रम्भभूमिः। इदं पुनरर्थक्रियासंवेदनमम्बुमध्यवर्तिनः पानावगाहनादिविषयमपीत्यनवधारितव्यभिचारतया तत्प्रामाण्यनिश्चयाय कल्पत इति। तदसत्, स्वप्ने पानावगाहनस्यापि व्यभिचारोपलब्धेः। किञ्च चरमधातुविसर्गोऽपि स्वप्नसीमन्तिनीमन्तरेण भवतीति महानेष व्यभिचारः ।

अथ रागोद्रेकनिमित्तत्वेन पित्तादिधातुविकृतिनिबन्धनत्वेन वा तद्विसर्गस्य न स्वसाधन-व्यभिचार इत्युच्यते। तदसमञ्जसम्। असकृदनुभूतयुवतिपरिरम्भाद्यन्वयव्यतिरेकानु-

स्वतः प्रमाणता मानी जाय तो प्रथम ज्ञान की वैसी मान्यता में द्वेष किंमूलक? यदि परवर्ती अन्य विषयक ज्ञान को भी सम्वाद माना जाय तो, वह उचित नहीं होगा। क्योंकि वैसा देखा नहीं जाता है। स्तम्भ का ज्ञान कुम्भ ज्ञान के लिए सम्वाद नहीं होता है। यदि यह कहा जाय कि अर्थक्रियाज्ञान के सम्वाद से प्रवर्तक प्रथम ज्ञान का प्रामाण्य माना जायेगा, तो वह भी ज्ञान, जिसमें कि प्रामाण्य का निश्चय नहीं हुआ रहेगा, कैसे प्रथम ज्ञानमें प्रामाण्य का निर्णय करायेगा? और अर्थ क्रिया के ज्ञान में पूर्वज्ञान में क्या ऐसी विशेषता होगी कि उसके अधीन होगा उसका प्रामाण्य निश्चय?

इस पर यदि यह कहा जाय कि यही अर्थक्रिया ज्ञानमें विशेषता होगी कि वह अर्थक्रिया का ज्ञान होगा तो जल के न होते हुए भी सूर्य की किरणों में प्रथम होने वाला जल का ज्ञान होता पाया जाता है। इसलिए उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता है। किन्तु यह अर्थक्रिया का सम्वेदन जल गत व्यक्ति के लिए पान और स्नान आदि विषयक होता है। इसलिए उसमें व्यभिचार निश्चय नहीं होने के कारण वह अर्थक्रिया सम्वेदनात्मक ज्ञान उसके प्रामाण्य के निश्चय के सम्पादक माना जाता है। तो यह कथन भी सही नहीं हैं। क्योंकि स्वप्न में पान स्नान आदि का भी तो व्यभिचार होता पाया जाता है। और यहां तक कि स्वप्न में स्त्री के न रहने पर भी स्वप्नद्रष्टा को शुक्र पात तक हो जाता है। यह तो महान् व्यभिचार होता है। इस पर यदि यह कहा जाय कि ऐसा तो वहाँ स्त्री विषयक अनुराग के बढ़ जाने के कारण होता है अथवा पित्त आदि शरीर गत धातु के विकार प्रयुक्त होता है। इसलिए वहाँ के शुक्र पात में अपने कारण का व्यभिचार नहीं दिखलाया जा सकता तो यह कथन भी उचित नहीं है। क्योंकि बारम्बार युवतियों के आलिङ्गन आदि के अन्वय और

विधायित्वेन तत्कार्यत्वावधारणात् ।

तस्मादर्थक्रियाज्ञानव्यभिचारावधारणात् ।
तत्प्रामाण्यपरीक्षायामनवस्था न शाम्यति ।।
अथ वाप्तफलत्वेन किं तत्प्रामाण्यचिन्तया ।

न चेदमर्थक्रियाज्ञानमप्रवृत्तस्य पुंसः समुद्भवति । तत्र प्रामाण्यावधारणपूर्विकायां प्रवृत्तौ कारणगुणनिश्चेयप्रामाण्यचर्चाबद्धचक्रकक्रकचचोद्यप्रसङ्गस्तदवस्थ एव अनिश्चित प्रामाण्यस्य तु प्रवृत्तौ पश्चात्तन्निर्णयो भवन्नपि कृतक्षौरस्य नक्षत्रपरीक्षावदफल एवेत्युक्तम्।

तत्रैतत्स्याद् द्विविधा हि प्रवृत्तिः आद्या चाभ्यासिकी च। तत्राद्या यथा विनिहित सलिलावसिक्तमसृणमृदि शरावे शाल्यादिबीजशक्तिपरीक्षणाय कतिपय बीजकणावापरूपा। ततस्तत्र तेषामङ्कुरकरणकौशलमविकलमवलोकयन्तः कीनाशा निःशङ्कं केदारेषु तानि बीजान्यावपन्तीति सेयमाभ्यासिकी प्रवृत्तिः। एवमिहापि प्रथमपरीक्षितप्रमाणभावादेव ज्ञानात्कुतश्चित्कश्चिद्विपश्चिदपि व्यवहरंस्तद्व्यवहार परस्तत्तत्फलज्ञाने तस्य प्रामाण्यमवगच्छन् पुनस्तथाविधे जाते सति सुखमेव प्रवृत्त्यादिकं व्यवहारमशङ्कितकालुष्यः करिष्यतीति न सर्वात्मना वैयर्थ्यमिति। उच्यते विषमोऽयं दृष्टान्तः– तज्जातीयतया बीजं शक्यते यदि वेदितुम् ।

व्यतिरेक का अनुभव होने के कारण उक्त प्रकार के शुक्रपात आदि में तत्कार्यता का ही निश्चय होता है।

इसलिए अर्थक्रिया ज्ञान में व्यभिचार का निश्चय होने के कारण अनवस्था रुकती नहीं है। अथवा फल प्राप्त हो जाने पर ज्ञान के प्रामाण्य के विचार से क्या लाभ? और यह कि अप्रवर्त्तमान व्यक्ति को तो अर्थक्रिया का अर्थात् प्रयोजन सम्पत्ति का ज्ञान नहीं होता है। ऐसी परिस्थिति में प्रवृत्ति के प्रामाण्य निश्चय पूर्वक ही होने के कारण, कारणगत गुण के द्वारा निश्चेतव्य प्रामाण्य की चर्चा से सम्बद्ध चक्रक दोषात्मक क्रकच अर्थात् फाड़ डालने वाले आरे के गिरने का प्रसङ्ग तदवस्थ अर्थात् पूर्व कथनानुसार रह ही जाता है। प्रामाण्य निश्चय के बिना ही प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति के लिए पीछे उसका होने वाला निश्चय क्षौर कर लेने पर नक्षत्र परीक्षा के समान निष्फल ही होगा – यह बात कही जा चुकी है।

वहाँ यह हो सकेगा कि प्रवृत्ति दो तरह की होती है प्रथम और आभ्यासिक। उन दोनों के अन्दर प्रथम वह होती है, जो कि जल सेक से स्निग्ध होने वाले मृत्पात्र में धान आदि के बीज की शक्ति के परीक्षण के लिए कुछ बीज रख दिये जाते हैं। तदनन्तर द्वितीय प्रवृत्ति वह होती है जो कि वहाँ बीजों की अङ्कुरण कुशलता को पूर्ण देखकर खेती करने वाले निश्शङ्क भाव से खेतों में छीटते हैं। इसी प्रकार यहाँ भी पहले प्रमाण रूप से परीक्षित किसी ज्ञान से व्यवहार करने वाले लोग उस पूर्व व्यवहार के अनन्तर उसके फल के ज्ञान में प्रामाण्य जानते हुए फिर वैसा ज्ञान होने पर अनायास शङ्काकलुषरहित भाव से प्रवृत्ति आदि व्यवहार करेंगे, इसलिए पूर्णरूप से व्यर्थता नहीं बतलायी जा सकती। तो इसका उत्तर यह कहा जा रहा है कि यह दृष्टान्त विषम है कि बीज के स्थल में तज्जातीयता के

तत्र तन्निश्चयाद्युक्तं निर्विशङ्कं प्रवर्त्तनम् ।।
ज्ञाने तथाविधत्वं तु बोधरूपाविशेषतः ।
कार्याद्वा कारणाद्वापि ज्ञातव्यं न स्वरूपतः ।। इति।
कारणानां परोक्षत्वान्न तद्द्वारा तदा गतिः ।
कार्यात्तु नाप्रवृत्तस्य भवतीत्युपवर्णितम् ।।
तस्माद्वैयर्थ्यचोद्यस्य नायं परिहृतिक्रमः ।
एवं चार्थक्रियाज्ञानात्कीदृक् प्रामाण्यनिश्चयः ।।
समर्थकारणज्ञानाद् योऽपि प्रामाण्यनिश्चयम् ।
ब्रूते सोऽपि कृतोद्वाहस्तत्र लग्नं परीक्षते ।।

अतिविकसितकुसुममकरन्दपानमुदितमधुकरकुले कस्मिंश्चिदुद्याने वाद्यमानायां वीणायां निरन्तरलतासन्तानान्तरितवपुषि विदूरादनवलोक्यमाने वादके वीणाध्वनिसंविदि रोलम्बनादसंदेहदूषितायां तदभिमुखमेव प्रतिष्ठमानः श्रोता परिवादके दर्शनपथमवतीर्णे स्वरानुकूलकारणनिश्चयात् तत्प्रतीतौ संशयनिवृत्तेः प्रामाण्यं निश्चिनोतीत्येष समर्थकारणज्ञानकृतः प्रामाण्यनिश्चयः ।

तत्रापि नाप्रवृत्तस्य हेतुसामर्थ्यदर्शनम् ।
एवमेव प्रवृत्तौ तु निश्चितेनापि तेन किम् ।।

कारण बीज अङ्कुरण शक्ति युक्त समझा जा सकता है। इसलिए तन्निश्चय प्रयुक्त निश्शङ्क भाव से प्रवृत्त होना उचित है। किन्तु ज्ञान में तो ज्ञानों की अविशेषता के कारण तथा विधता अर्थात् प्रामाण्य का निश्चय कार्य अथवा कारण से ही समझा जा सकता है स्वरूपतः नहीं। कारणों के परोक्ष होने के कारण उसके द्वारा उसका ज्ञान हो नहीं सकता। कार्य से तब तक नहीं हो सकता जब तक प्रवृत्ति न हो जाए– यह कहा जा चुका है। इसलिए वैयर्थ्यापत्ति के परिहार का यह तरीका नहीं है। ऐसी परिस्थिति में अर्थक्रिया के ज्ञान से प्रमाण्य का निश्चय कैसे कहा जा सकता है?

और जो लोग समर्थ कारण के ज्ञान से प्रामाण्य का निश्चय बतलाते हैं, वह भी विवाह कर लेने के बाद मानों उसके शुभाशुभ मुहूर्त का विचार करते हैं। ऐसे किसी उद्यान में, जहाँ कि मधुकरों का समुदाय अतिविकसित कुसुमों के मकरन्द पान से मुदित हों, बीणा बजाई जा रही हो, और वीणावादक सघन लता सन्तान से आवृत शरीर होने के कारण देखा न जा रहा हो, इसलिए दूरवर्ती वीणा ध्वनि के श्रोताओं को वीणा ध्वनि के सम्बन्ध में भौरों के ध्वनि का सन्देह होता हो, तो उधर ही चल पड़ने वाला श्रोता वीणावादक को देखकर स्वरानुकूल कारण का निश्चय होने से संशय निवृत्त हो जाने पर प्रामाण्य का निश्चय करता है। यह प्रामाण्य निश्चय समर्थ कारणज्ञान कृत होता है। वहाँ भी अप्रवृत्त व्यक्ति को हेतुगत सामर्थ्य का ज्ञान नहीं होता। यों ही प्रवृत्त होने पर हेतु सामर्थ्य के दर्शन से क्या लाभ? उसके निश्चय से प्रवृत्ति होने पर पुनः अन्योन्य का आश्रयण होगा।

तन्निश्चयात्प्रवृत्तौ वा पुनरन्योन्यसंश्रयम् ।
तन्निश्चयात्प्रवृत्तिः स्यात्प्रवृत्तेस्तद्विनिश्चयः ।।

तदेवं न कुतश्चिदपि प्रामाण्यनिश्चयः। चक्रकेतरेतराश्रयानवस्था वैयर्थ्यादिदूषणातीतस्थितिरस्तीति। अतः प्रामाण्यनिश्चयेऽपि न किञ्चिदपेक्ष्यते प्रमाणम्। ततश्चोत्पत्तौ स्वकार्यकरणे स्वप्रामाण्यनिश्चये च निरपेक्षत्वादपेक्षात्रयरहितत्वात्स्वतः प्रामाण्यमिति सिद्धम् । तदुक्तम् –

स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गृह्यताम् ।
न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते ।।

अप्रामाण्यं तूत्पत्तौ दोषापेक्षत्वात्स्वनिश्चये बाधकप्रत्ययादिसापेक्षत्वात्परत इत्युक्तमेव। तस्मात् पक्षत्रयस्यानुपपत्तेश्चतुर्थ एवायं पक्षः श्रेयान्। प्रामाण्यम् स्वतः अप्रामाण्यम् परत इति।

ननु चोत्पत्तिवेलायां न विशेषोऽवधार्यते ।
प्रमाणेतरयोस्तेन बलाद्भवति संशयः ।।

परिच्छित्तिमात्रं प्रमाणकार्यं तच्च यथार्थेतरमितिसाधारणं रूपं साधारणधर्मग्रहणं च संशयकारणमिति प्रसिद्धः पन्थाः । एवं च स्थिते –

प्रमाणान्तरसंवादविसंवादो विना कथम् ।
प्रमाणेतरनिर्णीतिरतश्च परतो द्वयम् ।।

क्योंकि उसके निश्चय से प्रवृत्ति होगी और प्रवृत्ति से उसका निश्चय होगा। तो इस प्रकार किसी से भी प्रामाण्य का निश्चय नहीं होगा।

क्योंकि चक्रक, अन्योन्याश्रय, अनवस्था, वैयर्थ्य आदि दूषणों की पूर्वोक्त स्थिति उपस्थित होगी। इसलिए प्रामाण्य के निश्चयार्थ भी प्रमाण अपेक्षित नहीं होता। जैसा कि कहा गया है–'सारे प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः होता है' ऐसा निश्चय करना चाहिए। स्वतः अविद्यमान शक्ति और किसी के द्वारा नहीं की जा सकती है। किन्तु अप्रामाण्य उत्पत्ति में दोषापेक्षी होने के कारण तथा अपने निश्चय में बाधक प्रत्यय की अपेक्षा रखता है। इसलिए वह परतः ही मान्य है – यह कहा जा चुका है। इसलिए पक्षत्रय की अनुपपत्ति प्रयुक्त यह चतुर्थ पक्ष ही श्रेयस्कर है कि प्रामाण्य स्वतः होता है और अप्रामाण्य परतः। इस पर प्रश्न यह उपस्थापित होता है कि ज्ञान की उत्पत्ति के समय तो उस में कोई विशेषता अवगत नहीं होती है। वह ज्ञान प्रमाण है या अप्रमाण– यह ज्ञानोत्पत्ति के समय पता नहीं चलता है। इसलिए पीछे बल पूर्वक संशय होता है। ऐसा इसलिए होता है कि प्रमाण का कार्य तो परिच्छित्तिमात्र अर्थात् ज्ञानमात्र होता है। इसलिए यह उसका यथार्थ और तदितर ज्ञान साधारण रूप और साधारण धर्म का ग्रहण संशय का कारण होता है – यह मार्ग प्रसिद्ध है। इस स्थिति में प्रमाणान्तर के सम्वाद और विसम्वाद के बिना ज्ञान प्रमाण है या

तदेतदचतुरस्त्रम्, सत्यं परिच्छित्तिरेव प्रमाणकार्यम्। सा पुनरुपजायमानैव न संदेहादिदूषितनुरुपलभ्यते इत्यौत्सर्गिकं प्रामाण्यमेव सा भजते। अर्थपरिच्छेदाच्च प्रवर्त्तमानः प्रमाता प्रमाणेनैव प्रवर्तितो भवति न संशयात्प्रवृत्तः। स्थितिश्चैवमौत्सर्गिके प्रामाण्ये यत्र तस्यापवादः क्व चिद्भवति तत्राप्रामाण्यम्, अप्रामाण्ये चावश्यंभावी अपवादः। द्विविध एव तदपवादः बाधकप्रत्ययः कारणदोषज्ञानं च। तदुक्तं भाष्यकृता 'यत्र च दुष्टं करणं यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः स एवासमीचीनः प्रत्ययो नान्य' इति। वार्त्तिककारोऽप्याह ।

तस्माद्बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता ।
अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादपोद्यते ।। इति

तत्र बाधकज्ञानं पूर्वज्ञानोपमर्दद्वारेणैव तस्मिन् विषये जायत इति समानविषयत्वात् स्पष्टमेव बाधकम्। कारणदोषज्ञानं तु भिन्नविषयमपि कार्यैक्याद् बाधकतां प्रतिपद्यते। यथा चमसेनापः प्रणयन्तीति दर्शपूर्णमासाङ्गत्वात् क्रत्वर्थश्चमसः, गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेदिति काम्यमानपशुनिर्देशात्पुरुषार्थे गोदोहनेन निर्वृत्ते तस्मिंश्चमसो निवर्त्तते। एवमिह

अप्रमाण– इसका निश्चय कैसे हो सकता है, इसलिए दोनों को परतः मानना चाहिए। यह चतुरस्त्र अर्थात् पूर्ण फलतः मान्य नहीं है। यह सही है कि प्रमाण का कार्य प्रमिति मात्र है। और वह उत्पन्न होती ही हुई सन्देह आदि से दूषित स्वरूप वाली उपलब्ध नहीं होती है।

इसलिए औत्सर्गिक रूपमें अर्थात् सामान्यतः प्रामाण्य को ही वह भजन करती है अर्थात् प्रमाण ही होती है। अर्थ का परिच्छेद अर्थात् वस्तु का ज्ञान होने पर प्रवर्त्तमान प्रमाता प्रमाण के द्वारा ही प्रवृत्त कराया जाता है। संशय से वह प्रवृत्तिसम्पन्न नहीं होता है। औत्सर्गिक प्रामाण्य की स्थिति यही है। परन्तु जहाँ कहीँ उसका अपवाद होता है, वहाँ ज्ञान में अप्रामाण्य होता है। अप्रामाण्य में अवश्यम्भावी अपवाद द्विविध ही होता है। अर्थात् उसके अपवादक दो ही होते हैं। जैसा कि भाष्यकार ने कहा है कि 'जहाँ कारण दुष्ट अर्थात् दोषयुक्त होता है और जहाँ मिथ्या प्रत्यय होता है, वही प्रत्यय असमीचीन होता है अन्य नहीं।' वार्तिककार ने भी कहा है कि 'इसलिए बोधात्मक होने के कारण बुद्धि में प्रमाणता होती है। वह अर्थान्यथात्व के हेतु और उससे होने वाले दोष ज्ञान से अपोदित अर्थात् खण्डित होती है। वहाँ बाधक ज्ञान उस विषय में पूर्व ज्ञान के उपमर्दन पूर्वक ही होता है। इसलिए समन विषयकता प्रयुक्त स्पष्ट रूप में ही बाधक होता है। कारण दोष ज्ञान तो भिन्न विषयक होता हुआ भी कार्यैक्य के कारण बाधकता को प्राप्त करता है। जैसे 'चमसेनापः प्रणयन्ति' अर्थात् चमस नामक पात्र से अप्प्रणयन क्रिया कर्त्तव्य है। इस विधिवाक्य के अनुसार चमस दर्शपौर्णमास नामक याग का अङ्ग है। वह 'गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्' अर्थात् पशुलाभ की कामना होने पर गोदोहन नामक पात्र से प्रणयन करे यहाँ पर काम्यरूप में पशु फल का निर्देश होने के कारण पुरुषार्थ गोदोहन पात्र से ही

कारणदोषज्ञानं दोषविषयमपि दोषाणामयथार्थज्ञानजननस्वभावत्वात्तस्य ज्ञानस्य प्रामाण्यं बाधते। तदुक्तम् –

'दुष्टकारणबोधे तु जातेऽपि विषयान्तरे ।
अर्थात्तुल्यार्थतां प्राप्य बाधो गोदोहनादिवत् ।।इति।

यत्र पुनरिदमपवादद्वयमपि न दृश्यते तत्र तदौत्सर्गिकं प्रामाण्यमनपोदितमास्ते इति न मिथ्यात्वाशङ्कायां निमित्तं किञ्चित्। यदाह –

'दोषज्ञाने त्वनुत्पन्ने नाशङ्का निष्प्रमाणिका । इति ।

तथा हि –

कश्चिदुत्पन्न एवेह स्वसंवेद्योऽस्ति संशयः ।
स्थाणुर्वा पुरुषो वेति को नामापह्नुवीत तम् ।।
हठादुत्पद्यमानस्तु हिनस्ति सकलाः क्रियाः ।
स्वभार्यापरिरम्भेऽपि भवेन्मातरि संशयः ।।
विनाशी संशयात्मेति पाराशर्योऽप्यभाषत ।
नायं लोकोऽस्ति कौन्तेय न परः संशयात्मनः ।। इति ।।

यत्रापि क्वचिद् बाधकप्रत्यये संशयो जायते तत्रापि तृतीयज्ञानापेक्षणान्नानवस्था। न च स्वतः प्रामाण्यहानिः, यत्र प्रथमविज्ञानसंवादि तृतीयज्ञानमुत्पद्यते तत्र प्रथमस्य

सम्पन्न होने के कारण वहाँ चमस निवृत्त हो जाता है। इसी प्रकार यहाँ कारण दोषज्ञान दोष विषयक हाने पर भी दोषगत अयथार्थ जनन स्वभाव के कारण उस ज्ञान के प्रामाण्य का बाधक होता है। जैसा कि कहा गया है – उस दुष्ट कारण के बोध के होने पर, जो कि अन्यविषयक होता है, अर्थतः तुल्यार्थता को प्राप्त कर के गोदोहनादि के समान बाध अर्थात् बाधक हो जाता है जहाँ पर यह अपवाद द्वय भी नहीं देखा जाता है वहाँ तब प्रामाण्य का अपनोदन औत्सर्गिक रूप में अर्थात् स्वाभाविक रूप में हो जाता है। इसलिये मिथ्यात्व के सन्देह में कोई निमित्त नहीं होता है। जैसा कि कहा गया है कि 'दोषज्ञान के न उत्पन्न होने पर निष्प्रमाण अर्थात् अकारण ही आशङ्का नहीं हो सकती'। जैसे कि कोई सन्देह तो ज्ञान के उत्पन्न होते ही होने वाला ज्ञात होता है, यथा 'यह स्थाणु है या पुरुष'? इस संशय का अस्वीकार भला कौन कर सकता है? इस प्रकार होने वाला संशय सारी क्रियाओं का रोक देता है। ऐसा सन्देह इस प्रकार दुर्निवार होता है कि अपनी भार्या के आलिङ्गन में भी मातृ आलिङ्गन का सन्देह हो सकता है। इसीलिए वेद व्यास ने भी यह कहा है कि 'अतिसंशयी व्यक्ति विनाश को प्राप्त करता है। संशयात्मा व्यक्ति को न तो ऐहिक सुख मिलता है और न पार लौकिक'। जहाँ कहीं बाधक प्रत्यय होने पर संशय होता है वहाँ भी तृतीय ज्ञान की अपेक्षा के कारण अनवस्था नहीं होती। स्वतः प्रामाण्य की भी हानि होती नहीं। जहाँ प्रथम ज्ञान का सम्वादी तृतीय ज्ञान होता है, वहाँ पर भी प्रथम ज्ञान

प्रामाण्यमौत्सर्गिकं स्थितमेव। द्वितीयविज्ञानारोपितालीककालुष्यशङ्कानिराकरणं त्वस्य तृतीयेन क्रियते न त्वस्य संवादात्प्रामाण्यम्। यदि तु द्वितीयज्ञानसंवादि तृतीयं ज्ञानं तदा प्रथमस्याप्रामाण्यम्। तच्च परत इष्टमेव। द्वितीयस्य तु ज्ञानस्य न तृतीयसंवादकृतं प्रामाण्यम् अपि तु संङ्कल्प्यमानकुशङ्काचमनमात्रे तस्य व्यापारः। उक्तं च –

एवं त्रिचतुरज्ञानजन्मनो नाधिका मतिः ।
प्रार्थ्यते तावतैवेकं स्वतः प्रामाण्यमश्नुते ।। इति ।

[वेदानामपौरुषेयतयापि स्वतः प्रामाण्यनिरूपणम्]

तदेवं सर्वप्रमाणानां स्वतः प्रामाण्ये सिद्धे समानन्यायतया शब्दस्यापि तथैव प्रामाण्यं भवति। न च नैसर्गिकमर्थासंस्पर्शित्वमेव शब्दस्य स्वरूपमिति परीक्षितमेतत्। किं त्वर्थबोधजनकत्वात्तस्य नैसर्गिके प्रामाण्ये सति पुरुषदोषानुप्रवेशकारितः क्वचिद्धि विप्लवः। तदुक्तम्

शब्दे दोषोद्भवस्तावद्वक्त्रधीन इति स्थितिः।

तत्र पौरुषेये वचसि गुणवति वक्तरि तद्गुणापसारितदोषतया तत्प्रामाण्य मौत्सर्गिकमनपोदितं भवति न तु गुणकृतं तत्प्रामाण्यमनङ्गत्वात् प्रामाण्ये गुणानाम्।

का प्रामाण्य औत्सगिक अर्थात् स्वतः होता है। तृतीय ज्ञान के द्वारा तो द्वितीय विज्ञान के द्वारा आहित अलीक अर्थात् मिथ्या कालुष्य का अर्थात् अप्रामाण्य का निराकरण किया जाता है। इसलिए ज्ञान में प्रामाण्य सम्वाद प्रयुक्त नहीं होता हैं।

यदि तृतीय ज्ञान द्वितीय ज्ञान का सम्वादी होता है तब प्रथम ज्ञान अप्रमाण निश्चित होता है। वहाँ तो अप्रामाण्य परतः इष्ट ही है। द्वितीय ज्ञान में तृतीय ज्ञान के सम्वाद प्रयुक्त प्रामाण्य नहीं होता है। किन्तु उसका व्यापार तो संकल्प्यमान कुशङ्का के आचमन मात्र में होता है। जैसा कि कहा गया है कि – 'इस प्रकार तीन चार से अधिक ज्ञान का जन्म प्रार्थित नहीं होता इसलिए ज्ञान स्वतः प्रामाण्य को ही प्राप्त करता है।

वेद की अपौरुषेयता प्रयुक्त भी स्वतः प्रामाण्य का निरूपण

इसलिए इस प्रकार सभी प्रमाणों के प्रामाण्य स्वतः सिद्ध होने के कारण युक्ति की समानता प्रयुक्त शब्द का भी प्रामाण्य उसी प्रकार मान्य सिद्ध होता है। शब्द का स्वरूप ऐसा नहीं सिद्ध हुआ है कि वह स्वाभाविक रूप में अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं रखता है। किन्तु अर्थबोध का जनक होने के कारण उसका प्रामाण्य स्वाभाविक होने पर वक्ता व्यक्ति के सम्बन्ध के कारण कदाचित् ही विप्लव अर्थात् अप्रामाण्य होता है। तभी यह कहा गया है कि 'शब्द में दोष का उद्भव वक्ता के अधीन ही होता है – यह वस्तु स्थिति है। वहाँ गुणवान् व्यक्ति के वक्ता होने पर उसके गुण से दोष का अपसारण होने पर शब्द का प्रामाण्य निर्विघ्न होता है। शब्द का प्रामाण्य गुणकृत नहीं होता है। क्योंकि गुण प्रामाण्य के अङ्ग नहीं होते। शब्द का प्रामाण्य अर्थबोधकत्व प्रयुक्त ही होता है। वेद स्थल

बोधकत्वनिबन्धनमेव तदित्युक्तम्। वेदे तु प्रणेतुः पुरुषस्याभावात् दोषाशङ्कैव न प्रवर्तते वक्त्रधीनत्वाद्दोषाणाम्। न च बाधकप्रत्ययोऽद्य यावद्वेदार्थे कस्य चिदुत्पन्न इति निरपवादं वेदप्रामाण्यम्। आह च –

तत्रापवादनिर्मुक्तिर्वक्त्रभावाल्लघीयसी ।
वेदे तेनाप्रमाणत्वं न शङ्कामधिगच्छति ।। इति ।

तदिदमुक्तं 'तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वा' दिति ।

गिरां मिथ्यात्वहेतूनां दोषाणां पुरुषाश्रयात् ।
अपौरुषेयं सत्यार्थमिति युक्तं प्रचक्षते ।।
गिरां सत्यत्वहेतूनां गुणानां पुरुषाश्रयात् ।
अपौरुषेयं सत्यार्थमित्ययुक्तं तु मन्वते ।।
न हि पुरुषगुणानां सत्यतासाधनत्वं
वचसि खलु निसर्गादेव सत्यत्वसिद्धिः ।
गुणमपि नरवाचां विप्लवाधायिदोष-
प्रशमनचरितार्थं सङ्गिरन्ते गुणज्ञाः ।।

[मीमांसकाभिमतप्रामाण्यस्वतस्त्वस्य निरासः]

अत्राभिधीयते – प्रत्यक्षादिषु दृष्टार्थेषु प्रमाणेषु प्रामाण्यनिश्चयमन्तरेणैव

में तो प्रणेता व्यक्ति के अभाव प्रयुक्त दोष की आशङ्का ही नहीं होती है। क्योंकि शब्द में दोष वक्ता के अधीन ही होते हैं। और आज तक वेद के अर्थबोध में बाधक प्रत्यय किसी को उत्पन्न नहीं हुआ है, अतः वेद का प्रामाण्य सर्वथा विघ्नबाधा से रहित है। कहा भी गया है कि 'वेद में अपवाद से अर्थात् दोष से निर्मुक्ति इसलिए अनायास होती है कि वहाँ मूलवक्ता का अभाव होता है। इसलिए उसमें अप्रामाण्य की शङ्का अर्थात् उसकी विषयता प्राप्त नहीं होती है। यही बात 'तत्प्रमाणं' इत्यादि सूत्र के द्वारा कहा गया है कि बादरायण आचार्य के मत में शब्द इसलिए प्रमाण है कि वैदिक शब्द अनपेक्ष होता है। अर्थात् नित्य होता है, अपौरुषेय होता है, 'शब्दगत मिथ्यात्व के हेतुभूत दोष पुरुषाश्रित होते हैं, इसलिए अपौरुषेय वेद वाक्य सत्य अर्थवाले ही होते हैं, यह उचित ही मानते हैं। पुरुषाश्रित गुण ही शब्द की सत्यता के हेतु होते हैं अतएव अपौरुषेय वेदवाक्य की सत्यार्थता अयुक्त है} किसी के इस कथन के उत्तर में कहना है कि पुरुषगत गुणों में शब्दगत सत्यता के प्रति साधकता नहीं होती है। वाणी में सत्यता की सिद्धि स्वभावतः होती है। गुणज्ञ जन गुण को मानव शब्दगत मिथ्यात्वाधायक दोष के प्रशमन में ही चरितार्थ कहते हैं।

मीमांसकाभिमत प्रामाण्य के स्वतस्त्व का निरास

अब इस पर कहा जाता है – दृष्टार्थक प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में प्रामाण्य निश्चय के बिना भी व्यवहार की सिद्धि होने के कारण उनमें प्रामाण्य स्वतः मान्य है या परतः? इस

व्यवहारसिद्धेस्तत्र किं स्वतः प्रामाण्यमुत परत इति विचारेण। न नः प्रयोजनम् अनिर्णय एव तत्र श्रेयान्, अदृष्टे तु विषये वैदिकेष्वगणितद्रविणवितरणादिक्लेशसाध्येषु कर्मसु तत्प्रामाण्यावधारणमन्तरेण प्रेक्षावतां प्रवर्त्तनमनुचितमिति तस्य प्रामाण्यनिश्चयो ऽवश्यकर्त्तव्यः। तत्र परत एव वेदस्य प्रामाण्यमिति वक्ष्यामः।

यच्चेदमियता विस्तरेण स्वतः प्रामाण्यमुपपादितं तद् व्याख्येयम्। स्वतः प्रामाण्यमिति कोऽर्थः, किं स्वतः एव प्रमाणस्य प्रामाण्यं भवति उत स्वयमेव तत्प्रमाणमात्मनः प्रामाण्यं गृह्णातीति। न तावत् स्यवमेव प्रामाण्यग्रहणमुपपन्नम्। अप्रामाणिकत्वात्, तथा हि यदेतन्नीलप्रकाशने प्रवृत्तं प्रत्यक्षं तन्नीलं प्रति तावत्प्रत्यक्षं प्रमाणं तावदिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमिति जानीम एवैतत्किमत्र विचार्यते, प्रामाण्यपरिच्छेदे तु किं तत्प्रमाणमिति चिन्त्यताम्। प्रत्यक्षमनुमानं वा प्रमाणान्तराणामनाशङ्कनीयत्वात्। न तावत्स्वप्रामाण्यपरिच्छेदे तत्प्रत्यक्षं प्रमाणं तद्विज्ञानस्य वा प्रामाण्यं गृह्णीयात् तत्फलस्य वा। तत्र ज्ञातृव्यापारात्मनो ज्ञानस्य भवन्मते नित्यपरोक्षत्वात्प्रत्यक्षतः परिच्छेदानुपपत्तौ तत्प्रामाण्यस्यापि कथं प्रत्यक्षेण ग्रहणम्, फलस्याप्यर्थप्रकाशनाख्यस्य संवेदनात्मनो नेन्द्रियसंसर्गयोग्यता विद्यते, येन तद्गतमपि यथार्थत्वलक्षणं

विचार की क्या आवश्यकता? क्योंकि उसके सम्बन्ध में अनिर्णय ही श्रेयस्कर होगा। हाँ अदृष्ट फलक वैदिक कर्म के स्थलों में तद्विषयक प्रमाण में प्रामाण्य निश्चय के बिना बुद्धिमानों की प्रवृत्ति उचित रूप से नहीं होगी। अतः वहां प्रामाण्य का निश्चय अवश्य कर्त्तव्य होगा। तो वहाँ वेद में प्रामाण्य परतः ही होगा– यह आगे चलकर कहा जायेगा।

और इतने विस्तार से जो प्रामाण्य का स्वतस्त्व वर्णित हुआ है, उसकी व्याख्या करनी होगी। स्वतः प्रामाण्य का अर्थ क्या है? क्या प्रमाण का प्रामाण्य स्वतः होता है या वह प्रमाण स्वगत प्रामाण्य को स्वयं अपना विषय बनाता है? प्रामाण्य का स्वतः ग्रहण उपपन्न नहीं होता है। क्योंकि वह अप्रामाणिक है। इसे यों समझा जाय कि नील आदि विषय के प्रकाशन में जो यह प्रत्यक्ष प्रमाण प्रवृत्त होता है वह नील आदि के विषय में होने वाला प्रत्यक्ष प्रमाण इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है ऐसा हम लोग जानते ही हैं। इसलिए उसके सम्बन्ध में क्या विचार किया जाय? प्रामाण्य का ज्ञान होने पर तो वह प्रमाण कौन है– यह विचार किया जायेगा? कि प्रत्यक्ष प्रमाण है या अनुमान प्रमाण? क्योंकि प्रमाणान्तर तो आशङ्कनीय नहीं।

प्रत्यक्षगत प्रामाण्यके परिच्छेद में उसी प्रत्यक्ष को प्रमाण नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि वह ज्ञानके प्रामाण्य का ग्रहण करेगा या उसके फल का? उनके अन्दर ज्ञाता का व्यापार भूत ज्ञान तो आप मीमांसकों के मत में नित्य रूप से परोक्ष होने के कारण उसका ज्ञान अनुपपन्न होने के कारण तद्गत प्राप्य का भी ग्रहण कैसे सम्भव होगा? सम्वेदनात्मक अर्थ प्रकाशनाख्य फल में इन्द्रिय सम्बन्ध योग्यता रहती नहीं कि तद्गत यथार्थत्व स्वरूप

प्रामाण्यमिन्द्रियव्यापारलब्धजन्मना प्रत्यक्षेण परिच्छिद्येत, न च मानसमपि प्रत्यक्षं फलगतयथार्थताऽवसायसमर्थमिति कथनीयं तदानीमननुभूयमानत्वात् न हि नीलसंवित्प्रसवसमनन्त यथार्थेयं नीलसंवित्तिरिति संवेदनान्तरमुत्पद्यमानमनुभूयते। अनुभवे वा ततो द्वितीयात्प्रथमोत्पन्ननीलज्ञानयाथार्थ्यग्रहणान्न स्वतः प्रामाण्यनिश्चयः स्यात्। तस्मान्न प्रत्यक्षस्यैष विषयः, अनुमानेनापि कस्य प्रमाण्यं निश्चीयते ज्ञानस्य फलस्य वेति पूर्ववद्वाच्यम्। फलस्य तावत्तन्निश्चये लिङ्गत्वमेव तावन्न कस्य चित्पश्यामः। ज्ञातृव्यापारात्मनो ज्ञानस्य तु स्वकार्यं फलं भवेदपि लिङ्गं फलस्य क्रियामात्रं व्याप्तिग्रहणात्स्वरूपसत्तामात्रमनुमापयितुमुत्सहते न यथार्थत्वलक्षणं प्रामाण्यम्। तद्धि फलं निर्विशेषणं वा स्वकारणस्य ज्ञातृव्यापारस्य प्रामाण्यमनुमापयेद् यथार्थत्वविशिष्टं वा। आद्ये पक्षे यतः कुतश्चन फलात्तत्प्रामाण्यानुमाने नेदानीं किञ्चिद प्रमाणं भवेत्। उत्तरो ऽपि नास्ति पक्षः फलगतयाथार्थ्यपरिच्छेदोपायाभावादित्युक्तम् ।

ननु सोऽनुभव एवात्रोपायः। तद्धि नीलसंवेदनतया फलं स्वतः एव प्रकाशते नीलसंवेदनत्वमेव चास्य यथार्थत्वं नान्यत् यद्येवं शुक्तिकायामपि रजतसंवेदने समानो

प्रामाण्य भी इन्द्रिय व्यापार से लब्धजन्मा प्रत्यक्ष से गृहीत हो पाये? मानस प्रत्यक्ष भी फलगत यथार्थता के निश्चय में समर्थ कहा जा सकता। क्योंकि वह उस समय अनुभव का विषय होता नहीं। नीलज्ञान के प्रसवानन्तर 'यह ज्ञान है' ऐसा अनुभव होता हुआ पाया जाता नहीं। और यदि वैसा अनुभव माना जाय तो उसी से पहले उत्पन्न होने वाले नील ज्ञान में याथार्थ्य का ग्रहण हो जायेगा इसलिए स्वतः प्रामाण्य का निश्चय नहीं होगा। इसलिए यह अर्थात् प्रामाण्य प्रत्यक्ष का विषय माना जा सकता नहीं। अनुमान से भी किस का प्रामाण्य निश्चित होता है– ज्ञान का या फल का– यह पूर्ववत् कहना होगा। फल के याथार्थ्य निश्चय के प्रति किसी में लिङ्गत्व अर्थात् अनुमापकत्व ही किसी में नहीं देखा जा रहा है। ज्ञाता के व्यापारात्मक ज्ञान के प्रति तो उसका कार्यभूत फल लिङ्ग हो सकता है। क्रियामात्र को व्याप्ति ग्रहण प्रयुक्त फल की स्वरुप सत्ता अनुमान कराने में उत्साह सम्पन्न हो सकती है किन्तु याथार्थ्य स्वरूप प्रामाण्य का अनुमान कराने में नहीं। वह फल किसी विशेषण से रहित भाव से अपने कारण भूत ज्ञाता के व्यापारभूत अनुमान कराने में नहीं। वह फल किसी विशेषण से रहित भावसे अपने कारण भूत ज्ञाता के व्यापार भूत ज्ञान के प्रामाण्य का अनुमान करायेगा या स्वयं भी यथार्थता से विशिष्ट होकर? प्रथम पक्ष में किसी भी फल से प्रामाण्य का अनुमान मान्य होने के कारण कोई भी तब अप्रमाण नहीं हो पायेगा। दूसरा पक्ष भी सम्भव नहीं है। क्योंकि फलगत याथार्थ्य के परिच्छेद का कोई उपाय नहीं है– यह कहा जा चुका है।

इस पर प्रश्न यह उपस्थित किया जा सकता है कि – वह अनुभव ही यहाँ उपाय है। वह नील आदि के सम्वेदन रूप में फल स्वतः प्रकाशित होता है। और नीलसम्वेदनत्व ही है उसकी यथार्थता और कुछ नहीं। परन्तु यदि ऐसा कहा जाय तो शुक्तिका में होने वाले

न्यायः। न हि रजतसंवेदनादन्या यथार्थत्वसंवित्तिरिति ।

ननु तत्र बाधकप्रत्ययोपनिपातेनायथार्थत्वमुपनीयते नूनं चास्य मिथ्यादर्शनेषु देशान्तरे वा शुक्तिकारजतादिज्ञाने कालान्तरे वा कूटकार्षापणादिप्रतीतौ पुरुषान्तरे वा जाततैमिरिके द्विचन्द्रप्रतीतौ अवस्थान्तरे पीतशङ्खादिप्रतिभासे भवति बाधकप्रत्ययः। तदसत्त्वे न तच्छङ्का युक्तिमतीत्युक्तमेव, सत्यमुक्तमयुक्तं तु एवं हि वदता बाधकाभावज्ञानाधीनं प्रामाण्यमभिहितं भवति। तच्च तात्कालिकं कालान्तरभावी वेति कल्प्यमानं नोपपद्यत इति दर्शितम्। तस्मादुत्पद्यमानमेव प्रमाणमात्मनः प्रामाण्यं निश्चिनोतीति न युक्तमेत्। यदि तु प्रसवसमये एव ज्ञानस्य प्रामाण्यं निश्चिनुयाम तर्हि ततः प्रवर्त्तमाना न क्व चिदपि विप्रलभ्येमहि, विप्रलभ्यामहे तु तेन मन्यामहे न निश्चितं तत्प्रामाण्यं संशयादेव व्यवहराम इति।

ननु संशयोऽपि तदा नानुभूयत एव किमिदं रजतमिति अपि तु रजतमित्येव प्रतीतिः न हि संशयानाः प्रवर्तन्ते लौकिकाः किं तु निश्चिन्वन्त एव विषयमिति किमननुभूयमान

रजत के सम्वेदन स्थल में भी यही न्याय समान रूप से उपस्थित हो उठेगा क्योंकि वहां रजत सम्वेदन के अतिरिक्त कोई यथार्थता का सम्वेदन नहीं है।

इस पर यह कहा जा सकता है कि वहाँ बाधक ज्ञान आ जुटने के कारण अयथार्थता ले आयी जाती है। क्योंकि सभी मिथ्या दर्शनों में, यथा देशान्तर में अर्थात् शुक्तिका में होने वाले रजत ज्ञान में, एवं कालान्तर में जैसे मिथ्या चौवन्नी आदि की प्रतीति स्थल में, पुरुषान्तर में जैसे तिमिर रोग ग्रस्त व्यक्ति कर्तृक द्विचन्द्र दर्शन स्थलमें और अवस्थान्तर में जैसे पीतशंख आदि के प्रतिभास स्थल में निश्चित रूप से बाधक प्रत्यय होता ही है। और बाधक प्रत्यय के न होने पर अयथार्थता का सन्देह संगत नहीं ही होता है– यह कहा ही जा चुका है। इसका उत्तर यह है कि सत्य है, कहा गया है किन्तु उचित नहीं कहा गया है। क्योंकि ऐसा कहने वाले के द्वारा प्रामाण्य को बाधकाभाव ज्ञानाधीन कहा जाता है सो तत्कालीन होना चाहिए या कालान्तर भावी इस प्रकार विकल्प उपस्थित करने पर उपपन्न नहीं होता है– यह दिखलाया जा चुका है। इसलिए प्रमाण उत्पन्न होते हुए भी अपने प्रामाण्य का निश्चय कर लेता है अर्थात् उसके प्रामाण्य का निश्चय करा देता है यह उचित नहीं है। यदि ज्ञानोत्पत्ति के ही समय ही हम लोग ज्ञानगत प्रामाण्य का निश्चय कर लें तब तो प्रवृत्त होने पर कभी ठगे न जायें। अर्थात् प्रवृत्ति कभी निष्फल न हो किन्तु हमलोग निष्फल होते पाये जाते हैं इसलिए यह निश्चय हम लोग करते हैं कि प्रामाण्य का निश्चय ज्ञान होते ही उस में होता न ही, संशय से ही हम लोग व्यवहार करते हैं अर्थात् अपने ज्ञान में प्र माण्य का संशय करके ही हमलोग प्रवृत्त होते हैं। इस पर यह कहा जा सकता है कि अप्रामाण्य का संशय भी तो वहाँ अनुभूत होता नहीं कि 'क्या यह रजत है?' प्रत्युत यह निश्चय ही होता पाया जाता है कि 'यह रजत है' साधारण जन सन्देह करते हुए प्रवृत्त होते नहीं पाये जाते किन्तु विषय का निश्चय करते हुए ही प्रवृत्त होते हुए पाये जाते हैं। क्या

एवारोप्यते संशयः। एकतरग्राह्यप्ययं प्रत्ययः तन्निश्चयोपायविरहात्संशयकोटिपतित एव बलाद्भवति यथाऽस्ति कूपे जलमिति भिक्षवो मन्यन्ते। एवं रजतमिदमित्येकपक्षग्राह्यपि तदानीं प्रतिभासः वस्तुवृत्तेन संशय एव। यदि हि प्रमाणतयाऽसौ गृह्येत कथं क्व चिद्विसंवदेत्। अप्राणतया तु गृह्यमाणः कथं पुमांसं प्रवर्त्तयेत् ।

उभाभ्यामपि रूपाभ्यामथ तस्यानुपग्रहः ।
सोऽयं संशय एव स्यादिति किं नः प्रकुप्यसि ।।

यत्तु नानुभूयते संशय इति सत्यम् अननुभूयमानोऽपि न्यायादनभ्यस्ते विषये अविनाभावस्मरणात्स परिकल्प्यते निश्चयनिमित्तस्य तदानीमविद्यमानत्वात् संशयजननहेतोश्च सामग्र्याः सन्निहितत्वात्। तथा हि यथार्थेतरार्थसाधारणो धर्मो बोधरूपत्वमूर्ध्वत्वादिवत्तदा प्रकाशते एव। न च प्रामाण्याविनाभावी विशेषः कश्चन तदानीमवभाति तदग्रहणे च समानधर्माधिगमप्रबोध्यमानवासनाधीना तत्सहचरितपर्यायानुभूतविशेषस्मृतिरपि संभवत्येवेतीयं सा संशयजननी सामग्री

अनुभूयमान न होने पर भी संशय का आरोप करके प्रवृत्तिशील व्यक्ति प्रवृत्त होता है? इसका उत्तर यह है कि वहाँ ज्ञान के एकग्राही होने पर भी उसके निश्चय के उपाय के अभाव प्रयुक्त वहाँ का ज्ञान अगत्या संशयके अन्तर्गत ही होता है। जैसे भिक्षुक व्यक्ति 'कूप में जल है' ऐसा मानता है। उसी प्रकार 'यह रजत है' यह एक पक्षग्राही भी ज्ञान वस्तु स्वभाव के अनुसार संशय ही होता है। यदि वह ज्ञान प्रमाण ही निश्चित होता तो वह स्थल विशेष में विसम्वादी कैसे होता। हम लोग वञ्चित कैसे होते हैं। यदि वह ज्ञान अप्रमा रूप में ही निश्चित हो जाय तो वहाँ लोग को प्रवृत्त कैसे करे? यदि प्रमाण और अप्रमाण दोनों ही रूपों में उसका ज्ञान नहीं होता है तो वह फलतः संशय ही हो जाता है। इसलिए फिर हम पर क्रुद्ध क्यों हो रहे हो?

यह जो कहा जाता है कि संशय का अनुभव तो नहीं होता है– सत्य है। किन्तु अनुभूयमान न होने पर भी अनभ्यस्त विषयक स्थल में अविनाभाव स्मरण प्रयुक्त वह कल्पित होता है। क्योंकि निश्चय का निमित्त वहाँ रहता नहीं। और संशय की उत्पादक सामग्री वहाँ रहती है। यथा यथार्थ और अयथार्थ उभय ज्ञान साधारण 'बोधरूपता' वहाँ रहती ही है। और उससे युक्त रूप में वह ज्ञान प्रकाशित होता ही है। प्रामाण्य का अविनाभावी कोई विशेष धर्म तो वहाँ प्रकाशित होता नहीं। उसका ग्रहण न होने पर समान धर्म के अधिगम से बोधित होने वाली वासना के अधीन तत्सहचारी क्रम से अनुभूत विशेष की भी स्मृति होती ही है, अतः संशय जनक सामग्री सन्निहित होती ही है। फिर कैसे संशय नहीं होगा?

इस पर यह कहा जा सकता है कि प्रमा प्रत्यय के उत्पन्न होते ही तद्गत विशेष भी

सन्निहितेवैति कथं तज्जन्यः संशयो न स्यात् ।

ननु प्रमाणभूते प्रत्यये जायमान एव तद्गतो विशेषः परिस्फुरतीति कथं विशेषाग्रहणमुच्यते। भो महात्मन् कथ्यतां स विशेषो न हि तं वयमनुपदिष्टं कृशमतयो जानीमः। यदि तावत् स्पष्टताविशेषः शुक्तिकायामपि रजतावभासः स्पष्ट एव। न हि तत्रानध्यवसायकालुष्यं किञ्चिदस्ति। अथ निष्कम्पता शुक्तिकायामपि रजतावभासः निष्कम्प एव न ह्यसौ जायमान एवाङ्गुल्यग्रादिवाक्यकरणबोधवत्कम्पमानो जायते। अथ निर्विचिकित्सता शुक्तिकायामपि रजतावभासो निर्विचिकित्स एव किं स्विदिति कोटिद्वयानवमर्शात्। अथ यस्मिन् सति बाधा न दृश्यते सोऽस्य विशेष इति। नन्वेतदेव पृच्छामि कस्मिन् सति बाधा न दृश्यते इति सर्वावस्थस्य बाधदर्शनात्। न चासौ चिरमपि चिन्तयित्वा विशेषयितुं शक्यः। अथ स्वविषयाव्यभिचारित्वमेव विशेषः स तदानीं नावभासत इत्युक्तम्। अपि च यदि तथाविधोऽपि विशेषः समस्ति तर्हि यत्र ज्ञानेऽसौ न दृश्यते ततः किमिति प्रवर्त्तते। तद्विशेषदर्शी वा प्रवर्त्तमानः कथं विप्रलभ्येतेत्युक्तम्, यदयं स्थाणुर्न पुरुषः ।

परिस्फुरित हो उठता है। ऐसी परिस्थिति में विशेष का अग्रहण कैसे कहा जा रहा है? तो इसके उत्तर में यह कहना है कि ओ महात्मा? वह विशेष बतलाओ। बिना बतलाये हम अल्पबुद्धि उस विशेष को नहीं जान पा रहे हैं। यदि उक्त विशेष स्पष्टता को कहा जाय तो शुक्तिका में होने वाला रजताभास भी स्पष्ट ही होता है। उसके सम्बन्ध में अनिश्चयात्मक कालुष्य तो होता नहीं। यदि उक्त विशेष पद से निष्कम्पता को लिया जाय तो शुक्तिका में भी होने वाला रजतज्ञान निष्कम्प ही होता है। क्योंकि वह उत्पन्न होते हुए भी अङ्गुली से किये गये इसारे से होने वाले शाब्दबोध के समान सकम्प रूप में ही नहीं उत्पन्न होता।

यदि उक्त विशेष पद से 'निर्विचिकित्सता' को लिया जाय तो शुक्तिका में होने वाला रजत भ्रम भी विचिकित्सा रहित ही होता है। क्योंकि 'यह क्या है' इस प्रकार कोटिद्वय का भान नहीं होता है। इस पर यदि यह कहा जाय कि जिसके होने पर बाधज्ञान न हो वही विशेष पद से विवक्षित है, तो वक्तव्य यह है कि वही तो पूछ रहा हूँ कि किसके होने पर बाध नहीं होता है? बराबर तो बाध होता पाया जाता है। बहुत काल तक विचार के अनन्तर भी वह विशेष विशेषरूप से बतलाया नही जा पाता।

अनन्तर यदि यह कहा जाय कि अपने विषय का अव्यभिचार ही वह विशेष होता है तो वह उस समय अवभासित नहीं होता है– यह कहा जा चुका है। और यह कि यदि वैसा विशेष रहता है जिस ज्ञान में, वह नहीं देखा जाता है– उस ज्ञान में कोई क्यों प्रवृत्त होता है? और उस विशेष को देखने वाला व्यक्ति प्रवृत्त होकर फल से वञ्चित क्यों होता है? यह कहा जा चुका है। पहले पुरुष समझने वाला व्यक्ति पीछे ऐसा जानता एवं कहता है कि 'यह तो स्थाणु है, पुरुष नहीं।' इसलिए सारे प्राणियों के व्यवहार जब ज्ञान मात्र से

तेनैव व्यवहारस्य सिद्धत्वात्सर्वदेहिनाम् ।
अतश्च संशयादेव व्यवहारं वितन्वताम् ।।
लौकिकानां प्रयोक्तव्या नाभिशापपरम्पराः ।

न च सर्वथा संशयसमर्थनेऽस्माकमभिनिवेशः। प्रामाण्यं तु ज्ञानोत्पत्तिकाले ग्रहीतुमशक्यमिति नः पक्षः। प्रामाण्याग्रहणमेवानध्यवसायस्वभावं संशयशब्देनेह व्यपदेक्ष्यामः। प्रामाण्याग्रहणं च प्रदर्शितम्। प्रत्यक्षेणानुमानेन वा सता प्रमाणेनात्मनः प्रमाणत्वपरिच्छेदायोगात्। तस्मात्स्वयं प्रामाण्यं गृह्यते इत्येष दुर्घटः पक्षः ।

[प्रामाण्योत्पत्तौ स्वतस्त्वनिरासः]

अथ स्वतः प्रामाण्यं भवतीत्येष पक्ष आश्रीयते सोऽप्ययुक्तः, कार्याणां कारणाधीनजन्मत्वात्प्रामाण्यस्य च कार्यत्वात्। अस्ति च प्रामाण्यं वस्तु च तद् न च नित्यमिति कार्यमेव तत्। कार्यं च कार्यत्वादेव न स्वतो भवितुमर्हतीति। अथोत्पत्तौ स्वकारकातिरिक्तगुणानपेक्षित्वमेव प्रामाण्यस्य स्वतो भवनमुच्यते न पुनरकार्यत्वमेवेति। तदप्यसम्यक्, सम्यग्रूपस्य कार्यस्य गुणवत्कारकव्यतिरेकेणानिष्पत्तेः। द्विविधं कार्यं भवति सम्यगसम्यग् वा। तत्र गुणवता कारणेन स्मयक् कार्यमुत्पद्यते, दोषवता त्वसम्यगिति।

निर्दोषं निर्गुणं वापि न समस्त्येव कारणम् ।
अत एव तृतीयस्य न कार्यस्यास्ति सम्भवः ।।

सिद्ध होते हैं तब संशय से ही व्यवहार चलाने वाले लौकिक जनों को भी कोई अभिशाप परम्परा अर्थात् कोई बाधा नहीं होती है। संशय के समर्थन में हम लोगों को दुराग्रह नहीं है। ज्ञान की उत्पत्ति काल में ही प्रामाण्य ग्रहणार्ह नहीं होता है – यही हम लोगों का मत है। अनिश्चयात्मक प्रामाण्य का अग्रहण ही संशय शब्द से यहाँ विवक्षित है – यह आगे चलकर हम बतलायेंगे। प्रामाण्य का ग्रहण नहीं होता है क्योंकि विद्यमान प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण से स्वगत प्रामाण्य का ज्ञान नहीं हो सकता है। इसलिए प्रामाण्य स्वयं गृहीत हो जाता है – यह मीमांसक का पक्ष दुर्घट है।

प्रामाण्य की उत्पत्ति में स्वतस्त्व का निरासः

यदि यह कहा जाय कि ज्ञान के साथ ही उस में प्रामाण्य भी उत्पन्न हो जाता है – इस पक्ष का आश्रयण किया जा रहा है तो वह भी उचित नहीं। क्योंकि कार्य का जन्म नियमतः कारण के अधीन होता है और प्रामाण्य भी कार्य है। प्रामाण्य भी एक वस्तु है और नित्य न होने के कारण वह कार्य है। कार्य तो कार्य होने के कारण ही स्वतः नहीं हो सकता है। यदि यह कहा जाय कि उत्पत्ति में अपने कारणों के अतिरिक्त गुण की अपेक्षा न करना ही है ज्ञान के प्रामाण्य का स्वतः होना, तो सो भी सही नहीं। क्योंकि प्रत्येक सम्यक् कार्य गुणवान् कारण से ही उत्पन्न होता है उसके बिना नहीं। कार्य दो प्रकार के होते है सम्यक् और असम्यक्। उन दोनों के अन्दर सम्यक् कार्य गुणवान् कारण से ही उत्पन्न होता है और असम्यक् कार्य दोषयुक्त कारण से। कारण निर्दोष और निर्गुण नही होता है। इसलिए

सम्यग्ज्ञानोत्पादकं कारकधर्मि स्वरूपातिरिक्तस्वगतधर्मसापेक्षं कार्यनिर्वर्त्तकमिति साध्यो धर्मः कारकत्वात् मिथ्याज्ञानोत्पादककारकवत्। सम्यग्ज्ञानं वा धर्मिस्वरूपातिरिक्तधर्मसम्बन्धवत्कारकनिष्पाद्यमिति साध्यो धर्मः कार्यत्वान्मिथ्याज्ञानवत्। आयुर्वेदाच्चेन्द्रियगुणान् प्रतिपद्यामहे, यदमी वैद्याः स्वस्थवृत्तेरौषधोपयोगमुपदिशन्ति तद्गुणोपयोगायैव न दोषशान्तये। दृश्यते च तदुपदिष्टौषधोपयोगादिन्द्रियातिशयः। तद्विषय एव च लोके नैर्मल्यव्यपदेशो न दोषाभावमात्रप्रतिष्ठ इत्यलं विमर्देन। तस्मादुत्पत्तौ गुणानपेक्षत्वात्स्वतः प्रामाण्यमिति यदुक्तम्, तदयुक्तम् ।

यदपि च स्वकार्यकरणे प्रमाणस्य परानपेक्षत्वमुच्यते तदपि व्याख्येयं किं प्रमाणं स्वकार्यकरणे निरपेक्षं सामग्री वा तदेकदेशो वा तज्जन्यं वा ज्ञानमिति। तत्र सामग्र्याः सत्यं स्वकार्यजन्मनि नैरपेक्ष्यमस्ति न तु तावता स्वतः प्रामाण्यं तत्परिच्छेदस्य परायत्तत्वात्।

तृतीय प्रकार के कार्य की सम्भावना नहीं है। सम्यक् ज्ञानोत्पादक कारक है धर्मी अर्थात् पक्ष, और स्वरूपातिरिक्त स्वगत धर्म की अपेक्षा करते हुए कार्य का निर्वर्तक अर्थात् उत्पादक होना है साध्यधर्म तथा कारकत्व है हेतु, एवं मिथ्या ज्ञान का उत्पादक कारक है दृष्टान्त। तदनुसार अनुमान का आकार यह प्राप्त होता है कि 'यथार्थ ज्ञान का उत्पादक स्वरूपातिरिक्त स्वगत धर्म सापेक्ष होकर ही कार्य का उत्पादक होता है, अयथार्थ ज्ञानोत्पादक के समान' अथवा सम्यक् ज्ञान को धर्मी बनाकर स्वरूपातिरिक्तधर्मसम्बन्ध से युक्त कारकनिष्पाद्यता को साध्य और कार्यत्व को हेतु तथा मिथ्याज्ञान को दृष्टान्त बनाकर 'यथार्थज्ञान धर्मस्वरूप के अतिरिक्त धर्म से सम्बन्ध रखने वाले कारक से निष्पन्न होता है, क्योंकि मिथ्याज्ञान की तरह वह भी कार्य होता है' इस प्रकार का अनुमान उपस्थापनीय है। आयुर्वेद से भी इन्द्रियगत गुणों को हमलोग समझते हैं कि 'ये वैद्य स्वस्थवृत्ति के औषधों का उपयोग गुणोदय के लिए ही करते हैं दोषशान्ति के लिए नहीं' क्योंकि तदुपदिष्ट औषधों के उपयोग से इन्द्रिय में होने वाला अतिशय देखा ही जाता है। लोक में इन्द्रियगत निर्मलता का व्यवहार इन्द्रियगत गुण को विषय बना कर ही होता है दोष की शान्ति मात्र को विषय बनाकर नहीं। अब अधिक खण्डन छोड़ दिया जाय। इसलिए मीमांसकों का यह कथन कि प्रामाण्य अपनी उत्पत्तिमें गुण की अपेक्षा नहीं रखता है। अतः प्रामाण्य स्वतः होता है – यह युक्तियुक्त नहीं हैं।

यह भी कहा जाता है कि प्रमाण को अपने कार्य के करने में दूसरों की अपेक्षा नहीं होती – इसकी भी व्याख्या करनी होगी। क्या प्रमाण अपने कार्य को करने में परानपेक्ष होता है या सामग्री उसमें परानपेक्ष होती है, अथवा सामग्री का एकदेश कार्योपत्ति में परानपेक्ष होता है, किंवा तज्जन्य ज्ञान स्वकार्यजनन में परानपेक्ष होता है? इनके अन्दर सामग्री तो सत्य ही स्वकार्यजनन में परानपेक्ष होती है परन्तु उससे स्वतः प्रामाण्य नहीं होता है। क्योंकि प्रामाण्य का ज्ञान परायत्त होता है। सामग्री के अन्दर आने वाले कारक

सामाग्र्यन्तर्गतकारकस्य स्वकार्ये परापेक्षत्वमपरिहार्यम्, एकस्मात्कारकात्कार्यनिर्वृत्त्यभावात्। ज्ञानं फलमेव न प्रमाणमित्युक्तम्। न च फलात्मनस्तस्य स्वकार्यं किञ्चिदस्ति यत्र सापेक्षत्वमनपेक्षत्वं वास्य चिन्त्येत। पुरुषप्रवृत्त्यादौ तु तदिच्छाद्यपेक्षत्वं विद्यत एवेति यत्किञ्चिदेतत् ।

यदपि प्रामाण्यनिश्चये नैरपेक्ष्यमभ्यधायि तदपि न साम्प्रतम्। प्रामाण्यनिश्चयस्य हि द्वयी गतिः – नास्तित्वं कारणापेक्षिता वा, न पुनरस्ति च प्रामाण्यनिश्चयः कारणानपेक्षश्चेति शक्यते वक्तुम्। तत्र प्रथमप्रवर्त्तकप्रतिभासप्रसवसमये तावन्नास्त्येव प्रामाण्यनिश्चय इत्युक्तम्। न हि नीलग्राहिणा प्रमाणेन नीलस्वरूपमिव स्वप्रामाण्यमपि तदानीं निश्चेतुं शक्यते इति। कालान्तरे तत्प्रामाण्यनिश्चयः सत्यमस्ति न तु तत्र नैरपेक्ष्यं प्रवृत्तिसामर्थ्याधीनत्वात्तन्निश्चयस्य ।

ननु क्षणिकत्वात्कालान्तरे ज्ञानमेव नास्ति कस्य प्रामाण्यं निश्चिनुमः। शिशुचोद्यमेतद् अप्रामाण्यमपि बाधकप्रत्ययादिना कालान्तरे कस्य निश्चिनुमः, क्षणिकत्वेन ज्ञानस्यातीतत्वात्। अतिक्रान्तस्यापि स्मर्यमाणस्य तदुत्पादस्य वा वर्त्तमानस्य

को स्वकार्य की उत्पत्ति में परायत्तता अपरिहार्य रूप से होती ही है। क्योंकि एक कारक से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है। ज्ञान फल ही होता है प्रमाण नहीं– यह कहा जा चुका है। फलात्मक होने वाले उसका कोई कार्य नहीं है। जिसके प्रति इसकी परापेक्षता अथवा निरपेक्षता का विचार किया जाय। मानव प्रवृत्ति आदि में तो उसकी इच्छा आदि की अपेक्षा होती ही है किन्तु वह कोई नयी बात नहीं है।

प्रामाण्य के निश्चय में भी जो निरपेक्षता कही गयी है वह भी उचित नहीं। क्योंकि प्रामाण्य निश्चय की परिस्थिति दो प्रकारों की होती है। एक यह कि वह हो ही नहीं, और दूसरी यह कि वह करण की अपेक्षा करे। ऐसा हो और कहा नहीं जा सकता कि वह हो भी और करण की अपेक्षा नहीं करे। उसके अन्दर प्रवर्त्तक प्रतिभास के समय अर्थात् ज्ञान के समय प्रामाण्य का निश्चय नहीं होता यह कहा जा चुका है। नील ग्राही प्रमाण से नील स्वरूप के समान स्वगत प्रामाण्य भी उसी समय निश्चित किया जा सकता है। कालान्तर में होता है यह सत्य है परन्तु उसमें निरपेक्षता नहीं होती है क्योंकि उसका निश्चय प्रवृत्ति के सामर्थ्य की अर्थात् उसकी सफलता की अपेक्षा करता है।

इस पर प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि क्षणिक होनेके कारण ज्ञान कालान्तर में रहता ही नहीं फिर किस के प्रामाण्य का हमलोग निश्चय करें? तो इसके उत्तर में कहना यह है कि ऐसा तो कोई अज्ञ बालक ही कह सकता है। क्योंकि तब बाधक प्रत्यय आदि के द्वारा अप्रामाण्य का भी हम लोग कैसे निश्चय करें? यतः क्षणिक होने के कारण ज्ञान तो अतीत हो जायेगा। यदि यह कहा जाय कि अतिक्रान्त होने पर भी स्मर्यमाण ज्ञान का,

कारकचक्रस्येति चेत् प्रामाण्यनिश्चयेऽपि समानोऽयं पन्थाः ।

यत्पुनः कालान्तरे तन्निश्चयकरणे दूषणमितरेतराश्रयत्वं वा मुण्डित-शिरोनक्षत्रान्वेषणवद्वैयर्थ्यं वेति वर्णितम्। तत्रादृष्टे विषये प्रामाण्यनिश्चयपूर्विकायाः प्रवृत्तेरभ्युगमान्नेतरेतराश्रयं चक्रकं वा। दृष्टे विषये ह्यनिर्णीतप्रामाण्य एवार्थसंशयात्प्रवृत्तिरूपमनर्थसंशयाच्च निवृत्त्यात्मकं व्यवहारमारभमाणो दृश्यते लोकः, एतदेव युक्तमित्युक्तम्। न प्रामाण्यनिश्चयपुरःसरं प्रवर्त्तनमिति कुत इतरेतराश्रयम्। वैयर्थ्यं तु दृष्टे विषये सत्यमिष्यते किं तु तत्र प्रवृत्तिसामर्थ्येन प्रामाण्यं निश्चिन्वन्नाप्तोक्तत्वस्य हेतोः प्रामाण्येन व्याप्तिमवगच्छतीति। ह्यदृष्टविषयोपयोगिवेदादिप्रमाणप्रामाण्यपरिच्छेदे पारम्पर्येणोपायत्वात् स्वविषये व्यर्थोऽप्यसौ तत्र सार्थकतामवलम्बत इत्यदोषः ।

किं पुनरिदं प्रवृत्तिसामर्थ्यं नाम यतः प्रामाण्यनिश्चयमाचक्षते नैयायिकाः। उच्यते – पूर्वप्रत्ययापेक्षोत्तरा संवित्प्रवृत्तिसामर्थ्यं विशेषदर्शनं वेति पूर्वाचार्यैस्तत्स्वरूपमुक्तम्। तत्पुनर्नातीव हृदयङ्गमम् इति। भाष्यकृतैव 'समीहा प्रवृत्तिरित्युच्यते सामर्थ्यं पुनरस्याः फलेनाभिसम्बन्ध' इति वदतार्थक्रियाख्यफलज्ञानमेव प्रवृत्तिसामर्थ्यमिति निर्णीतम् ।

उसके उत्पाद का, अथवा वर्त्तमान कारक-चक्र का अप्रामाण्य गृहीत होगा, तब तो प्रामाण्य निश्चय के सम्बन्ध में भी यह मार्ग समान होगा। और कालान्तर में प्रामाण्य का निश्चय करने में अन्योन्याश्रय दोष या मुण्डित मस्तक व्यक्ति के द्वारा किये जाने वाले नक्षत्रान्वेषण के समान वैयर्थ्य का वर्णन किया गया है। वहाँ अदृष्ट विषय में प्रामाण्य निश्चय पूर्वक प्रवृत्ति के स्वीकार प्रयुक्त न अन्योन्याश्रय होगा और न चक्रक और दृष्ट विषयक स्थल में प्रामाण्य निर्णय के बिना ही अर्थ संशय प्रयुक्त प्रवृत्ति और अनर्थ संशय प्रयुक्त निवृत्ति स्वरूप व्यवहार को सामाजिक जन चलाते हैं और यही उचित भी है, यह कहा जा चुका है। प्रवृत्ति प्रामाण्य निश्चय पूर्वक होती ही नहीं तब अन्योन्याश्रय कैसे होगा? सत्य विषयक स्थल में वैयर्थ्य तो साथ ही होता है किन्तु वहाँ प्रवृत्ति की सफलता से व्यक्ति प्रामाण्य का निश्चय करता हुआ आप्तोक्तत्व हेतु में प्रामाण्य साध्य की व्याप्ति को समझता है। इसलिए अदृष्ट विषय के लिए उपयोगी वेद आदि के प्रामाण्य के परिच्छेद में परम्परा से उपाय होने के कारण अपने विषय में व्यर्थ होने पर भी वह वहाँ सार्थकता प्राप्त करता है इसलिए दोष नहीं होता है। इसपर यदि यह पूछा जाय कि यह प्रवृत्तिसामर्थ्य क्या है। जिससे नैयायिक लोग प्रामाण्य का निश्चय मानते हैं? तो इसका उत्तर यह वक्तव्य है कि पूर्वज्ञान को अपेक्षा करने वाली परवर्ती सम्वित् है प्रवृत्तिसामर्थ्य अथवा विशेष दर्शन है प्रवृत्तिसामर्थ्य– यह पूववर्ती आचार्यो ने कहा था। परन्तु वह हृदयङ्गम अर्थात् हृदयाकर्षक नहीं है, अतः भाष्यकार वात्स्यायन के द्वारा ही यह कहा गया कि 'समीहा कहलाती प्रवृत्ति और उसका फल के साथ सम्बन्ध अर्थात् सफल होना है सामर्थ्य।' भाष्यकार की इस व्याख्या से यह निर्णीत होता है कि प्रयोजन की सम्पत्ति स्वरूप फल का ज्ञान ही है प्रवृत्ति

यत्पुनरर्थक्रियाज्ञानस्यापि पूर्वस्मात्को विशेषः तस्यापि चान्यतः प्रामाण्यनिश्चयापेक्षायामनवस्थेत्युक्तं तदपि सकलप्राणभृत्प्रतीतिसाक्षिकव्यवहार विरोधित्वादसंबद्धाभिधानम्। अपरीक्षणीयप्रामाण्यत्वादर्थक्रियाज्ञानस्य, प्रवर्त्तकं न सर्वज्ञानं प्रवृत्तिसिद्धये परीक्षणीयप्रामाण्यं वर्त्तते, फलज्ञाने तु सिद्धप्रयोजनत्वात् प्रामाण्यपरीक्षापेक्षैव नास्तीति कुतोऽनवस्था, संशयाभावाद्वा तत्प्रामाण्यविचाराभावः। प्रवर्त्तकं हि प्रथममुदकज्ञानमविद्यमानेऽपि नीरे मिहिरमरीचिषु दृष्टमिति तत्र संशेरते जनाः। अर्थक्रियाज्ञानं तु सलिलमध्यवर्त्तिनां भवत्तदविनाभूतमेव भवतीति न तत्र संशयः। तद्भावान्न तत्र प्रामाण्यविचारो विचारस्य संशयपूर्वकत्वात्। विशेषदर्शनाद्वा फलज्ञाने प्रामाण्यनिश्चयः ।

कः पुनर्विशेष इति चेद् योऽयं शौचाचमनमज्जनामरपितृतर्पण पटक्षालनश्रमतापनोदनविनोदनाद्यनेकप्रकारनीरपर्यालोचनप्रबन्धः न ह्ययमियान् सामर्थ्य। यह जो कहा गया है कि परवर्ती अर्थक्रिया ज्ञान का अर्थात् प्रयोजनसम्पत्तिज्ञान का पूर्ववर्ती ज्ञान से क्या विशेषता होती है? उसमें भी यदि अन्य से प्रामाण्य का निश्चय माना जाय तो अनवस्था होगी– यह कहा जा चुका है। वह कथन भी सभी प्राणियों की प्रतीति को साक्षी बनाने वाले व्यवहार का विरोधी होने के कारण सम्बद्ध अर्थात् उचित नहीं है। क्योंकि अर्थ का ज्ञान अर्थात् प्रयोजनसम्पत्ति का ज्ञाने में अपरीक्षणीय प्रामाण्य होता है अर्थात् उसमें प्रामाण्य की परीक्षा अपेक्षित नहीं होती है। सारे प्रवर्त्तक ज्ञान प्रवृत्ति की सिद्धि के लिए परीक्षणीय प्रामाण्य नहीं होते हैं। अर्थात् प्रामाण्य की परीक्षा की अपेक्षा नहीं रखते हैं।

ऐसा इसलिए कि फल का ज्ञान हो जाने पर प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। अतः प्रामाण्य की परीक्षा की अपेक्षा नहीं रह जाती है। इसलिए अनवस्था क्यों होगी? अथवा प्रामाण्य के विचार का अभाव इसलिए होता है कि संशय का अभाव रहता है। प्रथम होने वाला जल का ज्ञान जल के न रहने पर भी सूर्य की किरणों में होने वाला पाया जाता है। इसलिए उसके सम्बन्ध में लोग संशय करते हैं। अर्थ क्रिया का ज्ञान अर्थात् प्रयोजन की प्राप्ति का ज्ञान तो जल में प्रविष्ट होने वाले को ही होता है। अतः अर्थक्रिया जल का अविनाभूत होता है अर्थात् उसके बिना नहीं होता है।

अतः वहाँ संशय नहीं होता है। और संशय के अभाव के कारण प्रामाण्य का विचार भी नहीं होता है। क्योंकि विचार नियमतः संशय पूर्वक ही होता है। अथवा यह कि विशेष दर्शन के कारण फल के ज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है। इस पर यदि यह कहा जाय कि विशेष क्या है? तो यह कि शौच, आचमन, मज्जन, देवतर्पण, पितृतर्पण, पटक्षालन, श्रम और ताप का अपनोदन, जलक्रीड़ा आदि अनेक प्रकार से जल का निश्चय होता है। जल के सम्बन्ध में मिथ्याज्ञान करके प्रवृत्त होने वाले को इतने कार्यों का समुदाय

कार्यकलापो मिथ्याज्ञानात्प्रवृत्तस्य क्वचिदपि दृष्टः। स्वप्नेऽप्यस्य प्रबन्धस्य दर्शनमस्तीति चेन् न, स्वप्नदशाविसदृशविस्पष्टजाग्रदवस्थाप्रत्ययस्य संवेद्यत्वात्। एषोऽस्मि जागर्मि न स्वपिमीति स्वप्नविलक्षणमनिद्रायमाणः प्रत्यक्षमेव जाग्रत्समयं सकलो जनश्चेतयते, न च तस्मिन्नवसरे सलिलमन्तरेणैताः क्रियाः वर्त्तमाना दृश्यन्ते इति। तद्विशेषदर्शनात् सुज्ञानमर्थक्रियाज्ञानप्रामाण्यम्। कारणपरीक्षातो वा तस्मिन् प्रामाण्यं निश्चेष्यामः। यथोक्तं भवद्भिरेव 'प्रयत्नेनान्विच्छन्तो न चेद्दोषमवगच्छेम तत्प्रमाणाभावाददुष्टमिति मन्येमहि' इति। तथा हि विषयस्य चलत्वसादृश्यादिदोषविरहः आलोकस्य मलीमसत्वादिकारणवैकल्यम् अन्तःकरणस्य निद्राद्यदूषितत्वम् आत्मनः क्षुत्प्रकोपाद्यनाकुलत्वम्, ईक्षणयुगलस्य तिमिरपटलादिविकलत्वमित्यादि। स्वयं च कार्यद्वारेण परोपदेशेन च सर्वं सुज्ञानम्। अतो निरवद्यकारणजन्यत्वात्प्रमाणमर्थक्रियाज्ञानमिति विद्मः।

यद्येवं प्रथमे प्रवर्त्तके एव प्रत्यये कस्मात्कारणपरीक्षैवेयं न क्रियते किमर्थं क्रियाज्ञाने, न आयुष्मन्नाद्येऽपि ज्ञाने कारणपरीक्षायां क्रियमाणायां कः प्रमादः। किमेवं सति स्वतः

कहीं नहीं होता पाया जाता। स्वप्नमें भी तो उक्त प्रकार का कार्य कलाप होता पाया जाता है– यह कथन भी सही नहीं है। क्योंकि स्वप्नावस्था से समानता न रखने वाली जागरणावस्था कालीन स्पष्ट-प्रत्यय प्रतीत होता है। सभी लोग जो कि जगे रहते हैं 'यह मैं हूँ' 'मैं जाग रहा हूँ' 'मैं सोया नहीं हूँ' इस प्रकार स्पष्ट रूप से अपने जागरण काल को समझते हैं। उस समय तो जल के बिना जल साध्य उक्त प्रकार स्नान पान आदि क्रियाएँ सम्पन्न होती पायी नहीं जातीं है। इस प्रकार से जागरण काल और स्वप्न काल के अन्दर विशेषता देखी ही जाती है। इस अर्थक्रिया के अर्थात् प्रयोजन सम्पत्ति के ज्ञान का प्रामाण्य सुज्ञान होता है अर्थात् सही रूप में समझा जाता है। अथवा कारण की परीक्षा से उस ज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय हमलोग कर लेंगे। जैसा कि आप लोगों ने ही कहा है कि 'प्रयत्न पूर्वक अन्वेषण करने पर भी यदि हम लोग दोष नहीं देखते हैं तो प्रमाणाभाव के कारण ज्ञान को अदुष्ट अर्थात् अप्रामाण्यरहित समझते हैं।' यथा विषय में चलनशीलता सादृश्य आदि दोष का अभाव, आलोक में मलिनता आदि के कारण का वैकल्य, अन्तःकरण का निद्रा आदि से दूषित न होना, आत्मा का भूख प्यास आदि से आकुल नहीं होना, दोनों आखों को तिमिर आदि से रहित होना इत्यादि। कार्य के द्वारा स्वयं और परोपदेश के द्वारा सब अनायास समझा जाता है। इसलिए निर्दोष कारण जन्य होने के कारण अर्थक्रिया का ज्ञान प्रमाण है – यह हमलोग समझते हैं। इस पर यदि ऐसा कहा जाय कि तब प्रथम ही प्रवर्तक ज्ञान में क्यों नहीं इस प्रकार की कारण परीक्षा की जाती है? अर्थ क्रिया के ज्ञान में क्यों, तो यह कहना ठीक नहीं है। ओ आयुष्मान्? प्रथम ज्ञान में भी यदि कारण की परीक्षा की जाय तो क्या असावधानता होगी? क्या इससे तेरा स्वतः प्रामाण्य सिद्ध होगा? या मेरा परतः प्रामाण्य खण्डित हो जायेगा? किन्तु लोग प्रवर्त्तक ज्ञान के अनन्तर जिस प्रकार फल

प्रामाण्यं सिद्ध्यति तव। मम वा परतः प्रामाण्यमपहीयते। किं तु लोकः प्रवर्त्तकज्ञानानन्तरं फलप्राप्तिं प्रति यथा सोद्यमो दृश्यते न तथा तत्कारणपरीक्षां प्रति, फलज्ञानमेवेत्थं परीक्ष्यते। आद्यस्य हि ज्ञानस्य फलज्ञानादेव प्रामाण्यसिद्धिः, कश्च नाम निकटमुपायमुपेक्ष्य दूरं गच्छेदिति।

अथ संशयोत्पत्तिसामर्थ्यादेव याथार्थ्यनिश्चयः फलज्ञानेन नेति लप्स्यते। संशयो हि नाम द्वैविध्यदर्शनाद् विना न भवत्येव। न हि स्थाणुपुरुषत्वसाहचर्यमूर्ध्वताख्यस्य धर्मस्य यो न जानाति स तं दृष्ट्वा स्थाणुर्वा स्यात्पुरुषो वेति संशेते। एवमूर्ध्वत्वाद् बाधरूपत्वस्य व्यभिचारित्वाव्यभिचारित्वाभ्यां सह दर्शनमवश्यमाश्रयणीयम्, अन्यथा तद्विषयसंशयानुत्पादात्। अतः पूर्वमव्यभिचारित्वदर्शने सिद्धे यस्तदा तत्परिच्छेदोपायः स पश्चादपि भविष्यतीति सर्वथा सिद्ध्यत्यव्यभिचारित्वनिश्चयः। अनिश्चितप्रामाण्यादपि वै फलज्ञानात्प्रवर्त्तकस्य प्रामाण्यनिश्चयो युक्तः न तु स्वत उत्पत्तौ प्रमाणतदाभासयोर्विशेषग्रहणात् फलज्ञाने च तद्विशेषप्रतिभासात् ।

यत्तु विशेषज्ञानं निश्चितप्रामाण्यमनिश्चितप्रामाण्यं वेति विकल्प्यानवस्था-पादनमप्रतिपत्तिप्रहतताकथनं वा तद्दृष्टे विरुद्धत्वात्प्रलापमात्रमित्यलमलीकोक्त

प्राप्ति के प्रति सोद्यम देखे जाते हैं, उस प्रकार उसके कारण की परीक्षा के प्रति उद्यत नहीं देखे जाते हैं। इसलिए फलज्ञान के सम्बन्ध में ही उक्त प्रकार से परीक्षा की जाती है। प्रथम ज्ञान में तो फलज्ञान से ही प्रामाण्य की सिद्धि हो जाती है। कौन निकटवर्ती उपाय को छोड़कर दूर दौड़ेगा? इस पर यदि यह कहा जाय कि संशय की उत्पत्ति के बल पर ही यह स्थिर होता है कि याथार्थ्य का निश्चय फलज्ञान से नहीं होता है। क्योंकि द्वैविध्यदर्शन के बिना संशय कभी नहीं होता है। ऊर्ध्वताख्य धर्म में जब तक स्थाणुत्व और पुरुषत्व दोनों धर्मों का साहचर्य नहीं समझा जाता है तब तक द्रष्टा व्यक्ति 'यह स्थाणु है या पुरुष' इस प्रकार संशय नहीं करता है। इसी प्रकार ऊर्ध्वत्व की अबाधरूपता को व्यभिचार एवं अव्यभिचार के साथ सहदर्शन भी अवश्य आश्रयणीय होगा। अन्यथा वहाँ स्थाणुत्व आदि के विषय में संशय का उत्पाद नहीं होगा। अतः पहले भी अव्यभिचारिता का दर्शन सिद्ध होने पर पहले जो उसके परिच्छेद का अर्थात् ज्ञान का उपाय होगा वही पीछे भी होगा, इसलिए अव्यभिचारिता का निश्चय सिद्ध ही हो जाता है। इसका उत्तर यह ज्ञातव्य है कि अनिश्चित प्रामाण्यक फल ज्ञान से भी प्रवर्त्तक ज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय उचित रूप में स्वीकार्य होना चाहिए स्वतः नहीं। क्योंकि प्रमाण और प्रमाणाभास की उत्पत्ति में विशेषता पायी जाती है और फलज्ञान के अनन्तर प्रमाण और प्रमाणाभासगत विशेषता का प्रतिभास होता है।

यह जो कहा गया है कि वह विशेषता का ज्ञान निश्चितप्रामाण्यक होगा या अनिश्चित प्रामाण्यक और ऐसा विकल्प उपस्थित करके अनवस्था का आपादन किया गया है या यह कहा गया है कि इस प्रकार की विकल्प परम्परा अप्रतिहत भाव से चलती रहेगी सो दृष्ट

विकल्पकलापनिर्मथनोदितदुरामोदास्वादनेन। स्थितमेतदर्थक्रियाज्ञानात्प्रामाण्यनिश्चय इति। तदिदमुक्तम्, 'प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणम्' इति। तस्मादप्रामाण्यमपि परोक्षमित्यतो द्वयमपि परत इत्येष एव पक्षः श्रेयान्।

यत्तु कश्चित्प्राज्ञमानी वदति – अभ्यस्ते विषये स्वतः प्रामाण्यमनभ्यस्ते तु परत इति सोऽयमभ्यस्ते विषये इति च ब्रवीति स्वतश्च प्रामाण्यं मन्यते इति स्वयमेवात्मानं वाच्यमानं न चेतयते। अभ्यासो हि नाम पुनः पुनः प्रयोगः क्रियाभ्यावृत्तिः विषयस्य चाभ्यस्तता भूयो भूयः प्रवृत्तिः। अतश्च स्वशरीरग्रहे निजगृहकुड्यस्तम्भादिप्रतिभासे वा सहस्रकृत्वः प्रवृत्तिसंवादज्ञानजन्मना प्रामाण्यनिश्चय उक्तो भवति स्वतः अभ्यस्तत्वं चान्यया न भवेदिति यत्किञ्चिदेतत्। तस्मात्परतः प्रामाण्यमिति सिद्धम् ।

यत्पुनः कैश्चिच्चोद्यते प्रामाणानां न परीक्षणमुपपद्यते, तद्धि प्रमाणैः क्रियेताप्रमाणैर्वा। प्रमाणैरपि परीक्षितैरपरीक्षितैर्वा। तत्र न नाम प्रमाणपरीक्षणं शक्यक्रियं प्रमाणैरप्यपरीक्षितैः

विषय में परिस्थिति विरुद्ध होने के कारण प्रलापमात्र है अर्थात् वह कथन सारहीन है। क्योंकि वह उक्त प्रकार अलीक विकल्प समुदाय की कल्पना करके उसके मथन से प्राप्त होने वाले आमोद का दुरास्वादन मात्र होगा। अतः यह स्थिर हुआ कि प्रयोजन की सम्पत्ति के ज्ञान मात्र से प्रामाण्य का निश्चय होता है।

इसीलिए यह बात कही गयी है कि 'प्रमाण से अर्थ की प्रतिपत्ति होने पर यतः उससे होने वाली प्रवृत्ति में सफलता होती पायी जाती है इसलिए प्रमा ज्ञान 'अर्थवान्' अर्थात् अर्थ का अव्यभिचारी होता है। इसलिए अप्रामाण्य भी परोक्ष अर्थात् अनुमेय ही होता है। अतः प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों ही स्वतः नहीं परतः ही होते हैं – यह मानना ही श्रेयस्कर है।

अपने को विशेषज्ञ मानने वाला कोई जो यह कहता है कि अभ्यस्तविषयक स्थल में तो प्रामाण्य स्वतः गृहीत होता है और विषय की न अभ्यस्तता के स्थल में वह परतः गृहीत होता है सो भी एक ओर वह 'विषयके अभ्यस्त होनेपर' ऐसा कहता है और दूसरी ओर 'स्वतः प्रामाण्य' मानता है, इसलिए स्वयं ही अपनी निन्दा करता हुआ मानो समझता नहीं है। क्योंकि अभ्यास होता है पुनः पुनः प्रयोग, क्रिया की आवृत्ति, और विषय की अभ्यस्तता, बारम्बार प्रवृत्ति। इसीलिए अपने शरीर के ज्ञान में अथवा स्तम्भ दीवार आदि के प्रतिभास में हजार बार प्रवृत्तिगत सम्वाद ज्ञान की उत्पत्ति से प्रामाण्य का निश्चय होता है, यही कथित होता है। स्वतः अभ्यस्तता अन्यथा हो नहीं सकती। इसलिए उक्त कथन निस्सार है। अतः प्रामाण्य परतः ही होता है – यह सिद्ध हुआ।

यह भी जो किसी के द्वारा कहा जाता है कि प्रमाणों का परीक्षण उपपन्न नहीं होता है। वह प्रमाण से किया जायेगा या अप्रमाण से? साथ ही यह कि वह परीक्षण परीक्षित प्रमाणों से किया जायेगा या अपरीक्षित प्रमाणों से? इस प्रकार वहाँ प्रमाण का परीक्षण ही

तत्करणे वरं व्यवहार एव तादृशैः क्रियतां किं परीक्षणेन। परीक्षितैस्तु तत्परीक्षाकरणमपर्यवसितमनवस्थाप्रसङ्गादित्यादि तदप्युक्तेन न्यायेन परिहृतं भवति दृष्टे विषये प्रमाणपरीक्षां विनैव व्यवहारात्। अदृष्टे तु परीक्षाया अवश्यकर्त्तव्यत्वादुपपत्तेश्चेति ।

तस्माददृष्टपुरुषार्थपदोपदेशि
मानं मनीषिभिरवश्यपरीक्षणीयम् ।
प्रामाण्यमस्य परतो निरणायि चेति
चेतःप्रमाथिभिरलं कुविकल्पजालैः ।।

[परतः प्रामाण्यनिरासाय विपरीतख्यातिमाक्षिप्याख्यातिवादेन प्रत्यवस्थानम्]

सुशिक्षितास्त्वाचक्षते – युक्तं यदमी मीमांसकपाशाः काशकुसुमराशय इव शरदि मरुद्भिरतिदूरात्समुत्सार्यन्ते दुष्टतार्किकैः, ये हि किलाभ्युपयन्ति च विपरीतख्यातिवादमकृतास्त्राः प्रामाण्यं च स्वत इति च वदन्ति तेषां कुतः कौशलं विपरीतख्यातावभ्युपगम्यमानायां बाध्यबोधसंदर्भसुभिक्षे सति तत्साधर्म्यादनुत्पन्न ग्राधकेऽपि बोधे दुष्परिहरः संशयः। संशये च संवादाद्यन्वेषणमपि ध्रुवमवतरतीति परतः प्रामाण्यमनिर्वार्यम् ।

नहीं किया जा सकेगा। अपरीक्षित प्रमाण से ही यदि वह किया जाय तो फिर अच्छा यह होगा कि अपरीक्षित प्रमाणों से व्यवहार ही मान लिया जाय, प्रमाण के परीक्षण की क्या आवश्यकता? और परीक्षित प्रमाणों से प्रमाणों की परीक्षा करना अपर्यवसित अर्थात् अन्तरहित होगा इसलिए अनवस्थात्मक आपत्ति होगी इत्यादि भी कथिन न्याय से ही परिहृत हो जाता है। क्योंकि दृष्टविषय स्थल में प्रमाण की परीक्षा के बिना ही व्यवहार होगा और अदृष्ट विषयक स्थल में तो प्रमाण की परीक्षा अवश्य कर्तव्य होगी और वह उपपन्न भी होगी। इसलिए अदृष्ट पुरुषार्थ का उपदेश देने वाला प्रमाण मनीषियों द्वारा अवश्य परीक्षणीय होना चाहिए, और प्रमाण का प्रामाण्य परतः मान्य है – यह मनीषियों द्वारा निर्णीत हो चुका है। इसलिए यह केवल कष्ट प्रद कुत्सित विकल्पजाल व्यर्थ है।

परतः प्रामाण्य के निरासार्थ अख्यातिवादी कर्त्तृक अन्यथाख्यातिवाद पर दोषोपस्थापन।

सुशिक्षित जन ऐसा कहते हैं – यह उचित है कि ये मीमांसकों के पाश शरद ऋतु में हवाओं से काश के पुष्पराशि के समान दुष्टतार्किकों के द्वारा अत्यन्त दूर उत्सारित किये जाते हैं। जो बिना अस्त्र के लोग विपरीत ख्यातिवाद को तो मानते नहीं किन्तु प्रामाण्य का स्वतस्त्व स्वीकार करते हैं, उनमें कुशलता कैसे मानी जा सकती? क्योंकि विपरीत ख्याति के स्वीकार करने पर बाध्यबोध के सन्दर्भ प्रयुक्त सुभिक्षता अर्थात् प्रशस्त समय प्राप्त होने पर उसके साधर्म्य प्रयुक्त जहाँ पर बाधक बोध उत्पन्न नहीं भी होता है, प्रामाण्य का संशय दुष्परिहर होता है। और संशय के होने पर सम्बाद आदि का अन्वेषण भी अवश्य अवतरित होता है। अतः परतः प्रामाण्य अनिवार्य होता है।

[बाध्यज्ञानाभावस्थापनमुखेन विपरीतख्यातिखण्डनम्]

यदा तु न बाध्यो नाम जगति कश्चिदपि बोधः तदा किंसाधर्म्यात्संशेरतां प्रमातारः। असंशयानाश्च किमिति परमपेक्षन्ताम् अनपेक्षमाणाः कथं परतः प्रामाण्यं प्रतिपद्यन्तामिति निश्चलं स्वत एव प्रामाण्यमवतिष्ठते।

कथं पुनर्बाध्यो नाम नास्ति बोधः शुक्तिकादौ रजतादिप्रत्ययाः प्राचुर्येण बाध्यमाना दृश्यन्ते। अनभिज्ञो भवान्न हि ते बाध्याः प्रत्ययाः। इदं हि निरूप्यतां क इवोत्तरज्ञानेन पूर्वज्ञानस्य बाधः, बाधार्थमेव न विद्मः, यदि तावन्नाश एव बाधः स न तेषामेव बुद्धेर्बुद्ध्यन्तराद्विरोध इति सकलबोधसाधारणत्वात्। अथ सहानवस्थानं तदपि समानम् अबाधितानामपि ज्ञानानां सहावस्थानासंभवात्।

अथ संस्कारोच्छेदो बाधः सोऽपि तादृगेव सम्यक्प्रत्ययोपजनित संस्कारस्याप्युच्छेददर्शनात्। कश्चिद्भवदभिमतबाध्यबोधाहितोऽपि संस्कारः सत्यपि बाधकप्रत्यये नोच्छेदमुपगच्छति कालान्तरे तत्कारणकतद्विषयस्मरणदर्शनात्।

अथ विषयस्यापहारो बाधः सोऽपि दुर्घटः। प्रतिभासत्वेन विषयस्यापहर्तुमशक्यत्वात्। न हि बाधकं ज्ञानमित्थमुत्तिष्ठति यत्प्रतिभातं तन्न प्रतिभातमिति।

बाध्यज्ञान के अभावस्थापन द्वारा विपरीत ख्याति का खण्डन

जब कि संसार में कोई बाध्यज्ञान है ही नहीं तब किसके साधर्म्य प्रयुक्त प्रमाता गण संशय करेंगे? संशय न करने वाले क्यों अन्य की अपेक्षा करेंगे? तथा अन्य की अपेक्षा न रखने वाले कैसे परतः प्रामाण्य को समझेंगे? इसलिए निश्चल भाव से प्रामाण्य स्वतः ही स्थिर रह जाता है।

बाध्य बोध नहीं है यह कैसे? शुक्तिका आदि में होने वाले रजत आदि के बोध प्रचुर रूप में बाधित होने वाले पाये जाते हैं। इस पर कहना यह है कि आप अनभिज्ञ हैं वे प्रत्यय बाध्य नहीं होते। क्योंकि यह पहले निरूपण करें कि परवर्ती ज्ञान के द्वारा पूर्ववर्ती ज्ञान का बाध किस प्रकार होगा? बाध क्या है – यही तो नहीं समझते हैं हम लोग। यदि यह कहा जाय कि नाश ही है बाध तो सो नहीं, क्योंकि वह तो बुद्धि का बुद्धि से होने वाला विरोध रूप होने के कारण सकल बुद्धि साधारण होता है। यदि सहानवस्थान स्वरूप विरोध को बाध कहा जाय तो वह भी उसके समान ही होगा, क्योंकि अबाधित ज्ञानों के बीच भी तो सहावस्थान सम्भव नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि संस्कार का उच्छेद है बाध, तो वह भी वैसा ही होगा। क्योंकि यहाँ तक कि सम्यक् प्रत्ययजनित संस्कार का भी उच्छेद देखा जाता है। तुम्हारे बाध्य बोध के द्वारा आहित भी कोई संस्कार बाधक प्रत्यय के होने पर भी उच्छद को प्राप्त करता नहीं है। क्योंकि कालान्तर में तत्कारणक उसका स्मरण होता पाया जाता है।

यदि विषय के अपहार को बाध कहा जाय तो वह भी दुर्घट है। क्योंकि प्रतिभास होने के कारण विषय का अपहार सम्भव नहीं है। बाधक ज्ञान ऐसा होता नहीं कि जो प्रतिभात

अथ तदभावग्रहो बाधः स तात्कालिकः, कालान्तरभावी वा। कालान्तरभावितदभावग्रहणस्य बाधकत्वे प्रागवगतमुद्गरदलितघटाभावग्राहिणोऽपि विज्ञानस्य तद्बाधकत्वप्रसङ्गः। तदैव तु तदभावग्रहणे प्रत्ययद्वयसमर्पितरूपद्वितययोगादुभयात्मकमेव तदस्तु वस्तु किं कस्य बाध्यं बाधकं वा।

अथ फलापहारो बाधः सोऽपि न सम्भवति संविदः प्रमाणफलस्य उत्पन्नत्वेनानपहरणीयत्वात्। न हि यदुत्पन्नं तदनुत्पन्नमिति वदति बाधकः।

अथ हानादिफलापहारो बाधः, न तस्य प्रमाणफलत्वाभावात्।

हानादिव्यववहारो हि पुरुषेच्छानिबन्धनः।
न तेनापहृतेनापि प्रमाणं बाधितं भवेत्॥

तस्मान्न बाधो नाम कश्चित्। इतश्च नास्ति स हि समानविषययोर्वा ज्ञानयोरिष्यते भिन्नविषययोर्वा। न समानविषययोर्धारावाहिज्ञानेष्वदृष्टत्वात्। नापि भिन्नविषययोः स्तम्भकुम्भोपलम्भयोस्तदनुपलम्भात्! यदि चोत्तरेण ज्ञानेन पूर्वज्ञानेन गृहीतादर्थादर्थोऽन्य इदानीं गृहीतः तत्पूर्वज्ञानं किमिति बाधितमुच्यते।

अपि च पूर्वस्मिन् प्रत्यये प्राप्तप्रतिष्ठे सति आगन्तुरुत्तरः प्रत्ययो बाधितुं युक्तं न

हुआ सो प्रतिभात हुआ नहीं। यदि यह कहा जाय कि तदभावे का ज्ञान ही बाध है। क्योंकि वह तात्कालिक ज्ञान बाध होगा या कालान्तरवर्ती ज्ञान बाध होगा। कालान्तर भावी तदभाव ज्ञान को बाधक मानने पर पूर्वावगत मुद्गर दलित घटाभाव को विषय करने वाले ज्ञान को भी उसके बाधकत्व का प्रसङ्ग होगा। यदि उसी समय उसके अभाव का ग्रहण माना जाय तो दो ज्ञानों के द्वारा दो विषयों का समर्पण होने के कारण वस्तु को उभयात्मक ही मान लिया जाय। अथवा कौन किस का बाधक माना जाय– यह निर्णय असम्भव होगा। यदि फल के अपहार को बाध माना जाय तो सो भी सम्भव नहीं हो सकता है। क्योंकि प्रमाण का सम्विदात्मक फल अपहृत हो नहीं सकता। जो उत्पन्न हुआ सो उत्पन्न हुआ नहीं – यह तो बाधक शब्द नहीं कहता है। यदि यह कहा जाय कि हान आदि फल का अपहरण है बाध – ऐसा कहा जाय तो सो भी नहीं। क्योंकि हान आदि प्रमाण के फल नहीं होते हैं। हान आदि व्यवहार तो व्यक्ति की इच्छा के अधीन हुआ करता है। और उसके अपहृत होने पर भी प्रमाण बाधित होता नहीं। इसलिए बाध नाम की कोई वस्तु नहीं है। और इसलिए भी वह नहीं है कि वह समान विषयक ज्ञानों के बीच मान्य है अथवा भिन्न विषयक ज्ञानों के बीच? समान विषयक ज्ञानों के बीच कहा नहीं जा सकता। क्योंकि धारावाहिक ज्ञानों के बीच वह नहीं देखा जाता। वह विभिन्न विषयक ज्ञानों के बीच भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि स्तम्भज्ञान और कुम्भज्ञान आदि के बीच वह देखा नहीं जाता है।

यदि उत्तर ज्ञान के द्वारा पूर्वज्ञान के विषय से अन्य कोई गृहीत हुआ तो पूर्वज्ञान बाधित क्यों कहा जायेगा? और यह भी कि पूर्ववर्ती ज्ञान के प्रतिष्ठित हो जाने पर

पूर्वो न चैवं दृश्यते। तस्मान्न बाध्यं नाम विज्ञानमस्ति तदभावान्न तत्साधर्म्यनिबन्धनः संशयः तदभावात्संवादाद्यनन्वेषणान्न परतः प्रामाण्यम् ।

[कारणाभावमुखेन विपरीतख्यातिखण्डनम्]

नन्वेवं बाधेऽपि निराक्रियमाणे किममी शुक्तिकारजतादिग्राहिणो विपरीतप्रत्यया अबाधिता एवासताम्। आः कुमते नामी विपरीतप्रत्ययाः, न हीदृशानां विपर्ययाणामुत्पत्तौ किमपि कारणमुत्पश्यामः। न तावदिन्द्रियमेवंविधबोधविधायि भवितुमर्हति सर्वदा तदुत्पादप्रसङ्गात्। नापि दोषकलुषितं दुष्टं कारणं स्वकार्यकरणे एव कुण्ठितशक्ति जातमिति तदेव वा जीजनत्। विपरीतकार्यकरणस्य किं वर्त्तते न हि दुष्टानि शालिबीजानि यवाङ्कुरकरणकौशलमवलम्बेरन्। तस्मात्कारणाभावादपि न विपरीतप्रत्ययास्ते।

तत्किं सम्यक्प्रत्यय एव शुक्तिकायां रजतप्रतिभासः। अयि मूढ नायमेकः प्रत्यय इदं रजतमिति। किं तु द्वे एते ग्रहणस्मरणे इदमिति पुरोऽवस्थितभास्वराकारधर्मिप्रतिभासः रजतमिति तु भास्वररूपदर्शनप्रबोध्यमानसंस्कारकारणकं तत्साहचर्यादवगतरजतस्मरणम्।

आगन्तुक उत्तरवर्ती ज्ञान का ही बाध उचित होगा परवर्ती ज्ञान से पूर्ववर्ती ज्ञान का बाध मान्य नहीं होगा। ऐसा नहीं देखा जाता। इसलिए कोई भी ज्ञान बाध्य नहीं है। अतः उसके अभावप्रयुक्त तत्साधर्म्यमूलक संशय नहीं कहा जा सकता। और संशय के अभाव में सम्वाद आदि का अन्वेषण होने के कारण परतः प्रामाण्य नहीं कहा जा सकता है।

कारणाभाव प्रयुक्त विपरीतख्याति का खण्डन

इस पर अन्यथाख्यातिवादी की ओर से प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि इस प्रकार बाध का निराकरण किये जाने पर भी क्या ये शुक्तिका रजतादि ग्राही विपरीत प्रत्यय अबाधित ही रह जायेंगे? तो उनके प्रति कहना यह है कि ओ कुमतिशील! ये प्रत्यय विपरीत प्रत्यय नहीं होते है। क्योंकि इस प्रकार के विपर्यय की उत्पत्ति में हम लोग कोई कारण नहीं देखते हैं। इन्द्रिय ऐसे बोधों का उत्पादक हो नहीं सकती। क्योंकि इन्द्रिय को इस प्रकार के भ्रम का उत्पादक मानने पर सर्वदा उस का उत्पाद होने लगेगा। दोष से कलुषित होने के कारण दुष्ट कहलाने वाला कारण उस का उत्पादक होगा। वह अपने कार्य के करने में कुण्ठित शक्ति भले ही हो और तत्प्रयुक्त अपने अच्छे कार्य को भले ही उत्पन्न न कर पाये परन्तु विपरीत कार्य करने में क्या बाधा होगी? यह भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि दुष्ट धान के बीज यवाङ्कुर को उत्पन्न करने का कौशल प्राप्त करते नहीं पाये जाते हैं। अतः कारणाभाव प्रयुक्त भी विपरीत प्रत्यय वे नहीं माने जा सकते।

तो क्या शुक्तिका में होने वाला रजत का प्रतिभास सम्यक् प्रत्यय ही होता है अर्थात् यथार्थ प्रत्यय ही होता है? इसके उत्तर में यह वक्तव्य है कि ओ मूढ़? 'यह रजत है' यह एक प्रत्यय नहीं होता है। किन्तु ये प्रत्यक्ष और स्मरण रूप दो ज्ञान हैं। 'यह' इस प्रकार भास्वराकार धर्मी का प्रत्यक्षात्मक प्रतिभास होता है और 'रजत' यह भास्वर रूप के दर्शन से प्रबोध्यमान जो संस्कार तत्कारणक उसके साहचर्य से, अवगत होने वाले रजत का

अतश्चेदं स्मरणं यतः प्रागनवगतरजतस्य न जायते विदितरजतस्यापि रजन्यामन्यदा वा सादृश्यदर्शनाद्विना न भवतीति। स्मरणमपि भवदिदमात्मानं तथा न प्रकटयतीति प्रमुषितमुच्यते। स्वरूपेण चाप्रतिभासमानायां स्मृतावनुभवस्मरणयोर्विवेको न गृहीतो भवतीत्यग्रहणमख्यातिरुच्यते ।

तथा हि भ्रान्तबोधेषु प्रस्फुरद्वस्तुसंभवात् ।
चतुष्प्रकारा विमतिरुपपद्येत वादिनाम् ।।

विपरीतख्यातिः असत्ख्यातिः आत्मख्यातिरख्यातिरिति। तत्र विपरीतख्याति स्तावत्कारणाभावादेव निरस्ता।

[विपरीतख्यातेः ख्यात्यन्तरेण सांकर्यापादनम्]

अपि च विपरीतख्यातौ त्रयी गतिः, रजतं वाऽन्यदेशकालमत्रालम्बनं शुक्तिका वा निगूहितनिजाकारा सती परिगृहीतरजताकारा च। अथ वा अन्यदालम्बनमन्यश्च प्रतिभाति आलम्बनं शुक्तिका रजतं च प्रतिभातीति। तत्र यदि रजतमालम्बनं तदियमसत्ख्यातिरेव न विपरीतख्यातिः, असतस्तत्र रजतस्य प्रतिभासात्।

स्मरण। 'यह रजत' इसके अन्दर 'रजत' यह स्मरण इसलिए भी मान्य होगा कि जिसे पहले रजत का अनुभव हुआ नहीं रहता, उसे यह ज्ञान नहीं होता है। और जिसे रजत का अनुभव हुआ भी रहता है उसे अन्यकाल में सादृश्य दर्शन के बिना होता नहीं है। यह 'रजत' इस प्रकार होने वाला ज्ञान स्मरण होने पर भी अपने को उस रूप में बिलकुल करता नहीं इसलिए 'प्रमुषित' कहलाता है। इस प्रकार स्मरण जब कि स्वरूप में अर्थात् स्मरण रूप में प्रतिभासित नहीं होता तब अनुभव और स्मरण के बीच होने वाला 'विवेक' अर्थात् पार्थक्य गृहीत नहीं होता इसलिए 'अग्रहण अख्याति' आदि कहा जाता है। 'इसीलिए भ्रान्तिज्ञान स्थल में चार प्रकार की विरुद्धमतियाँ विभिन्न वादियों की उपपन्न होंगी'। जैसे (1) विपरीत ख्याति (2) असत्ख्याति और (3) आत्मख्याति और (4) 'अख्याति'। इनके अन्दर विपरीत ख्याति का निराकरण कारणाभाव प्रयुक्त ही हो गया।

विपरीतख्याति का ख्यात्यन्तर के साथ साङ्कर्य का आपादन

और यह कि विपरीत ख्याति के स्थल में तीन गतियाँ सम्भव हैं। या तो रजत अन्य देश एवं अन्य काल को स्वीकार करे, या शुक्तिका अपने आकार को छिपाते हुए रजत के आकार का परिग्रह करे, अथवा आलम्बन होता है अन्य और प्रतिभासित होता है अन्य। क्योंकि आलम्बन है शुक्तिका और प्रतिभासित होता है रजत। वहाँ यदि रजत को आलम्बन माना जाय तो वहाँ का 'यह रजत है' यह ज्ञान असत्ख्याति स्वरूप ही हो जाता है विपरीत ख्याति स्वरूप हो नहीं पाता है। क्योंकि असत् रजत का ही वहाँ प्रतिभास होता है।

अथान्यदेशकालं तदस्त्येवेत्यभिधीयते ।
इहासन्निहितस्यास्य तेन सत्त्वेन को गुणः ।।

अपि च देशकालावपि किं सन्तौ प्रतिभासेते उतासन्ताविति। यदि सन्तौ तर्हि तद्देशकालमेवेदं रजतमवभातमिति न भ्रान्तिरेषा स्यात्। असन्तौ तूभावपि रजतवन्नालम्बनं भवितुमर्हतः ।

अथ स्मृत्यारूढं रजतमस्यां प्रतीतौ परिस्फुरतीत्युच्यते तर्हि स्मृत्युपारूढमिति कोऽर्थः। स्मरणमपि ज्ञानमेव तदपि कथमसदर्थविषयं स्यात्। स्मृतेरनर्थजत्वमेव स्वरूपमिति चेद् अस्तु कामं तत्सामान्यादत्राप्येवं प्रयोग इत्येतदपि तावन्न ब्रूमः। तया त्वनर्थजन्यया स्मृत्या सोऽर्थः कथमिह सन्निधापयितुं पार्यते। सा हि न स्पृशत्येवार्थम्, तस्मादसन्निहितरजतालम्बना विपरीतख्यातिरसत्ख्यातेर्न विशिष्यते एव ।

अथ स्थगितनिजवपुरूपगृहीतरजतरूपा शुक्तिकाऽत्र प्रकाशते इति नेयमसत्ख्यातिरुच्यते। तदिदमपूर्वं किमपि नाटकमियमस्मिन् कृत्यासीता प्रवृत्तेति। तथा हि किमत्र शुक्तीतिप्रतीतिरुत रजतमिति। शुक्तिकाप्रतीतौ तु शुक्तिरेव न रजतमत्र भ्रमार्थः

यदि यह कहा जाय कि शुक्ति रजत आदि दोनों अन्य देश और अन्य काल में तो रहते ही हैं फिर असत्ख्याति कैसे कही जा सकती? तो उत्तर यह है कि अन्य देश और अन्य काल में होने वाली सत्ता से यहाँ क्या लाभ? और यह भी विचारणीय है कि देश और काल भी क्या वस्तुतः हैं? और उस रूप में प्रतिभासित होते हैं? यदि देश और काल वस्तुतः हों तभी यह कहा जा सकता है कि उस देश और काल में अवस्थित रजत यहाँ प्रतिभासित होता है और इसलिए यह ज्ञान भ्रम है। यदि देश और काल ही सत् नहीं हो तो वे रजत के आश्रय नहीं बन सकते हैं।

यदि यह कहा जाय कि स्मृत्युपारूढ रजत यहाँ ज्ञान में प्रतिभासित होता है तो यह विचार करना होगा कि 'स्मृत्युपारूढ' का अर्थ क्या है? स्मरण भी तो एक प्रकार का ज्ञान ही है, वह भी असत् अर्थ विषयक कैसे होगा? स्मृति की विशेषता यह है कि वह 'अर्थज' अर्थात् विषय से उत्पन्न होने वाला नहीं होता है तो रहे वह बात, और यह भी हम नहीं कहते हैं कि उसकी समानता से यहाँ भी वैसा प्रयोग होता है। किन्तु कहना यह है कि उस 'अर्थज' न होने वाली स्मृति के द्वारा वह यहाँ अविद्यमान अर्थ कैसे सन्निधान योग्य बनाया जाता है? और वह स्मृति उस अर्थ को छूती तक नहीं? इसलिए असन्निहित रजत को विषय करने वाली विपरीत ख्याति असत्व्याति से कोई विशेषता नहीं रखती है।

इस पर यदि यह कहा जाय कि अपने स्वरूप को स्थगित करके रजत के स्वरूप को ग्रहण करने वाली शुक्तिका यतः विपरीतख्याति में विषय बनती है अतः विपरीत ख्याति को 'असत्ख्याति' नहीं कहा जा सकता है। तो तब यह शुक्तिका इस विपरीत ख्याति के अन्दर अच्छा नाटक खेलती हुई प्रवृत्त पायी जाती है। जैसे रामायण में माया से सीता का प्रदर्शन राक्षसों द्वारा हुआ है। विचार किया जाय क्या यहाँ 'यह शुक्तिका है' यह प्रतीति होती है या 'यह रजत है' ऐसी?

कः। रजतप्रतीतौ तु शक्तिरसावित्यत्र किं प्रमाणम्। बाधकप्रत्ययादेवमधिगतमिति चेन्मैवम्। न हि ज्ञानान्तरेणास्याः प्रतीतेर्विषयो व्यवस्थापयितुं युक्तः। बाधकेन हि ज्ञानेन पूर्वज्ञानगृहीतस्य वस्तुनोऽसत्त्वं नाम ख्याप्यतां न तु तस्य विषयो निरूप्यते। अनर्थित्वाद्वा कदाचिदप्रवृत्तस्य पुंसो बाधकानुत्पत्तौ कोऽस्याः प्रतीतेः विषयं व्यवस्थापयिष्यति। तस्माद्यदेवास्यां चकास्ति तदेव रजतमस्या विषय इति युक्तं वक्तुम्। शुक्तिस्तु निगूहितनिजवपुरिति दुर्विदग्धवाचोयुक्तिरियम् ।

ये त्वालम्बनतां शुक्ते रजतस्यावभासनम् ।
वदन्त्यस्मिन् भ्रमज्ञाने तेषामतितरां भ्रमः ।।
न ह्यालम्बनता युक्ता सन्निधाननिबन्धना ।
तत्रैव भूप्रदेशस्य तथाभावप्रसङ्गतः ।।
तदेवालम्बनं बुद्धेर्यदस्यामवभासते ।
अन्यदालम्बनं चान्यद्भातीति भणितिर्नवा ।।
अतो रजतमेवैतद् बुद्धिग्राह्यमसच्च तत् ।
एवं विपर्ययख्यातिरसत्ख्यातेर्न भिद्यते ।।

यदि शुक्तिका की प्रतीति मानी जाय रजत विषय नहीं होगा तो भ्रम का प्रयोजन क्या होगा? और यदि रजत की प्रतीति मानी जाय तो प्रतीति का विषय विद्यमान शुक्तिका है इसमें क्या प्रमाण? यदि यह कहा जाय कि इसका पता बाधक प्रत्यय से चलता है तो ऐसा नहीं है। क्योंकि ज्ञानान्तर के द्वारा ज्ञानान्तर के विषय का व्यवस्थापन उचित नहीं है। बाधज्ञान के द्वारा पूर्वज्ञान के विषय का असत्त्व ख्यापित हुआ करे परन्तु उसका विषय निरूपित नहीं होता। क्योंकि यदि परिस्थिति कभी ऐसी हो कि उस विषय का अर्थी न होने के कारण द्रष्टा व्यक्ति को बाधज्ञान न हो तो उस प्रतीति के विषय का व्यवस्थापन कौन करेगा? इसलिए ख्याति में जो प्रकाशित होता है रजत ही उसका विषय हो और कहा जाय यही उचित है। शुक्तिका वहाँ स्वरूप को छिपा लेती है यह तो दुर्विदग्धों का निरर्थक कथन मात्र है। जो लोग इस भ्रमज्ञान में शुक्तिका को आलम्बन और रजत को विषय कहते हैं वे अतिभ्रान्त हैं। आलम्बनता सन्निधान प्रयुक्त नहीं कही जा सकती। क्योंकि तब सन्निहित भूप्रदेश को आलम्बनता आपन्न हो उठेगी। इसलिए बुद्धि का आलम्बन उसी को मानना चाहिए जो उस बुद्धि में भासित हो। बुद्धि का आलम्बन कोई और हुआ करता है और विषय कोई और– यह कहने का एक नया तरीका मात्र है। इसलिए 'यह रजत है' इस ज्ञान का विषय रजत ही होता है और वह असत् होता है। इस प्रकार विचार करने पर विपरीत ख्याति असत्ख्याति से भिन्न नहीं रह जाती है।

[असत्ख्यात्यभावाक्षेपः]

तत्किमसत्ख्यातिरेव साधीयसी तामेवाभ्युपगच्छामः। मैवम्, सापि नोपपद्यत एव। असत्ख्यातिरिति कोऽर्थः, किमेकान्तासत एवार्थस्य प्रथनम् अथ देशान्तरादौ विद्यमानस्येति। उत्तरस्मिन् पक्षे विपरीतख्यातिरेवैषा परैरपि तत्र रजतस्य सत्त्वानभ्युपगमात्। देशान्तरादौ तु तत्सत्तायास्त्वयापि प्रतिपन्नत्वाद्। एकान्तासतस्त्वर्थस्य ख्यातिरिति न पेशलम् आकाशनलिनीपल्लवादेरप्रतिभासनात्। वासनाभ्यासादसतामपि प्रतिभासा भविष्यन्तीति चेद् न। अर्थमन्तरेण वासनाया अप्यनुपपत्तेः। अर्थानुभवसमाहितो हि संस्कारो वासना कथ्यते, सा कथमसदर्थप्रतिभासहेतुः स्यात्। भवत्वन्या वा भवदभिमता काचन वासना। सापि त्वसत्त्वाविशेषे किमिति रजतमतिमुपजनयति न गगननलिनप्रतीतिमिति कुतस्त्यो नियमः, तदलमनया ।

नात्यन्तमसतोऽर्थस्य सामर्थ्यमवकल्पते ।
व्यवहारधुरं वोढुमियन्तमनुपप्लुतम् ।

असत्ख्याति के अभाव का आक्षेप

क्या ऊपर विहित विचार के अनुसार भ्रम के स्थल में असत्ख्याति ही सही है? उसे ही हमलोग मान लें? तो ऐसा नहीं। क्योंकि वह भी उपपन्न नहीं होती। 'असत्ख्याति' इस कथन का क्या अर्थ है? क्या यह कि पूर्ण रूप से असत् का ही प्रथन अर्थात् प्रकाशन होता है? या देशान्तर तथा कालान्तर में विद्यमान का प्रकाशन होता है? द्वितीय पक्ष में असत्ख्याति भी विपरीतख्याति ही हो जाती है। क्योंकि तुम प्रतिवादी भी वहाँ रजत की सत्ता नहीं मानते और देशान्तर आदि में उसकी सत्ता मानते हो। अत्यन्त असत् की ख्याति होती है यह स्वीकार एवं कथन सुन्दर नहीं है। क्योंकि आकाश कमल और उसके पत्र आदि का प्रतिभासन नहीं होता। यदि यह कहा जाय वासनाभ्यास प्रयुक्त असत् के भी प्रतिभास होंगे तो ऐसा इसलिए नहीं कहा जा सकता कि अर्थ के बिना तो वासना की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि अर्थ अनुभवों के द्वारा आहित संस्कार होकर ही वासना नाम से भी पुकारे जाते हैं। वह वासना भी असत् अर्थ के प्रतिभासन का हेतु कैसे बनेगी? हो तुम्हारी दृष्टि के अनुसार कुछ और वासना। किन्तु वह भी विषयगत असत्ता के समान होने के कारण 'यह रजत है' इस बुद्धि को क्यों उत्पन्न करती है और 'यह आकाश कमल है' इस बुद्धि को क्यों नहीं उत्पन्न करती हैं? ऐसा नियम क्यों है? इसलिए इस असत्ख्याति की बात छोड़ी जाय। अत्यन्त असत् अर्थगत सामर्थ्य उस जागतिक व्यवहार के भार को वहन नहीं कर सकता है, जो कि अनुपप्लुत है अर्थात् अनादिकालसे निर्विघ्न भाव से चलता आ रहा है।

[आत्मख्यात्यभावाक्षेपः]

अपि च इदं सत्त्वेन प्रतिभातीति असत्ख्यातिरपि न विपरीतख्यातित्वमतिवर्त्तते, तस्माद् वरमात्मख्यातिरस्तु ।

विज्ञानमेव खल्वेतद् गृह्णात्यात्मानमात्मना ।
बहिर्निरूप्यमाणस्य ग्राह्यस्यानुपपत्तितः ।।
बुद्धिः प्रकाशमाना च तेन तेनात्मना बहिः ।
तद्वहत्यर्थशून्यापि लोकयात्रामिहेदृशीम् ।।

उच्यते – नात्मख्यातिरपि युक्तिमती, विज्ञानात्मनो हि प्रतिभासेऽहं रजतमिति प्रतीतिः स्याद् नेदं रजतमिति। किं च यदन्तर्ज्ञेयरूपं हि बहिर्यदवभासते इत्यभ्युपगमादियमपि विपरीतख्यातिरेव स्यात्। असत्ख्यातिरपि चेयं भवत्येव बहिर्बुद्धेरसत्त्वात्। बुद्धिरस्त्येवेति चेद् बहिष्ट्वं तर्हि चिन्त्यं बाह्यसदसत्त्वादिति। न तावत् सद्बुद्धेर्बाह्यत्वाभावात्। असत्वे त्वसत्ख्यातिरित्युक्तम् ।

[स्वतः प्रामाण्यसमर्थनाय अख्यात्युपपादनम्]

तस्मात्ख्यातित्रयेऽप्यस्मिन्नन्योन्यानुप्रवेशिनि ।
युक्त्या विरुद्ध्यमाने च श्रेयस्यख्यातिरेव सा ।।

आत्मख्याति का भी अभाव

और यह भी कि 'यह' तो सत् रूप में प्रतीत होता है इसलिए असत्ख्याति भी विपरीत ख्यातिता का अतिक्रमण नहीं करता है। और विपरीत ख्याति का खण्डन किया ही जा चुका है। तब भ्रमस्थल में आत्मख्याति ही मान्य हो जाय। यह विज्ञान ही अपने से अपने को ग्रहण करता है। क्योंकि निरूपण करने पर विज्ञान बाह्य ग्राह्य उपपन्न होता नहीं है। इसलिए तत्तत् रूप में प्रकाशमान बुद्धि अर्थशून्य होने पर भी इस संसार में इस लोकयात्रा का वहन करती है। तो इस आत्मख्याति के विरुद्ध कहना यह है कि आत्मख्याति भी युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि विज्ञान स्वरूप आत्मा का ही भ्रमस्थल में प्रतिभास मानने पर 'मैं रजत हूँ यह प्रतिभास होना चाहिए,' 'यह रजत है' ऐसा प्रतिभास नहीं। और यह भी कि 'जो ज्ञेयतत्त्व अन्दर ही विज्ञान रूप में अवस्थित रहता है वही बाह्य जैसा प्रतीत होता है' ऐसा ही आत्मख्याति वाद में मान्य होने के कारण यह आत्मख्याति भी विपरीत ख्याति ही हो जायेगी। और यह आत्मख्याति असत्ख्याति भी होती ही है। क्योंकि बुद्धि बाहर नहीं होती है। यदि यह कहा जाय कि बुद्धि तो रहती ही है तो फिर उसका बाह्यत्व चिन्तनीय होगा। क्योंकि वह बाह्यसत् तो होती नहीं। और उसे स्वतः आर्थात् पूर्ण रूप से सत् भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि बुद्धि में बाह्य सत्ता नहीं पायी जाती है। और बुद्धि को असत् मानने पर असत्ख्याति ही हो जाती है, यह कहा जा चुका है।

स्वतः प्रामाण्य के समर्थनार्थ अख्याति का उपपादन

इस प्रकार जब कि उक्त ख्यातित्रय परस्पर में अनुप्रविष्ट अर्थात् सङ्कीर्ण पाये जा रहे हैं और युक्तिविरुद्ध भी सिद्ध हो रहे हैं तब वह अख्याति ही कल्याणकारी प्रतीत हो रही

ख्यातित्रयवादिभिरपि चेयमप्रत्याख्येया नूनमख्यातिः। आत्मख्यातौ तावदात्मतया विज्ञानस्य ख्यातिर्नास्ति विच्छेदप्रतिभासादित्युक्तत्वात्। असतख्यातावपि असत्त्वमर्थस्य नैव प्रतिभासते प्रवृत्त्यादिव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात्। विपरीतख्यातावपि रजतस्य सन्निहितस्य ज्ञानजनकत्वम् अजनकस्य च प्रतिभासो नेष्यते एव। तत्र स्मृत्युपस्थापितं रजतमवगतिजनकमुपगतम्, अतश्च रजतस्मृतिरपरिहार्या। सा च रजतस्मृतिर्न तदा स्वेन रूपेण प्रकाशते स्मरामीति प्रत्ययाभावात्।

तस्मात्प्रमुषितामेनां स्मृतिमिच्छन्ति तार्किकाः ।
अभ्यस्ते विषये लिङ्गप्रतिबद्धां स्मृतिं यथा ।।
सोऽयं स्मृतिप्रमोषस्तत्त्वाग्रहणमख्यातिरुच्यते ।
एवं सतीयमख्यातिरिष्यते सर्ववादिभिः ।
तथा प्रकटयद्भिस्तु पीतं प्राभाकरैर्यशः ।।

ननु रजतमिति स्मृतेः स्वरूपोल्लेखो मा भूद् इदमित्यत्रपुरोऽवस्थित धर्मिप्रतिभासात्कथमख्यातिः। उच्यते, न पुरोऽवस्थितो धर्मी शुक्तिकेयमिति स्पष्टतया

है। यह अख्याति उक्त ख्यातित्रय वादिओं के द्वारा प्रत्याख्येय अर्थात् निराकरण योग्य भी नहीं प्रतीत हो पा रही है। विज्ञान की आत्मा रूप में ख्याति नहीं है। क्योंकि उसे ज्ञान का विच्छेद सुषुप्ति आदि काल में होता है, यह प्रतिभासित होता ही है, यह उक्त ही है। असख्याति पक्ष में भी आस्था इसलिए नहीं हो पाती कि अर्थ में अर्थात् प्रार्थित वस्तुओं में असत्ता का प्रतिभास नहीं होता। क्योंकि तब व्यवहार का उच्छेद हो उठेगा। विपरीत ख्याति पक्ष में भी अनुपपत्ति यह देखी जा रही है कि ज्ञानजनकता सन्निहित रजत में ही मानी जा सकती है। जनक न होने वाले का ज्ञान में प्रतिभास नहीं ही माना जाता है। वहाँ स्मृति के द्वारा उपस्थापित रजत को ज्ञान का जनक स्वीकार किया गया है। इसलिए रजत की स्मृति अपरिहार्य रूप में माननी होगी। वह रजत की स्मृति वहाँ अपने रूप में प्रकाशित नहीं होती है क्योंकि 'मैं स्मरण कर रहा हूँ' ऐसा ज्ञान नहीं होता पाया जाता। इसलिए तार्किक जन अर्थात् विवेकी जन इस स्मृति को 'मुषित' अर्थात् चुरा ली गयी मानते हैं। जैसे अभ्यस्त विषयक स्थल में लिङ्ग की स्मृति जिस प्रकार प्रमुषित होती है। तो यह स्मृति प्रमोष ही वहाँ होता है तत्त्वाग्रहण, इसलिए वह अख्याति शब्द से कहा जाता है। ऐसा होने पर यह अख्याति मानी तो जाती है सभी वादिओं के द्वारा परन्तु उसके प्रकटन प्रयुक्त उसके यश का पान प्रभाकर के अनुयायियों ने ही किया अर्थात् उसका श्रेय प्राभाकरों को ही मिला।

अब इस पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि रजत स्मृति का समुल्लेख भले ही न हो परन्तु 'यह' इस रूप में यतः धर्मी शुक्तिका का अवभास होता है, अतः वहाँ के भ्रमज्ञान को 'अख्याति' कैसे कहा जा सकता है? तो इसका उत्तर यह ज्ञातव्य है कि

गृह्यते। तथा चाभ्युपगमे भ्रमाभावप्रसङ्गात्। किं तु तेजस्वितादिविपरीतं धर्मिमात्रमवभासते। धर्मसारूप्याच्च तदानीं रजतं स्मर्यते। त एते ग्रहणस्मरणे विविक्ते अपि विविक्ततया न गृह्येते इति विवेकाग्रहणमख्यातिः। न तु सर्वेण सर्वाप्रतिपत्तिरेव, व्यधिकरणयोश्च ग्रहणस्मरणयोर्वैयधिकरण्यं चेन्न, गृहीतं किमन्यदस्तु सामानाधिकरण्यात्। न तु यदेवेदं तदेव रजतमिति सामानाधिकरण्येन ग्रहणमस्ति। सा हि विपरीतख्यातिरेव स्यात्। वैयधिकरण्यानुपग्रहादेव द्रष्टुः प्रवृत्तिः अविवेकात्साधारण्याभिमानेन प्रवृत्तिरिति। फलत इयं वाचोयुक्तिः –

सामानाधिकरण्येन के चित्तत्पृष्ठभाविनम् ।
परामर्शमपीच्छन्ति तन्न श्रद्दध्महे वयम् ।।
अख्यातिपक्ष एवं हि हीयेतैकत्ववेदनात् ।
वक्रैश्च वितथाख्यातिरक्षरैः कथिता भवेत् ।।

नन्वेवमख्यातिपक्षे प्रतिष्ठाप्यमाने नेदं रजतमिति पूर्वावगतरजतप्रतिषेधबोधी बाधकप्रत्ययो दृश्यमानः कथं समर्थयिष्यते। अप्रतीतिज्ञो देवानां प्रियः। न ह्यनेन

निकटवर्ती धर्मी 'यह शुक्तिका है' इस प्रकार स्पष्ट रूप में गृहीत नहीं होता। क्योंकि वैसा मानने पर तो भ्रम का अभाव प्रसङ्ग हो उठेगा। किन्तु तेजस्विता रहित धर्मी का प्रतिभास होता है और चाकचिक्य स्वरूप धर्म की समानता के कारण उस समय रजत का स्मरण हो आता है। ये दोनों अनुभव और स्मरण परस्पर विविक्त अर्थात् भिन्न होते हुए भी विविक्त रूप में अर्थात् भिन्न रूप में गृहीत नहीं होते हैं। इसलिए यह विवेक का अग्रहण है अख्याति। पूर्णरूप से सब की अप्रतिपत्ति नहीं होती है। व्यधिकरण ग्रहण और स्मरण में होने वाली व्यधिकरणता का जब कि भान ही नहीं हुआ तो उसे सामानाधिकरण्य के अतिरिक्त कहा ही क्या जा सकता है? 'जो ही यह है वही रजत है' इस प्रकार समानाधिकरण रूप में तो प्रतीति नहीं होती है। क्योंकि वैसा होने पर तो विपरीत ख्याति ही हो जायेगी। वैयधिकरण्य अर्थात् विभिन्नता के अग्रहण प्रयुक्त ही वहाँ द्रष्टा की प्रवृत्ति होती है। फलितार्थ यह कि अविवेक के कारण अर्थात् साधारणता के अभिमान से ही प्रवृत्ति होती है। युक्तियुक्त सार कथन यह कि कुछ लोग जो विवेकाग्रह के पीछे सामानाधिकरण्य का भी अर्थात् एकता का भी ग्रहण मानते है, उस पर हम लोग विश्वास नहीं करते है। क्योंकि ऐसा मानने पर एकता के वेदन स्वरूप अख्यातिपक्ष ही छोड़ देना पड़ेगा। विचार करके देखा जाय तो अख्याति ही वितथ ख्याति नाम से पुकारी जाती है।

अब इस पर प्रश्न यह उपस्थापित हो सकता है कि इस प्रकार अख्याति पक्ष की प्रतिष्ठा करने पर अर्थात् उसे सुस्थिर करने पर 'यह रजत है' इस प्रकार पहले ज्ञात होने वाले रजत के निषेध को विषय करने वाले 'यह रजत नहीं है' इस प्रकार से होने वाली उस बाधक प्रतीति का समर्थन कैसे किया जा पायेगा, जो कि होती देखी ही जाती है? तो

रजतनिषेधो विधीयते किं तु प्रागगृहीतो विवेकः प्रख्याप्यते। न इदं रजतं यदेवेदं तदेव रजतमित्येतन्न इदमिदं रजतं रजतम्, एतदुक्तं भवति इदमन्यद्रजतमन्यदिति, सोऽयं विवेकः ख्यापितो भवति ।

नन्वेवमिदं रजतमित्यादौ स्मरणानुभवयोर्भवतु विवेकाग्रहणं स्वप्ने तु कथमेतद्भविष्यति। भीरो किं जातं स्वप्ने –

विवेकेन न गृह्येते स्मरणानुभवौ क्व चित् ।
स्वप्ने तु स्मृतिरेवैका तथात्वेन न गृह्यते ।

सदृशदर्शनाद्विना स्मृतिरेव कुतस्त्येति चेद् न, नानाकारणकत्वात्स्मरणस्य निद्राकषायितमप्यन्तःकरणं स्मरणकारणं भवत्येव। यद्येवं द्विचन्द्रतिक्तशर्करादिप्रत्ययेषु कथं स्मृतिप्रमोषः। आः कुण्डशेखर कथमसकृदभिहितमपि न बुध्यसे–

न सर्वत्र स्मृतेरेव प्रमोषोऽभ्युपगम्यते ।
किं त्वख्यातिरतश्चासौ कथंचित्कस्यचित्क्वचित् ।।

इसका उत्तर यह ज्ञातव्य है कि मूर्ख प्रश्नकर्त्ता उक्त प्रकार बाधक प्रतीति का सच्चा परिचय नहीं रखता। क्योंकि उक्त बाधक प्रतीति के द्वारा रजत का निषेध विषयीकृत नहीं होता है किन्तु पहले गृहीत न होने वाला विवेक अर्थात् पार्थक्य, फलतः भेद प्रख्यापित होता है अर्थात् विशदीकृत होता है। 'यह रजत नहीं है' इस का अभिप्रेत विषय यह ज्ञातव्य है कि 'यह जो देखा जा रहा है वही रजत नहीं है किन्तु यह यह है, और रजत रजत है'। इस से सारांश रूप में कहा यह जाता है कि 'यह अन्य वस्तु है और रजत अन्य वस्तु'। इस प्रकार से विवेक अर्थात् भेद ख्यापित होता है।

इस पर पुनः यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जागरण काल में इस प्रकार 'यह रजत है' इत्यादि प्रतीति स्थल में अनुभव और स्मरण के बीच हो विवेक का अग्रहण अर्थात् अज्ञान, परन्तु स्वप्न में ऐसा कैसे होगा? तो इसका उत्तर यह है कि ओ भीरु! स्वप्न में क्या हो गया? क्योंकि कहीं अर्थात् जागरण काल में उक्त प्रकार अनुभव और स्मरण के बीच होने वाला पार्थक्य नहीं गृहीत होता है और स्वप्न में होने वाले एक ही स्मरण के पार्थक्य का उस प्रकार का ग्रहण नहीं होता है। इस पर यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि स्वप्न में सदृश वस्तु के दर्शन के बिना स्मृति ही कहाँ से हो पायेगी? तो इसका उत्तर यह है कि स्मृति के तो कारण अनेक होते हैं, ऐसी परिस्थिति में निद्रा प्रयुक्त मलिनता को प्राप्त करने वाला अन्तःकरण स्मरण का कारण बन ही सकता है। इस पर यदि यह पुनः कहा जाय कि चन्द्र के द्वित्व और शक्कर में तिक्तता की प्रतीति स्थलों में स्मृति का प्रमोष कैसे होगा? तो उत्तर साक्रोश यह है कि ओ जारजों के मुकुटमणि? क्यों बार बार कहने पर भी नहीं समझ रहे हो? सब जगह स्मृति का प्रमोष ही नहीं स्वीकार किया जाता है किन्तु अख्याति सब जगह स्वीकरणीय है। सो कहीं किसी को किसी प्रकार से होती है और अन्य किसी को

भवत्यनुभवस्मृत्योर्विवेकाग्रहणं क्व चित् ।
क्व चित्तु स्मर्यमाणस्य तथात्वेनानुपग्रहः ।।
द्विधा कृता क्व चिद्वृत्तिर्नेत्रस्य तिमिरादिना ।
न हि ग्रहीतुमैक्येन शक्नोति शिशिरत्विषम् ।।
क्व चिद्रसनसंपृक्ते पित्ते तिक्तत्ववेदनात् ।
परिच्छेत्तुं न शक्नोति माधुर्यं शर्करागतम् ।।
गृह्णाति यत्तु तिक्तत्वं वस्तुतः पित्तवर्त्ति तत् ।
तथा तु न विजानाति निगिरन्नेष शर्कराम् ।।

एतेन पीतशङ्खादिख्यातयोऽपि व्याख्याताः ।

तदेवं सति सर्वत्र सम्यगग्रहणं भ्रमः ।
न मिथ्याप्रत्ययः कश्चिदस्ति शंकानिबन्धनम् ।।
अजातमिथ्याशंकश्च न संवादमपेक्षते ।
तस्मान्न कश्चित्परतः प्रामाण्यमधिगच्छति ।।
एवं स्वतः प्रमाणत्वे सिद्धे वेदेऽपि सा गतिः ।
अपवादद्वयाभावो वक्तव्यश्चात्र पूर्ववत् ।।

[परतः प्रामाण्यसमर्थनाय विवरीतख्यातिसमर्थनम्]

अत्र प्रतिविधीयते, यदुक्तमिदं रजतमिति स्मरणानुभवस्वभावे विवेकेनागृह्यमाणे

अन्य किसी प्रकार से। कहीं तो होने वाले अनुभव और स्मरण के बीच विद्यमान विवेक का ग्रहण नहीं होता और कहीं स्मर्यमाण विषयों के बीच विद्यमान विवेक का ग्रहण नहीं होता है। कहीं पर अर्थात् एक चन्द्र को दो देखने के स्थल में तिमिर आदि नेत्रगत रोग-दोष प्रयुक्त द्विधाकृत वृत्ति चन्द्र को एक रूप में नहीं ग्रहण कर सकती है। कहीं परिस्थिति यह होती है कि जिह्वा पर पित्त का लेप हो आने पर उसकी तिक्तता का बोध होने के कारण शक्कर की मधुरता का बोध रोगी नहीं कर पाता है। कहने का तात्पर्य यह कि तिक्तता पित्त की ही गृहीत होती है शक्कर की नहीं। परन्तु शक्कर निगलता हुआ वह रोगी वैसा नहीं समझता है। इस विवेचन से पीत शंख आदि की ख्यातियाँ भी व्याख्यात अर्थात् विचारित हो गयीं।

इसलिए ऐसा होने पर सब जगह भ्रम सम्यक् अग्रहण ही मान्य है। अतः शंका का स्थान मिथ्या ज्ञान कोई नहीं है। मिथ्याज्ञान की शंका न करने वाला कोई सम्वाद की अपेक्षा नहीं रखता है। इसलिए परतः प्रामाण्य कोई स्वीकार नहीं कर सकता है। इस प्रकार स्वतः प्रामाण्य की सिद्धि होने पर वेद के स्थल में भी वही परिस्थिति होगी। अपवाद द्वय का अभाव यहाँ भी पूर्ववत् वक्तव्य है।

परतः प्रामाण्यके समर्थनार्थ विपरीत ख्याति का भी समर्थन।

अब यहाँ इस का प्रतिविधान अर्थात् समाधान उपस्थित किया जा रहा है। यह जो

ः एते ज्ञाने इति तदसाम्प्रतम्। प्रत्यभिज्ञावदेकत्वेनैव संवेद्यमानत्वात्। यदेवेदं पुरोऽवस्थितं भास्वररूपाद्यधिकरणं धर्मिसामान्यं तदेव रजतमिति विशेषतः प्रतिपद्यते। यदिदमग्रतः स्थितं तद्रजतमिति सत्यरजतप्रतीतिवत्। अनुभूततया हि न रजतमत्र प्रकाशते किं त्वनुभूयमानतया। अनुभूतताग्रहणं च स्मरणमुच्यते नानुभूयमानताग्रहणम्, स्वप्रकाशा च संवित्तिरिति भवतां दर्शनम्। तत्रैषा रजतसंवित्तिः केन रूपेण प्रकाशतामिति चिन्त्यम्। यदि स्मरणात्मना कः प्रमोषार्थः। अथानुभवात्मना तदियं विपरीतख्यातिरेव स्मृतेरनुभवत्वेन प्रतिभासात्। अथ संविन्मात्रतयैव प्रकाशते तदपि न युक्तम्। रजतविषयोल्लेखात् स्मरणानुभवविशेषरहितायाश्च विषयसंवित्तेरनुपपत्तेः। न चेयमप्रतिपत्ति रेवेति वक्तुमुचितं मदमूर्छादिदशाविसदृशस्वप्रकाशसंवेदनानुभवात्। यथा इदमित्यंशे स्वप्रकाशं संवेदनं तथैव रजतमित्यत्रापि ।

अपि च द्वयोश्चांशयोः समाने संवेदने तत एकं प्रत्यक्षलब्धमपरं स्मरणफलमिति

कहा गया है कि 'यह रजत है' यह एक ज्ञान नहीं होता है किन्तु 'यह' और 'रजत है' ये दो स्मरणात्मक और अनुभवात्मक ज्ञान होते हैं, जो कि विविक्त रूप में अर्थात् भिन्न होने पर भी भिन्न नहीं समझे जाते हैं– यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि प्रत्यभिज्ञा के समान एक ही ज्ञान प्रतीत होता है। प्रतीति इस प्रकार होती है कि जो ही यह अग्रवर्ती रूप में उपस्थित धर्मी भास्वर रूप आदि के अधिकरण रूप में उपस्थित है, वही देखा जाने वाला रजत है, इस प्रकार विशेष रूप से समझा जाता है। जो यह आगे विद्यमान है 'वह रजत' है, इस प्रकार सत्य रजत की प्रतीति की तरह पूर्वानुभूत रूप में नहीं प्रतीत होता है किन्तु 'यह रजत' इस प्रकार प्रतीयमान रूप में अर्थात् वर्त्तमान रूप से होने वाली प्रतीति के विषय रूप में प्रतीत होता है। स्मरण तो वह ज्ञान होता है जिस में विषयगत अनुभूतता का विषयीकरण होता है अनुभूयमानता का नहीं। आप अख्यातिवादियों की मान्यता तो यह है कि ज्ञान स्वप्रकाश होता है। उसे ध्यान में रखते हुए यह सोचना चाहिए कि यह रजत का ज्ञान किस रूप में प्रकाशित हो? यदि यह कहा जाय कि 'स्मरण रूप में' तो फिर 'प्रमोष' क्या हुआ? और यदि यह कि अनुभवात्मक रूप में ज्ञान का प्रकाशन होना चाहिए तब तो उक्त 'यह रजत है' यह ज्ञान विपरीत ख्याति ही हो जायेगा। क्योंकि स्मृति का भान अनुभव रूप में माना गया है।

यदि यह कहा जाय कि बह ज्ञान ज्ञानमात्र रूप से भासता है तो वह कथन भी उचित नहीं होगा। क्योंकि रजतात्मक विषय का भी उल्लेख होता है। स्मरणात्मक अनुभावात्मक विशेष से रहित विषय का ज्ञान तो अनुपपन्न है। यह अप्रतिपत्ति ही है अर्थात् अज्ञान ही है– यह कथन भी उचित नहीं है। क्योंकि नशे की परिस्थिति तथा मूर्च्छा की परिस्थिति से असमान परिस्थिति एवं ज्ञान प्रकाश के सम्वेदन का अनुभव होता है। जिस प्रकार 'यह' इस अंश में प्रकाशात्मक सम्वेदन होता है उसी प्रकार 'रजत है' इस अंश में भी। और यह भी कि 'यह' और 'रजत' इन दोनों का सम्वेदन जब कि एक होता है, तब यह विभाजन कहाँ से आया कि एक प्रत्यक्ष रूप में लब्ध हो रहा है और दूसरा स्मरण फल को देने

कुतस्तयोर्विभागः। इदमित्यत्र च किमवभासते इति निरूप्यम्। यदि शुक्तिकाशकलं सकलस्वगतविशेषखचितमवभाति तदा तद्दर्शने सति रजतस्मरणस्य कोऽवसरः। भवदपि वा सादृश्यकृतं स्मरणं न तदविवेकाय कल्पते देवदत्तदर्शनानन्तरोद्गत तत्सदृशपुरुषान्तरस्मरणवत्।

अथ धर्मिमात्रमिदमिति प्रत्यये प्रतिभाति न शुक्तिकाशकलं तद्वाढमिष्यते। तदेव चेदं सामान्यधर्मग्रहणवशाद्विरुद्धसंस्कारोपनिबन्धनविरुद्धविशेषस्मरणकारणकमिदं रजतमिति सामान्योपक्रमे विशेषपर्यवसानं ज्ञानं यदिदं तद्रजतमिति सामानाधिकरण्यावमर्शात्। रजतानुभवाभिमानेनैव च रजतार्थी तत्र प्रवर्त्तते।

ननु स्मरणानुभवयोर्विवेकमप्रतिपद्यमानः प्रवर्त्तते इत्युक्तम्। श्रुतमिदं यदत्र भवद्भिर्धर्मकीर्त्तिगृहादाहृतं दृश्यविकल्पावर्थावेकीकृत्य प्रवर्त्तते इति। किं च चौर्यमपीदं न कथंचन स्वार्थं पुष्णाति। यावद्धि दृश्यं गृहीतमिति न जातः प्रत्ययः तावत्कथं दृश्यार्थिनस्तत्र प्रवृत्तिः। एवमिहापि यावद्रजतं गृहीतमिति न जातः प्रत्ययः तावत् कुतस्तदर्थिनां प्रवृत्तिः। तस्मादस्ति रजतग्रहणं न तु तत्स्मरणप्रमोषमात्रम्।

वाला? और यह भी विचारणीय है कि 'यह' यहाँ पर क्या भासता है? यदि शुक्तिका खण्ड जो कि स्वगत समस्त विशेषताओं से विजड़ित होता है तो उसका प्रत्यक्ष होते समय रजत के स्मरण का अवसर कहाँ रह जाता है? यदि सदृशता के कारण रजत का स्मरण हो भी तो वह अविवेक का अर्थात् भेदाग्रह का देने वाला नहीं हो सकता है। जैसे देवदत्त को देखकर तत्सदृश व्यक्त्यन्तर का स्मरण होने पर भी दोनों में होने वाले भेद का अग्रह तो नहीं होता है। 'यह' इस रूप में ज्ञान होने पर शुक्तिका खण्ड प्रतिभासित नहीं होता है। यह यदि अख्यातिवादी कहते हैं तो सो अच्छा ही कहते हैं। वही, यह सामान्य धर्म के ग्रहणवश विरुद्ध संस्कार मूलक विरुद्ध विशेष स्मरण कारणक रूप में सामान्य से आरम्भकर के विशेष में पर्यवसित होने वाले 'यह रजत है' इस प्रकार विशेष ज्ञान में पर्यवसित होता है। तभी 'यह रजत' इस प्रकार सामानाधिकरण्यावगाही अर्थात् अभेदावगाही परामर्श अर्थात् ज्ञान होता है। रजत के अनुभवात्मक भ्रम से ही तो रजतार्थी प्रवृत्त होता है?

इस पर यदि अख्यातिवादी की ओर से फिर यह कहा जाय कि यह तो मैं कह चुका हूँ कि द्रष्टा व्यक्ति स्मरण और अनुभव के बीच होने वाले भेद को न समझ पाने के कारण वहाँ रजत की इच्छा से प्रवृत्त होता है तो इस पर वक्तव्य यह है कि यह सुना जा चुका है कि आप लोगों ने धर्मकीर्ति के घर से चुरा लाये हैं कि दृश्य और विकल्पित दो वस्तुओं को एक करके रजतार्थी द्रष्टा प्रवृत्त होता है। किन्तु यह आप लोगों की चोरी भी आप लोगों के स्वार्थ का पोषण नहीं कर पाती।

जब तक दृश्य गृहीत न समझ लिया जाय तब तक दृश्यार्थी की उस ओर प्रवृत्ति कैसे हो सकती है। इसी तरह जबतक यह रजत है यह ज्ञान नहीं होता है तब तक कैसे रजतार्थी की प्रवृत्ति होगी।

ननु रजस्तमरणं विपरीतख्यातिवादिभिरप्यङ्गीकृतमित्युक्तम्। सत्यं रजतगतविशेष-स्मरणमभ्युपगतम्। यथा हि पुरोऽवस्थिते धर्मिण्यूर्ध्वत्वादिसाधारणधर्मग्रहणात् स्थाणुपुरुषगतविशेषाग्रहणादुभयविशेषस्मृतेः संशयो भवति। एवमिहापि तेजस्वितादि सामान्यधर्मग्रहणाद्विशेषाग्रहणाद्रजतगतविशेषस्मृतेश्च तस्मिन् धर्मिणि रजतप्रत्ययो भवति विपर्ययात्मकः। संशये ह्युभयविशेषस्मरणं कारणम्, इह त्वन्यतरविशेषस्मरणमिति विशेषः। अत एव चागृहीतरजतस्येदं ज्ञानं नोत्पद्यते सदृशाग्रहणे वा निशीथादाविति। न त्वेतावता स्मरणमात्रमेवेदमितीयति विरम्य स्थातव्यम्। स्मरणजन्यस्य विपर्ययप्रत्ययस्यापि संवेदनात्। अत एव तत्पृष्ठभाविपरामर्शवादिनो वरं सत्यवाचः। ते हि प्रतिभासं न निह्नुवते।

यत्तु विपर्ययावगतेः कारणं विकल्पितं तत्रोक्तमेव प्रामाणिकैः ।

कार्यं चेदवगम्येत किं कारणपरीक्षया ।
कार्यं चेन्नावगम्येत किं कारणपरीक्षया ।।

कार्याकस्मिकतानुपपत्तेश्च कल्प्यतां कारणं तच्च क्लृप्तमेव दोषसहितमिन्द्रियं यथा संस्कारसहकारि प्रत्यभिज्ञायामिति ।

इसलिए यह मानना ही होगा कि वहाँ रजत का ज्ञान होता है। स्मरण का प्रमोष मात्र नहीं होता है। यदि कहा जाय कि रजत का स्मरण विपरीतख्याति वादी ने भी स्वीकार किया है। ठीक है, रजत विशेष का स्मरण उन्होंने स्वीकार किया है। जिस प्रकार अग्रावस्थित धर्मी में ऊर्ध्वता आदि साधरण धर्म का ग्रहण और स्थाणु तथा पुरुष गत विशेष का अग्रहण रहने पर उभयगत विशेष का स्मरण होने से यह स्थाणु है या पुरुष, इस प्रकार का संशय होता है। उसी प्रकार यहाँ भी तेजस्विता आदि सामान्य धर्म का ग्रहण होने पर उभयगत विशेषता के अग्रहण और रजतगत विशेषता के स्मरण से उस धर्मी में विपर्यात्मक रजत ज्ञान होता है। संशय स्थल से विपर्यय स्थल में विशेषता यह होती है कि वहाँ उभयगत विशेषता का स्मरण होता है और यहाँ प्रार्थित एक अर्थगत विशेषता का ही स्मरण होता है। इसीलिए रजत का ज्ञान न रखने वाले को ऐसा ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, एवं रात्रि आदि में सदृश वस्तु का ज्ञान न होने पर भी उक्त प्रकार ज्ञान नहीं होता। किन्तु इस से उक्त ज्ञान स्मरण मात्र होता है, इसी पर विराम लेकर नहीं स्थिर रह जाना चाहिए। क्योंकि स्मरण से उत्पन्न होने वाले ज्ञान का भी सम्वेदन होता है। इसलिए स्मरण के पीछे भ्रमज्ञान होता है – ऐसा कहने वाले सत्यवक्ता हैं। क्योंकि वे होने वाले ज्ञान का तो अपलाप नहीं करते। विपर्ययात्मक ज्ञान के कारण के सम्बन्ध में जो विकल्प उठाया गया है, उसके सम्बन्ध में प्रामाणिक जनों ने यह कहा ही है कि 'कार्य को स्वीकार कर लेने पर उसके कारण के सम्बन्ध में प्रश्न उठाने से क्या लाभ? और कार्य को न मानने पर भी कारण के सम्बन्ध में प्रश्न उठाने से क्या लाभ?' कार्य की आकस्मिकता के अनुपपन्न होने से कारण की कल्पना की जाय, वह तो दोषसहित इन्द्रिय स्वीकृत ही है, जिस प्रकार

सुवते शालयो दुष्टा न यद्यपि यवाङ्कुरम् ।
शालिकार्यं त्वपूपादि जनयन्त्येव कल्मषम् ।।

तस्माद्दोषकलुषितादिन्द्रियात्पुरोऽवस्थितधर्मिगतत्रिकोणत्वादिविशेषावमर्शकौशलशून्यात्सामान्यधर्मसहचरितपदार्थान्तरगतविशेषस्मरणोपकृताद् भवति विपरीतप्रत्ययः। सम्यग्ज्ञानापेक्षया च तद् दुष्टमुच्यते स्वकार्ये तु विपर्ययज्ञाने तत्कारणमेव न दुष्टम्। तस्माद्रजतमित्यनुभव एव न प्रमुषितस्मृतिः ।

अपि च नेदं रजतमिति बाधकज्ञानं पूर्वानुभवविषयीकृतरजतनिषेधमधिगमयदुत्पद्यते नेदं रजतमिति यदहमद्राक्षं तद्रजतं न भवतीति। प्रसक्तस्य चायं निषेधः अननुभूतं त्वप्रसक्तमपि प्रतिषिध्यमानं रजतमिव कनकमपि किमिति न प्रतिषिध्यते ।

यत्तु व्याख्यातं प्रागनवगतस्मरणानुभवविवेकप्रतिपादकं बाधकज्ञानमिति तद्व्याख्यानमात्रमेव तथाननुभवात्। न ह्येवं बाधक उद्घाटयति यदविविक्तं तद्विविक्तमिति। अतो यत्किञ्चिदेतत्। तस्मान्न रजतमित्यनुभवो रजतमिति च स्मरणम् रजतं वा कदा चिदनुभवोऽभूदिति स्मरणमभिधीयमानं नात्यन्तमलौकिकम्। स्वप्ने तु

संस्कार सहकृत वह प्रत्यभिज्ञा में मान्य। दोष युक्त अर्थात् कूटा हुआ धान यद्यपि यवाङ्कुर को उत्पन्न नहीं करता है। परन्तु धान के कार्य फलतः उसके विकृति भूत मालपूआ आदि को वह उत्पन्न करता ही है।

इसलिए ऐसे दोष कलुषित इन्द्रिय से, जो कि आगे विद्यमान धर्मी में अवस्थित त्रिकोणता आदि विशेषता को समझने के प्रति कुशलता नहीं रखती और सामान्य धर्म के साथ रहने वाली विशेषता के स्मरण से उपकृत अर्थात् प्राप्त साहाय्य होती है, विपरीत प्रत्यय अर्थात् विपरीत ख्याति स्वरूप भ्रम होता है। और वह अर्थात् इन्द्रिय सम्यक् ज्ञान अर्थात् प्रमा ज्ञान को अपेक्षा करके दुष्ट अर्थात् दोषयुक्त कहलाती है। किन्तु अपने कार्यभूत विपर्ययज्ञान के प्रति तो कारण होती ही है। उसके लिए वह दुष्ट नहीं होती। इसलिए शुक्तिका धर्मी में होने वाला 'यह रजत है' यह ज्ञान अनुभवात्मक ही होता है प्रमुषित स्मरणात्मक नहीं।

और यह भी कि 'यह रजत नहीं है' यह पीछे होने वाला बाधक ज्ञान पूर्ववर्ती अनुभव के द्वारा विषयीकृत रजत के निषेध को ही बतलाता हुआ उत्पन्न होता है। यह रजत नहीं है, इसका अभिप्रेत अर्थ यही होता है कि जिसे मैंने रजत के रूप में देखा, वह रजत नहीं है। प्रसक्त का ही यह निषेध होता है। अननुभूत अतएव अप्रसक्त होने वाले का भी निषेध मानने पर रजत के समान कनक भी क्यों न प्रतिषिद्ध होता है? पहले जो यह बतलाया गया है कि बाधकज्ञान अज्ञात अनुभव और स्मरण के बीच विद्यमान विवेक को अर्थात् पार्थक्य को बतलाता है, वह तो कथन मात्र है अर्थात् सारशून्य है। क्योंकि वैसा अनुभव नहीं होता। बाधक यह उद्घाटन नहीं करता है कि जो अविविक्त समझा जा रहा है वह विविक्त है। इसलिए वह कथन 'जो कुछ' मात्र है अर्थात् सर्वथा निस्सार है। इसलिए 'यह रजत' है यह अनुभव और 'रजत है' यह स्मरण होता है– ऐसा नहीं। अथवा

स्वशिरश्छेदादेरत्यन्ताननुभूतस्य स्मृतिरिति कथ्यमानमेव त्रपाकरम्। जन्मान्तरे निजमस्तकलवनमनुभूतमनेनेति चेद् इदमपि स्वभाषितमसारम्। यज्जन्मान्तरानुभूतं स्मर्यते तत्र च कुतस्त्य एष नियमो यत्कदाचिदेव स्मर्यते न सर्वदा सर्वमिति ।

ननु भवताप्यसत्ख्यातिं निरस्यता स्वप्नज्ञानेषु तादृक्षु किं वक्तव्यं यद्वक्तव्यं तत्रैव श्रोष्यसि असन्न प्रतिभातीत्युच्यते न त्वननुभूतमिति ।

नन्वननुभूतं सत्कथं जानीषे सदिति चेज् ज्ञानं तदनुभूतमिति। मैवम्, मया तन्नानुभूतम् अन्येनानुभविष्यते परानुभूतं च सदिति शक्यते वक्तुम्। परानुभूते तु स्मरणमघटमानमिति नावयोरत्र वस्तुनि समानयोगक्षेमत्वम् ।

अपि च भवन्मते स्वप्नस्मृतेः स्मृतित्वेनाग्रहणे केन रूपेण ग्रहणमिति चिन्त्यम्, रूपान्तरेण ग्रहणे विपरीतख्यातिः सर्वात्मना त्वग्रहणे स्वप्नसुषुप्त्योरविशेषप्रसङ्गः। अनुभवप्रत्ययश्च स्वप्ने संवेद्यते न स्मरणानुल्लेखमात्रमिति दुरभिनिवेश एव स्मृतिप्रमोषसमर्थनं नामेति। द्विचन्द्रादिप्रत्ययेषु कथमख्यातिः ।

'यह रजत है' ऐसा अनुभव पहले हुआ इसलिए रजत का स्मरण होता है – यह कथन अत्यन्त अलौकिक नहीं है। स्वप्न में अत्यन्त अननुभूत अपने शिर का छेदन आदि का स्मरण होता है– यह कहना तो अत्यन्त लज्जाकर है। जन्मान्तर में उसने अपने मस्तक के छेदन का अनुभव किया था, यह भी उनका अपना कथन असार ही है। जन्मान्तरानुभूत का यदि स्मरण किया जाता है तो उसके सम्बन्ध में ध्यान देने की बात यह है कि वहाँ यह नियम कैसे होता है कि जो स्मृत होता है वह कभी ही स्मृत होता है सदा नहीं, और उसी का स्मरण होता है सब का नहीं?

अब प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि असत्ख्याति का खण्डन करने वाले आप के द्वारा (अन्यथा ख्यातिवादी के द्वारा) तादृश स्वप्नज्ञान स्थल में क्या कहा जायेगा? तो इसका उत्तर यह है कि इसका उत्तर वहाँ ही सुनोगे कि असत् पदार्थ प्रतिभासित नहीं होता है। यह वक्तव्य है। यह नहीं कि अननुभूत प्रतिभासित होता ही नहीं है। इस पर यदि यह कहा जाय कि अननभूत भी सत् होता है, यह कैसे जानते हो? क्योंकि 'यह सत् है' ऐसा यदि ज्ञान हुआ तो वह अनुभूत ही हो गया? तो ऐसा कहना सही नहीं है। क्योंकि जो मेरे द्वारा नहीं अनुभूत होता वह अन्य के द्वारा अनुभूत होता है या अनुभूत होगा। परानुभूत सत् होता है – यह तो कहा जा सकता है। परन्तु परानुभूत का स्मरण नहीं होता है इसलिए यहाँ पर सद्वस्तु के सम्बन्ध में हम और आप में समान योगक्षेमता नहीं है। और यह भी कि आप के मत में स्वप्नात्मक स्मृति का स्मृति रूप में जब ग्रहण नहीं होता है। तब उसका ग्रहण किस रूप में होता है? यह चिन्तनीय है। यदि यह कहा जाय कि रूपान्तर में उसका ग्रहण होता है तो विपरीतख्याति मान्य हो उठती है और यदि पूर्णरूप से अग्रहण माना जाय तो स्वप्न और सुषुप्ति में अविशेषता की आपत्ति होगी। स्वप्न में केवल स्मरण का अनुल्लेख ही नहीं होता है किन्तु अनुभव का प्रत्यय भी होता है – ऐसा कहने पर तो स्मरण के प्रमोष का समर्थन एक दुराग्रह मात्र रह जाता है। और एक चन्द्र को दो देखने के स्थल में कैसे अख्याति होगी?

ननूक्तं सुषिरभिन्ना नयनवृत्तिरेकत्वेन ग्रहीतुं न शक्नोति शशाङ्कमिति। भोः श्रोत्रिय तादृशी दृशो वृत्तिरेकत्वमिन्दोर्मा ग्रहीद् द्वित्वानुभवं तु भ्रान्तं क्व प्रच्छादयामः। ननु चक्षुर्वृत्तौ तद् द्वित्वं तद्गतत्वेन तु यत्तस्याग्रहणं स एव भ्रमः। नैतदेवम्, नेत्रवृत्तेः सर्वत्र परोक्षत्वात् ।

किमेकचन्द्रबोधेऽपि वृत्त्येकत्वं प्रतीयते ।
इयं ह्यगृह्यमाणैव चक्षुर्वृत्तिः प्रकाशिका ।।

एवमुच्यमाने चैकचन्द्रग्रहणेऽपि वृत्त्यैकत्वाग्रहणादख्यातिरेव भवेत्।

यदपि तिक्तशर्करादिप्रत्ययेष्वख्यातिसमर्थनकदाशया पित्तवृत्तेस्तिक्तत्वस्य संवेद्यमानस्य तत्स्थत्वेनाग्रहणमुपवर्णितं तदपि कुशकाशावलम्बनप्रायम् ।

मोहात् पित्तगतत्वेन तिक्तता चेन्न गृह्यते ।
मा ग्राहि शर्करायां तु किंकृता तिक्तितामतिः ।।

पित्तं त्विन्द्रियस्थं तिमिरवदगृह्यमाणमपि भ्रममुपजनयति शरीरस्थमिव ज्वरं शिरोर्त्त्यादि रोगमित्यलं प्रसङ्गेन ।

एवं सर्वत्र नाख्यातिर्निर्वहन्तीव लक्ष्यते ।
न चैतयापि परतः प्रामाण्यमपहन्यते ।।

इस पर यदि यह कहा जाय कि छिद्रभेद से भिन्न होने वाली नयन की वृत्ति एक चन्द्र को नहीं ग्रहण करती है तो वक्तव्य यह है ओ श्रोत्रिय अर्थात् मीमांसक आंख की वृत्ति भले ही चन्द्र की एकता का ग्रहण न कर पाये किन्तु भ्रमात्मक द्वित्वानुभव को हम लोग कहाँ छिपायें? इस पर यदि यह कहा जाय कि चक्षु की वृत्ति में विद्यमान द्वित्व का तद्गत रूप में ग्रहण नहीं होता है, वह अग्रहण भ्रम है, तो ऐसा नहीं है। क्योंकि नेत्र की वृत्ति सर्वत्र परोक्ष होती है। और क्या एक चन्द्र के बोध स्थल में भी वृत्तिगत एकता प्रतीत होती है? यह आँख की वृत्ति तो अगृह्यमाण होते हुए ही प्रकाशक होती है।

ऐसा कहने पर तो एक चन्द्र ग्रहण स्थल में भी वृत्तिगत एकत्व के अग्रहण प्रयुक्त अख्याति ही हो उठेगी। और शर्करा की तिक्तता आदि की प्रतीति स्थल में भी अख्याति के समर्थन की बुरी आशा से जो शर्करागत तिक्तरस सम्वेद्यमान होने से पित्तवृत्ति तिक्तता का पित्तगत रूप में अग्रहण का वर्णन किया गया है, वह भी 'कुशकाशावलम्बन' अर्थात् 'डूबते को तिनका का सहारा' ही कहा जायेगा। मोह वश पित्तगत तिक्तता यदि न भी गृहीत हो तो न हो, किन्तु शर्करा में तिक्तता बुद्धि कैसे होती है? पित्त इन्द्रियस्थ होकर भी तिमिर रोग के समान अगृहीत होते हुये भी भ्रम को उस प्रकार उत्पन्न कर सकता है, जिस प्रकार शरीर स्थित ज्वर मस्तक में पीड़ा आदि को उत्पन्न करता है। अब रखा जाय यहाँ पर अधिक विचार को। इस प्रकार सर्वत्र अख्याति का निर्वाह होता पाया नहीं जाता है और उस अख्याति की मान्यता को लेकर परतः प्रामाण्य का खण्डन भी हो नहीं पाता है।

रजतेऽनुभवः किं स्यादुत प्रमुषिता स्मृतिः ।
द्वैविध्यदर्शनादेवं भवेत्तत्रापि संशयः ।।
संशयानश्च संवादं नूनमन्वेषते जनः ।
तदपेक्षाकृतं तस्मात् प्रामाण्यं परतो ध्रुवम् ।।
न चैष शून्यवादस्य प्रतीकारक्रियाक्रमः ।
अनर्थजा हि निर्दग्धपित्रादौ भवति स्मृतिः ।।
दृष्टान्तीकृत्य तामेव शून्यवादे समुत्थितः ।
भ्रमोऽपह्नवमात्रेण प्रतिहन्तुं न शक्यते ।।
अथास्ति का चित्परतः प्रामाण्यस्य निषेधिका ।
शून्यवादस्य या युक्तिः सैव वाच्या किमेतया ।।
तस्माद् यथार्थमस्याः संश्रयणं तद् निषिद्धमख्यातेः ।
संविद्विरोध एव प्रकटित इति धिक् प्रमादित्वम् ।।

तदुक्तम् –

कृतश्च शूलविध्वंसो न चानङ्गश्च सङ्गतः ।
आत्मा च लाघवं नीतस्तच्च कार्यं न साधितम् ।।

यत्पुनर्विपरीतख्यातौ पक्षत्रयमाशङ्क्य दूषितं तदपि न युक्तम्। अस्तु तावदयमेव पक्षः रजतमालम्बनं तदेव चास्यां प्रतीतौ परिस्फुरतीति ।

भ्रमस्थल में रजत का अनुभव होता है या स्मृति प्रमोष होता है? कम से कम यह संशय होगा ही। क्योंकि द्वैविध्य देखा जाता है। सन्देह शील व्यक्ति अवश्य सम्वाद को ढूँढेगा, उसका अन्वेषण करेगा। इस प्रकार होने वाली सम्वाद की अपेक्षितता को ध्यान में रखकर परतः प्रामाण्य अवश्य मान्य होगा। शून्यवाद की प्रतिक्रिया का अर्थात् खण्डन का यह क्रम नहीं है। विषय के न रहने पर निश्शेष भाव से दग्ध पिता आदि का भी स्मरण होता ही है, इस दृष्टान्त को अपनाकर शून्यवाद पर आरूढ़ होकर केवल अपलाप करके ही भ्रम का खण्डन नहीं किया जा सकता है। परतः प्रामाण्य की यदि कोई बाधक युक्ति होगी तो वह अवश्य शून्यवाद की ही युक्ति होगी। फिर उस से यहाँ क्या चल पायेगा। इसलिए यथार्थ रूपसे अख्याति का स्वीकार खण्डित हो गया। अख्यातिवादी के द्वारा वास्तविक अनुभव का विरोध ही प्रकटित होता है। ऐसे प्रमाद पर धिक्कार है। ऐसा किया गया शूल रोग का नाश उपयुक्त नहीं माना जायगा जो कि साङ्ग अर्थात् पूर्ण रूप से नहीं होगा अनङ्ग अर्थात् अपूर्ण हो। अख्यातिवादियों ने अपनी लघुता भी बतलायी और उनका अभिमत भी सिद्ध नहीं हो पाया।

विपरीत ख्यातिवाद में पक्षत्रय की आशङ्का करके जो उसे दूषित बतलाया गया है, वह भी उचित नहीं है। क्योंकि यही पक्ष रखा जाय कि रजत ही आलम्बन होता है और वही भ्रम प्रतीति में परिस्फुरित होता है। इस पर कदाचित् यह कहा जा सकता है कि इस

नन्वत्र चोदितम् असत्ख्यातिरेव सा भवेदिति नैतत्साधु। देशान्तरादौ रजतस्य विद्यमानत्वात्। असत्ख्यातिपक्षे हि–

तत्रैकान्तासतोऽर्थस्य किं देशान्तरचिन्तया ।
किं कुर्मस्तादृशस्येव वस्तुनः ख्यातिदर्शनात् ।।
यस्तु देशान्तरेऽप्यर्थो नास्ति कालान्तरेऽपि वा ।
न तस्य ग्रहणं दृष्टं गगनेन्दीवरादिवत् ।।

अयमेव च द्वयोरसत्त्वयोर्विशेषः यदेकस्य ग्रहणं दृष्टमितरस्य न दृष्टमिति।

ननूक्तं तत्रासतोऽर्थस्य कथं ज्ञानजनकत्वमजनकस्य वा कथं प्रतिभासः। उक्तमत्र सदृशपदार्थदर्शनोद्भूतस्मृत्युपस्थापितस्य रजतस्यात्र प्रतिभासनमिति। न चास्योपस्थानं पशोरिव रज्ज्वा संयम्य ढौकनम् अपि तु हृदये परिस्फुरतोऽर्थस्य बहिरवभासनम्। न चैतावतेयमात्मख्यातिरसत्ख्यातिर्वेति वक्तव्यं विज्ञानाद्विच्छेदप्रतीतेः अत्यन्तासदर्थ प्रतिभासाभावाच्चेति। अत एव पिहितस्वाकारा परिगृहीतपराकारा शुक्तिकैवात्र प्रतिभातीति भवतु पक्षः।

ननूक्तं कृत्यासीतावत् किमिदं वेशभाषापरिवर्तनं कथं च रजतज्ञाने

पर तो कहा जा चुका है कि तब तो वह असत्ख्याति ही हो जायेगी। परन्तु यह उचित नहीं है, क्योंकि देशान्तर आदि में तो रजत विद्यमान रहता है। वहाँ असत्ख्यातिवाद में तो अर्थ अत्यन्त असत् होता है, अतः देशान्तर का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। क्या किया जाय भ्रम स्थल में तादृश वस्तु की ही ख्याति होती है, जो कहीं अन्यत्र होती है। जो पदार्थ देशान्तर में भी नहीं रहता है अथवा कालान्तरमें भी नहीं रहता है आकाश कुसुम के समान उसका ज्ञान इष्ट नहीं है। दोनों की असत्ता में विशेषता यह होती है कि एक का ग्रहण देखा जाता है दूसरे का ग्रहण देखा नहीं जाता है। इस पर यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि असत् अर्थ को ज्ञान के प्रति जनकता कैसे? और ज्ञान के अजनक का प्रतिभास किस प्रकार? तो इस पर कहना यह है कि इसका उत्तर तो दिया जा चुका है कि सदृश पदार्थ के दर्शन से होने वाली स्मृति के द्वारा उपस्थापित रजत का ही प्रतिभासन यहाँ होता है। इसका यह उपस्थापन रज्जु के द्वारा बाँधकर पशु का उपढौकन अर्थात् आच्छादन के समान नहीं होता है। किन्तु हृदय में परिस्फुरणशील अर्थ का बाहर अवभासन होता है। इतने ही से इसे आत्मख्याति या असत्ख्याति नहीं कहा जा सकता। क्योंकि विज्ञान से विभिन्न रूप में प्रतीति होती पायी जाती है। और अत्यन्त असत् अर्थ का भान हो भी तो नहीं सकता? इसलिए शुक्तिका में होने वाले रजत के विभ्रम के स्थल में शुक्तिका ही अपने आकार को छिपाकर अन्याकार रूप में अर्थात् रजताकार रूप में प्रतिभासित होती है – यही पक्ष मान्य हो।

इस पर वक्तव्य यह है कि क्या सीता के अभिनयस्थल में होने वाले वेष भाषा आदि के परिवर्त्तन के समान ही कोई परिवर्त्तन विवक्षित है? रजत के ज्ञान में शुक्तिका कैसे

शुक्तिकावभासितुमर्हति। श्रुतमिदं नाटकं न तु वयमत्रोपहासपात्रम्। शुक्तिकेति वस्तुस्थितिरेषा कथ्यते पुरोऽवस्थितं धर्मिमात्रं भास्वररूपादिसादृश्योपजनित रजतविशेषस्मरणमत्र प्रतिभातीति ब्रूमः। यदेतत्पुरः किमपि वर्त्तते तद्रजतमित्यनुभवात्। वस्तुस्थित्या तु शुक्तिरेव सा त्रिकोणत्वादिविशेषग्रहणाभावाच्च निगूहितनिजाकारेत्युच्यते रजतविशेषस्मरणाच्च परिगृहीतरजताकारेति। एतच्च विषयेन्द्रियादिदोषप्रभवेषु शुक्तिकारजतावभासभास्करकिरणजलावगमजलदगन्धर्वनगरनिर्वर्णनरज्जुभुजगग्रहण रोहिणीरमणद्वयदर्शनशङ्खशर्करापीततिक्ततावसायकेशकूर्चकालोकनादिविभ्रमेष्वभ्युप गम्यते मनोदोषनिबन्धनेषु तु मिथ्याप्रत्ययेषु निरालम्बनेषु स्मृत्युल्लिखितनिराकाररः प्रकाशते इति।

यस्तु तृतीयः पक्षः अन्यन्दालम्बनमन्यश्च प्रतिभातीति कैश्चिदाश्रितः। तत्रापि न सन्निहितस्यालम्बनत्वमुच्यते, येन भूप्रदेशस्यापि तथात्वमाशङ्क्येत नापि जनकस्यालम्बनत्वं यच्चक्षुरादावपि प्रसज्येत, किं त्विदमित्यङ्गुल्या निर्दिश्यमानं कर्मतया यज्ज्ञानस्य जनकं

अवभासित हो सकती है? यह नाटक सुना गया। हमलोग परिहास के पात्र नहीं हैं। शुक्तिका का अवभासन तो वस्तुस्थिति की दृष्टि से कहा जाता है। निकटवर्ती धर्मी मात्र भास्वर रूप आदि प्रयुक्त सादृश्य वश होने वाला रजत विशेष का स्मरण वहाँ होता है, यह मालूम पड़ता है। यह हम लोग कहते हैं। जो यह पुरोवर्ती कुछ है वह रजत है – ऐसा अनुभव होता है। वस्तुस्थिति के अनुसार वह निकटवर्ती वस्तु तो शुक्तिका ही होती है। चिक्कणता आदि तद्गत विशेषता के अग्रहण प्रयुक्त उसे 'निगूहिताकार' अर्थात् छिपे आकार वाली कहा जाता है। और रजत का स्मरण हो उठने के कारण 'स्वीकृत रजताकार' अर्थात् रजत के आकार को ग्रहण करने वाला कहा जाता है। यह विषयगत और इन्द्रियगत दोष आदि प्रयुक्त होने वाले शुक्तिका में रजत का अवभास, सूर्यकिरण में जल का अवगम अर्थात् ज्ञान, मेघ में गन्धर्वनगर का निर्णय, रस्सी में सर्प का ज्ञान, द्विचन्द्र दर्शन, शंख की पीतता और शक्कर में तिक्तता का भाव, आकाश में केश आदि का ज्ञान आदि भ्रमों के स्थलों में स्वीकार्य है। और मनोदोष प्रयुक्त उन मिथ्या प्रत्यय के स्थलों में जहाँ कि उसका आलम्बन निराकार होता है वहाँ स्मृति-विषयीकृत वह निराकार वस्तु प्रतिभासित होती है।

कुछ लोगों के द्वारा तीसरा जो यह पक्ष आश्रित हुआ पाया जाता है कि आलम्बन तो अन्य होता है और प्रतिभासित होता है उससे भिन्न। वहाँ भी सन्निहित मात्र को आलम्बन नहीं कहना है कि भूमि प्रदेश को भी आलम्बन कहा जाने लगेगा। उसकी भी आशङ्का की जाने लगेगी। जनक को भी आलम्बन नहीं कहा जा रहा है कि चक्षु आदि को भी आलम्बन कहा जाने लगेगा। उनमें भी आलम्बनता की आपत्ति दी जायेगी। किन्तु अङ्गुली निर्देश पूर्वक जो 'यह' इस रूप में ज्ञान का कर्म समझा जाता हुआ ज्ञान का जनक होता है, वह होता है आलम्बन, ऐसा कहने पर कोई दोष नहीं होता है।

तदालम्बनमित्युच्यमाने न कश्चिद्दोषः ।

ननु केशोण्ड्रकज्ञाने किमालम्बनकारणम्। किं चित्तु तिमिरं रोमराजिरिव नयनधाम्नो मध्ये एवास्ते तेन द्विधा कृता नयनवृत्तिः द्वित्वेन चन्द्रमसं गृह्णाति। किं चित्तु तिमिरं तत्र विवरवदन्तरान्तरा तिष्ठति चक्षुषः। तेन विरलप्रसृता नयनरश्मयः सूक्ष्माः सूर्य्यांशुभिरभिहन्यमानाः केशकूर्चकाकारा भवन्तीति तदेवालम्बनम्। अनुदितेऽस्तमिते वा सवितरि केशोण्ड्रकप्रत्ययस्यानुत्पादात् ।

गन्धर्वनगरज्ञाने जलदाः पाण्डुरत्विषः ।
आलम्बनं गृहाट्टालप्राकाराकारधारिणः ।।

तस्माद्विपरीतख्यातौ पक्षत्रयमपि निरवद्यम् ।

यः पुनरितरेतरसङ्करः ख्यातीनामुदाहारि तत्रात्मख्यात्यसत्ख्याती अपवर्गाह्निके वयमपि विज्ञानाद्वैतमपाकरिष्यन्तः पराकरिष्याम इति किं तच्चिन्तया। विपरीतख्यातौ तु तत्साङ्कर्यं परिहृतम् ।

यत्पुनरवादि सर्ववादिभिः स्मृतिप्रमोषोऽभ्युपगत एव प्राभाकरैस्तु यशः पीतमिति। तत्र वादान्तराणि तावद्यथा भवन्ति तथा भवन्तु। वयं तु स्मृत्युपारूढ

अब प्रश्न यह उपस्थित है कि केशोण्ड्रक के ज्ञान में अर्थात् कभी कभी आकाश की ओर देखते समय जो केश जैसा कुछ दिखाई देता है, उस देखने के स्थल में आलम्बन कारण क्या होता है? तो इसका उत्तर यह है कि रोमराजी के समान कुछ अन्धेरा नयनस्थान में ही रहता है। उसके द्वारा दो बनाई गयी नयनवृत्ति अर्थात् नयनरश्मि चन्द्रमा को दो देखती अर्थात् दिखलाती है। और कुछ अन्धकार जो कि विवर के आकार वाला होता है चक्षु के बीच बीच में रहता है, तत्प्रयुक्त विरलभाव से फैलने वाली नयन रश्मियाँ जो कि सूक्ष्म होती हैं सूर्य की किरणों से अभिहत होती हुई केश कूर्चक के समान अर्थात् केश की कूची के समान होती हैं अर्थात् दिखाई देती हैं, इसलिए वह अन्धकार ही वहाँ आलम्बन होता है। ऐसा मानना इसलिए उचित है कि सूर्य के अनुदय काल में तथा अस्त हो जाने पर केशोण्ड्रक का ज्ञान नहीं होता पाया जाता। गन्धर्वनगर के ज्ञान स्थल में वे सफेद मेघ ही आलम्बन होते हैं, जो कि गृह प्रासाद और प्राकार का आकार धारण किये हुए होते हैं। इसलिए विपरीत ख्याति के अर्थात् अन्यथा ख्याति के मानने में उक्त पक्षत्रय भी दोष रहित अर्थात् सङ्गत होते हैं।

ख्यातियों के बीच जो परस्पर साङ्कर्य दिखलाया गया है उसके सम्बन्ध में यहाँ ज्ञातव्य यह है कि आगे चलकर अपवर्गाह्निक में विज्ञानवाद के निराकरण के अवसर पर आत्म ख्याति और असत्ख्याति इन दोनों का भी निराकरण करेंगे। अतः यहाँ उसके विचार से क्या लाभ, विपरीत ख्याति में उसका साङ्कर्य परिहृत हो चुका है।

यह जो कहा गया है कि 'स्मृति प्रमोष' को सब वादियों ने माना ही है। प्रभाकर ने तो केवल उसके यश का पान किया, अर्थात् लाभ उठाया। उसके सम्बन्ध में अन्य वाद जैसे हों, वैसे हों, हम स्मृति पर उपारूढ़ अर्थात् स्मृति का विषय बनने वाले रजताकार के

रजताद्याकारप्रतिभासमभिवदन्तो बाढं स्मृतिप्रमोषमभ्युपगतवन्तः। किं तु न तावत्येव विश्राम्यति मतिः। अपि तु रजताद्यनुभवोऽपि संवेद्यते इति न स्मृतिप्रमोषमात्र एव विरन्तव्यम्। अतो विपरीतख्यातिपक्ष एव निरवद्य इति स्थितम्।

यस्तु बाधप्रकारः प्राग्विकल्पितः तत्र सहानवस्थानसंस्कारोच्छेदादिपक्षा अनभ्युपगमेनैव निरस्ता इत्यस्थाने कण्ठशोष आयुष्मतानुभूतः। विषयापहारस्तावदस्तु बाधः, विषयस्य च न प्रतिभातत्वमपह्नियते किन्तु प्रतिभातस्यासत्त्वं ख्याप्यते इत्यपहारार्थः। असत्त्वमपि नेदानीमुपनतस्य ख्याप्यते येन दृष्टपूर्वद्रुघणभग्नकुम्भाभावप्रतिभासवदबाधः स्यात्। न च तदानीमप्यभावग्रहणे वस्तुनो द्व्यात्मकत्वमाशङ्कनीयं पूर्वावगताकारोपमर्दद्वारेण बाधकप्रत्ययोत्पादात्। यन्मया तदा रजतमिति गृहीतं तद्रजतं न भवति अन्यदेव तद्वस्त्विति।

ननु स्वकालनियतत्वाज् ज्ञानानां कथमुत्तरस्य ज्ञानस्य पूर्वज्ञानोत्पादकालावच्छिन्नतद्विषयाभावग्रहणसामर्थ्यम्। किं कुर्मः तथा प्रत्ययोत्पादात्। न भग्नघटवदिदानीं

प्रतिभास की मान्यता को कहने वाले तो शुक्तिकागत विशेषों के विस्मरण को एवं पूर्वानुभूत रजत के काल देश आदि के विस्मरण को अच्छी तरह मानते ही हैं। किन्तु मन को विश्राम वहाँ ही नहीं मिलता है। क्योंकि रजत आदि का अनुभव भी तो होता है? उसका भी तो पता चलता है। इसलिए स्मृति प्रमोष मात्र पर विश्राम नहीं लेना है।इसलिए विपरीत ख्याति पक्ष ही दोषरहित है– यह स्थिर हुआ।

इस में जो बाधाएँ इस से पूर्व सम्भावित बतलाई गयी हैं, उनके अन्दर 'सहानवस्थान पक्ष' और 'संस्कारोच्छेद पक्ष' आदि अस्वीकार प्रयुक्त ही निरस्त हो चुके हैं, इसलिये उनके आधार पर चिल्लाकर अपने कण्ठ की शुष्कता का अनुभव व्यर्थ ही किया गया। रही बात 'विषयबाध' की तो सो विषय का 'प्रतिभातत्त्व' अर्थात् प्रतिभासित होना अपहृत नहीं होता। किन्तु 'प्रतिभात' की अर्थात् ज्ञात की असत्ता ख्यापित होती है। यही 'अपहार' का अर्थ करना होगा। असत्ता भी इस समय प्राप्त होने वाले की अर्थात् वर्तमान वस्तु की ख्यापित हो नहीं सकती, जिसके आधार पर दृष्टपूर्व प्रहार से नष्ट कुम्भ के अभाव के प्रतिभास के समान बाधरहित होगा, अर्थात् उस वर्तमान में ख्यापित होने वाली वस्तु की असत्ता सही मानी जायेगी। उस समय होने वाले अभावग्रह में वस्तु द्व्यात्मकता की आशङ्का भी नहीं की जा सकती। क्योंकि बाधक प्रत्यय का उत्पाद पूर्व में अवगत आकार के उपमर्दन द्वारा अर्थात् उपमर्दन पूर्वक होता पाया जाता है। क्योंकि बाधक प्रत्यय का स्पष्टीकरण इस प्रकार होता है कि 'जो पहले मेरे द्वारा यह रजत है इस प्रकार गृहीत हुआ था। वह रजत नहीं है किन्तु रजत से अन्य ही वस्तु है'।

अब इस पर प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि सारे ज्ञान जब कि स्वकालनियत होते हैं तब परक्षण में होने वाले ज्ञान से पूर्वक्षण में होने वाले विषय के अभाव का ग्रहण कैसे कराया जा सकता? उस में उस की सामर्थ्य कैसे मानी जा सकती? तो इस का उत्तर यह है

तन्नास्तिता गृह्यते अपि तु तदैव तदसदिति प्रतीतिः। यथा च न वर्त्तमानैकनिष्ठा एव विषयप्रतीतयस्तथा क्षणभङ्गभङ्गे वक्ष्यामः ।

अथ वा फलापहारो भवतु बाधः प्रमाणफलत्वं च हानादिबुद्धीनां प्रत्यक्षलक्षणे वर्णितमिति तदपहरणात्प्रमाणं बाधितं भवत्येव। किं कुर्वता बाधकेन प्रमाणफलमपहृतमिति चेत्–

गायता नृत्यता वापि जपता जुह्वतापि वा ।
तच्चेत्कार्यं कृतं तेन किमवान्तरकर्मणा ।।
तदभ्युपगमे वापि तत्किं विदधता कृतम् ।
तच्च किं कुर्वतेत्येवमवधिः को भविष्यति ।।

तदलममुनावान्तरप्रश्नेन सर्वत्र बाधकप्रत्ययोपजनने सति हानादिरूपं पूर्वप्रमाणफलं निवर्त्तते इति, तेन तद्बाधितमुच्यते। समानासमानविषयविकल्पोऽपि न पेशलः, एकस्मिन्विषये विरुद्धाकारग्राहिणोर्ज्ञानयोर्बाध्यबाधकभावाभ्युपगमात्। चित्रादिप्रत्यये कथं न बाध इति चेत् पूर्वज्ञानोपमर्देनोत्तरविज्ञानानुत्पादात्। अत एवैकत्रापि धर्मिणि बहूनां धर्माणामितरेतरानुपमर्देन वेद्यमानानामस्त्येव समावेशः। पूर्वोपमर्देनेतर

कि मैं करूं क्या? वैसा ज्ञान जो उत्पन्न होता है? उसकी नास्तिता भाव घट के समान गृहीत नहीं होती है। किन्तु उस समय में ही वह थी नहीं– यह प्रतीति होती है। प्रतीतियाँ केवल वर्तमान विषय को ही ग्रहण नहीं करतीं, यह बात क्षणभङ्ग के निराकरण के अवसर पर कही जायेगी। अर्थात् उसकी सिद्धि की जायेगी। अथवा बाध फलापहारात्मक माना जाय। हान उपादान आदि की बुद्धियाँ ही होती हैं प्रमाण का फल– यह प्रत्यक्षलक्षण के अवसर पर वर्णित हो चुका है। इसलिये तदपहरण प्रयुक्त प्रमाण का फल बाधित होता ही है। बाधक क्या करके प्रमाण के फल का अपहरण करता है? यह यदि प्रश्न उठाया जाय तो उत्तर है कि गाने, नाचने, जपने एवं हवन करने वाले व्यक्ति के द्वारा उनके करने पर और अवान्तर कर्म के स्वीकार से क्या लाभ? और यदि उस अवान्तर कर्म का स्वीकार किया जाय तो उसने क्या करते हुए किया? फिर कल्पित उस कर्म ने क्या करते हुए किया? इस शंका का अन्त कहाँ जाकर हो पायेगा? कहीं भी नहीं। अतः इस अवान्तर प्रश्न का उत्थान व्यर्थ है– इससे कोई लाभ नहीं है। सर्वत्र बाधक प्रत्यय होने पर प्रमाण का उक्त हान आदि की बुद्धि स्वरूप फल निवृत्त हो जाता है– इसीलिए वह बाधित कहलाता है। समान और असमान विषय के सम्बन्ध में विकल्प उठाना भी शोभनीय नहीं है। क्योंकि एक विषय में विरुद्ध आकार धारण करने वाले दो ज्ञानों के बीच बाध्यबाधकभाव माना जाता है। चित्रादि के प्रत्यय स्थल में क्यों नहीं बाध्यबाधकभाव होता है– यह यदि कहा जाय तो उत्तर यह है कि वहाँ पूर्व ज्ञान का उपमर्दनकारी उत्तरवर्त्ती ज्ञान का उत्पाद नहीं करता है। इसलिए वहाँ एकधर्मी में भी परस्पर उपमर्दन रहित भाव से बहुत धर्मों का वेद्यमान रूप में समावेश होता ही है।

विज्ञानाजननाच्चैतदपि प्रत्युक्तं भवति । यदुक्तं पूर्वस्मिन् प्रत्यये प्राप्तप्रतिष्ठे सत्यागन्तुज्ञानमुत्तरं बाध्यतामिति। यतः पूर्वोपमर्देनैव तदुत्तरं ज्ञानमुदेति विषयसहायत्वात् प्रमाणान्तरानुगृह्यमाणत्वाच्च उत्तरमेव ज्ञानं बाधकमिति युक्तम्। तस्मादस्ति ज्ञानानां बाध्यबाधकभावः स चायं बाधव्यवहारो विपरीतख्यातिपक्ष एव सामर्थ्यमस्खलितं दधातीति स एव ज्यायान् ।

[मीमांसकैकदेशिमतखण्डनम्]

अज्ञः कोऽपि नाम मीमांसकस्त्वाह, येयं शुक्तिकायां रजतप्रतीतिर्विपरीतख्यातिरिति तद्वादिनामभिमता, सा तथा न भवतीति सत्यरजतप्रतीतिवदत्राप्यवभास्यरजतसद्भावात्। लौकिकालौकिकत्वे तु विशेषः। रजतज्ञानावभास्यं हि रजतमुच्यते तच्च किञ्चिद् व्यवहारप्रवर्त्तकं किं चिन्नेति। तत्र व्यवहारप्रवर्त्तकं लौकिकमुच्यते ततोऽन्यदलौकिकमिति। यच्च शुक्तिकाशकलमिति भवन्तो वदन्ति तदलौकिकं रजतं रजतज्ञानावभास्यत्वाद्रजतं तद्व्यवहाराप्रवृत्तेरलौकिकमिति ।

पूर्ववर्ती ज्ञान का उपमर्दन करते हुए यतः उत्तरवर्ती ज्ञान का उत्पाद वहाँ होता नहीं है, अतः यह भी प्रत्युक्त हो जाता है, जो कि पहले इस प्रकार कहा गया है कि 'पूर्वज्ञान के प्रतिष्ठित होने पर उत्तरवर्त्ती ज्ञान ही बाधित हो जाय।' क्योंकि पूर्वज्ञान का उपमर्दन करते हुए ही उत्तरवर्ती ज्ञान उदित होता है। उत्तरवर्त्ती ज्ञान को विषय की सहायता प्राप्त होने के कारण तथा प्रमाणान्तरानुमोदित होने के कारण वही पूर्ववर्ती ज्ञान का बाधक होता है, जो कि उचित भी है। इसलिए ज्ञानों के बीच बाध्यबाधकभाव मान्य है। सो यह ज्ञानों के बीच अनुभूयमान होने वाले बाध्यबाधकभाव का व्यवहार विपरीतख्याति अर्थात् अन्यथाख्याति की मान्यता पक्ष में ही अस्खलित सामार्थ्य का धारण कर पाता है। अतः वही अर्थात् अन्यथाख्याति प्रत्यय ही मान्य होने के कारण श्रेष्ठ है।

मीमांसकैकदेशी के मत का खण्डन

किसी अज्ञ मीमांसक ने यह कहा कि यह जो शुक्तिका में होने वाली रजत की प्रतीति विपरीत ख्याति है, इस प्रकार विपरीति ख्याति वादी अपना अभिमत बतलाते हैं। किन्तु वह वैसी नहीं होती है। क्योंकि सत्य रजत प्रतीति स्थल के समान वहाँ भी अवभासित होने वाला रजत रहता ही है। विशेषता केवल लौकिकता और अलौकिकता को लेकर ही होती है। रजत तो वही होता है, जो रजत ज्ञान के द्वारा अवभासित होता है। उसके अन्दर कोई लौकिक व्यवहार का प्रवर्त्तक होता है और कोई वैसा नहीं होता। जो व्यवहार का प्रवर्त्तक होता है वह लौकिक रजत कहलाता है दूसरा नहीं। वह दूसरा होता है अलौकिक। जिसे आप लोग शुक्तिका खण्ड कहते हैं वह अलौकिक रजत होता है। क्योंकि रजतज्ञान के द्वारा अवभासित वह भी होता है। इसलिए वह रजत होता है और उससे रजत व्यवहार की प्रवृत्ति नहीं होती इसलिए वह अलौकिक होता है। सो यह सम्वेदन का विचार न करने वाले अभिनव पदार्थ की सृष्टि करने वाले प्रजापति का कथन है। क्योंकि बाधक प्रत्यय के द्वारा वहाँ रजत के अभाव का ख्यापन होता है।

तदेतदपरामृष्टसंवेदनेतिवृत्तस्याभिनवपदार्थसर्गप्रजापतेरभिधानम्। बाधकप्रत्ययेन तत्र रजताभावस्य ख्यापनात्। नेदं रजतमिति हि रजतं प्रतिषेधत्येष प्रत्ययो विद्यमानरजतस्यालौकिकत्वमवद्योतयत इति।

अथ नेदं लौकिकमिति व्याख्यायते हन्त वाक्यशेषः क्रियतां संयजत्रैरङ्गानीतिवत्। सोऽयं श्रोत्रियः स्वशास्त्रवर्त्तनीमिहापि न तां त्यजति न तु तस्या अयमवसरः। अगृह्यमाणे तु रजताख्येऽन्यधर्मिणि कथं तद्धर्मत्वेनालौकिकत्वं गृह्यते। रजताभावग्रहणे त्वेष न दोषः भावतदभावयोः धर्मधर्मिभावाभावात्। स्मर्यमाणप्रतियोग्यवच्छिन्नो हि अभावो गृह्यत एव। तस्मादत्र नास्त्येव रजतं न पुनरलौकिकं तदस्ति। न च रजतज्ञानावभास्यत्वमात्रं रजतलक्षणमपि त्वबाधितरजतज्ञानगम्यत्वम्।

अपि च लौकिकालौकिकप्रविभागः प्रतिभानिबन्धनो वा स्याद् व्यवहार सदसद्भावनिबन्धनो वा। न तावत्, प्रतिभासनिबन्धनः यथाप्रतीतिभावात् क्व चिद्धि रजतं क्व चिच्च तदभावः प्रतीयते न तु लौकिकत्वमलौकिकत्वं वा ।

अथ व्यवहारप्रवृत्त्यप्रवृत्तिभ्यां लौकिकालौकिकत्वे व्यवस्थाप्येते तद्वक्तव्यं कोऽयं

'यह रजत नहीं है' इस प्रकार वहाँ होने वाला प्रत्यय रजत का निषेध ही करता है रजत की अलौकिकता का ख्यापन नहीं करता। यदि यह कहा जाय कि 'यजमानों के द्वारा अङ्ग भी किये जायें' इसके समान 'रजत नहीं है' इसका अर्थ यह रजत 'लौकिक' नहीं कहा जाता है– यह वाक्य का शेष अंश माना जाय। तो उसके सम्बन्ध में कहना यह है कि इस प्रकार कहने वाले ये वैदिक अपने शास्त्र की व्याख्या को इस निषेध प्रतीति स्थल में भी छोड़ते नहीं। यहाँ उस व्याख्या का अवसर नहीं है। क्योंकि जब रजतात्मक धर्मी ही वहाँ नहीं रहेगा, उसकी प्रतीति वहाँ नहीं होगी। तो उसके धर्म के रूप में अलौकिकत्व धर्म का ग्रहण कैसे हो पायेगा? निषेध बुद्धि स्थलमें रजत के अभाव का ग्रहण मानने पर यह दोष नहीं होता। क्योंकि भाव और अभाव का धर्मधर्मिभाव नहीं होता है। स्मर्यमाण प्रतियोगी से अवच्छिन्न अभाव गृहीत होता ही है। इसलिए रजत के निषेध स्थल में रजत का अभाव ही होता है वहाँ विद्यमान रजत में अलौकिकत्व नहीं। रजत का लक्षण रजत ज्ञान के द्वारा अवभासित होना मात्र नहीं है किन्तु अबाधित रजत ज्ञान का विषय होना। और यहाँ यह भी विचारणीय है कि यह लौकिक और अलौकिक का विभाग प्रतिभास मूलक होगा या व्यवहार मूलक? प्रतिभास निबन्धन अर्थात् तन्मूलक कहा नहीं जा सकता है। क्योंकि प्रतीति के अनुसार कहीं रजत और कहीं उस का अभाव ही प्रतीत होता है लौकिकत्व और अलौकिकत्व नहीं।

यदि व्यवहार तथा अव्यवहार की प्रवृत्तियों के बल पर लौकिकता और अलौकिकता की व्यवस्था स्वीकार करते हो तो कहना होगा कि व्यवहार क्या है? व्यवहार का स्वभाव

व्यवहारो नामेति। ज्ञानाभिधानस्वभावो हि व्यवहारः स तद्विषयो नास्तीत्युक्तम्। तदर्थक्रियानिर्वर्त्तनं व्यवहार इति चेत् तर्हि स्वप्ने परिरभ्यमाणाया योषितः कूटकार्षापणस्य च लौकिकत्वं प्राप्नोति। उत्पद्य नष्टे घटे अर्थक्रियाया निवृत्तेरलौकिकत्वं स्यात् ।

अपि च यः शुक्तिकायां रजतव्यवहारं न करोति स रजताभावमेव बुद्ध्वा न रजतस्य सतस्तस्यालौकिकताम्। यदि चेदमलौकिकं रजतं तत्किमर्थमिह तदर्थक्रियार्थं प्रवर्त्तते। अलौकिकं लौकिकत्वेन गृहीत्वेति चेत् सैवेयं तपस्विनी विपरीतख्यातिरायाता। तस्माद्विपरीतख्यातिद्वेषेण कृतमीदृशा अत्रापि लोकसिद्धैव प्रतीतिरभ्युपगम्यताम् ।

न वा मीमांसका एते स्वभार्यामपि वेश्मतः ।
निःसारयितुमिच्छन्ति स्वतः प्रामाण्यतृष्णया ।।
न चैवमपि तत्सिद्धिर्बुद्धिद्वैविध्यदर्शनात् ।
संशये सति संवादसापेक्षत्वं तथैव तत् ।।
क्लेशेन तदमुनापि स्वार्थस्तेषां प्रसिद्ध्यति न कश्चित्।
यद्भवति चैव गत्या राजपथेनैव तद्भवतु ।।

तो ज्ञान को बतलाना ही है, जो तुम्हारे मत में नहीं ही बन पाता है – यह कहा जा चुका है। यदि यह कहा जाय कि उसके प्रयोजन का निर्वर्त्तन ही है व्यवहार, तो स्वप्न में आलिङ्गित तरुणी की तथा मिथ्या चवन्नी की लौकिकता और उत्पन्न होकर विनष्ट घट में अर्थक्रिया के अभाव में अलौकिकता प्राप्त हो उठेगी। क्योंकि उस घट से तो प्रयोजन सम्पन्न नहीं होगा। और भी ध्यान देने योग्य बात यह है कि जो व्यक्ति शुक्तिका में रजत व्यवहार नहीं करता, वह तो उसे रजत न समझने के कारण ही उसमें रजत का व्यवहार नहीं करता है। ऐसा नहीं कि वहाँ रजत को अलौकिक समझकर उसमें रजत व्यवहार नहीं करता । यदि निषेध के पूर्व उसे अलौकिक रजत समझता तो उधर द्रष्टा व्यक्ति प्रवृत्तिशील ही क्यों होता? यदि यह कहा जाय कि अलौकिक को लौकिक समझकर देखने वाला उधर प्रवृत्त होता है? तब तो आई फिर वह विपरीतख्याति ही बेचारी। इसलिए विपरीतख्याति पर इस प्रकार द्वेष करना व्यर्थ है। यहाँ भी लोकसिद्ध विपरीतख्याति की प्रतीति ही स्वीकार करो।

इस प्रकार ये मीमांसक स्वतः प्रामाण्य की तृष्णा से अपनी भार्या को अर्थात् पालनीया फलतः स्वीकरणीय विपरीतख्याति को अपने घर से निकाल डालने की इच्छा नहीं कर सकते है। और उस स्वतः प्रामाण्य की सिद्धि भी इसलिए नहीं हो सकती है कि बुद्धि की द्विविधता देखी जाती है। उसी प्रकार प्रामाण्य के सन्देह स्थल में सम्वाद की अपेक्षा पाई ही जाती है।

इसलिए नाना प्रकार के कष्टों को उठाने पर भी कोई स्वार्थ उन मीमांसकों का सिद्ध होता हुआ दिखाई नहीं देता है। अतः राजमार्ग पर चलने का ही फल प्राप्त हो। वे भी अन्यथाख्याति ही मानें। बाह्य रूप में वस्तु की ख्याति होने के कारण आत्मख्याति मान्य

नात्मख्यतिर्बाह्यतयार्थप्रतिभासा –
न्नासत्ख्यातिर्न ह्यसतां धीविषयत्वम् ।
उक्तोऽख्यातौ दूषणमार्गो विपरीत-
ख्यातिस्तस्मादाश्रयणीया मतिमद्भिः ।।
स्थिते च तस्मिन् विपरीतवेदने तदीयसाधर्म्यकृतोऽस्ति संशयः ।
तदा च संवादमुखप्रतीक्षणाद् भजन्ति वेदाः परतः प्रमाणताम् ।।

[शब्दे परतः प्रामाण्यसमर्थनम्]

प्रत्यक्षादिप्रमाणानां तद्यथास्तु तथास्तु वा ।
शब्दस्य हि प्रमाणत्वं परतो मुक्तसंशयम् ।।

दृष्टे हि विषये प्रामाण्यनिश्चयमन्तरेणैव लघुपरिश्रमेषु कर्मसु प्रवृत्तिरिति तदुपयोगिप्रत्यक्षादिप्रमाणप्रामाण्यनिश्चयेऽदुरुपपादे कोऽभिनिवेशः। शब्दे पुनरदृष्टपुरुषार्थपथोपदेशिनि प्रमाण्यमनिश्चित्य महाप्रयत्ननिर्वर्त्यानि ज्योतिष्टोमादीनि न प्रेक्षापूर्वकारिणो यज्वानः प्रयुञ्जीरन् इत्यवश्यं निश्चेतव्यं तत्र प्रामाण्यम्। तच्च परत एवेति ब्रूमः। शब्दस्य बृद्धव्यवहाराधिगतसंबन्धोपकृतस्य सतः प्रतीतिजनकत्वं नाम

नहीं हो सकती है। और असत् की ज्ञानविषयता सम्भव नहीं है अतः असत्ख्याति भी नहीं मानी जा सकती। अख्याति की मान्यता में दोष के मार्ग दिखलाये ही गये हैं। इसलिए बुद्धिमानों को चाहिए कि अन्यथा ख्याति को ही मान्यता दें। इस प्रकार विपरीत ख्याति के सिद्ध हो जाने पर उसके साधर्म्य प्रयुक्त प्रमाण्य का संशय सम्भव हो पाता है। और उस संशय के होने पर सम्वाद के मुख की प्रतीक्षा के कारण वेद परतः प्रमाणता को प्राप्त करता है।

शब्द में परतः प्रामाण्य का समर्थन

प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः या परतः जैसा भी क्यों न मान लिया जाय किन्तु शब्दगत प्रामाण्य स्वतः नहीं, वह निश्चित रूप से 'परतः' ही मान्य होगा। दृष्ट विषय के स्थल में प्रामाण्य निश्चय के बिना ही लघुश्रम साध्य कर्मों में प्रवृत्ति होती पायी जाती है। इसलिए तदुपयोगी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणगत उस प्रामाण्य के निश्चय में आग्रह क्यों किया जाय, जो कि दुरुपपाद नहीं है? किन्तु अदृष्ट प्रयोजन के उपदेश में उपयोगी होने वाले शब्द में प्रामाण्य का निश्चय किये बिना विचारशील यजमान गण अधिक प्रयत्न साध्य अग्निष्टोम आदि का प्रयोग कर नहीं सकते हैं। इसलिए प्रामाण्य का निश्चय अवश्य कर्त्तव्य होगा। वह शब्दगत प्रामाण्य अवश्य परतः ही मान्य होगा– यह हम लोगों का कहना है। शब्द प्रमाण का स्वभाव यह पाया जाता है कि वह जब कि बृद्ध व्यवहार से अधिगत होने वाले सम्बन्ध से उपकृत होता है तभी वह प्रतीति का जनक होता है। वह

रूपमवधृतम्। तत्तु नैसर्गिकशक्त्यात्मकसंबन्धमहिम्ना वा पुरुषघटितसमयसम्बन्धबलेन वेति विचारयिष्यामः। प्रकाशकत्वमात्रं तु दीपादेरिव तस्य रूपम्। यथा हि दीपः प्रकाशमानः शुचिमशुचिं वा यथासन्निहितमर्थमवद्योतयति तथा शब्दोऽपि पुरुषेण प्रयोज्यमानः श्रवणपथमुपगतः सत्येऽनृते वा समन्वितेऽसमन्विते वा सफले निष्फले वा सिद्धे कार्ये वार्थे प्रमितिमुपजनयतीति तावदेवास्य रूपम्। अयं तु दीपाच्छब्दस्य विशेषो यदेष सम्बन्धव्युत्पत्तिमपेक्षमाणः प्रमामुत्पादयतीति दीपस्तु तन्निरपेक्ष इति। तस्याः शब्दजनितायाः प्रमितेर्यथार्थेतरत्वं पुरुषाधीनं सम्यग्दर्शिनि शुचौ पुरुषे सति सत्यार्था सा भवति प्रतीतिरितरथा तु तद्विपरीतेति। तत्र यथा नैसर्गिकमर्थसंस्पर्शित्वं शब्दस्य न रूपमिति समर्थितम्, एवमस्य स्वाभाविकं सत्यार्थत्वमपि न रूपम्। एवमभ्युपगम्यमाने विप्रलम्भकवचसि विसंवाददर्शनं न भवेत्। तस्मात्पुरुष गुणदोषाधीनावेव शाब्दे प्रत्यये संवादविसंवादौ। न चेन्द्रियादाविव तत्र दुर्भणा गुणाः, रागादयो दोषाः करुणादयो गुणाः पुरुषाणामतिप्रसिद्धा एव। पुरुषगुणा एव शब्दस्य

नैसर्गिक शक्त्यात्मक सम्बन्ध के बल पर अर्थात् उसकी महिमा से होता है या व्यक्तिकृत शक्ति सम्बन्ध के बल पर? इसके सम्बन्ध में तो विचार आगे चलकर किया जायेगा। किन्तु शब्द प्रमाण में प्रकाशकत्व तो दीप आदि अन्य प्रकाशक के समान ही होता है। यही उसका स्वभाव है। प्रकाशमान होने वाला दीप जिस प्रकार पवित्र या अपवित्र होने वाले सन्निहित अर्थ का प्रकाशन करता है उसी प्रकार शब्द भी पुरुष के अर्थात् वक्ता द्वारा प्रयुक्त होने पर श्रोता व्यक्ति के श्रवण पथ में आकर सत्य या मिथ्या, अन्य अर्थ से सम्बद्ध या असम्बद्ध, सफल या निष्फल, सिद्ध या असिद्ध अर्थात् कर्तव्य अर्थ के सम्बन्ध में प्रमाज्ञान कराता है– यही उसका स्वरूप है। दीप से शब्द की यही विशेषता है कि शब्द अपने और अर्थ के बीच होने वाले सम्बन्ध के ज्ञान को अपेक्षा करके ही प्रमा ज्ञान का उत्पादक होता है और दीप उसकी अपेक्षा नहीं रखता है। इसलिए शब्द जनित प्रमागत यथार्थता अर्थात् अप्रमाभिन्नता पुरुषाधीन होती है अर्थात् व्यक्ति के अधीन हुआ करती है। अभिप्राय यह कि वक्ता व्यक्ति के सम्यग्दर्शी एवं शुचि अर्थात् सत्यवक्ता होने पर ही वह प्रतीति सही अर्थ वाली होता है, नहीं तो उसके विपरीत वह अयथार्थ अर्थात् मिथ्याज्ञान कराने वाली ही होती है। ऐसी परिस्थिति में शब्द का स्वभाव यह नहीं है कि वह स्वभावतः अर्थसंस्पर्शी होता है– यह समर्थित हो गया। इसी प्रकार शब्द का यह भी स्वाभाव नहीं है कि वह नियमतः सत्यार्थक ही होता है। क्योंकि ऐसा स्वीकृत हो जाने पर ठगों के वाक्य स्थल में विसम्वाद नहीं होगा। अर्थात् प्रवृत्ति विफल नहीं होगी। इसलिए शाब्द प्रत्यय स्थलमें सम्वाद या विसम्वाद वक्ता पुरुष के दोष और गुण के कारण ही होते हैं। वे प्रमाता के इन्द्रिय गत गुण एवं दोष नहीं कहे जा सकते हैं। शब्द में तो पुरुषगत रागादि दोष एवं करुणा आदि गुण अति प्रसिद्ध ही हैं। इसलिए वक्ता पुरुष के गुण ही

गुणाः न स्वशरीरसंस्थाः चक्षुरादेरिवेति। तत्र यदि पुरुषगुणानां प्रामाण्यकारणता नेष्यते दोषाणामपि विप्लवहेतुता माभूत् ।

यत्तु दोषप्रशमनचरितार्था एव पुरुषगुणाः प्रामाण्यहेतवस्तु न भवन्तीत्यत्र शपथशरणा एव श्रोत्रियाः। न च बाधानुत्पत्तिमात्रेण वैदिक्याः प्रतीतेः प्रामाण्यं भवितुर्महति। 'पक्ष्मलाक्षीलक्षमभिरमयेद् विद्याधरपदकाम' इत्यादावपि प्रामाण्यप्रसङ्गात्। उक्तं च केन चित् –

> यथा हि स्वप्नदृष्टोऽर्थः कश्चिद् द्वीपान्तरादिषु ।
> असंवादविसंवादः श्रद्धातुं नैव शक्यते ।।
> तथा चोदनयाप्यर्थं बोध्यमानमतीन्द्रियम् ।
> असंवादविसंवादं न श्रद्दधति के चनेति ।।

तत्र स्वप्नज्ञाने हेतुः निद्रादिदोषोऽस्तीति दुष्टकारणकज्ञानादप्रामाण्यमिति चेल् लोलाक्षीलक्षवाक्ये किं वक्ष्यसि। प्रभवस्तस्य न ज्ञायते इति चेन्नतरामसौ वेदेऽपि त्वन्मते

शब्द के गुण हो जाते हैं। प्रमाता श्रोता व्यक्ति के चक्षु आदि गत वहाँ के गुण दोषों को कहा नहीं जा सकता है। तब यदि वक्ता पुरुष गत गुणों को प्रामाण्य के प्रति कारणता नहीं मानी जाये तो तद्गत दोषों को भी अप्रामाण्य के प्रति कारणता न हो। मीमांसकों का यह कथन कि पुरुषगत गुण दोष के प्रशमन में ही चरितार्थ होते हैं, प्रामाण्य के प्रति हेतु नहीं होते, तो शपथ मात्र को शरण बना कर वे अपने को सही सिद्ध कर सकते हैं। वैदिकी प्रतीति के प्रामाण्य को बाध की अनुत्पत्तिमात्र पर आधारित नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वैसा मानने पर 'विद्याधर पद का इच्छुक व्यक्ति लाख सुनयनाओं का सम्भोग करे' इत्यादि अप्रमाण वाक्यों में भी प्रामाण्य की आपत्ति हो उठेगी।

किसी ने कहा भी है कि 'जिस प्रकार द्वीपान्तर आदि में देखा जाने वाला तथा स्वप्न में देखा जाने वाला पदार्थ, जिसके सम्बन्ध में न तो सम्वाद पाया जाता है और न विसम्वाद उस पर श्रद्धा नहीं की जा सकती, उसी प्रकार वैदिक विधि वाक्य के द्वारा कहा जाने वाले उस अर्थ पर भी श्रद्धा नहीं की जा सकती, जिसके सम्बन्ध में न तो सम्वाद पाया जाता है और न विसम्वाद। उन दोनों के अन्दर स्वप्न में निद्रा आदि दोष रहता है इसलिए उसमें होने वाला ज्ञान यतः दुष्ट कारण जनित होता है, अतः वहाँ के ज्ञान में अप्रामाण्य होता है – यह यदि कहा जाय तो 'लाख सुनयनाओं का सम्भोग करे' इत्यादि वाक्य स्थल में क्या होगा? वहाँ क्यों नहीं प्रामाण्य आपन्न होगा? उस कथन का कारण नहीं ज्ञात होता है अर्थात् उक्त वाक्यानुसार फल मिलेगा या नहीं– इसका पता निश्चित रूप में न मिलने के कारण उसमें प्रामाण्य नहीं माना जा सकता– ऐसा मानने पर वेद में भी तुम्हारे मत में क्या विशेषता बतलायी जा सकती है? अर्थात् वहाँ भी तो यह निर्णय करना सम्भव नहीं है कि यज्ञकर्त्ता को स्वर्ग मिलता ही है। अतः वैदिक विधिवाक्य भी

ज्ञायते इति को विशेषः। महाजनादिपरिग्रहोऽस्य नास्तीति चेद् अन्वेषणीयं तर्हि प्रामाण्यकारणं न बुद्ध्युत्पादकत्वादेवौत्सर्गिकं प्रामाण्यमिति युक्तम् ।

साक्षाद्द्रष्टृनरोक्तत्वं शब्दे यावन्न निश्चितम् ।
बाधानुत्पत्तिमात्रेण न तावत्तत्प्रमाणता ।।

यदपि वेदे कारणदोषनिराकरणाय कथ्यते 'यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रया' इति तदपि न साम्प्रतम्। असति वक्तरि प्रामाण्यहेतूनां गुणानामप्यभावेन तत्प्रामाण्यस्याप्यभावात्। न च वेदे वक्तुरभावः सुवचः। तथा ह्येतदेव तावद्विचारयामः किं वेदे वक्ता विद्यते न वेति।

ननु च वेदे प्रमाणान्तरसंस्पर्शरहितविचित्रकर्मफलगतसाध्यसाधनभावोपदेशिनि कथं तदर्थसाक्षाद्दर्शी पुरुष उपदेष्टा भवेत्। उच्यते –

वेदस्य पुरुषः कर्त्ता न हि यादृशतादृशः ।
किं तु त्रैलोक्यनिर्माणनिपुणः परमेश्वरः ।।
स देवः परमो ज्ञाता नित्यानन्दः कृपान्वितः ।

कैसे प्रमाण माने जा सकते है। यदि यह कहा जाय कि वैदिक वाक्य महाजन परिगृहीत हैं किन्तु उक्त 'लाख सुनयनाओं का' इत्यादि वाक्य महाजन परिगृहीत नहीं हैं। तो प्रामाण्य का कारण तो अन्वेषणीय ही रह गया? क्योंकि महाजन परिग्रह तो प्रतारण प्रयुक्त भी हो सकता है। यह बात तो नहीं रही कि वैदिक वाक्य बोधक होता है, एतावन्मात्र प्रयुक्त वह स्वाभाविक रूप से प्रमाण मान लिया जाय, उचित तो यही होगा। इसीलिए यह शब्द अर्थात् वाक्य साक्षात्कर्त्ता के द्वारा उक्त हुआ है, जब तक यह निश्चित नहीं हो जाता है तब तक बाध की अनुत्पत्ति मात्र से वाक्य में प्रामाण्य नहीं माना जा सकता।

और वेद में कारण दोष के निराकरणार्थ जो यह कहा जाता है कि 'प्रथम वक्ता अर्थात् कर्त्ता के अभाव प्रयुक्त वेद में भ्रम प्रमाद आदि प्रयुक्त दोष नहीं हो सकते, क्योंकि दोष का आधार भूत उसका कर्त्ता है नहीं' तो यह कथन भी उचित नहीं है। क्योंकि जब उसका कोई प्रथम वक्ता नहीं होगा तो दोष की तरह गुण का अभाव भी होने के कारण प्रामाण्य नहीं हो पायेगा। उसका अभाव हो उठेगा। वेद के प्रथम वक्ता का भी अभाव नहीं कहा जा सकता है। तब यही विचार यहाँ कर लिया जाय कि वेद का प्रथम वक्ता अर्थात् कर्ता कोई है या नहीं। प्रश्न यही उठाया जा सकता है कि वेद जब कि ऐसे विचित्र कर्म और विचित्र उसके फलों के बीच ऐसे विचित्र कार्यकारणभाव का उपदेश देता है, जिसमें प्रमाणान्तर का संस्पर्श सर्वथा असम्भव है, तब वेदार्थ का साक्षाद् दर्शी कोई भी व्यक्ति उस का उपदेष्टा कैसे हो सकता है? तो इसका उत्तर कहा जा रहा है।

वेद का कर्त्ता कोई जैसा तैसा साधारण व्यक्ति नहीं माना जा रहा है किन्तु त्रैलोक्य के निर्माण में निपुण वे प्रकाशमय परमेश्वर उसके कर्ता माने जा रहे हैं, जो सर्वदा प्रमुदित रहने

क्लेशकर्मविपाकादिपरामर्शविवर्जितः ।।

[ईश्वराङ्गीकारे पूर्वपक्षः]

अत्राह किं ब्रूषे त्रैलोक्यनिर्माणनिपुण इति अहो तव सरलमतित्वम्। न हि तथाविधपुरुषसद्भावे किञ्चन प्रमाणमस्ति।

तथा हीश्वरसद्भावो न प्रत्यक्षप्रमाणकः ।
न ह्यसावक्षविज्ञाने रूपादिरिव भासते ।।
न च मानसविज्ञानसंवेद्योऽयं सुखादिवत् ।
योगिनामप्रसिद्धत्वान्न तत्प्रत्यक्षगोचरः ।।
प्रत्यक्षप्रतिषेधेन तत्पूर्वकमपाकृतम् ।
अनुमानमविज्ञाते तस्मिन् व्याप्त्यनुपग्रहात् ।।
न च सामान्यतो दृष्टं लिङ्गमस्यास्ति किं चन ।
क्षित्यादीनां तु कार्यत्वमसिद्धं सुधियः प्रति ।।
शैलादिसन्निवेशोऽपि नैष कर्त्रनुमापकः ।
कर्त्रपूर्वककुम्भादिसन्निवेशविलक्षणः ।।
दृष्टः कर्त्रविनाभावी सन्निवेशो हि यादृशः ।।
तादृङ् नगादौ नास्तीति कार्यत्ववदसिद्धता ।
सिद्धत्वेपि न सिद्धत्वमनैकान्त्यात्तृणादिभिः ।।

वाले हैं और परम कृपालु हैं। वे क्लेश एवं कर्मविपाक के स्पर्श से भी वर्जित अर्थात् रहित हैं।

ईश्वर के स्वीकार में पूर्वपक्ष

इस पर पूर्वपक्षी का कहना यह है कि यह क्या कह रहे हो? वेद का निर्माता त्रैलोक्य के निर्माण में निपुण है। तेरे भोलापन पर आश्चर्य है। वैसे व्यक्ति के अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं हैं। इस को इस प्रकार समझा जाय कि ईश्वर के सद्भाव में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। क्योंकि वे रूप आदि की तरह चाक्षुष प्रत्यक्षात्मक ज्ञान में विषय के रूप में भासित नहीं होते। साथ ही सुख आदि की तरह मानस प्रत्यक्ष का भी विषय नहीं बन रहे हैं। योगी स्वयं अप्रसिद्ध है, अतः ईश्वर को योगज प्रत्यक्ष का भी विषय नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार ईश्वर के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष प्रमाण खण्डित हो जाने पर प्रत्यक्ष पूर्वक होने वाला अनुमान प्रमाण भी खण्डित हो गया। क्योंकि अज्ञात वस्तु में व्याप्तिग्रह सम्भव नहीं है। कोई सामान्यतो दृष्ट हेतु ईश्वर के सम्बन्ध में है नहीं। बुद्धिमान् व्यक्ति के लिए पृथिवी आदि में कार्यता असिद्ध ही है। पर्वत आदि की रचना भी ईश्वर का अनुमापक नहीं है। क्योंकि पर्वत आदि की रचना नियमतः कर्तृपूर्वक ही होने वाली घट आदि की रचना से विभिन्न प्रकार की पाई जाती है। कर्त्ता के बिना न होने वाली घट आदि की रचना जिस प्रकार की पाई जाती है, वह जब पर्वत आदि में नहीं है तब कार्यत्व हेतु के समान रचनात्मक हेतु को भी वहाँ असिद्ध ही मानना होगा। और सिद्ध होने पर भी कर्त्ता के

अकृष्टजातैः कर्त्तारमन्तरेणाप्तजन्मभिः ।
तेषामुत्पत्तिसमये प्रत्यक्षत्वं न लक्ष्यते ।।
कर्त्तुर्दृश्यत्वमप्येवमभावोऽनुपलब्धितः ।
न च क्षितिजलप्राप्तदृष्टहेत्वतिरेकिणः ।।
कस्यापि कल्पनं तेषु युज्यतेऽतिप्रसङ्गतः ।।
तेन कर्तुरभावेऽपि सन्निवेशादिदर्शनात् ।
अनैकान्तिकता हेतोर्विप्रत्वे पुरुषत्ववत् ।
किं च व्याप्त्यनुसारेण कल्प्यमानः प्रसिद्ध्यति ।।
कुलालतुल्यः कर्त्तेति स्याद्विशेषविरुद्धता ।
व्यापारवानसर्वज्ञः शरीरी क्लेशसंकुलः ।
घटस्य यादृशः कर्त्ता तादृगेव भवेद् भुवः ।
विशेषसाध्यतायां वा साध्यहीनं निदर्शनम् ।।
कर्त्तृसामान्यसिद्धौ तु विशेषावगतिः कुतः ।

अपि च, सशरीरो वा जगन्ति रचयेदीश्वरः, शरीररहितो वा। तदीयं शरीरं कार्यं नित्यं वा भवेत् सर्वथाऽनुपपत्तिः –

बिना जन्म प्राप्त करनेवाले, कृषि कर्म के बिना ही पनपने वाले घास दूब आदि को लेकर व्यभिचार अनिवार्य है। क्योंकि उनकी उत्पत्ति में कोई कर्त्ता देखा नहीं जाता। इसलिए कर्त्ता की दृश्यता भी उसी प्रकार व्यभिचार दोषग्रस्त मानी जायेगी। पृथिवी जल आदि पक्ष में देखे जाने वाले हेतु से अतिरिक्त हेतु की कल्पना भी उचित नहीं है। क्योंकि वैसा मानने पर अतिप्रसङ्ग हो जायगा। अभिप्राय यह कि तब परमाणु आकाश आदि में भी नित्यता नहीं हो पायेगी– जैसा कि नैयायिक लोग मानते हैं। अतः कर्त्ता के अभाव में भी रचना प्राप्त होने के कारण कार्यत्व आदि हेतु में विप्रत्व साधक पुरुषत्व आदि के समान व्यभिचार दोष प्राप्त हो उठता है। और यह भी कि व्याप्ति के अनुसार तब कुलाल आदि तुल्य ही कर्त्ता कल्पित होगा, जिसके कारण 'विशेष विरुद्धता' होगी। अर्थात् जैसा सर्वज्ञ परमेश्वर स्वरूप कर्त्ता अपेक्षित है वैसा कर्त्ता नहीं सिद्ध हो पायेगा। सारांश यह कि स्पन्दात्मक क्रियावान् असर्वज्ञ, क्लेशसङ्कुल शरीरी कर्त्ता, जैसा कर्त्ता घट आदि का देखा जाता है, पृथिवी आदि का भी वैसा ही सिद्ध होगा। अभिप्रेत परमेश्वरात्मक कर्त्ता की सिद्धि के लिए दृष्टान्त साध्यहीन हो उठेगा। फलतः दृष्टान्त ही असिद्ध हो उठेगा। सामान्य रूप से केवल कर्त्तामात्र की सिद्धि मानने पर उस कर्त्ता में अपेक्षित विशेषता की अवगति कैसे हो पायेगी? ओर यह कि वह परमेश्वर शरीरी रूप में जगत् की रचना करेगा या शरीर रहित रूप में? यदि शरीरी रूप में तो उसका शरीर जन्य होगा या नित्य? दोनों ओर से

अशरीरस्य कर्तृत्वं दृश्यते नहि कस्य चित् ।
देहोऽप्युत्पत्तिमानस्य देहत्वाच्चैत्रदेहवत् ।

कार्यमपीश्वरशरीरं तत्कर्तृकं वा स्यादीश्वरान्तरकर्तृकं वा। तत्र –

स्वयं निजशरीरस्य निर्माणमिति साहसम् ।
कर्त्रन्तरकृते तस्मिन्नीश्वरानन्त्यमापतेत् ।।

भवतु को दोष इति चेत् प्रमाणाभाव एव दोषः। एकस्यापि तावदीश्वरस्य साधने पर्याकुलतां गताः किं पुनरनन्तानाम्। किं च व्यापारेण वा कुलालादिरिव कार्याणि सृजेदीश्वर इच्छामात्रेण वा द्वयमपि दुर्घटम्।

व्यापारेण जगत्सृष्टिः कुतो युगशतैरपि ।
तदिच्छां चानुवर्त्तन्ते न जडाः परमाणवः ।।

अपि च किं? किमपि प्रयोजनमनुसन्धाय जगत्सर्गे प्रवर्त्तते प्रजापतिः एवमेव वा। निष्प्रयोजनायां प्रवृत्तावप्रेक्षापूर्वकारित्वादुन्मत्ततुल्योऽसौ भवेत्। पूर्वोऽपि नास्ति पक्षः।

अनुपपत्ति प्राप्त होती है। क्योंकि शरीर रहित में कहीं कर्तृत्व देखा नहीं जाता है।

और ईश्वर का देह मानने पर, उनका भी देह चैत्र आदि् के देह के समान उत्पन्न होने वाला मान्य होगा। और तब प्रश्न यह उठेगा कि उत्पन्न होनेवाला उनका शरीर भी उन्हीं के द्वारा रचित होगा या किसी अन्य के द्वारा? यहाँ वे अपने शरीर का भी निर्माण अपने ही करते हैं, ऐसा कहना तो साहस कहा जायेगा। ओर यदि उनके शरीर का रचयिता कोई अन्य माना जायेगा तो अनन्त ईश्वर की कल्पना करनी होगी। इस पर यदि यह कहा जाय हो ऐसा ही, क्या क्षति होगी? तो कहना यह है कि यही क्षति होगी कि अप्रामाणिक बात मान्य हो उठेगी? और यह भी कि एक ईश्वर की मान्यता को लेकर उसकी सिद्धि में तो इतनी कठिनाइयाँ उपस्थित है फिर अनन्त ईश्वर की सिद्धि कैसे की जा पायेगी? और यह भी कि वह पृथ्वी आदि की सृष्टि क्या कुलाल आदि की तरह स्पन्दात्मक क्रिया को अपनाकर करेगा या इच्छामात्र से? दोनों ही दुर्घट प्रतीत होता है। चेष्टात्मक क्रिया को अपनाकर वे सभी सांसारिक वस्तु की सृष्टि करता है– यह इसलिए नहीं कहा जा सकता है कि तब वह सौ युगों में भी जगत् की रचना नहीं कर पायेगा। और अपनी इच्छा मात्र से जगत् की रचना इसलिये नहीं कर पायेगा कि जड़ परमाणु उसकी इच्छा का अनुगामी क्यों बनेंगे। क्योंकि किसी की इच्छा का अनुगामी तो कोई चेतन ही होता पाया जाता है जड़ नहीं? और यह भी कि वह प्रजापति परमेश्वर क्या किसी प्रयोजन को ध्यान में रखकर जगत् की रचना में प्रवृत्त होता है? या यो हीं? यदि उनकी सृष्टि-प्रवृत्ति को निष्प्रयोजन माना जाय तो अविचार्य कारी होने के कारण वे उन्मत्त के तुल्य हो पड़ेंगे। और प्रथम पक्ष अर्थात् किसी प्रयोजन को ध्यान में रखकर जगत् की रचना करता है– ऐसा कहा जाय, तो वह भी ठीक नहीं होगा। क्योंकि पूर्ण सन्तुष्ट राग आदि रहित अन्तःकरण वाले

अवाप्तसर्वानन्दस्य रागादिरहितात्मनः ।
जगदारभमाणस्य न विद्मः किं प्रयोजनम् ।।

अनुकम्पया प्रवर्त्तत इति चेन् मैवम् –

सर्गात् पूर्वं हि निःशेषक्लेशसंस्पर्शवर्जिताः ।
नास्य मुक्ता इवात्मानो भवन्ति करुणास्पदम् ।।

परमकारुणिकानामपि दुःसहदुःखदहनदन्दह्यमानमनसो जन्तूनवलोकयतामुदेति दया न पुनरपवर्गदशावदेतान् दुःखशून्यानिति ।

करुणामृतसंसिक्तहृदयो वा जगत्सृजन् ।
कथं सृजति दुर्वारदुःखप्राग्भारदारुणम् ।।

अथ केवलं सुखोपभोगप्रायं जगत्स्त्रष्टुमेव न जानाति सृष्टमपि वा न चिरमवतिष्ठते इत्युच्यते तदप्यचारु, निरतिशयस्वातन्त्र्यसीमनि वर्त्तमानस्य स्वेच्छानुवर्तिसकल पदार्थसार्थस्थितेः परमेश्वरस्य किमसाध्यं नाम भवेत्। नानात्मगतशुभाशुभ कर्मकलापापेक्षः स्त्रष्टा प्रजापतिरिति चेत् कर्माण्येव हि तर्हि सृजन्तु जगन्ति किं प्रजापतिना। अथाचेतनानां चेतनानधिष्ठितानां स्त्रष्टृत्वमघटमानमिति तेषामधिष्ठाता चेतनः कल्प्यत

जगन्निर्माता को भला क्या प्रयोजन बतलाया जा सकता है? मालूम तो यही होता है कि उसे कोई भी प्रयोजन नहीं हो सकता। यदि यहा जाय कि वे प्राणियों पर कृपा करके जगत् की रचना में प्रवृत्त होते हैं– तो ऐसा भी नहीं। क्योंकि उनकी जगत् सृष्टि से पहले तो सारे जीव सारे क्लेशों के सम्बन्ध से सर्वथा वञ्चित ही रहेंगे, अतः मुक्तकल्प ही रहेंगे? तब वे जीव भगवान् के करुणा के पात्र नहीं माने जा सकते। कोई भी कितना भी कारुणिक क्यों न हो उसे करुणा का उदय दुस्सह दुःख रूपी अग्नि में जलते हुये को देखकर ही उदित होती है न कि उन जीवन्मुक्तों को देखकर, जो कि सर्वथा दुःखरहित होते हैं। और यदि करुणा रूपी अमृत से संसिक्त हृदय वाले परमेश्वर जगत् की सृष्टि करते हैं तो वे दुःखमय दारुण जगत् की सृष्टि क्यों करते हैं?

यदि यह कहा जाय कि के केवल सुखोपभोग बहुल जगत् की सृष्टि करना ही नहीं जानते या यह कि उनके द्वारा रचित सुखमय सृष्टि स्थायी नहीं रह पाती है– तो यह कथन भी उचित नहीं, सुन्दर नहीं। निरतिशय स्वातन्त्र्य की सीमा पर पहुँचे ऐसे परमेश्वर के लिए जो कि अपनी इच्छा से सारे पदार्थों की स्थिति में परिवर्तन ला सकते हैं, इनके लिए भला क्या असाध्य हो सकता है? यदि यह कहा जाय कि वे विधाता प्रजापति नाना आत्मा में विद्यमान शुभ एवं अशुभ कर्मों के कलाप की अपेक्षा रखकर ही सृष्टि करते हैं? तब फिर कर्म समूह ही सृष्टि करें प्रजापति की आवश्यकता क्या? यदि इस पर यह कहा जाय कि स्वयं अचेतन होने वाले उन शुभ अशुभ कर्मों के द्वारा तब तक सृष्टि सम्भव नहीं है अर्थात् उनमें सृष्टिकर्तृत्व सम्भव नहीं है जब तक वे कर्म किसी चेतन के द्वारा अधिष्ठित न हो।

इति चेन्न तदाश्रयाणामात्मनामेव चेतनत्वात्। त एवाधिष्ठातारो भविष्यन्ति किमधिष्ठात्रन्तरेणेश्वरेण। तस्यापि तादृशा परकीयकर्मापेक्षासङ्कोचितस्वातन्त्र्येण किमैश्वर्येण कार्यम्। राज्यमिव मन्त्रिपरवशमैश्वर्यं क्वोपयुज्यते तादृग् यत्रापरनिरपेक्षं रुच्यैव न रच्यते अभिमतम्। अन्येनाप्युक्तम् –

किमीश्वरतयेश्वरो यदि न वर्त्तते स्वेच्छया ।
न हि प्रभवतां क्रियाविधिषु हेतुरन्विष्यते ।। इति ।

अथ क्रीडार्था जगत्सर्गे भगवतः प्रवृत्तिरीदृशा च शुभाशुभरूपेण जगता सृष्टेन क्रीडति परमेश्वर इत्युच्यते। तर्हि क्रीडासाध्यसुखरहितत्वेन सृष्टेः पूर्वमवाप्तसकलानन्दत्वं नाम तस्य रूपमवहीयते ।

न च क्रीडापि निःशेषजनतातङ्ककारिणी ।
आयासबहुला चेयं कर्तुं युक्ता महात्मनः ।।

तस्मान्न जगतां नाथ ईश्वरः स्रष्टा संहर्तापि भवति ।

न ह्यस्य ध्रियमाणेषु पूर्यन्ते जन्तुकर्मसु ।
सकृत् समस्तत्रैलोक्यनिर्मूलनमनोरथाः ।।

अतः उन कर्मों का अधिष्ठाता चेतन ईश्वर कल्पित होता है तो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि उन शुभ अशुभ कर्मों के अर्थात् अदृष्ट पाप पुण्यों के आश्रय भूत जीवात्मा ही अधिष्ठाता हो जायें अन्य अधिष्ठाता ईश्वर की क्या आवश्यकता? उन्हें भी ऐसी ईश्वरता से क्या लाभ जो कि दूसरों के कर्मों की अपेक्षा से सङ्कुचित स्वातन्त्र्य हो जाय? मन्त्रिपरवश राज्य के समान ऐसा ऐश्वर्य कहाँ वैसा उपभुक्त होता है जहाँ कि दूसरे की अपेक्षा न रखते हुए अपनी रुचि के अनुसार अभिमत की रचना की जाती है। अन्य का भी कहना है कि–'ईश्वरता से ईश्वर को भला क्या लाभ यदि वे अपनी इच्छा के अनुसार काम न कर पाये। प्रभु के लिए अर्थात् समर्थ व्यक्ति के लिए काम करने के लिए दूसरा कोई करने वाला नहीं खोजा जाता है।

यदि यह कहा जाय कि जगत् की सृष्टि में भगवान् की प्रवृत्ति क्रीड़ार्थ होती है। क्योंकि शुभ और अशुभमय अर्थात् सुखदःखमय सृष्ट इस जगत् को लेकर वे क्रीड़ा करते हैं। तब उन में सृष्टि के पूर्व क्रीड़ाजन्य सुखराहित्य सिद्ध होता है अर्थात् तब सृष्टि के पहले वे इस परवर्ती क्रीड़ा से होने वाले सुख से वञ्चित थे– ऐसा मानना होगा। और ऐसा मानने पर वे सृष्टिके पूर्व भी सारे आनन्दों से परिपूर्ण थे, यह खण्डित हो जाने के कारण वे अपने 'अवाप्त सकलानन्दता' स्वरूप स्वभाव से हीन हो उठते हैं। और यह भी कि उन्हें परमेश्वर होने के कारण ऐसी क्रीड़ा नहीं करनी चाहिए, जो कि सारी जनता को आतङ्क देने वाली और दुःखबहुल हो। उनका अन्तःकरण महान् होना चाहिए। और वैसा होने पर वे क्षुद्रजनोचित कार्य कैसे करेंगे? इसलिए समग्र जगत् के नाथ ऐसे ईश्वर, जो कि सृष्टि

कर्मोपरमपक्षे तु पुनः सृष्टिर्न युज्यते ।
न कर्मनिरपेक्षो हि सर्गवैचित्र्यसंभवः ।।

अथ ब्राह्मेण मानेन संवत्सरशतनिष्ठमधितिष्ठति परमेष्ठिनि महेश्वरस्य संजिहीर्षा जायते। तया तिरोहितस्वफलारम्भशक्तीनि कर्माणि संभवन्तीति संपद्यते सकलभुवनप्रलयः। पुनश्च तावत्येव रात्रिप्राये काले व्यतीते सिसृक्षा भवति भगवतः तयाभिव्यक्तशक्तीनि कर्माणि कार्यमारप्स्यन्त इति। तदप्ययुक्तम् –

उद्भवाभिभवौ तेषां स्यातां चेदीश्वरेच्छया ।
तर्हि सैवास्तु जगतां सर्गसंहारकारणम् ।।

किं कर्मभिः, एवमस्त्विति चेद् न, ईश्वरेच्छावशित्वपक्षे हि त्रयो दुरतिक्रमाः दोषाः। तस्यैव तावन्महात्मनो निष्करुणत्वमकारणमेव दारुणसर्गकारिणः। तथा वैदिकीनां विधिनिषेधचोदनानामानर्थक्यम्, ईश्वरेच्छात एव शुभाशुभफलोपभोगसम्भवात्। अनिर्मोक्षप्रसङ्गश्च, मुक्ता अपि प्रलयसमये इव जीवाः पुनरीश्वरेच्छया संसरेयुः।

और संहार दोनों को करने वाले हों, नही हो सकते। और यदि वे प्राणियों के अनन्त कर्मों को अपेक्षित रूप में धारण करेंगे अर्थात् अपनायेंगे तो उनके एक ही साथ समग्र जगत् के संहार के मनोरथ कभी पूरे नहीं हो पायेंगे। और उक्त प्रकार कर्मों के उपरम पक्ष में फिर सृष्टि नहीं हो पायेगी। और तब कर्म निरपेक्ष जगत् में विचित्रता नहीं हो पायेगी।

यदि यह कहा जाय कि परमेष्ठी ब्रह्मा जब सौ ब्राह्म वर्षतक ब्रह्मलोक का शासन कर चुकते हैं तब महेश्वर को संहार की इच्छा होती है। उसे संहारेच्छा के कारण प्राणियों के कर्म 'तिरोहित स्वफलारम्भ शक्ति' हो जाते हैं। अर्थात् प्राणियों के कर्मों में विद्यमान फलजनक शक्तियाँ तिरोहित हो जाती हैं। इस लिए समग्र भुवन का प्रलय हो पाता है। और फिर उतना ही बड़ा रात्रिप्राय काल के बीत जाने पर भगवान् को सृष्टि करने की इच्छा होती है। इस इच्छा के कारण प्राणियों के कर्मों में विद्यमान फलजनक शक्तियाँ अभिव्यक्त हो उठती हैं। अतः वे कर्म कार्यारम्भ कर पायेंगे। तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि इस पर प्रश्न यह उठेगा कि वे प्राणिकर्म गत फलारम्भक शक्तियों के उद्भव और अभिभव ईश्वर की इच्छा से होंगे या यों ही? यदि ईश्वर की इच्छा से तब जगत् की सृष्टि और संहार का कारण वह ईश्वरेच्छा ही हो जाय कर्मों की क्या आवश्यकता। इस पर यदि यह कहा जाय कि ऐसा ही हो, तो वह भी नहीं कहा जा सकता। कर्म के उद्भव और अभिभव को ईश्वर की इच्छा पर निर्भर करने वाला पक्ष मानने पर तीन दोष अनिवार्य हो पड़ेंगे। एक यह कि दुःखमय सृष्टि करने के कारण उस ईश्वर में निष्करुणता आपन्न होगी। दूसरा यह कि वैदिक विधि एवं निषेध की प्रेरणा को अनर्थकता आपन्न होगी। यह इसलिए कि शुभ और अशुभ फल की प्राप्ति ईश्वर की इच्छा से ही हो जायेगी। तीसरा यह कि अनिर्मोक्ष प्रसङ्ग होगा। क्यों कि प्रलय कालिक जीव के समान मुक्त जीव भी पुनः

तस्मान्नेश्वराधीनो जगतां सर्गः संहारो वा ।

इत्यनन्तरगीतेन नयेनेश्वरसाधने ।
नानुमानस्य सामर्थ्यमुपमाने तु का कथा ।।
आगमस्यापि नित्यस्य तत्परत्वमसांप्रतम् ।
तत्प्रणीते तु विस्रम्भः कथं भवतु मादृशाम् ।।
किं चागमस्य प्रामाण्यं तत्प्रणीतत्वहेतुकम् ।
तत्प्रामाण्याच्च तत्सिद्धिरित्यन्योन्याश्रयं भवेत् ।।
अन्यथाऽनुपपत्त्या तु न शक्यो लब्धुमीश्वरः ।

तस्मात्सर्वसद्विषयप्रमाणानवगम्यमानस्वरूपत्वादभाव एवेश्वरस्येति सिद्धम् ।

न च प्रसिद्धिमात्रेण युक्तमेतस्य कल्पनम् ।
निर्मूलत्वात्तथा चोक्तं प्रसिद्धिर्वटयक्षवत् ।।
अत एव निरीक्ष्य दुर्घटं जगतो जन्मविनाशडम्बरम् ।
न कदाचिदनीदृशं जगत्कथितं नीतिरहस्यवेदिभिः ।।

[ईश्वरसत्त्वसमर्थनम्]

अत्र वदामः, यत्तावदिदमगादि नगादिनिर्माणनिपुणपुरुषपरिच्छेददक्षं प्रत्यक्षं न

ईश्वर की इच्छा से संसारी हो जायेंगे। इसलिए सृष्टि और प्रलय को ईश्वर के अधीन नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार अव्यवहित कथित नीति से अनुमान को ईश्वर के साधन में समर्थ नहीं कहा जा सकता है। उपमान के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है? नित्य आगम को तत्पर अर्थात् ईश्वर साधक मानना उचित नहीं। और यदि आगम को ईश्वर प्रणीत माना जाय तो मेरे जैसे लोगों को उस आगम पर विश्वास कैसे होगा। और यह भी कि ईश्वर प्रणीत होने के कारण आगम प्रमाण माना जायगा और आगम को प्रमाण मानकर उससे ईश्वर की सिद्धि होगी। ऐसी परिस्थिति में अन्योन्याश्रय दोष अपरिहार्य हो उठेगा। अन्यथानुपपत्ति से अर्थात् अर्थापत्ति प्रमाण से तो ईश्वर लब्ध अर्थात् सिद्ध किया नहीं जा सकता है। इसलिए सारे सद्विषयक प्रमाणों से ईश्वर का स्वरूप अप्राप्त होने के कारण ईश्वर नहीं है उसका अभाव ही है– यह सिद्ध हुआ। केवल लोक प्रसिद्धि मात्र के आधार पर ईश्वर की कल्पना उचित नहीं। क्योंकि लोक प्रसिद्धि तो वटस्थित यक्ष की लोकोक्ति के समान निर्मूल अर्थात् मिथ्या भी हो सकती है। इसलिए जगत् के उत्पाद और विनाश के आडम्बर को दुर्घट देखकर नीतिरहस्यज्ञों के द्वारा अनीदृश जगत् अर्थात् सृष्टिविनाशयुक्त जगत् नहीं माना गया है।

ईश्वर के अस्तित्व का समर्थन

इस पर कह रहे हैं। यह जो कहा गया है कि प्रत्यक्ष प्रमाण पर्वत आदि के निर्माण में दक्ष पुरुष को विषय करने वाला नहीं होता है, वह सही है। प्रत्यक्ष पूर्वक अनुमान भी

भवतीति। तदेवमेव, प्रत्यक्षपूर्वकमनुमानमपि तेनैव पथा प्रतिष्ठितमिति तदप्यास्ताम् ।

सामान्यतो दृष्टं तु लिङ्गमीश्वरसत्तायामिदं ब्रूमहे पृथिव्यादि कार्यं धर्मि तदुत्पत्तिप्रकारप्रयोजनाद्यभिज्ञकर्तृपूर्वकमिति साध्यो धर्मः कार्यत्वाद् घटादिवत् ।

[ईश्वरानुमानानुपपत्तिपरिहारौ]

ननु कार्यत्वमसिद्धमित्युक्तम्। क एवमाचष्टे चार्वाकः, शाक्यः, मीमांसको वा। चार्वाकस्तावद्वेदरचनाया रचनान्तरविलक्षणाया अपि कार्यत्वमभ्युपगच्छति यः। स कथं पृथिव्यादिरचनायाः कार्यत्वमपह्नुवीत।

मीमांसकोऽपि न कार्यत्वमपह्नोतुमर्हति। यत एवमाह येषामप्यनवगतोत्पत्तीनां रूपमुपलभ्यते तन्तुव्यतिषिक्तजनितोऽयं पटस्तद्व्यतिषङ्गविमोचनात्तन्तुविनाशाद्वा नङ्क्ष्यतीति कल्प्यत इति। एवमवयवसंयोगनिर्वर्त्यमानवपुषः क्षितिधरादेरपि नाशसम्प्रत्ययः सम्भवत्येव। दृश्यते च क्वचिद्विनाशप्रतीतिः प्रावृषेण्यजलधरधारासारनिर्लुठित एव पर्वतैकदेशे पर्वतस्य खण्डः पतित इति। वस्तुगतयोश्च कार्यत्वविनाशित्वयोः समव्याप्तिकता वार्त्तिककृताप्युक्तैव।

तेन यत्राप्युभौ धर्मौ व्याप्यव्यापकसम्मतौ ।
तत्रापि व्याप्यतैव स्यादङ्गं न व्यापिता मितेः।।इति।

उसी मार्ग पर प्रतिष्ठित है, यह भी रहे। किन्तु सामान्यतो दृष्ट लिङ्ग अर्थात् अनुमान ईश्वर की सत्ता में है, यह हम लोग कहते हैं। पृथिवी आदि कार्यात्मक धर्मी उसकी उत्पत्ति की प्रक्रिया एवं उसका प्रयोजन आदि को सही रूप से जानने वाले कर्त्ता की अपेक्षा करने वाला ही होता है। तत्पूर्वक ही होता है इस प्रकार घट आदि के समान कार्यत्व हेतु से साध्य धर्म सिद्ध किया जा सकता है।

ईश्वर और उसके साधक अनुमान की अनुपपत्ति के परिहार

इस पर यह कहा जा सकता है कि कार्यत्व हेतु पृथिवी आदि पक्ष में असिद्ध है। यह बात तो बतलायी जा चुकी है? तो पूछना है कि इस प्रकार कहने वाला कौन है? चार्वाक, बौद्ध, या मीमांसक? चार्वाक अन्य रचना से विलक्षण वेद रचना को भी कार्य मानता ही है। इसलिए वैसा मानने वाला वह पृथिवी आदि की रचना में कार्यता का अपह्नव अर्थात् अपलाप कैसे कर सकता है? मीमांसक भी वहाँ कार्यत्व का अपह्नव नहीं कर सकता है। क्योंकि उसने कहा यह है कि 'तन्तुओं के संयोग से उत्पन्न होने वाला यह पट तन्तु संयोग के विमोचन से अर्थात् विघटन से नष्ट होगा'– यह कल्पना की जाती है। इस प्रकार अवयव संयोग से सम्पाद्यमान स्वरूप वाले पर्वत आदि का भी नाश निश्चित होता ही है।

और इस प्रकार विनाश का प्रत्यक्ष भी होता हुआ पाया ही जाता है कि 'वर्षाकाल की तीव्र जल वर्षा से क्षत विक्षत पर्वत भाग में पर्वत का खण्ड गिरा हुआ है'। वस्तुगत कार्यत्व और विनाशत्व के बीच समव्याप्ति होती है। यह श्लोकवार्तिक कार के द्वारा भी बतलाया ही गया है। यह कहते हुए कि 'इसलिए जहाँ दोनों धर्म परस्पर व्याप्य और व्यापक रूप में सम्मत होते हैं वहाँ भी मिति का अङ्ग अर्थात् साधक व्याप्यता ही होती है

वदता। तस्माद्विनाशित्वेनापि कार्यत्वानुमानात्तन्मतेऽपि न कार्यत्वमसिद्धम् ।

शाक्योऽपि कार्यत्वस्य कथमसिद्धतामभिदधीत, येन नित्यो नाम पदार्थः प्रणयकेलिष्वपि न विषह्यते। तस्मात्सर्ववादिभिरप्रणोद्यं पृथिव्यादेः कार्यत्वम्। अथ वा सन्निवेशविशिष्टत्वमेव हेतुमभिदध्महे, यस्मिन् प्रत्यक्षत उपलम्यमाने सर्वापलापलम्पटा अपि न के चन विप्रतिपत्तुमुत्सहन्ते। तस्मान्नासिद्धो हेतुः ।

ननु कर्त्रविनाभावितया यथाविधस्य सन्निवेशस्य शरावादिषु दर्शनं तादृशमेव सन्निवेशमुपलभ्य क्वचिदनुपलभ्यमानकर्तृके कलशादौ कर्त्रनुमानमिति युक्तम्। अयं त्वन्य एव कलशादिसन्निवेशात्पर्वतादिसन्निवेशः। नात्र सन्निवेशसामान्यं किञ्चिदुपलभन्ते लौकिकाः। सन्निवेशशब्दमेव साधारणं प्रयुञ्जते। न च वस्तुनोरत्यन्तभेदे सति शब्दसाधारणतामात्रेण तदनुमानमुपपद्यते। न हि पाण्डुतामात्रसाधारणत्वेन धूमादिवन्मुकुलरजोराशेरपि कृशानुरनुमातुं शक्यते इति। तदुक्तम्–

सिद्धं यादृगधिष्ठातृभावाभावानुवृत्तिमत् ।
सन्निवेशादि तत्तस्माद्युक्तं यदनुमीयते ।।

व्यापिता अर्थात् व्यापकता नहीं। इसलिए विनाशित्व से भी कार्यत्व का अनुमान होने के कारण उनके मत में कार्यत्व हेतु असिद्ध नहीं होता है। और शाक्य अर्थात् बौद्ध भी कैसे कार्यत्व को असिद्ध कह सकते? क्योंकि वे नित्य पदार्थ तो हंसी मजाक में भी मानने के लिए राजी नहीं हैं। इसलिए पृथिवी आदि में कार्यत्व अखण्डित रह जाता है। अथवा सन्निवेशविशिष्टता अर्थात् रचनायुक्तता फलतः सावयवता को ही हम लोग हेतु कहते हैं। जो कि प्रत्यक्षतः उपलभ्यमान होने के कारण कुछ न मानने वालों के द्वारा भी विप्रतिपन्न नहीं कहा जा सकता। इसलिए हेतु को असिद्ध नहीं कहा जा सकता।

यहाँ प्रश्न यह उपस्थित किया जा सकता है कि कर्ता से अविनाभावी रूप में जैसी रचना का दर्शन शराव आदि लघु मृत्पात्रमें देखा जाता है, उससे मिलती जुलती रचना यदि किसी ऐसे मृत्पात्र कलश आदि में देखी जाती है, जिसका कर्त्ता नहीं देखा जाता है, तो वहाँ बहुत कुछ रचना सन्निवेशगत समानता के आधार पर उस कलश आदि अनुपलभ्यमानकर्तृक वस्तु के कर्त्ता का अनुमान कर लिया जाता है– यह तो सही है। किन्तु यह पर्वत आदि का सन्निवेश तो कलश आदि के सन्निवेश से भिन्न प्रकार का ही है अर्थात् अत्यन्त विलक्षण है जैसा कि साधारण जन भी देखते ही हैं। वे भी सन्निवेशगत समानता विलकुल नहीं देखते हैं। केवल सन्निवेश शब्द का प्रयोग ही करते हैं। वस्तु के स्वरूपगत अत्यन्त विभिन्नता होने पर शब्द प्रयोग मात्र से समानता के आधार पर उसका अनुमान उचित नहीं होता है। केवल पाण्डुता मात्र के आधार पर धूम आदि के समान पुष्प पराग राशि से भी अग्नि का अनुमान किया जा सकता है। जैसा कि कहा गया है– अधिष्ठाता अर्थात् कर्त्ता के भाव एवं अभाव की अनुवृत्ति से युक्त जैसा सन्निवेश देखा जाता है, वह उससे अनुमित होता है। यह तो युक्त है अर्थात् उचित है, किन्तु भेदयुक्त रूप

वस्तुभेदप्रसिद्धस्य शब्दसाम्यादभेदिनः।
न युक्तानुमितिः पाण्डुद्रव्यादिव हुताशने ।। इति ।

उच्यते, यादृगिति न बुद्ध्यामहे धूमो हि महानसे कुम्भदासीफूत्कारमारुत सन्धुक्ष्यमाणमन्दज्वलनजन्मा कृशप्रायप्रकृतिरुपलब्धः। स यदि पर्वते प्रबलसमीरणोल्लसितहुतवहप्लुष्यमाणमहामहीरुहस्कन्धेन्धनप्रभवो बहुलबहुलः खमण्डलमखिलमाक्रामन्नुपलभ्यते तत्किमिदानीमनलप्रमितिं मा कार्षीत्। अथ विशेष रहितं धूममात्रमग्निमात्रेण व्याप्तमवगतमिति तदनुमानम् इहापि सन्निवेशमात्रं कर्तृमात्रेण व्याप्तमिति, ततोऽपि तदनुमीयताम् ।

ननु सन्निवेशशब्दसाधारण्यमात्रमत्र न वस्तुसामान्यं किञ्चिदस्ति। भिक्षो! धूमेऽपि भवद्दर्शने किं वस्तुसामान्यमस्ति। मा भूद्वस्तुसामान्यमाकाशकालादिव्यावृत्तिरूपं तु संव्यवहारकारणमस्त्येव। हन्त तर्हि प्रकृतेऽपि असन्निवेशव्यावृत्तिरूपं भवतु सामान्यमाकाशकालादिविलक्षणरूपत्वात् पृथिव्यादेः ।

ननु तत्र धूमो धूम इत्यनुवृत्तविकल्पबलेन कल्पितमपोहस्वभावं सामान्यमभ्युपगतम्।

में प्रसिद्ध होने पर केवल शब्दगत समता से अभिन्न रखने वाले की अनुमिति उचित नहीं है। जैसे हुताशन अग्नि के सम्बन्ध में पाण्डुद्रव्य मात्र से अनुमिति उचित नहीं होती है।

यहाँ इस प्रश्न का उत्तर कहा जा रहा है–'जैसा' का अर्थ हम लोग नहीं समझ रहे हैं। रसोई घर का धूम, जलकलश ढ़ोने वाली दासी की फूक की हवा से होने वाली आग से उत्पन्न होने वाला होने के कारण दुबला सा देखा जाता है। किन्तु वही यदि पर्वत में प्रबल हवा के झोंके के कारण उल्लास युक्त अग्नि से तुरन्त सूखते हुए महान् वृक्ष की शाखा स्वरूप इन्धन से उत्पन्न होने वाला होने के कारण इतना विशाल होता है कि सारे आकाश मण्डल को आक्रान्त करता सा दिखाई देता है। तो क्या वह अग्नि की अनुमित्यात्मक प्रमिति न कराये? या विशेषताओं को छोड़कर धूममात्र अग्नि मात्र से व्याप्तियुक्त रूप में गृहीत होने के कारण उस गृहीत धूम से अग्नि का अनुमान होता है? यहाँ भी अवयवसन्निवेश मात्र कर्त्ता मात्र से व्याप्ति युक्त है, इसलिए सन्निवेश से कर्ता का अनुमान कर लिया जाय। इस पर यदि यह कहा जाय कि यह पहले भी कहा जा चुका है कि यहाँ तो सन्निवेश शब्द मात्र कहा जाता है। वस्तुगत कुछ भी समानता नहीं है। तो कहना यह है कि ओ भिक्षु! उक्त धूम स्थल में भी क्या वस्तुगत समानता है? यदि कहो कि वस्तु सामान्य भले ही न हो किन्तु आकाश काल आदि से व्यावृत्ति स्वरूप सामान्य तो संव्यवहार का कारण है ही, तो हाय!! प्रकृतमें भी पृथिवी आदि में आकाश आदि से विलक्षणता प्रयुक्त 'असन्निवेश व्यावृत्ति' स्वरूप सामान्य हो।

इस पर यदि यह कहा जाय कि वहाँ तो विभिन्न धूमों में 'यह धूम है यह भी धूम है' इस प्रकार होने वाले अनुवृत्त विकल्प के बल अर्थात् समानाकार विकल्पात्मक वृत्ति के

इहापि सन्निवेशविकल्पानुवृत्तेः त्वत्कल्पितमपोहरूपमेव सामान्यमन्विष्यताम्। अपि च सकर्तृकत्वाभिमतेष्वपि संस्थानेषु न सर्वात्मना तुल्यत्वं प्रतीयते। न हि घटसंस्थानं, पटसंस्थानं, चतुःशालसंस्थानं च सुसदृशमिति संस्थानसामान्यं तु पर्वतादावपि विद्यत एवेति सर्वथा यादृगित्यवाचको ग्रन्थः ।

यदपि व्यभिचारोद्भावनमकृष्टजातैः स्थावरादिभिरकारि तदपि न चारु, तेषां पक्षीकृतत्वात् पक्षेण च व्यभिचारचोदनायां सर्वानुमानोच्छेदप्रसङ्गः ।

ननु च पृथिव्यादेरुत्पत्तिकालस्य परोक्षत्वात्कर्ता न दृश्यत इति तदनुपलब्ध्या तदसत्त्वनिश्चयानुपपत्तेः कामं संशयोऽस्तु। वनस्पतिप्रभृतीनां तु प्रसवकालमद्यत्वेन वयमेव पश्यामः। न च यत्नतोऽप्यन्वेषमाणाः कर्त्तारमेषामुपलभामहे। तस्मादसौ दृश्यानुपलब्धेर्नास्त्येवेत्यवगच्छामः। अपि च येन येन वयं व्यभिचारमुद्भावयिष्यामः तं तं चेत्पक्षीकरिष्यति भवान्सुतरामनुमानोच्छेदः, सव्यभिचाराणामप्येवमनुमानत्वानपायात्।

उच्यते, स्थावराणामुत्पत्तिप्रत्यक्षत्वेऽपि कर्तुरदृश्यत्वमेवाशरीरत्वनिश्चयात्,

बल पर कल्पित अपोहात्मक अर्थात् परव्यावृत्यात्मक सामान्य स्वीकार किया गया है तो यहाँ भी सन्निवेश के विकल्प की अनुवृत्ति होने के कारण तुम लोगों द्वारा कल्पित अपोह रूप सामान्य का ही अन्वेषण करो। और यह भी कि सकर्तृक रूप में अभिमत होने वाले संस्थानों में भी तो पूर्णरूप से तुल्यता प्रतीत नहीं होती है? घट संस्थान पट संस्थान और चतुश्शाल संस्थान भी तो पूर्ण सदृश नहीं होते है। और संस्थान सामान्य तो पर्वत आदि में भी है ही। इसलिए कहा गया 'जैसा वह है' इत्यादि ग्रन्थ सर्वथा अर्थहीन है।

करने के बिना ही उत्पन्न होने वाले घास फूस को लेकर भी जो व्यभिचार दोष उद्भावन किया गया है। वह भी सुन्दर नहीं। क्योंकि वे भी पक्ष के अन्तर्गत आ जाते हैं। पक्ष को लेकर यदि व्यभिचार का उद्भावन माना जाय तो सारे अनुमानों का उच्छेद हो उठेगा।

इस पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि पृथिवी आदि की उत्पत्ति का काल परोक्ष है, इसलिए कर्ता देखा जाता नहीं है। इसलिए उसकी अनुपलब्धि के कारण उसके असत्त्व का भी निश्चय नहीं किया जा सकता है। अतः उसके सम्बन्ध में मनमाना संशय हो किन्तु वनस्पतियों के प्रसव काल को तो हम लोग देखते ही हैं। किन्तु यत्न पूर्वक अन्वेषण करने पर भी उनका कोई कर्ता नहीं पाया जाता है। अतः कर्ता के अभाव का निश्चय दृश्यानुपलब्धि के बल पर भलीभाँति किया जा सकता है। उनका कोई कर्त्ता नहीं है– यह हम लोग समझते ही हैं। और यह भी कि जिस जिस को लेकर हम लोग व्यभिचार का उद्भावन करेंगे उन सब को पक्ष बनाकर यदि तुम लोग व्यभिचार का वारण करोगे तो सुतरां अनुमान मात्र का उच्छेद हो उठेगा। क्योंकि फलितार्थ रूप में उस से यही प्राप्त होगा कि सव्यभिचार हेतु में भी अनुमानता हो सकती है जो कि मान्य नहीं है।

अब इसका उत्तर दिया जा रहा है– घास आदि स्थावरो की उत्पत्ति प्रत्यक्ष सिद्ध होने पर भी उनके कर्त्ता का अनिश्चय इसलिये रहता है कि उनका कर्त्ता अशरीरी है। अशरीरी

अशरीरस्य तर्हि तदुत्पत्तावव्याप्रियमाणत्वात्कर्तृत्वमपि कथमिति चेद् एतदग्रतो निर्णेष्यते, अदृश्यस्य च कर्तुरनुपलब्धितो नास्तित्वनिश्चयानुपपत्तेः नाकृष्टजातवनस्पतीनाम कर्तृकत्वमिति विपक्षता ।

यत्तूक्तं परिदृश्यमानक्षितिसलिलादिकारणकार्यत्वात्स्थावराणां किमदृश्यमानकर्तृ कल्पनयेति। तदपेशलम्, परलोकवादिभिरदृश्यमानानां कर्मणामपि कारणत्वाभ्युपगमात्। बार्हस्पत्यानां तु तत्समर्थनमेव समाधिः।

अथ जगद्वैचित्र्यं कर्मव्यतिरेकेण न घटत इति कर्मणामदृश्यमानानामपि कारणत्वं कल्प्यते तत्र यद्येवमचेतनेभ्यः कारकेभ्यश्चेतनानधिष्ठितेभ्यः कार्योत्पादानुपपत्तेः कर्त्ताऽपि चेतनस्तेषामधिष्ठाता कल्प्यताम्। तस्मात्स्थावराणाकर्तृकत्वाभावान्न विपक्षता इति न तैर्व्यभिचारः ।

यदप्युक्तम्, येन येन व्यभिचार उद्भाव्यते स चेत्पक्षेऽन्तर्भावयिष्यते क इदानीमनुमानस्य नियम इत्येतदपि न साधु। यदि हि भवान्निश्चिते विपक्षे वृत्तिमुपदर्शयेत्कस्तं पक्षेऽन्तर्भावयेत्। न हि विप्रत्वे पुंस्त्वस्य नित्यताया वा प्रमेयत्वेऽस्य व्यभिचारे चोद्यमाने वेधसापि विपक्षः पक्षीकर्तुं शक्यः। वादीच्छया वस्तुव्यवस्थाया अभावात्, इह तु

तो उनकी उत्पत्ति में चेष्टाशील नहीं हो पायेगा फिर वह कर्त्ता कैसे हो पायेगा? तो इसका निर्णय आगे चलकर किया जायेगा। अनुपलब्धि मात्र से अदृश्य कर्त्ता के नास्तित्व का निश्चय नहीं किया जा सकता है। इसलिए बिना उपजाने पर भी उत्पन्न होने वाले दूब घास आदि में विपक्षता नहीं हो सकती अर्थात् वे भी पक्षान्तर्गत माने जा सकते हैं। यह जो कहा गया है कि उक्त प्रकार के स्थावर तो देखे जाने वाले पृथिवी जल आदि कारणों के ही कार्य देखे जाते हैं, फिर अदृश्य कोई उसका कर्ता क्यों माना जाय? तो यह कथन भी सुन्दर नहीं है। क्योंकि परलोक मानने वालों के द्वारा अदृश्यमान कर्म को भी कारण माना ही जाता है। वार्हस्पत्यों अर्थात् चार्वाक दार्शनिकों के लिए तो अदृष्ट की कारणता का साधन ही समाधान हो जायेगा। यदि यह कहा जाय कि जगत् की विचित्रता कर्म को कारण माने बिना बन नहीं सकता, इसलिए कर्म को अदृश्यमान होने पर भी कारण मानना पड़ता है। तो चेतनानधिष्ठित अचेतन कहीं कारण होता नहीं पाया जाता। इसलिए चेतन कर्ता भी माना जाय। इस प्रकार स्थावरों में भी अकर्त्तृकता सिद्ध न हो पा सकने के कारण उन्हें विपक्ष नहीं माना जा सकता है। इसलिए उन्हें लेकर व्यभिचार नहीं दिया जा सकता है। यह भी जो कहा गया है कि जिस जिस को लेकर व्यभिचार का उद्भावन किया जाय उन सब को पक्षान्तर्गत कहकर व्यभिचार का वारण करने पर नियम क्या रह जायेगा? तो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि यदि आप निश्चित विपक्ष में हेतु का वृत्तित्व दिखलावें तो उस विपक्ष को कौन पक्ष के अन्तर्गत लाना चाहेगा? विप्रत्व में पुंस्त्व का और प्रमेयत्व में नित्यता का व्यभिचार उद्भावित होने पर ब्रह्मा भी विपक्ष को पक्ष नहीं बना सकता है।

स्थावरादौ कर्त्रभावनिश्चयो नास्तीत्युक्तम् ।

ननु स्थावरेषु पक्षीकृतेष्वपि व्यभिचारो न निवर्त्तत एव। न हि सपक्षविपक्षव्यतिरेकेण तात्त्विकः पक्षो नाम कश्चिदस्ति वस्तुनोऽद्वैरूप्यानुपपत्तेः। वस्तुस्थित्या सकर्तृकाश्चेद्वनस्पतिप्रभृतयः सपक्षा एव ते। न चेत्तर्हि विपक्षा एव न राश्यन्तरं समस्तीति।

उच्यते, पक्षाभावे सपक्षविपक्षवाचोयुक्तिरेव तावत्किमपेक्षा पक्षानुकूलो हि सपक्ष उच्यते तत्प्रतिकूलश्च विपक्ष इति।

यद्येवं वक्तव्यं तर्हि कोऽयं पक्षो नामेति कथ्यते–

साध्यधर्मान्वितत्वेन द्वाभ्यामप्यवधारितः ।
सपक्षस्तदभावेन निश्चितस्य विपक्षता ।।
विमतिर्यत्र तु तयोस्तं पक्षं सम्प्रचक्ष्महे ।
वस्तुनो द्व्यात्मकत्वं तु नानुमन्यामहे वयम् ।।
वादिबुद्ध्यनुसारेण स्थितिः पक्षस्य यद्यपि ।
तथापि व्यवहारोऽस्ति वस्तुनस्तन्निबन्धनः ।।

संदिग्धे हि न्यायः प्रवर्तते नानुपलब्धे न निर्णीत इत्युक्तमेतत्। संदिह्यमान एव चार्थः पक्ष उच्यते किञ्चित्कालं तस्य पक्षत्वं यावन्निर्णयो नोत्पन्नः, तदुत्पादे तु नूनं सपक्षविपक्षयोरन्यतरत्रानुप्रवेक्ष्यत्यसौ, अतश्च पक्षावस्थायां तेन व्यभिचारोद्भावनमसमीचीनम्।

क्योंकि वादी की इच्छा के अनुसार व्यवस्था सम्भव नहीं है। यहाँ स्थावर आदि में कर्ता के अभाव का निश्चय नहीं है, यह कहा जा चुका है। इस पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि स्थावरों को पक्ष बनाने पर भी व्यभिचार की निवृत्ति नहीं होती है। क्योंकि सपक्ष और विपक्ष के अतिरिक्त कोई तात्त्विक रूप में पक्ष हो ही नहीं सकता है। क्योंकि कोई भी वस्तु दो रूपों के अन्दर ही आ सकता है। वनस्पति प्रभृति वस्तुस्थिति के अनुसार यदि सकर्तृक होंगे तो सपक्ष के अन्दर ही आ जायेंगे और यदि वैसा नहीं तो विपक्ष के अन्दर ही आ जायेंगे। राश्यन्तर है नहीं। तब यह कहना होगा कि 'पक्ष' क्या है? तो कहा जा रहा है–

वादी एवं प्रतिवादी दोनों के द्वारा साध्य धर्म से युक्त रूप में अवधारित होने वाला होता है 'सपक्ष'. और दोनो के द्वारा साध्याभाव से युक्त रूप में अवधारित होने वाले में होती है विपक्षता, जहाँ पर साध्य और साध्याभाव दोनों की विमति अर्थात् संशय होता है। उसे हम लोग 'पक्ष' कहते हैं। ऐसी बात नहीं कि हम लोग किसी वस्तु को द्व्यात्मक मानते हैं। पक्ष की स्थिति यद्यपि वादियों की बुद्धि के अनुसार होती है फिर भी वस्तु का तन्मूलक व्यवहार होता है। न्याय की प्रवृत्ति सन्दिग्ध अर्थ में ही होती है। न तो अनुपलब्ध अर्थ में और न निर्णीत अर्थ में– यह कही हुई बात है। सन्दिह्यमान अर्थ ही पक्ष कहा जाता है। वह पक्षत्व उसमें तबतक ही रहता है जबतक उस में साध्य का निर्णय नहीं हो जाता है। साध्य या उसके अभाव का निर्णय हो जाने पर तो निश्चय वह सपक्ष या विपक्ष के अन्दर आ जाता है। इसलिए पक्षता की परिस्थिति में उसे लेकर व्यभिचार का उद्भावन उचित नहीं है।

ननु निश्चितविपक्षवृत्तिरिव सन्दिग्धविपक्षवृत्तिरपि न हेतुरेव तदेवं वीरुदादिषु संदिग्धेऽपि कर्त्तरि सन्निवेशस्य दर्शनाद् अहेतुत्वम्। नैतत्सारम्, सदसत्पावकतया पर्वते संदिग्धे विपक्षे वर्त्तमानस्य धूमस्याहेतुत्वप्रसङ्गात्। सर्व एव च साध्यांशसंशयाद्विपक्षा एव जाता इति पक्षवृत्तयो हेतव इदानीं विपक्षगामिनो भवेयुरित्यनुमानोच्छेदः।

अथ पक्षीकृतेऽपि धर्मिणि सदसत्साध्यधर्मतया सन्दिग्धे वर्त्तमानो धूमादिरन्यत्र व्याप्तिनिश्चयाद् गमक इष्यते तर्हि सदसत्कर्तृकतया संदिग्धेऽपि वसुंधरावनस्पत्यादौ वर्तमानं कार्यत्वमन्यत्र व्याप्तिनिश्चयाद् गमकमिष्यताम्, विशेषो वा वक्तव्यः।

अन्ये मन्यन्ते किमकृष्टजातस्थावरादिव्यभिचारस्थानान्वेषणेन पृथिव्यादिभिरेवात्र व्यभिचारः, अस्य व्याप्तिग्रहणस्य प्रतीघातात्। व्याप्तिर्हि गृह्यमाणा सकलसपक्षक्रोडीकारेण गृह्यते। इत्थं च तस्यां गृह्यमाणायामेव यद्यत् सन्निवेशविशिष्टं तत्तद् बुद्धिमत्कर्तृकमित्यस्मिन्नेवावसरे सन्निवेशवन्तोऽपि कर्तृशून्यतया शैलादयश्चेतसि स्फुरन्ति। यथा कृतकत्वेन वह्नेरनुष्णतानुमाने यद्यत्कृतकं तत्तदनुष्णमिति व्याप्तिपरिच्छेदवेलायामेव वह्निरुष्णोऽकृतक इति हृदयपथमवतरति। तत्र ह्यतिव्याप्तौ गृह्यमाणायां ततो हेतोः षण्ढादिव

इस पर प्रश्न यह आता है कि निश्चित विपक्ष वृत्ति के समान सन्दिग्ध विपक्ष वृत्ति भी साधक हेतु नहीं होता। तदनुसार लता वनस्पति आदि के कर्त्ता सन्दिग्ध होने पर भी वहाँ कार्यत्व रहने के कारण कार्यत्व में अहेतुत्व प्राप्त होता है। यो यह कथन सारवान् नहीं है।

क्योंकि तब अग्निमान् रूप में सन्दिग्ध होने वाले पर्वत में धूम के रहने के कारण धूम भी हेतु नहीं हो पायेगा। सारे ही पक्ष साध्य संशय के कारण विपक्ष ही हो जायेंगे– ऐसी परिस्थिति में पक्षगामी हेतु विपक्षवृत्ती कहे जाने लगेंगे और तत्प्रयुक्त अनुमान मात्र का उच्छेद हो जायेगा। यदि पक्षीकृत धर्मी में साध्य और साध्याभाव के सन्दिग्ध होने के कारण वहाँ वर्त्तमान धूम आदि हेतु अन्यत्र व्याप्तिनिश्चय के कारण अनुमापक माना जाता है तो सकर्तृक एवं अकर्तृक रूप में सन्दिग्ध होने वाले पृथिवी वनस्पति आदि में वर्तमान कार्यत्व अन्यत्र व्याप्ति निश्चय के कारण अनुमापक माना जाय, नहीं तो विशेषता बतलानी चाहिए।

अन्य लोग ऐसा समझते हैं कि बिना खेती के होने बाले स्थावर आदि व्यभिचार स्थान के अन्वेषण से क्या लाभ? पृथिवी आदि को लेकर ही यहाँ व्यभिचार हो रहा है। क्योंकि इस व्याप्ति ग्रहण में बाधा होती है। व्याप्ति गृहीत होती हुई सभी सपक्ष को गोद में लेती हुई प्रवृत्त होती है अर्थात् गृहीत होती है। इस प्रकार उसके ग्रहण काल में ही अर्थात् जो जो सन्निवेश युक्त है वह वह सकर्तृक है– यह निश्चय करते समय ही सन्निवेशवान् होने वाले भी पर्वत आदि कर्त्ता से रहित रूप में मन में आ जाते हैं। जैसे कि कृतकत्व हेतु से अग्नि की अनुष्णता के अनुमान स्थल में जो जो कृतक है सो सो अनुष्ण है– इस प्रकार व्याप्ति ग्रहण काल में ही कृतक वह्नि उष्ण है– यह हृदय पथ में अवतरित होता है। वहाँ

पुत्रजननमघटमानमेवैवं ततो वन्ध्यानुमानमिति।

तदेतदनुपपन्नम् – विशेषोल्लेखरहितसामान्यमात्रप्रतिष्ठितस्य व्याप्तिपरिच्छेदस्यानुमान लक्षणे निर्णीतत्वात्, अग्न्यनुष्णतानुमाने हि न व्याप्तिग्रहणप्रतिघातादप्रामाण्यमपि तु प्रत्यक्षविरोधादित्युक्तमेतत्, अपि चायं पृथिव्यादौ कर्त्रनुमाननिरासप्रकारः शब्दाद्युपलब्धयः करणपूर्विकाः क्रियात्वाच् छिदिक्रियावदित्यत्र श्रोत्रादिकरणानुमानेऽपि समानः। प्रतिबन्धावधारणवेलायामेव करणशून्यानां शब्दाद्युपलब्धिक्रियाणाम वधारणात्ताभिरेव व्यभिचारात्पक्षेण च पृथिव्यादिना व्यभिचारचोदनमत्यन्तमलौकिकम्।

ननु वस्तुस्थित्या पर्वतादयोऽपि विपक्षा एव त्वया तु तेषां पक्ष इति नाम कृतं न च त्वदिच्छया वस्तुस्थितिर्विपरिवर्तते।

नन्वेवं शब्दाद्युपलब्धयोऽपि वस्तुस्थित्या विपक्षा एव तासामपि पक्ष इति नामकरणमेव स्यात्। न तासां करणभावनिश्चयानुत्पादान्न विपक्षत्वम्। पर्वतादावपि कर्त्रभावनिश्चयानुत्पादान्न विपक्षत्वम्। तेषु कर्त्ता नोपलभ्यत इति चेत् शब्दाद्युपलब्धिकरणमपि नोपलभ्यत एव। करणमदृश्यमानत्वादेव नोपलभ्यते न

व्याप्ति का अतिक्रम गृहीत होने पर उस हेतु से नपुंसक से पुत्रजनन के समान और उससे वन्ध्या का अनुमान घटित होने वाला नहीं है। यह अनुपपन्न है। क्योंकि विशेष के उल्लेख से रहित सामान्य मात्र पर प्रतिष्ठित अर्थात् आधारित व्याप्ति का ज्ञान अनुमान लक्षण के अवसर पर निर्णीत हो चुका है। अग्नि की अनुष्णता के अनुमान में अप्रामाण्य व्याप्तिविघात प्रयुक्त नहीं होता है, किन्तु प्रत्यक्ष विरोध प्रयुक्त– यह भी कहा जा चुका है। और यह पृथिवी आदि के कर्त्ता के अनुमान का निरास प्रकार 'शब्द आदि की उपलब्धियाँ करणपूर्वक होती हैं, क्योंकि वे भी क्रिया होती हैं अर्थात् धात्वर्थ होती है छेदन क्रिया की तरह, इत्यादि श्रोत्रानुमान स्थल में भी समान होगा। व्याप्ति के निश्चय काल में ही करण शून्य रूप में शब्द आदि की उपलब्धि स्वरूप क्रिया का निश्चय होने के कारण उन क्रियाओं को लेकर ही व्यभिचार उद्भावन अत्यन्त अलौकिक है। इस पर यदि यह कहा जाय कि वस्तुस्थिति के अनुसार तो पर्वत आदि भी विपक्ष ही होते हैं, तुम नैयायिकों के द्वारा उसका नाम पक्ष रख दिया गया है। तुम्हारी इच्छा से वस्तुस्थिति नहीं बदल सकती है। तो इसके उत्तर में कहना यह है कि तब शब्द आदि की उपलब्धियाँ भी निश्चित रूप से विपक्ष ही वस्तुगत्या होंगी। उनका भी 'पक्ष' यह नामकरण मात्र होगा और अनुमान से पहले करण की सत्ता का निश्चय नहीं होने के कारण उनमें विपक्षता नहीं होगी– यह नहीं होगा। यदि यह कहा जाय कि पर्वत पृथिवी आदि का कर्त्ता तो उपलब्ध नहीं होता, तो इसके उत्तर में इधर से यह कहा जायगा कि शब्द आदि की उपलब्धि का करण भी तो अनुपलब्ध ही होता है? यदि यह कहा जाय कि करण तो अदृश्यता प्रयुक्त उपलब्ध नहीं होता है नास्तिता प्रयुक्त नहीं तो प्रकृत कर्त्ता भी तो अदृश्य मानता प्रयुक्त ही अनुपलब्ध हो रहा है नास्तिता प्रयुक्त नहीं।

नास्तित्वादिति चेत् कर्त्ताप्यदृश्यत्वादेव नोपलभ्यते न नास्तित्वात्। अनुमानात्करणमुपलभ्यते तद्व्यतिरेकेण क्रियानुपपत्तेरिति चेत् कर्त्ताप्यनुमानादुपलप्स्यते कर्त्तारमन्तरेण कार्यानुपपत्तेः।

तेनानुमानगम्यत्वान्न कर्त्तुर्नास्तिताग्रहः।
तदभावाद्विपक्षत्वं क्षित्यादेरपि दुर्भणम्।।
लिङ्गात्पूर्णं तु सन्देहो दहनेऽपि न वार्यते।
तथा सति प्रपद्येत धूमोऽप्यननुमानताम्।।
अथास्य लिङ्गाभासत्वं क्षित्यादौ कर्त्रदर्शनात्।
धूमेऽपि लिङ्गाभासत्वमन्यदेशेऽन्यदर्शनात्।।
ननु तं देशमासाद्य गृह्यते धूमलाञ्छनः।
अनयैव धिया साधो चरस्व शरदां शतम्।।
यत्पश्चाद्दर्शनं तेन किं लिङ्गस्याप्रमाणता।
अनर्थित्वाददृष्टे वा कृशानौ किं करिष्यसि।।

इसपर यदि यह कहा जाय कि करण के बिना क्रिया सम्भव नहीं है, इसलिये अनुमान से करण का निश्चय होता है। तो इसी प्रकार भलीभाँति यह कहा जा सकता है कि कर्ता के बिना कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है, इसलिए कर्ता भी अनुमान से उपलब्ध होता है। इसलिए अनुमान गम्य होने के कारण कर्त्ता में नास्तिता का अर्थात् कर्ता के अभाव का निश्चय नहीं किया जा सकता है। और कर्ता के अभाव प्रयुक्त पृथिवी आदि को विपक्ष भी नहीं कहा जा सकता है। लिङ्ग के पहले तो अग्नि का भी सन्देह वारित नहीं हो सकता है। क्योंकि वैसा होने पर धूम भी अनुमान अर्थात् अनुमापक नहीं हो पाता। यदि यह कहा जाय कि प्रकृत अनुमान स्थल में कर्ता न देखे जाने के कारण कार्यत्व हेतु सही लिङ्ग न होकर लिङ्गाभास हो जायगा। तो धूम में भी लिङ्गाभासता आपन्न होगी। क्योंकि महानस से अन्यदेश में तो अन्य परिस्थिति देखी जाती है। अभिप्राय यह कि महानस को अर्थात् रसोई घर आदि कुछ स्थान को छोड़कर सब स्थानों में तो धूम और वह्नि के बीच अव्यभिचरित सामानाधिकरण्य देखा नहीं जाता है?

यदि यह कहा जाय कि माहनस में तो धूम देखा जाता है अर्थात् वह अग्नि के साथ देखा जाता है, तो इस पर कहना है कि ठीक है, तब ओ भिक्षु! यही बुद्धि लेकर तुम सौ वर्षों विचरण करो। धूम से अग्नि के अनुमान स्थल में भी धूम पीछे देखे जाने के कारण क्या उसमें अप्रमाणता हो आती है अर्थात् वह अनुमापक नहीं हो पाता? अथवा व्यक्ति की अनर्थिता प्रयुक्त जहाँ अग्नि देखा नहीं जाता वहाँ क्या करोगे? अर्थात् वहाँ अग्नि और धूम के बीच अव्यभिचरित सामानाधिकरण्य गृहीत न होने पर भी जहाँ धूम को देखकर वह्नि का अनुमान किया जाता है वहाँ धूम में अग्नि की अनुमापकता होती या नहीं? होती

तस्मात्सर्वथा नायमनैकान्तिको हेतुः।

यदपि विशेषविरुद्धत्वमस्य प्रतिपादितं तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, विशेषविरुद्धस्य हेत्वाभासस्याभावात्। अभ्युपगमे वा सर्वानुमानोच्छेदप्रसङ्गात्। श्रोत्राद्यनुमानेऽपि यथोदाहृते शक्यमेवमभिधातुम्, यादृगेव लवनक्रियायां दात्रादि करणं काठिन्यादिधर्मकमवगतं तादृगेव श्रोत्रादि स्यात्तद्विलक्षणकरणसाध्यतायां तु साध्यविकलो दृष्टान्तः। छेदनादिक्रियाणामतीन्द्रियकरणकार्यत्वादर्शनादिति।

अथ क्रियामात्रं करणमात्रेण व्याप्तमवगतमिति तावन्मात्रमनुमापयति तदिहापि सन्निवेशमात्रमधिष्ठातृमात्रेण व्याप्तमुपलब्धमिति तावन्मात्रमेवानुमापयतु विशेषाणां तु न तल्लिङ्गमस्ति यन्न बाधकम्, अनित्यः शब्दः कृतकत्वादित्ययमपि श्रावणत्वादि शब्दस्य विशेषजातं बाधत एव, धूमोऽपि पर्वताग्निविशेषान् कांश्चिन् महानसाग्नावदृष्टानपहन्त्येव। तस्माद्यथानिर्दिष्टसाध्यविपर्ययसाधनमेव विरुद्धो हेतुर्न हि विशेषविपर्ययावहः। प्रकृतहेतुश्च साध्यविपर्ययस्याकर्तृपूर्वकस्य न साधकः अश्वोऽयं
ही है। इसलिए यह जगत्कर्त्ता का साधक कार्यत्व हेतु अनैकान्तिक नहीं अर्थात् व्यभिचारी नहीं है।

विशेष विरुद्धता जो कही गयी है, वह कथन भी 'असीमिक्षताभिधान' ही माना जायेगा। अर्थात् बिना सोचे बिचारे यों ही कुछ कह डालना माना जायेगा। क्योंकि विशेषविरुद्ध नाम का कोई हेत्वाभास अर्थात् दुष्ट हतु माना नहीं गया है। और उसे मानने पर सारे अनुमानों का उच्छेद हो जायेगा। क्योंकि कथित श्रोत्र आदि के अनुमान स्थल में भी यह कहा जा सकेगा। लवन क्रिया में अर्थात् छेदन क्रिया स्थल में जैसी कठिनता आदि धर्म युक्त करण पाया जाता है वैसा ही करण तब शब्द आदि की उपलब्धि स्थल में श्रोत्र आदि भी मान्य हो उठेगा– जैसा कि माना नहीं जाता। यदि विलक्षण करण की सिद्धि मानी जाय तो दृष्टान्त साध्य विकल हो उठेगा। क्योंकि छेदन आदि क्रिया को अतीन्द्रियकरणक नहीं देखा जाता है। यदि यह कहा जाय कि क्रिया मात्र करणमात्र से व्याप्ति युक्त अवगत है इसलिए क्रिया करण मात्र का अनुमान करायेगी? तब तो यहाँ भी सन्निवेश मात्र अधिष्ठान मात्र से व्याप्त उपलब्ध है इसलिए वह अर्थात् सन्निवेश कर्ता मात्र का अनुमान कराये। विशेषों का तो वह लिङ्ग अर्थात् अनुमापक है नहीं, जो बाधक नहीं होगा। 'शब्द अनित्य है क्योंकि कृतक अर्थात् उत्पत्तिशील है' इसे भी तब शब्द गत श्रावणत्व आदि बाधित करेगा ही। एवं धूम भी महानसगत अग्नि में देखे गये कुछ धर्मों को पर्वतीय अग्नि में बाधा पहुँचाता ही है। इसलिए निर्देशानुसारी साध्य के विपर्यय को अर्थात् अभाव को सिद्ध करने वाला ही हेतु विरुद्ध माना जाय। विशेष के विपर्यय का साधक नहीं।

इसलिए प्रकृत ईश्वर साधक हेतु सकतृत्व रूप साध्य के विपर्यय का साधक नहीं है यह घोड़ा है क्योंकि इसके सींग हैं इस अनुमान की तरह। इसलिए इसे विरुद्ध नहीं कहा

विषाणित्वादितिवत्। तस्मान्न विरुद्धः, नापि कालात्ययापदिष्टः प्रत्यक्षागमयोर्बाधकयोरदर्शनात्। प्रत्युतागममनुग्राहकमिहोदाहरिष्यामः। नापि सत्प्रतिक्षोऽयं हेतुः संशयबीजस्य विशेषाग्रहणादेरिह हेतुत्वेनानुपादानात्। नाप्ययमप्रयोजको हेतुः। यथा परमाणूनामनित्यत्वे साध्ये मूर्त्तत्वमभिधास्यते न हि मूर्त्तत्वप्रयुक्तमनित्यत्वमिह तु कार्यत्वप्रयुक्तमेव सकर्तृकत्वं तत्र तत्रोपलब्धमित्यत एवानुमानविरोधस्येष्टविघातकृतश्च न कश्चिदिवावसरः। प्रयोजके हेतौ प्रयुक्ते तथाविधपांसुप्रक्षेपप्रयोगानवकाशात्। तस्मात्परोदीरिताशेषदोषविकलकार्यानुमानमहिम्ना नूनमीश्वरः कल्पनीयः सकल लोकसाक्षिकमनुमानप्रामाण्यमपि रक्षणीयम्। अनुमानप्रामाण्यरक्षणे च कृत एव परिकरबन्धः प्रागिति सिद्ध एवेश्वरः। अन्यदपि तदनुमानमन्यैरुक्तम्। महाभूतादिव्यक्तं चेतनाधिष्ठितं सत्सुखदुःखे जनयति रूपादिमत्वात्तूर्यादिवत्। तथा पृथिव्यादीनि भूतानि चेतनाधिष्ठितानि सन्ति धारणादिक्रियां कुर्वन्ति युग्यादिवदिति। अत्रापि दोषाः पूर्ववदेव परिहर्त्तव्याः।

जा सकता है। इसी प्रकार प्रकृत हेतु कालात्ययापदिष्ट अर्थात् बाधित भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि न तो प्रत्यक्ष से और न शब्द से बाध प्राप्त होता देखा जाता है। प्रत्युत शब्द प्रमाण यहाँ अनुग्राहक अर्थात् सहायक है, इसका उदाहरण आगे चलकर उपस्थित करुँगा। यह हेतु सत्प्रतिपक्ष दोष से युक्त भी नहीं है। क्योंकि संशय के कारण रूप में स्वीकृत विशेषादर्शन आदि को यहाँ हेतु रूप में ग्रहण नहीं पाया जा रहा है। यह हेतु अप्रयोजक अर्थात् अनुकूल तर्करहित भी नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार कि परमाणुओं में अनित्यता कि सिद्धि स्थल में मूर्त्तत्व अप्रयोजक है आगे चलकर कहा जायगा। कहीं भी अनित्यत्व मूर्त्तत्व प्रयुक्त नहीं होता। यहाँ सकर्तृकत्व कार्यत्व प्रयुक्त ही कहा जा रहा है जैसा कि वह होता है और वैसा ही स्थान स्थान पर उपलब्ध भी होता है। इसलिये कोई इष्ट विघातक और तत्कर्तृक अनुमान विरोध प्राप्त नहीं है। उनका अवसर यहाँ नहीं है। अनुकूल तर्कात्मक प्रयोजक के उपस्थापित होने पर पूर्व प्रदर्शित धूली प्रक्षेप का अवकाश नहीं रह जाता। इसलिए पहले कथित सकल दोषों से रहित कार्यत्व हेतुक अनुमान की महिमा से ईश्वर का अनुमान निश्चित रूप में हो सकता है। ईश्वर अनुमेय है, सकललोक साक्षिक अनुमान का प्रामाण्य भी रक्षणीय है। अनुमान के प्रामाण्य की रक्षा करने पर ही प्राथमिक परिकर बन्ध अर्थात् प्रयास सिद्ध हो सकता है, इसलिए ईश्वर सिद्ध ही है। यहाँ प्रदर्शित अनुमान के अतिरिक्त और भी ईश्वर साधक अनुमान औरों के द्वारा दिखलाये गये हैं। जैसे 'व्यक्त महाभूत आदि चेतन से अधिष्ठित होकर ही सुख और दुःख को उत्पन्न करते हैं। क्योंकि वे रूप आदि गुणों से युक्त हैं। जैसे तुर्य आदि वाद्य'। इसी प्रकार 'पृथिवी आदि भूत चेतन से अधिष्ठित होकर ही धारण आदि क्रियाओं को करते हैं गाड़ी आदि की तरह' इन सब अनुमान स्थलों में भी दोषों का परिहार पूर्ववत् कर्तव्य है।

यत्पुनरवादि 'कर्तृसामान्यसिद्धौ वा विशेषावगतिः कुतः' इति। तत्र केचिदागमाद्विशेषप्रतिपत्तिमाहुः –

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
सम्बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एक।। इति।

तथा

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति सर्वं न हि तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्।।इति।

श्रुतौ पठ्यते, ततः सर्वस्य कर्त्ता सर्वज्ञ ईश्वरो ज्ञाप्यते। न च कार्य एवार्थे वेदः प्रमाणमिति। मन्त्रार्थवादानामतत्परत्वमभिधातुमुचितं कार्ये इव सिद्धेऽप्यर्थे वेदप्रामाण्यस्य वक्ष्यमाणत्वात्। न चेतरेतराश्रयम् आगमैकशरणत्वाभावादीश्वरसिद्धेः।

अन्ये त्वन्वयव्यतिरेकिहेतुमूलकेवलव्यतिरेकिबलेन विशेषसिद्धिमभिदधति, देहादिव्यतिरिक्तात्मकल्पनमिव सुखदुःखादिगतेन कार्यत्वेन वर्णयिष्यते पृथिव्यादि कार्यमस्मदादिविलक्षणसर्वज्ञैककर्तृकम्। अस्मदादिषु बाधकोत्पत्तौ सत्यां कार्यत्वादिति।

यह जो फिर कहा गया है कि अनुमान से तो सामान्य रूप से कर्ता की ही सिद्धि होगी फिर स्वीकृत कर्तृगत विशेषताएं कैसे सिद्ध होंगी? उस पर कुछ लोगों ने जगत्कर्त्ता गत विशेषताओं की अवगति आगमों से मानी है। श्रुति में अर्थात् नारायणोपनिषत् (खण्ड ३. मन्त्र २.) में और श्वेताश्वतरोपनिषद् (अ ३ मन्त्रा १६) निम्नलिखित मन्त्र पढ़े गये हैं। जैसे–

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
सम्बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः।।

तथा– अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति सर्वं नहि तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्।।

तदनुसार वह सब का कर्ता है, सर्वज्ञ है, वही ईश्वर है, ऐसा ज्ञापित होता है। वेद केवल कर्त्तव्य क्रिया के लिए ही प्रमाण है, यह बात नहीं है। मन्त्र एवं अर्थवादों में कर्तव्य क्रियामात्रपरता नहीं है– यह कहने के लिए कर्तव्य क्रिया के समान सिद्ध ईश्वर आदि के विषय में भी वेद का प्रामाण्य वक्ष्यमाण है। अन्योन्याश्रय दोष इसलिए नहीं दिया जा सकता कि ईश्वर की सिद्धि केवल वेद मात्र से ही नहीं होती है। अन्य लोग यह कहते हैं कि अन्वय व्यतिरेकी अनुमान मूलक केवल व्यतिरेकी हेतु के बल पर विशेष कर्ता की अर्थात् ईश्वर की सिद्धि होती है, जिस प्रकार देह आदि से अतिरिक्त आत्मा की कल्पना होती है। यह आगे चलकर सुख तथा दुःख आदिगत कार्यत्व हेतु से वर्णित होगा कि 'पृथिवी आदि कार्य हम लोगों से विलक्षण एक किसी सर्वज्ञ के द्वारा रचित है, क्योंकि हम

अपरे पक्षधर्मताबलादेव विशेषलाभमभ्युपगच्छन्ति न हीदृशं परिदृश्यमानमनेकरूपमपरिमितमनन्तप्राणिगतविचित्रसुखदुःखसाधनं भुवनादि कार्यमनतिशयेन पुंसा कर्तुं शक्यमिति। यथा चन्दनधूममितरधूमविसदृशमवलोक्य चान्दन एव वह्निरनुमीयते तथा विलक्षणात्कार्याद्विलक्षण एव कर्त्तानुमास्यते। यथा सुचेलकेभ्य इव तत्कुशलः कुविन्दः, यथा च कुलालः सकलकलशादिकार्यकलापोत्पत्तिसंविधानप्रयोजनाद्यभिज्ञो भवंस्तस्य कार्यचक्रस्य कर्त्ता। तथेयतस्त्रैलोक्यस्य निरवधिप्राणिसुखदुःखसाधनस्य सृष्टिसंहारसंविधानं सप्रयोजनं बहुशाखं जानन्नेव स्त्रष्टा भवितुमर्हति महेश्वरस्तस्मात्सर्वज्ञः।

अपि च यथा नियतविषयवृत्तीनां चक्षुरादीन्द्रियाणामधिष्ठाता क्षेत्रज्ञस्तदपेक्षया सर्वज्ञः एवं सकलक्षेत्रज्ञकर्मविनियोगेषु प्रभवन्नीश्वरस्तदपेक्षया सर्वज्ञः। तथा चाह व्यासः–

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।

लोगों में पृथिवी आदि के कर्तृत्व का अभाव होते हुए पृथिवी आदि में कार्यत्व विद्यमान है। अन्य लोगों का इस के सम्बन्ध में कहना यह है कि सामान्य कर्त्ता का अनुमान हो जाने पर पक्षधर्मता अर्थात् इतर बाध के द्वारा विशेषकर्त्ता की सिद्धि होती है। यह इस रूप में देखा जाने वाला भुवन कार्य, जो कि अनेक रूप अर्थात् जिसमें एक रूपता पायी नहीं जा रही है और जो अपरिमित और अनन्त प्राणियों में वर्तमान विचित्र प्रकार के सुख और दुःख के उपभोग का साधन है, किसी विशेषता रहित हम लोगों जैसे साधार कर्ता से किया जा सकता है। जिस प्रकार चन्दन के धूम को अन्य लकड़ी के धूमों से विलक्षण देखकर उससे उसके उत्पादक अग्नि को यह चन्दन प्रभव ही अग्नि है– इस प्रकार अनुमान किया जाता है उसी प्रकार विलक्षण कार्य से विलक्षण ही कर्त्ता अनुमित होगा। जैसे सुन्दर कपड़े को देखकर उसका कर्ता कुशल कुबिन्द अर्थात् जुलाहा होता है और जिस प्रकार घड़े को देखकर सभी कलश आदि कार्यकलाप की उत्पत्ति उसकी प्रक्रिया एवं उसका प्रयोजन आदि का अभिज्ञ कुलाल समस्त मृत्पात्रात्मक कार्य का कर्त्ता होता है– यह निर्णीत होता है। उसी प्रकार इतने बड़े त्रैलोक्य का, जो कि अनादि काल से अनन्त प्राणियों के सुख दुःख आदि का साधन बनता आया है, अनेक शाखा युक्त एवं सप्रयोजन सृष्टि और संहार के विधान को जानने वाला ही कोई सृष्टि करने वाला हो सकता है, इसलिए वह जगत् कर्त्ता महेश्वर अवश्य सर्वज्ञ है– यह निर्णीत होता है। और भी यह कि जिस प्रकार नियत व्यापार शील चक्षु आदि इन्द्रियों का अधिष्ठाता होने वाला क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा उन इन्द्रियों से कहीं अधिक सामर्थ्य शील एवं उन इन्द्रियों के व्यवहार क्षेत्र की सारी परिस्थितियों का ज्ञाता होता है। उसी प्रकार सभी जीवों के कर्मों के विनियोजन में समर्थ होने वाला उन जीवों की अपेक्षा से सर्वज्ञ अर्थात् कहीं अधिक ज्ञाता सिद्ध होता है। जैसा कि व्यास ने कहा है कि – इस संसार में दो प्रकार के पुरुष हैं एक क्षर और दूसरा अक्षर।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्त्यव्यय ईश्वरः।।

मन्त्रश्च तदर्थानुवादी पठ्यते।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।। इति।

अतश्च सर्वज्ञ ईश्वरः।

पुंसामसर्ववित्त्वं हि रागादिमलबन्धनम्।
न च रागादिभिः स्पृष्टो भगवानिति सर्ववित्।।
इष्टानिष्टार्थसंभोगप्रभवाः खलु देहिनाम्।
रागादयः कथं ते स्युर्नित्यानन्दात्मके शिवे।।

मिथ्या ज्ञानमूलाश्च रागादयो दोषास्ते कथं नित्यनिर्मलज्ञानवतीश्वरे भवेयुः।

[ईश्वरज्ञानादेर्नित्यत्वम्]

नित्यं तज्ज्ञानं कथमिति चेत् तस्मिन् क्षणमप्यज्ञातरि सति तदिच्छाप्रेर्यमाणकर्माधीन नानाप्रकारव्यवहारविरामप्रसङ्गात्। प्रलयवेलायां तर्हि कुतस्तन्नित्यत्वकल्पना इति चेन्मैवम् आप्रलयात्सिद्धे नित्यत्वे तदा विनाशकारणाभावादस्यात्मन इव तज्ज्ञानस्य नित्यत्वं

क्षर सारे प्राणी है और कूटस्थ परमेश्वर अक्षर कहे जाते हैं। वह अन्य उत्तम पुरुष ही परमात्मा कहा जाता है। जो तीनों लोकों का अन्तर्यामी बनकर लोकत्रय का धारण करता है, ईश्वर है, अव्यय है। इस अर्थ का अनुवाद करने वाला मन्त्र भी उपलब्ध है, जिसमें यह कहा गया है कि दो पक्षी पूर्ण रूप में मित्रता साथ एक ही वृक्ष पर वास करते हैं। उन दोनों के अन्दर एक स्वादु फल खाता है और दूसरा बिना कुछ खाये केवल साक्षी की तरह देखता रहता है। इसलिए भी ईश्वर सर्वज्ञ है कि – राग द्वेष आदि मल के कारण जीवों की सर्वज्ञता नहीं होती है। किन्तु भगवान् अर्थात् परमेश्वर राग द्वेष आदि युक्त नहीं हैं। इसलिए वे सर्ववित् अर्थात् सर्वज्ञ हैं। देहियों को अर्थात् जीवों को राग द्वेष आदि इसलिए होते हैं कि उन्हे इष्ट और अनिष्ट अर्थों का सम्भोग अर्थात् तत्प्रयुक्त सुख दुःख आदि का अनुभव होता है। परन्तु वे राग द्वेष आदि नित्य सन्तुष्ट परमेश्वर में कैसे हो सकते? राग आदि दोष नियमतः मिथ्याज्ञान मूलक ही होते हैं। अतः वे नित्य निर्मल ज्ञानवान् ईश्वर में कैसे होंगे?

ईश्वर के ज्ञान आदि की नित्यता

ईश्वर का ज्ञान नित्य क्यों है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वे यदि एक क्षण भी अज्ञाता बन जायें तो उनकी इच्छा से प्रेरित होने वाले कर्म के अधीन होने वाले नाना प्रकारों के व्यवहार का विराम हो उठेगा। तब प्रलय काल में क्यों उसमें नित्यता की कल्पना की जाती है? तो ऐसा नहीं, प्रलय पर्यन्त उसकी नित्यता सिद्ध होने पर उसके विनाश के कारण का अभाव होने के कारण आत्मा के समान ईश्वर के ज्ञान में नित्यता

सेत्स्यति। पुनश्च सर्गकाले तदुत्पत्तिकारणाभावादपि नित्यत्वं तज्ज्ञानस्य। एवं च तदतीतानागतसूक्ष्मव्यवहितादिसमस्तवस्तुविषयं न भिन्नं क्रमयौगपद्यविकल्पानुपपत्तेः। क्रमाश्रयणे क्वचिदज्ञातृत्वं स्यादिति व्यवहारलोपः। यौगपद्येन सर्वज्ञातृत्वे कुतस्त्यो ज्ञानभेदः। प्रत्यक्षसाधर्म्याच्च तज्ज्ञानं प्रत्यक्षमुच्यते न पुनरिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्व मस्यास्ति। अजनकानामेवार्थानां सवितृप्रकाशेनेव ग्रहणात्। ज्ञानवदन्येऽप्यात्मगुणा येऽस्य सन्ति ते नित्या एव मनःसंयोगानपेक्षत्वात्।

दुःखद्वेषास्तस्य तावन्न सन्त्येव, भावनाख्येन संस्कारेणापि न प्रयोजनम्। सर्वदा सर्वार्थदर्शित्वेन स्मृत्यभावात्। अत एव न तस्यानुमानिकं ज्ञानमिष्यते। धर्मस्तु भूतानुग्रहवतो वस्तुस्वाभाव्याद्भवन्न वार्यते। तस्य च फलं परमार्थनिष्पत्तिरेव। सुखं त्वस्य नित्यमेव नित्यानन्दत्वेनागमात्प्रतीतेः। असुखितस्य चैवंविधकार्यारम्भयोग्यताभावात्।

ननु ज्ञानानन्दवदिच्छापि नित्या चेदीश्वरस्य तर्हि सर्वदा तदिच्छासम्भवात्सर्वदा जगदुत्पत्तिरिति जगदानन्त्यप्रसङ्गः। सर्गेच्छानित्यत्वाच्च संहारो न प्राप्नोति, संहारेच्छाया

सिद्ध होगी। पुनः सृष्टिकाल में उसकी उत्पत्ति के कारण का अभाव होने के कारण से भी उनके ज्ञान में नित्यता होती है। इसके फलस्वरूप ईश्वर का ज्ञान अतीत, अनागत, सूक्ष्म व्यवहित और समग्र वस्तु विषयक होने पर भी विभिन्न नहीं होता है। क्योंकि क्रम और यौगपद्य का विकल्प उपस्थित करने पर उसके अन्दर एक भी बन नहीं पाता है। क्रम का आश्रयण करने पर कहीं अज्ञातृता हो जायेगी इसलिए व्यवहार नहीं बन पायेगा। यौगपद्येन ज्ञातृता मानने पर ज्ञान का भेद कहाँ से आयेगा? प्रत्यक्ष के साधर्म्य प्रयुक्त वह ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है किन्तु इश्वर का ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न नहीं होता है। उसके प्रति जनक नहीं होने वाले ही अर्थों का ग्रहण सूर्यप्रकाश के समान होता है। ज्ञान के समान इच्छा आदि अन्य गुण भी जो ईश्वर के हैं, वे नित्य ही हैं। क्योंकि मनः संयोग की अपेक्षा नहीं होती है। दुःख और द्वेष परमेश्वर को हैं ही नहीं। उन्हें भावनात्मक संस्कार का भी कोई प्रयोजन नहीं पड़ता। क्योंकि सदा ही सब वस्तुओं को देखने के कारण उन्हें स्मरण होता ही नहीं। इसलिये उनमें आनुमानिक ज्ञान भी नहीं माना जाता है। भूतानुग्रहवान् ईश्वर में वस्तु का स्वभाव मान्य होने के वारण धर्म किन्तु होता है। उसका फल परम अर्थ की निष्पत्ति है। सुख उनका नित्य ही है। क्योंकि आगम प्रमाण से वे नित्य आनन्दवान् रूप में प्रतीत होते हैं। जो सुखी नहीं रहेगा, वह इस प्रकार का कार्य नहीं कर सकता है। ऐसे कार्य को करने की स्वरूपयोग्यता उसमें सम्भव नहीं है।

इस पर यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि ज्ञान और आनन्द के समान यदि ईश्वर में इच्छा नित्य मानी जायेगी तब सदा नई नई सृष्टि की इच्छा होने के कारण जगत् की सदा उत्पत्ति आपन्न होगी। इसका कुफल यह होगा कि जगत् में आनन्त्य का प्रसङ्ग होगा। सर्ग की इच्छा सदा होने के कारण संहार नहीं हो पायेगा। संहार की इच्छा नित्य होने पर दिन

अपि नित्यत्वाभ्युपगमेन नक्तंदिनं प्रलयप्रबन्धो न विरमेदेव जगतामिति। नैष दोषः, अनात्ममनः संयोगजत्वादिच्छा स्वरूपमात्रेण नित्यापि कदाचित्सर्गेण, कदाचित्संहारेण वा विषयेणानुरज्यते सर्गसंहारयोरन्तराले तु जगतः स्थित्यवस्थायामस्मात्कर्मण इदमस्य सम्पद्यतामितीच्छा भवति प्रजापतेः। प्रयत्नस्तस्य सङ्कल्पविशेषात्मक एव। तथा चागमः 'सत्यकामः सत्यसङ्कल्प' इति। काम इतीच्छा उच्यते सङ्कल्प इति प्रयत्नः। तदेवं नवभ्य आत्मगुणेभ्यः पञ्च ज्ञानसुखेच्छाप्रयत्नधर्माः सन्तीश्वरे, चत्वारस्तु दुःखद्वेषाधर्मसंस्कारा न सन्तीत्यात्मविशेष एवेश्वरो न द्रव्यान्तरम्। आह च पतञ्जलिः 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' इति। सोऽयमागमा दनुमानात्पक्षधर्मतातो वा विशेषलाभ इति स्थितम्।

[ईश्वरस्याशरीरत्वम्]

यत्पुनर्विकल्पितं सशरीर ईश्वरः सृजति जगद् अशरीरो वेति तत्राशरीरस्यैव स्त्रष्टृत्वमस्याभ्युपगच्छामः।

ननु क्रियावेशनिबन्धनं कर्तृत्वं न पारिभाषिकं तदशरीरस्य क्रियाविरहात्कथं भवेत्।

रात प्रलय प्रबन्ध जगत का कभी विरत नहीं हो पायेगा। तो यह दोष नहीं दिया जा सकता। क्योंकि इच्छा आत्ममनः संयोगजन्य नहीं होने के कारण् स्वरूप मात्र से नित्य होने पर भी कभी वह इच्छा सृष्टि और कभी संहार से अनुरक्त होगी अर्थात् उसे विषय बना लेगी। सृष्टि और संहार के बीच जगत् की स्थित्यात्मक अवस्था में वह ईश्वर की इच्छा सङ्गत होगी। इसलिए इस कर्म से इसका यह सम्पन्न हो ऐसी इच्छा प्रजापति को होती है। उनका प्रयत्न सङ्कल्प विशेषात्मक ही होता है। जैसा कि आगम प्रमाण प्राप्त है कि– 'परमेश्वर सत्यकाम और सत्य सङ्कल्प हैं'। काम पद से इच्छा कही गयी है। और सङ्कल्प पद से उनका प्रयत्न। इसलिये नौ आत्मगुणों से ज्ञान, सुख, इच्छा, प्रयत्न और धर्म ये पाँच परमेश्वर में हैं। ईश्वर भी आत्मा का ही एक प्रभेद है द्रव्यान्तर नहीं। कहा भी है पतञ्जलि ने कि – क्लेश कर्म, विपाक और आशय से अपरामृष्ट अर्थात् रहित आत्मप्रभेद ही है ईश्वर, इसलिये आगम से अनुमान से और पक्षधर्मता अर्थात् इतरवाध से परमेश्वर में स्थित विशेषताओं का लाभ होता है– यह स्थिर हुआ।

ईश्वर की अशरीरता

फिर यह जो विकल्प उठाया गया था कि ईश्वर जगत् की सृष्टि शरीरी होकर करता है या शरीर के बिना ही? तो उसके अन्दर हम लोग शरीर रहित ही ईश्वर को जगत् का स्त्रष्टा मानते हैं। इस पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि कर्तृत्व तो चेष्टात्मक क्रिया के सम्पर्क से सम्भव है। वह पारिभाषिक तो नहीं कहा जा सकता। तब अशरीर होने के कारण उसमें क्रिया के अभाव से कैसे कर्तृत्व हो सकता है? कहाँ किसे शरीर न रहते हुए भी इस प्रकार कर्तृत्व होता पाया जाता है? तो इसका उत्तर कहा जा रहा है – कर्तृत्व ज्ञान

कस्य च कुत्राशरीरस्य कर्तृत्वं दृष्टमिति। उच्यते, ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नयोगित्वं कर्तृत्वमाचक्षते तच्चेश्वरे विद्यते एवेत्युक्तमेतत्। स्वशरीरप्रेरणे च दृष्टमशरीरस्याप्यात्मनः कर्तृत्वम्। इच्छामात्रेण च तस्य कर्तृत्वादनेकव्यापारनिर्वर्त्तनोपात्तदुर्वहक्लेशकालुष्यविकल्पोऽपि प्रत्युक्तः।

नन्वत्रोक्तम्–

कुलालवच्च नैतस्य व्यापारो यदि कल्प्यते।
अचेतनः कथं भावस्तदिच्छामनुवर्त्तते।। इति।

अस्माभिरप्युक्तमेव–

यथा ह्यचेतनः काय आत्मेच्छामनुवर्त्तते।
तदिच्छामनुवर्त्स्यन्ते तथैव परमाणवः।।

यस्तु प्रयोजनविकल्पः किमर्थं सृजति जगन्ति भगवानिति। सोऽपि न पेशलः, स्वभाव एवैष भगवतो यत्कदाचित्सृजति कदाचिच्च संहरति विश्वमिति। कथं पुनर्नियतकाल एषोऽस्य स्वभाव इति चेद् आदित्यं पश्यतु देवानां प्रियः, यो नियतकालमुदेत्यस्तमेति च प्राणिकर्मसापेक्षमेतद्विवस्वतो रूपमिति चेद् ईश्वरेऽपि तुल्यः समाधिः।

क्रीडार्थेऽपि जगत्सर्गे न हीयेत क्रियार्थता।
प्रवर्त्तमाना दृश्यन्ते न हि क्रीडासु दुःखिताः।।

इच्छा और प्रयत्न से युक्त होना ही है। सो ईश्वर में है ही– यह कहा जा चुका है। अपने शरीर की प्रेरणा में शरीर रहित आत्मा का भी कर्तृत्व देखा ही जा रहा है। परमेश्वर का कर्तृत्व यतः इच्छा मात्र प्रयुक्त होता है। अतः अनेक प्रकार के व्यापर करने से होने वाले क्लेश एवं कालुष्य का विकल्प भी प्रत्युक्त हो गया। इस पर यह प्रश्न फिर उठाया जा सकता है कि यदि कुलाल आदि की तरह परमेश्वर में चेष्टा नहीं मानी जाय तो अचेतन वस्तुएँ उनकी इच्छा का अनुवर्त्तन कैसे कर सकेंगे? तो इसका उत्तर हम लोगों ने भी यह दिया ही है कि जिस प्रकार अचेतन पदार्थ शरीर जीवात्मा की इच्छा का अनुवर्त्तन करते हैं, उसी प्रकार परमाणु ईश्वर की इच्छा का अनुवर्तन करेंगे।

प्रयोजन के सम्बन्ध में जो यह विकल्प उपस्थित किया गया कि भगवान् जगत् की सृष्टि क्यों करते हैं? वह भी पेशल अर्थात् सुन्दर नहीं है। क्योंकि भगवान् का यह स्वभाव ही है कि कभी वे जगत् की सृष्टि करते हैं और कभी उसका संहार। उनका यह स्वभाव काल नियम के साथ क्यों है– यह पूछने पर उत्तर यही है कि ऐसा पूछने वाला मूर्ख उस सूर्य को ही देखे कि क्यों वे कालनियम के साथ ही उठते हैं और उसी प्रकार अस्त भी होते हैं। यदि यह कहा जाय कि सूर्य का यह स्वभाव प्राणियों के कर्मों की अपेक्षा करके है तो ईश्वर के सम्बन्ध में उक्त प्रश्न का उत्तर तुल्य है। ईश्वर के द्वारा की जाने वाली सृष्टि को क्रीडार्थ मानने पर भी सप्रयोजनता खण्डित नहीं होती है। क्योंकि क्रीड़ा में लगा व्यक्ति उस समय दुःखी नहीं पाया जाता है।

अथवा अनुकम्पयैव सर्गसंहारावारभतामीश्वरः।

नन्वत्र चोदितम् अनुपपन्नं तु अनादित्वात्संसारस्य शुभाशुभसंस्कारानुविद्धा एवात्मानस्ते च धर्माधर्मनिगडसंवृतत्वादपवर्गपुरद्वारप्रवेशमलभमानाः कथं नानुकम्प्याः। अनुपभुक्तफलानां कर्मणां न प्रक्षयः सर्गमन्तरेण, तत्फलभोगाय च नरकादिसृष्टिमारभते दयालुरेव भगवान्। उपभोगप्रबन्धेन परिश्रान्तानामन्तरान्तरा विश्रान्तये जन्तूनां भुवनोपसंहारमपि करोतीति सर्वमेतत्कृपानिबन्धनमेव।

ननु च युगपदेव सकलजगत्प्रलयकरणमनुपपन्नम्। अविनाशिनां कर्मणां फलोपभोगप्रतिबन्धासम्भवादिति चोदितम्। न युक्तमेतत्, ईश्वरेच्छाप्रतिबद्धानां कर्मणां स्तिमितशक्तीनामवस्थानात्। तदिच्छाप्रेरितानि कर्माणि फलमादधति तदिच्छाप्रतिबद्धानि च तत्रोदासते। कस्मादेवमिति चेत्, अचेतनानां चेतनानधिष्ठितानां स्वकार्यकरणानुपलब्धेः।

ननु तेषामेव कर्मणां कर्त्तार आत्मानश्चेतना अधिष्ठातारो भविष्यन्ति, यथाह भट्टः 'कर्मभिः सर्वजीवानां तत्सिद्धैः सिद्धसाधनम्' इति। नैतवदेवम्, नैते अधिष्ठातारो भवितुमर्हन्ति, बहुत्वाद्विरुद्धाभिप्रायत्वाच्च। तथा ह्येक एव कश्चित्स्थावरादिविशेषो

अथवा अनुकम्पा कर के ही ईश्वर जगत् की सृष्टि करता है– यही माना जाय। इस पर यह कहा जा सकता है कि इसके सम्बन्ध में तो कहा जा चुका है। हाँ, किन्तु वह उपपन्न नहीं हुआ, संसार के अनादि होने के कारण सभी आत्मा शुभ और अशुभ संस्कारें से सर्वथा अनुबिद्ध ही रहते हैं। वे धर्म और अधर्म की बेड़ी में सदा बँधे ही रहने के कारण मोक्षनगर के द्वार में प्रवेश न पाते हुए क्यों नहीं अनुकम्पा के पात्र बनेंगे? जिनका फल जब तक उपयुक्त होता नहीं तब तक वे नहीं प्रक्षीण होते हैं। और वह उपभोग सृष्टि के बिना सम्भव नहीं है। दयालु ही भगवान् कर्म फलभोग के लिए नरक भी बनाते हैं।

अत्यधिक उपभोगों के कारण परिश्रान्त प्राणियों के विश्रामार्थ वे बीच बीच में प्रलय भी किया करते हैं। इसलिए उनका सारा कृत्य कृपा मूलक ही हुआ करता है। इस पर यह कहा जा सकता है कि एक ही साथ पूरे संसार का प्रलय करना अनुपपन्न है। क्योंकि अविनष्ट कर्मों के फलों का प्रतिबन्ध सम्भव होगा नहीं, यह बतलाया जा चुका है? तो उत्तर यह है कि हाँ कहा तो गया है किन्तु वह कथन युक्ति युक्त नहीं है। क्योंकि ईश्वर की इच्छा से प्रतिबन्ध प्राप्त कर्मो का अवस्थान स्तिमित शक्ति रूप में होगा। भगवान् की इच्छा से प्रेरित होकर ही कर्म फल देते हैं। और उनकी इच्छा से प्रतिबद्ध होकर फल देने से उदास हो जाते हैं अर्थात् फल नहीं देते। ऐसा क्यों? तो उत्तर यह ज्ञातव्य है कि चेतन से अधिष्ठित हुए बिना अचेतन अपने कार्यो को करने में समर्थ नहीं होते है। इस पर यह कहा जा सकता है कि उन कर्मों के कर्त्ता जीवात्मा ही उन कर्मों के अधिष्ठाता बन सकते हैं जैसा कि श्लोक वार्त्तिक में भट्टकुमारिल ने कहा है कि 'जीव से ही सिद्ध होने वाले कर्मों को लेकर ईश्वर साधक अनुमान में सिद्ध साधन दोष होगा'। तो उत्तर है कि ऐसा नहीं, क्योंकि ये जीव अधिष्ठाता बन नहीं सकते। क्योंकि ये बहुत हैं और सबके अभिप्राय परस्पर विरोधी होते हैं। इसे यों समझा जाय कि एक ही कोई – स्थावर आदि के अन्तर्गत

राजादिविशेषो वा प्राणिकोटीनामनेकविधसुखदुःखोपभोगस्य हेतुः। स तैर्बहुभिरव्यवस्थिताभिप्रायैः कथमारभ्येत, तेषामेकत्र संमानाभावात्, शठपरिषदोऽपि क्वचिदेव सकलधारणोपकारिणि कार्ये भवत्यैकमत्यम् न सर्वत्र। महाप्रासादाद्यारम्भे बहूनां तक्षादीनामेकस्थपत्याशयानुवर्त्तित्वं दृश्यते पिपीलिकानामपि मृत्कूटकरणे तुल्यः कश्चिदुपकारः प्रवर्त्तकः स्थपतिवदेकाशयानुवर्त्तित्वं वा कल्प्यम्। इह तु तत्स्थावरं शरीरं केषांचिदुपकारकारणमितरेषामपि भूयसामपकारकारणमिति कथं तैः संभूय सृज्यते, अनधिष्ठितानां त्वचेतनानामारम्भकत्वमयुक्तमेव। तस्मादवश्यमेकस्तेषां कर्मणामधिष्ठाता कल्पनीयः, यदिच्छामन्तरेण भवन्त्यपि कर्माणि न फलजन्मने प्रभवन्ति।

अत एवैक ईश्वर इष्यते न द्वौ बहवो वा भिन्नाभिप्रायतया लोकानुग्रहोपघातवैशसप्रसङ्गात्। इच्छाविसंवादसम्भवेन च ततः कस्यचित्संकल्पविघातद्वारकानैश्वर्यप्रसङ्गाद् इत्येक एवेश्वरः।तदिच्छया कर्माणि कार्येषु प्रवर्त्तन्ते इत्युपपन्नः सर्गः। तदिच्छाप्रतिबन्धात् स्तिमितशक्तीनि कर्माण्युदासते इत्युपपन्नः

या एक ही कोई राजा करोड़ों प्राणियों के अनेक प्रकार के सुखों और दुःखों के उपभोग का हेतु होगा, सो अव्यवस्थित अभिप्राय वाले बहुत जीवों के द्वारा एवं उनके कर्मों को लेकर कैसे आरम्भ करेगा? क्योंकि सभी तो एकत्र कभी उपस्थित नहीं होंगे एवं उनके कर्म भी सभी एक ही समय एक ही स्थान पर उपस्थित नहीं हो पायेंगे। दुर्जनों की परिषद् में भी सभी के उपकारी कार्य में कहीं स्थान विशेष में ही ऐकमत्य होता है सर्वत्र नहीं। महान् प्रासाद के निर्माण में भिन्न-भिन्न अनेक कारीगरों का एक प्रधान स्थपति के आशय का अनुगामी होना, देखा जाता है और कोई समानरूप से प्राप्त होने वाला उपकार मिट्टी को इकट्ठा करने में चीटियों का भी प्रवर्त्तक होता पाया जाता है। इसलिए वहाँ एक आशय की अनुगामिता की कल्पना की जा सकती है। किन्तु यहाँ तो वह स्थावर शरीर कुछ के उपकार का कारण होता है तो अन्य बहुतों के अपकार का कारण होता है। इसलिए विभिन्न शरीरियों के द्वारा मिलकर समग्र जगत् की सृष्टि कैसे मानी जा सकती? किसी चेतन से अनधिष्ठित अचेतनो में आरम्भ मानना तो युक्तियुक्त नहीं है। इसलिए अवश्य ही विभिन्न कर्मों का एक अधिष्ठाता कल्पनीय है। जिसकी इच्छा के बिना कर्म होकर भी फलप्रद नहीं हो पाते। इसीलिए एक ही ईश्वर माना जाता है। दो या तीन आदि नहीं। क्योंकि अनेक ईश्वर मानने पर 'लोकानुग्रह का उपघातात्मक नाश उपस्थित हो उठेगा। इच्छाओं में विभिन्न विषयकता के कारण किसी के सङ्कल्प के विभाग को लेकर अनैश्वर्य का प्रसङ्ग होगा। इसलिए एक ही ईश्वर माना जाता है। उसी की इच्छा के अनुसार प्राणियों के कर्म अर्थात् पुण्य एवं अपुण्य कार्य करने में प्रवृत्त होते हैं। इससे सृष्टि उपपन्न होती है। प्राणियों के कर्म उस परमेश्वर की इच्छा के अनुसार अपने सामर्थ्य के प्रतिबन्ध प्रयुक्त फलजनन में उदस्त हो उठते हैं अर्थात् फलजननाभिमुख नहीं होते हैं। इसलिए

प्रलयः। एवं च यदुक्तं–

तस्मादद्यवदेवात्र सर्गप्रलयकल्पना।
समस्तक्षयजन्मभ्यां न सिद्ध्यत्यप्रमाणिका।।

इत्येतदपि न सांप्रतम्। तिष्ठतु वा सर्गप्रलयकालः। अद्यत्वेऽपि यथोक्तनयेन तदिच्छामन्तरेण प्राणिनां कर्मविपाकानुपपत्तेरवश्यमीश्वरोऽभ्युपगन्तव्यः इतरथा सर्वव्यवहारविप्रलोपः। तदुक्तम्–

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा।।इति।

नन्वेवं तर्हि ईश्वरेच्छैव भवतु कर्त्री संहर्त्री च किं कर्मभिः। मैवम् कर्मभिर्विना जगद्वैचित्र्यानुपपत्तेः। कर्मनैरपेक्ष्यपक्षेऽपि त्रयो दोषा दर्शिता एवेश्वरस्य निर्दयकर्मचोदनानर्थक्यमनिर्मोक्षप्रसङ्गश्चेति। तस्मात्कर्मणामेव नियोजने स्वातन्त्र्यमीश्वरस्य न तन्निरपेक्षम्। किं तादृशैश्वर्येण प्रयोजनमिति चेन्न, न प्रयोजनानुवर्त्ति प्रमाणं भवितुमर्हति। किं वा भगवतः कर्मापेक्षिणोऽपि न प्रभुत्वमित्यलं कुतर्कलवलिप्त मुखनास्तिकालापपरिमर्देन।

प्रलय हो पाता है। तब ऐसा जो कहा गया है कि 'इसलिए यह संसार सदा आज की तरह ही रहता है, सृष्टि और प्रलय की कल्पना इसलिए अप्रामाणिक है कि सब का क्षय और सब का जन्म बन नहीं पाता। सो भी उचित नहीं। अथवा सृष्टि और प्रलय के काल की बात रहे। अर्थात् उसकी बात छोड़ दी जाय। आज भी उक्त युक्तियों के अनुसार इस परमेश्वर की इच्छा के बिना प्राणियों के कर्मों का फल उपपन्न नहीं हो सकता है। अतः ईश्वर अवश्य स्वीकरणीय है। नहीं तो सारे व्यवहारों का विलोप हो उठेगा। इसीलिए महाभारत के वन पर्व में यह कहा गया है कि 'यह जनमने वाला प्राणी अज्ञ है अपने को सम्हालने में सुखी और दुःखी बनाने में समर्थ नहीं है। ईश्वर से प्रेरित होकर ही स्वर्ग या नरक को जाता है'।

तब प्रश्न यह उठता है कि ऐसा होने पर केवल ईश्वर की इच्छा ही सृष्टि और प्रलय की करने वाली मानी जाय। प्राणियों के कर्मों की अर्थात् धर्माधर्मात्मक अदृष्ट की क्या आवश्यकता? तो ऐसा नहीं है। क्योंकि कर्म को कारण माने बिना जगत् की विचित्रता नहीं बन पायेगी। कर्म की निरपेक्षता पक्ष में भी आपन्न होने वाले तीन दोष बतलाये ही जा चुके हैं। कर्म की अमान्यता पक्षमें ईश्वर में निर्दयता, कर्मविधान का आनर्थक्य और अनिर्मोक्ष प्रसङ्ग– ये तीन दोष प्राप्त होते हैं।

इसलिए ईश्वर का स्वातन्त्रय कर्मों के नियोजन में ही होता है। उनका स्वातन्त्र्य कर्मनिरपेक्ष नहीं है तो फिर ऐसे एश्वर्य से क्यालाभ? यह कहना ठीक नहीं। प्रमाण प्रयोजनानुवर्ती अर्थात् प्रयोजनानुसारी नहीं होता है। या कर्मापेक्षी होने पर भी क्या ईश्वर में प्रभुत्व नहीं होता है? क्योंकि कर्म भी तो उन्हीं के द्वारा विनियुक्त होने वाले माने गये हैं? इसलिए कुतर्कलेश के अभिमान से भरे मुखवाले नास्तिकों के आलाप के अधिक

तस्मात्कुतार्किकोद्गीतदूषणाभासवारणात्।
सिद्धस्त्रैलोक्यनिर्माणनिपुणः परमेश्वरः।।
ये त्वीश्वरं निरपवाददृढप्रमाण-
सिद्धस्वरूपमपि नाभ्युपयन्ति मूढाः।
पापाय तैः सह कथापि वितन्यमाना।
जायेत नूनमिति युक्तमतो विरन्तुम्।।
यस्येच्छयैव भुवनानि समुद्भवन्ति
तिष्ठन्ति यान्ति च पुनर्विलयं युगान्ते।
तस्मै समस्तफलभोगनिबन्धनाय
नित्यप्रबुद्धमुदिताय नमः शिवाय।।

[शब्दनित्यमीमांसकाभिमतनिरूपणम्]

ननु त्रैलोक्यनिर्माणनिपुणे परमश्वरे।
सिद्धेऽपि तत्प्रणीतत्वं न वेदस्यावकल्पते।।
पदे शब्दार्थसम्बन्धे वेदस्य रचनासु वा।
कर्तृत्वमस्याशङ्क्येत तच्च सर्वत्र दुर्वचम्।
वर्णराशिः क्रमव्यक्तः पदमित्यभिधीयते।।
वर्णानां चाविनाशित्वात्कथमीश्वरकार्यता।
सम्बन्धोऽपि न तत्कार्यः स हि शक्तिस्वभावकः।।

खण्डन से कोई विशेष लाभ नहीं है। इसलिए इसे इतना ही रहने दिया जाय। इसलिए कुतार्किको के द्वारा दिये गये दूषाणाभासों का वारण हो जाने के कारण त्रैलोक्य के निर्माण में निपुण परमेश्वर की सिद्धि हो गयी। जो मूढ़ जन बाधा रहित दृढ़तर प्रमाणों के द्वारा ईश्वर के स्वरूप का निर्णय हो जाने पर भी उस परमेश्वर को नहीं मानते हैं उनके साथ किया जाना आलाप भी निश्चित रूप से पापप्रद ही होता है, इसलिए विरत हो जाना अर्थात् चुप हो जाना ही उचित है। जिन्ही की इच्छा से असंख्य भुषन बनते हैं। स्थित होते हैं और युग के अन्त में प्रलय को प्राप्त करते हैं। उन सारे फलों को देने वाले तथा सदा प्रबुद्ध और प्रमुदित रहने वाले भगवान् शिव को नमस्कार है।

मीमांसकों के अभिमत शब्द नित्यत्व का निरूपण

अब यह प्रश्न उठाया जा रहा है कि त्रैलोक्य के निर्माण में निपुण परमेश्वर की सिद्धि होने पर भी वदों को उनके द्वारा रचित कैसे माना जा सकता? क्योंकि परमेश्वर को कर्ता पद का पद और अर्थ के बीच विद्यमान सम्बन्ध का या समग्र वेद का कर्तृत्व माना जायेगा? उनके अन्दर किसी का भी कर्तृत्व परमेश्वर में सम्भव नहीं है। यह इसलिए कि क्रम से व्यक्त होने वाला वर्णराशि ही कहलाता है पद। वर्ण जबकि अविनाशी अर्थात् नित्य है तब वे ईश्वर के कार्य अर्थात् उनके द्वारा रचित कैसे हो सकते? शक्त्यात्मक उसका

शब्दे वाचकशक्तिश्च नित्यैवाग्नाविवोष्णता।
रचना अपि वैदिक्यो नैताः पुरुषनिर्मिताः।।
कविप्रणीतकाव्यादिरचनाभ्यो विलक्षणाः।
एवं च वेदे स्वातन्त्र्यमीश्वरस्य न कुत्रचित्।।
कामं तु पर्वतानेव विदधातु भिनत्तु वा।
स्वतः प्रामाण्यसिद्धौ तु वेदे वक्त्रनपेक्षताम्।।
वदामो न तु सर्वत्र पुरुषद्वेषिणो वयम्।
अनपेक्षत्वमेवातो वेदप्रामाण्यकारणम्।।
युक्तं वक्तापि वेदस्य कुर्वन्नपि करोतु किम्।
कथं पुनरमी वर्णाः श्रुतमात्रतिरोहिताः।।
नित्या भवन्तु कोऽयं वा शब्दस्वातन्त्र्यदोहदः।।

[शब्दनित्यत्वाक्षेपः]

उच्यते–

शब्दस्य न ह्यनित्यत्वे युक्तिः स्फुटति काचन।
प्रत्यक्षमर्थापत्तिश्च नित्यतां त्वधिगच्छतः।।

सम्बन्ध भी नित्य ही है, इसलिए वह भी ईश्वर का कार्य अर्थात् उनके द्वारा रचित नहीं ठहराया जा सकता। शब्द में रहने वाली वाचकत्व शक्ति अग्नि में विद्यमान दाहकत्व शक्ति के समान नित्य ही है। वर्णसंघटनात्मक वैदिकी रचना भी पौरुषेय नहीं मानी जा सकती अर्थात् पुरुष कर्तृक नहीं कही जा सकती। क्योंकि वह वैदिकी रचना कवि प्रणीत काव्य आदि को रचना से विलक्षण पायी जाती है। ईश्वर अपनी इच्छा के अनुसार पर्वत आदि का बनाये या तोड़ें परन्तु जबकि वेद में स्वतः प्रमाणता सिद्ध हो चुकी है तब वेद में किसी प्रथम वक्ता की अर्थात् कर्त्ता की अपेक्षा नहीं ठहरायी जा सकती। ऐसी परिस्थिति में परमेश्वर को वेद की रचना में स्वतन्त्र किसी भी प्रकार नहीं माना जा सकता। यही हम लोग कहते हैं। सब जगह हम लोग पुरुषविद्वेषी अर्थात् ईश्वर विद्वेषी नहीं हैं। इस प्रकार वेद में प्रमाण्य का करण अपेक्षा राहित्य ही है– यही मानना उचित है। वेद के वक्ता भी वेद प्रवचन के अतिरिक्त और क्या कर सकते? इस पर विपक्षी की ओर से यह कहा जा सकता है कि जो ये वर्ण सुनते ही तिरोहित अर्थात् अश्रूयमाण होते पाये जाते हैं वे भला कैसे नित्य हो सकते है? और इस प्रकार शब्द की स्वतन्त्रता के लिए इतनी प्रबल इच्छा क्यों? तो इसका उत्तर दिया जा रहा है–

शब्द की नित्यता पर आक्षेप

शब्द को जो लोग नित्य मानते हैं उन्हें शब्द को अनित्य मानने में कोई स्पष्ट युक्ति मिल नहीं रही है। और प्रत्यक्ष तथा अर्थापत्ति ये दोनों प्रमाण शब्द को नित्य बतला रहे हैं। जैसे कि 'शब्द अनित्य है' ऐसा मानने में हेतु ये बतलाये जाते हैं कि शब्द वक्ता के

तथाहि, अनित्यहेतव इमे किल कथ्यन्ते प्रयत्नानन्तरमुपलब्धेः कार्यः शब्द इति। कार्यत्वानित्यत्वयोः परस्पराविनाभावादेकतरसिद्धावन्यतरसिद्धिर्भवत्येवेति क्वचित्किञ्चित्साधनमुच्यते प्रयत्नप्रेरितकौष्ठ्यमारुतसंयोगविभागानन्तरमुपलभ्यमानः शब्दस्तत्कार्य ऐवेति गम्यते। उच्चारणादूर्ध्वमनुपलब्धेः अनित्यः शब्दः न ह्येनमुच्चरितं मुहूर्त्तमप्युपलभामहे तस्माद्विनष्ट इत्यवगच्छामः। करोतिशब्दव्यपदेशाच्च कार्यः शब्दं कुरु शब्दं मा कार्षीरिति व्यवहर्त्तारः प्रयुञ्जते। ते नूनमवगच्छन्ति कार्यः शब्द इति, नानादेशेषु च युगपदुपलम्भात्, तेषु तेषु देशेषु क्रियमाणानामुपपद्यतेऽनेकदेशसम्बन्ध इति। शब्दान्तरविकार्यत्वाच्च अनित्यः शब्दः दध्यत्रेति इकार एव यकारीभवति सादृश्यात् स्मृतश्चावगम्यते। विकार्यत्वाच्च द्राक्षेक्षुरसादिवदनित्यत्वमस्येति, कारणवृद्ध्या च वर्धमानत्वात्। बहुभिर्महाप्रयत्नैरुच्चार्यमाणे महान् गोशब्द उपलभ्यते अल्पैरल्पप्रयत्नैरुच्चार्यमाणोऽल्प

प्रयत्न के अनन्तर ही उपलब्ध होने वाला पाया जाता है। अतः शब्द कार्य है अर्थात् उत्पत्तिशील है, फलतः अनित्य है। कार्यत्व और अनित्यत्व के बीच परम्पर अविनाभाव अर्थात् समव्याप्ति सिद्ध रहने के कारण उन दोनों के अन्दर कहीं कोई साधन कहा जाता है। वक्ता के प्रयत्न के द्वारा प्रेरणा प्राप्त होने पर शब्द उदर गत वायु के संयोग और विभाग के अनन्तर ही उपलभ्यमान होता है। अतः उसका अर्थात् उक्त संयोग और विभाग का कार्य ही होता है– ऐसा निश्चय होता है। कुछ देर वाद अर्थात् उच्चारण के कुछ ही पीछे भी शब्द उपलब्ध नहीं होता है, अतः शब्द अनित्य है। उच्चारण के अनन्तर उसे एक मुहूर्त्त भी रहने वाला हम लोग पा नहीं रहे है। इससे पता चलता है कि वह विनष्ट हो जाता है और इसलिए भी शब्द को अनित्य मानना उचित प्रतीत होता है कि उसके सम्बन्ध में 'करने' का लौकिक वाचिक व्यवहर होता पाया जाता है। 'शब्द करो' अर्थात् आवाज दो, 'शब्द न करो' अर्थात् हल्ला मत करो इत्यादि वाक्य का प्रयोग विभिन्न वक्ता करते पाये ही जाते हैं। वे वक्ता गण अवश्य ही शब्द को कार्य अर्थात् अनित्य समझते हैं। और इसलिए भी शब्द को कार्य अर्थात् अनित्य मानना चाहिए कि विभिन्न स्थानों पर एक ही साथ शब्द सुनाई देता हैं। जब उन विभिन्न स्थानों में उन्हें उत्पन्न माना जाय तभी उन विभिन्न स्थानों पर उन शब्दों का उपलम्भ सम्भव हो पायेगा। इसके अतिरिक्त इसलिए शब्द को अनित्य मानना चाहिए कि एक शब्द के स्थान में अन्य शब्द का प्रयोगात्मक विकार उपलब्ध है। 'दधि अत्र' इसके स्थान पर संस्कृत व्याकरण के नियमानुसार 'दध्यत्र' इस प्रकार के वाक्य का प्रयोग किया जाता है। तब वहाँ पहले 'इ' का नाश और 'य' का उत्पाद मानना ही होगा। सदृशता के कारण प्रयोक्ता के द्वारा 'इ' से 'य' का स्मरण किया जाता पाया जाता है– यह अवगत हो रहा है। इस प्रकार शब्द विकारी सिद्ध होने के कारण द्राक्षा इक्षु आदि के रसों के समान अनित्य ही सिद्ध होता है। इसलिए भी शब्द अनित्य है कि कारण की वृद्धि स्थल में उसके कार्यशब्द में वृद्धि पायी जाती है। अधिक महाप्रयत्नशील व्यक्तियों के द्वारा उच्चारित होने पर गोशब्द उपलब्ध होता है और अल्प प्रयत्नशील अल्पव्यक्तियों के

इत्येतच्च तन्तुवृद्ध्या वर्धमानः पटः ज्ञातः,

[शब्दनित्यत्वसाधनार्थापत्तिप्रमाणोपन्यासः]

सिद्धे नित्यत्वे प्रयत्नानन्तरमुपलम्भादभिव्यक्तिः प्रयत्नकार्या शब्दस्य नोत्पत्तिरिति गम्यते। तदेवं व्यङ्ग्ये अपि प्रयत्नानन्तरमुपलम्भसम्भवादनैकान्तिकत्वम्। अभिव्यञ्जकानां च पवनसंयोगविभागानामचिरस्थायित्वान्न चिरमुच्चारणादूर्ध्वमुपलभ्यते शब्दः। प्रयोगाभिप्रायश्च करोतिशब्दव्यपदेशोऽस्य भविष्यति गोमयानि कुरु काष्ठानि कुर्वितिवत्। तस्मात्सोऽपि नैकान्तिकः, नानादेशेषु युगपदुपलम्भनमेकस्य स्थिरस्यापि शब्दस्य विवस्वत इव सेत्स्यति। विकार्यत्वं त्वसिद्धमेव शब्दान्तरत्वात्। दधिशब्द इकारान्तः संहिताव्यतिरिक्तविषयवृत्तिः यकारस्त्वयमन्य एवाचि परतः संहिताविषये प्रयुज्यमानः, न पुनरिकार एवायं यकारीभूतः क्षीरमिव दधिभूतमुपलभ्यते, न

द्वारा उच्चारित होने पर गोशब्द अल्प अर्थात् छोटा प्रतीत होता है– यह इससे ज्ञात होता है कि तन्तु की वृद्धि होने पर बड़ा पट उत्पन्न होता पाया जाता है।

शब्द के नित्यत्व साधन हेतु अर्थापत्ति प्रमाण का कथन

इस पर ज्ञातव्य यह कि प्रयत्न से शब्द की उत्पत्ति नहीं होती है किन्तु प्रयत्न से शब्द की अभिव्यक्ति होती है। यह बात इसलिए कही जा सकती है कि प्रमाणान्तर से शब्द नित्य स्थिर है। तो इस प्रकार व्यङ्ग्य होने वालों में अर्थात् प्रयत्न के अनन्तर अभिव्यक्त होने वालों में अनैकान्तिक अर्थात् व्यभिचारी होने के कारण प्रयत्नान्तर से होने वाली उपलब्धि स्वरूप हेतु शब्द में अनित्यता का साधक नहीं हो सकता। पवन संयोग एवं पवन विभाग आदि शब्द व्यञ्जक चिर स्थायी नहीं होते है वे अल्पकाल स्थायी होते हैं। इसलिए अधिक काल तक शब्द नहीं सुने जा पाते हैं। और उच्चारण के अनन्तर ही वे उपलब्ध होते हैं। शब्द के सम्बन्ध में किये जाने की बात तादृश वाक्य प्रयोग मात्रार्थ हो सकती है। उसे वस्तु स्थिति का ज्ञापक नहीं समझना चाहिए। जैसे कि 'गोहरी करो' 'जलावन बनाओ' इत्यादि। इसलिए वह भी अर्थात् 'शब्द करो' इत्यादि करने से सम्बन्धित वाक्य प्रयोगात्मक हेतु भी ऐकान्तिक अर्थात् अव्यभिचारी नहीं होता। नाना स्थानों पर एक ही समय उपलब्धि तो किसी एक स्थिर वस्तु की ही सम्भव है। अतः शब्द की भी उस प्रकार उपलब्धि हो सकती है। जैसे कि एक ही सूर्य की उपलब्धि एक ही साथ अनेक स्थानो पर होती पायी जाती है। विकार्यता हेतु तो असिद्ध ही है 'य' 'इ' से भिन्न शब्द है। इकारान्त 'दधि' शब्द सन्धि-मूलक वाक्य प्रयोग से अतिरिक्त स्थल में प्रयुक्त होता हुआ पाया जाता है। और यह 'य' तो अन्य ही होता है जो कि 'अच्' के परवर्त्ती होने से 'सन्धि' करने पर ही प्रयुक्त होता है। इकार ही यकार नहीं होता है जैसे क्षीर दही रूप में उपलब्ध होता है। यह सही नहीं है कि इ चु य और श– ये तालव्य अर्थात् एक ही तालुस्थान से उच्चारण के कारण स्थान की समानता मात्र प्रयुक्त 'य' को 'इ' का विकार कहा जाय। क्योंकि

हीचुयशास्तालव्या इति स्थान सादृश्यमात्रेण तद्विकारत्ववर्णनमुचितम्। अप्रकृतिविकारयोरपि नयनोत्पलपल्लवयोः सादृश्यदर्शनात्। इको यणचीति पाणिनिस्मृतेरपि नायमर्थः इकारो यकारीभवति क्षीरमिव दधीभवति। किं त्वस्मिन्विषयेऽयं वर्णः प्रयोक्तव्योऽस्मिन्नयमिति सूत्रार्थः। सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे च तच्छास्त्रं प्रवृत्तमिति। अपि च क्षीरं दधित्वमुपैति न तु दधि क्षीरताम्। इह तु यकारोऽपि क्वचिदिकारतामुपैति विध्यतीति संप्रसारणे सति। तस्मादसिद्ध एव वर्णानां प्रकृतिविकारभावः नापि कारणवृद्ध्या वर्धते शब्दः, बलवताप्युच्चार्यमाणानि बहुभिश्च तावन्त्येवाक्षराणि ध्वनय एव तथा तत्र प्रवृद्धा उपलभ्यन्ते न वर्णा इति।

तस्मादनित्यतासिद्धिर्नैवंप्रायैरसाधनैः।
शब्दस्य नित्यतायां तु सैषार्थापत्तिरुच्यते।।
शब्दस्योच्चारणं तावदर्थगत्यर्थमिष्यते।
न चोच्चारितनष्टोऽयमर्थं गमयितुं क्षमः।।
सर्वेषामविवादोऽत्र शब्दार्थव्यवहारिणाम्।
यदविज्ञातसम्बन्धः शब्दो नार्थस्य वाचकः।।

नयन और कमल में भी तो सदृशता देखी ही जाती है। 'इको यणचि' इस पाणिनिमुनि के सूत्र का अर्थ तो यह नहीं है कि 'इ' के स्थान पर 'य' का प्रयोग दूध से दही की तरह होता है किन्तु इस अर्थ में इस वर्ण का और इस अर्थ में इस वर्ण का प्रयोग करना चाहिए - यह सूत्रार्थ है। शब्द, अर्थ और उन दोनों के बीच का सम्बन्ध इन तीनों के सिद्ध हो जाने पर ही तो वह शास्त्र अर्थात् पाणिनि का 'इको यणचि' यह सूत्र प्रवृत्त हुआ?

और यह भी कि 'इ' 'य' होकर फिर 'इ' भी हो जाता है किन्तु दूध तो दही हो जाकर फिर दूध नहीं होता है? किन्तु शब्द के प्रयोग स्थल में तो स्थल विशेष में 'य' भी 'इ' हो जाता है। जैसे 'विध्यति' इस सम्प्रसारण के स्थल में। क्योंकि वहाँ 'व्यध' के अन्तर्गत 'य' के स्थान में 'इ' का प्रयोग होता पाया जाता है। इसलिए वर्णों के बीच वास्तविक प्रकृतिविकृतिभाव असिद्ध ही है।

और शब्द कारण की वृद्धि प्रयुक्त बढ़ता भी नहीं है। बहुत एवं अधिक बलवानों के द्वारा उच्चारित होने वाले भी शब्द बढ़ते नहीं है। क्योंकि अक्षर उतने ही रहते हैं। वहाँ ध्वनियाँ ही उस प्रकार बढ़ी उपलब्ध होती हैं अक्षर नहीं। इसलिए उक्त प्रकार साधनाभासों से शब्द की अनित्यता सिद्ध नहीं होती। शब्द की नित्यता में यह अर्थापत्ति प्रमाण मेरे द्वारा बतलायी जा रही हैं–

यह तो निश्चित ही है कि शब्द का उच्चारण अर्थ के ज्ञानार्थ ही किया जाता है। यदि शब्द उच्चारण के अनन्तर तुरन्त नष्ट हो जाय तो वह अर्थ को समझाने में समर्थ नहीं हो पायेगा। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में व्यवहार करने वाले सभी लोगों के बीच इस बात पर कोई विवाद नहीं है कि जिस शब्द का अर्थ के साथ होने वाला सम्बन्ध ज्ञात नहीं रहता

वेद्यमानः स सम्बन्धः स्थविरव्यवहारतः।
द्राघीयसा न कालेन विना शक्येत वेदितुम्।।

तथा हि गां शुक्लामानयेत्येकवृद्धप्रयुक्तशब्दश्रवणे सति चेष्टमानमितरं वृद्धमवलोकयन् बालस्तटस्थः तस्यार्थप्रतीतिं तावत्कल्पयति आत्मनि तत्पूर्विकायाश्चेष्टाया दृष्टत्वात्। प्रमाणान्तरसन्निधानादेतद्वृद्धप्रयुक्तशब्दसमनन्तरं च प्रवृत्तेः तत एव शब्दात् किमप्यनेन प्रतिपन्नमिति मन्यते। ततः क्षणान्तरे तमर्थं तेन वृद्धेनानीयमानमुपलभमान एव बुध्यते अयमर्थोऽमुतः शब्दादनेनावगत इति। स चार्थोऽनेकगुणक्रियाजाति व्यक्त्यादिरूपसंकुल उपलभ्यते। शब्दोऽप्यनेकपदकदम्बकात्मा श्रुतः तत्कतमस्य वाक्यांशस्य कतमोऽर्थांशो वाच्य इत्यावापोद्वापयोगेन बहुकृत्वः शृण्वन् गुणक्रियादिपरिहारेण गोत्वसामान्यमस्मन्मते, त्वन्मते वा तद्वन्मात्रं गोशब्दस्याभिधेयं निर्धारयतीति।

एवं दीर्घाध्वसापेक्षसंबन्धाधिगमावधि।
शब्दस्य जीवितं सिद्धमिति नाशुविनाशिता।।

है वह शब्द अर्थ को समझाता नहीं है। वृद्धव्यवहार से जाना जाने वाला वह सम्बन्ध बहुत काल पर समझा जा सकता है उसके बिना नहीं।

इसे यों समझा जा सकता है कि–'सफेद गाय ले आओ' इस प्रकार किसी एक वृद्ध व्यक्ति के द्वारा उच्चारित शब्द को सुनने पर तदनुसार चेष्टाशील दूसरे अपने से बड़े को देखकर तटस्थ बालक यह कल्पना करता है कि इस चेष्टाशील श्रोता व्यक्ति ने वक्ता के वाक्य को सुनकर कुछ समझा है। क्योंकि अपने में चेष्टा को ज्ञानपूर्वक होने वाली जानता रहता है। अन्य प्रमाण के सन्निधान प्रयुक्त एवं उस प्रथम वृद्ध के शब्द प्रयोग के अनन्तर दूसरे की प्रवृत्ति के कारण इस दूसरे ने प्रथम वृद्ध द्वारा उक्त शब्द से कुछ समझा है, ऐसा समझता है। तदनन्तर कुछ ही क्षणवाद उस दूसरे श्रोता वृद्ध के द्वारा किये जाने वाले गाय के आनयन को देखता हुआ वह बालक यह समझता है कि यह अर्थ अमुक शब्द से इस श्रोता व्यक्ति के द्वारा समझा गया है। वह आनीयमान गाय स्वरूप अर्थ अनेक गुण, क्रिया तथा जाति आदि से संकुल अर्थात् युक्त रूप में ही उपलब्ध होता है। शब्द भी अनेक पदों के समुदाय रूप में ही गृहीत होता है, सुना जाता है। अतः पूरे वाक्य के किस अंश का अर्थ पूरे वाक्यार्थ के अन्दर कौन अर्थांश है, इसे आवाप ओर उद्वाप के सम्बन्ध से अर्थात् त्याग और ग्रहण के साथ बारम्बार सुनते हुए गुण और क्रिया आदि का परिहार पूर्वक मेरे मत में गोत्व सामान्य को या तेरे मत में गोत्व युक्त गाय व्यक्ति को गोशब्द का अभिधेय अर्थात् वाच्य अर्थ स्थिर करता है। इस प्रकार लम्बे समय की अपेक्षा रखने वाले सम्बन्धाधिगम पर्यन्त शब्द का जीवन सिद्ध होता है। इसलिए उसमें आशुभाविता अर्थात् अतिअल्पकाल स्थायिता नहीं कही जा सकती है। अथवा मान लिया जाय अनित्य शब्द

भवतु वा नश्वरस्यापि शब्दस्य सम्बन्धग्रहणं तथापि तस्मिन् गृहीतसम्बन्धे शब्दे विनष्टे सति कथमनवगतसम्बन्धादभिनवादिदानीमन्यस्माच्छब्दादर्थप्रतिपत्तिः।

अन्यस्मिन् जातसम्बन्धे यद्यन्यो वाचको भवेत्।
वाचकाः सर्वशब्दाः स्युरेकस्मिन् जातसंगतौ।।

न च वक्ता व्यवहारमाणः तदैव शब्दं चोच्चारयति सम्बन्धं करोति चैतं च व्युत्पादयति परं च व्यवहारयतीति। न हि युगपदिमाः क्रियाः भवितुमर्हन्ति एवमदर्शनात्। अथादौ सम्बन्धग्रहणे वृत्ते तस्मिन्विनष्टेऽपि गोशब्दः स एवेति, न च भूयोऽवयवसामान्ययोगरूपसादृश्यं वर्णानामनवयवानामुपपद्यते अभिनवस्य शब्दस्य स्वयमर्थवत्ताऽनवधारणात्कथमयममुतः श्रोता प्रतिपद्येतेति शङ्कमानो वक्ता कथं प्रयोगं कुर्यात्। अथ सोऽप्यर्थवत्सदृशस्तमसौ प्रयुङ्क्ते तस्याप्यन्यसादृश्यादेवार्थवत्तेति, जगत्सर्गकालकृतस्य मूलभूतस्यार्थवतः शब्दस्य स्मरणं तन्मूलत्वाद् व्यवहारस्य, न चैवमस्ति। न च ततः प्रभृत्यद्य यावत्सादृश्यमनुवर्त्तते तत्सदृशसदृशकल्पनायां

का भी सम्बन्ध ग्रहण अर्थात् अर्थ के साथ होने वाले उसके सम्बन्ध का ज्ञान, फिर भी उस गृहीत सम्बन्ध युक्त शब्द के नष्ट हो जाने पर कैसे उस अन्य नवीन शब्द से, जिसका कि अपने अर्थ के साथ वाच्यवाचकभावात्मक सम्बन्ध का ज्ञान नहीं है, अभी अर्थ का बोध होगा? अर्थ के साथ किसी अन्य शब्द के सम्बन्ध युक्त हो जाने पर यदि उससे अन्य कोई शब्द अर्थ का वाचक हो पाये तो सारे शब्द किसी एक मात्र शब्द के सम्बन्ध युक्त होने पर वाचक हो उठेंगे। व्यवहार करता हुआ कोई भी वक्ता उसी शब्द का उच्चारण भी करता है, अर्थ के साथ शब्द का सम्बन्ध भी करता है और उसे समझाता भी है तथा दूसरे का व्यवहार भी कराता है। एक ही साथ ये सारी क्रियाएँ नहीं हो सकतीं। क्योंकि ऐसा देखा नहीं जाता है। पहले अर्थ के साथ सम्बन्ध का ज्ञान हो जाने पर उसका विनाश हो जाने पर भी गो शब्द वही रहता है।

बहुत अवयवों में समानता का सम्बन्धात्मक सादृश्य भी निरवयव वर्णों में उपपन्न हो सकता है। नये शब्द का अर्थ स्वयं अनवधारित होने के कारण श्रोता व्यक्ति कैसे उससे प्रवृत्त होगा? इस प्रकार शङ्काशील वक्ता वाक्य प्रयोग भी कैसे करेगा? यदि यह कहा जाय कि वह नवीन शब्द भी अर्थवान् पूर्ववर्ती शब्द के सदृश होता है, इसलिए वह वक्ता उसका प्रयोग करता है? तब तो उस पूर्ववर्ती शब्द की भी अर्थवत्ता अन्य पूर्ववर्ती शब्द के सादृश्य के कारण ही मान्य होगा। तब तो जगत् की सृष्टि के काल में किये गये मूलभूत अर्थवान् शब्द का स्मरण मानना होगा। क्योंकि व्यवहार तन्मूलक ही होगा। किन्तु ऐसी परिस्थिति तो नहीं है। उस सृष्टिकाल से लेकर आज तक सादृश्य की अनुवृत्ति होती है, एसी बात भी नहीं है। क्योंकि उसके सदृश फिर उसके सदृश इस प्रकार सदृश सदृशों की कल्पना करने पर मूलभूत सादृश्य का तो विनाश हो जायेगा। विशेषकर शब्दों के मूलभूत सादृश्य का और वक्ताओं के विभिन्न

मूलसादृश्यविनाशात्, विशेषतस्तु शब्दानाम्।

भिन्नैर्वक्तृमुखस्थानप्रयत्नकरणादिभिः।
न निर्वहति सादृश्यं शब्दानां दूरवर्त्तिनाम्।।
सादृश्यजनितत्वे च मिथ्यैवार्थगतिर्भवेत्।
धूमानुकारिनीहारजन्यज्वलनबुद्धिवत्।।

तस्मात्सादृश्यनिबन्धनार्थप्रतीत्यनुपपत्तेः गोशब्द एव स्थायीत्यभ्युपगमनीयम्।

ननु यथा धूमव्यक्तिभेदेऽपि धूमत्वमतिमवलम्ब्य सम्बन्धग्रहणादिव्यवहार निवहनिर्वहणमेवमिह गकारादिवर्णव्यक्तिभेदेऽपि सामान्यनिबन्धनस्तन्निर्वाहः करिष्यत इति।

मैवं तत्र हि धूमत्वसामान्यं विद्यते ध्रुवम्।
शब्दत्वं व्यभिचार्यत्र गोशब्दत्वं तु दुर्घटम्।।
भिन्नैरयुगपत्कालैरसंसृष्टैर्विनश्वरः।
वर्णैर्घटयितुं शक्यो गोशब्दावयवी कथम्।।
अनारब्धे च गोशब्दे गोशब्दत्वं क्व वर्त्तताम्।
पटत्वं नाम सामान्यं न हि तन्तुषु वर्त्तते।।

ननु मा भूद् गोशब्दत्वं सामान्यं भिन्नाकारगकारादिव्यक्तिवृत्तिभिरेव गत्वादिजातिभिः कार्यं पूर्वोक्तमुपपद्यते। एतदपि नास्ति। गत्वादिजातीनामनुपपत्तेः। भेदाभेदप्रत्ययप्रतिष्ठो

मुखस्थान और प्रयत्नात्मक विभिन्न करण आदि के द्वारा दूरवर्ती शब्दों में सादृश्य का निर्वाह सम्भव नहीं होगा। अर्थज्ञान को सादृश्यजनित मानने पर वह मिथ्या ही होगा। जैसे कि धूम का अनुकरण करने वाले नीहार को हेतु मानकर के किया जाने वाला अग्नि का अनुमान मिथ्या होता है। इसलिए सादृश्य मूलक अर्थ प्रतीति की अनुपपत्ति के कारण यही अच्छा होगा कि गो आदि शब्दों को ही स्थायी मान लिया जाय। इस पर प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि जिस प्रकार धूम आदि व्यक्तियों के भिन्न होने पर भी धूमत्व के ज्ञान को अवलम्बन कर के व्याप्ति ज्ञान आदि के व्यवहार समूह का निर्वाह किया जाता है उसी प्रकार यहाँ पर गकार आदि वर्णों के विभिन्न होने पर भी सामान्य मूलक अर्थात् 'गत्व' आदि जाति को लेकर उसका निर्वाह किया जा सकेगा।

तो ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि वहाँ धूमत्व सामान्य वास्तव में रहता है। किन्तु यहाँ गोशब्दात्मक अवयवी जो कि विनश्वर माना जा रहा है, विभिन्न कालों में होने वाले असम्बद्ध विभिन्न वर्णों के द्वारा कैसे संघटन योग्य किया जा पायेगा? और तब गोशब्द का ही आरम्भ न हो पाने पर गोशब्दत्व कहाँ भला रह पायेगा? पटत्व जाति क्या तन्तुओं में रहती है? इस पर यह कहा जा सकता है कि गोशब्दत्व सामान्य भले ही न हो पाये किन्तु विभिन्न आकार वाले गकार आदि व्यक्तिगत गत्व आदि जातिओं के द्वारा ही पूर्वोक्त कार्य उपपन्न हो सकता है। तो यह भी सम्भव नहीं है। क्योंकि गत्व आदि जाति

हि व्यक्तिजातिप्रविभागव्यवहारः। इह चायमभेदप्रत्ययो वर्णैक्यनिबन्धन एव न जातिकृतः। भेदप्रतिभासस्य व्यञ्जकभेदधीसुस्पष्टसिद्धत्वेन व्यञ्जकाद्युपाधिनिबन्धनत्वोपपत्तेः। परस्परविभक्तस्वरूपतया हि शाबलेयबाहुलेयपिण्डाः प्रत्यक्षमुपलभ्यन्ते। स्थिते च व्यक्तिभेदे सर्वत्र गौरिति तदभेदप्रत्ययस्यानन्यविषयत्वादिष्यते एव गोत्वजातिः। इह पुनः–

गकारव्यक्तयो भिन्नाः शाबलेयादिपिण्डवत्।
क्व नाम भवता दृष्टा येनासां जातिमिच्छसि।।
शिशौ पठति वृद्धे वा स्त्रीजने वा शुकेऽपि वा।
वक्तृभेदं प्रपद्यन्ते न वर्णव्यक्तिभिन्नताम्।।

तथा च गर्गः पठति माठरः पठतीत्युच्चारयितृभेद एव प्रतीयते, अमुं गविशेषमेष पठतीति नोच्चार्यमाणभेदः।

एककर्तृप्रयोगेऽपि तस्यैवोच्चारणं पुनः।
गङ्गागगनगर्गादौ गरूपान्तरदर्शनम्।।
द्रुतादिभेदबोधोऽपि नादभेदनिबन्धनः।
न व्यक्तिभेदजनितः शाबलेयादिभेदवत्।।

अभ्युपगतेऽपि गत्वसामान्ये तस्य द्रुतादिभेदप्रतिभासे सत्यपि न भिन्नत्वमेषितव्यम्।

अनुपपन्न है। व्यक्ति और जाति के विभाग का व्यवहार भेद और अभेद दोनों पर ही प्रतिष्ठित है। यहाँ तो अभेद का ज्ञान वर्ण की एकता मूलक ही होता है जातिमूलक नहीं। भेद का प्रतिभास तो व्यञ्जक की भिन्नता के ज्ञान प्रयुक्त ही सुस्पष्ट भाव से होने के कारण वह व्यञ्जक भूत उपाधि आदि के प्रयुक्त ही उपपन्न हो जा सकता है। शावलेय और बाहुलेय आदि गोपिण्ड परस्पर विभक्त रूप में ही प्रत्यक्ष भाव से उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार गो आदि व्यक्तियों में पारस्परिक भेद सिद्ध हो जाने पर सब में यह गाय है – यह एकाकार एकता विषयक ज्ञान अवश्य किसी अन्य को नहीं विषय करेगा। अतः गोत्व आदि जाति स्वीकृति होती ही है। फिर यहाँ किन्तु शाबलेय आदि गोपिण्ड के समान आप लोगों ने गकार आदि व्यक्तियों को कहाँ विभिन्न देखा? जिस के बल पर गत्व आदि जातियों को चाहते हो? बच्चे पढ़ें, बृद्ध पढ़ें, कोई स्त्री पढ़े या सुग्गा ही क्यों न पढ़े वक्ताओं में ही भिन्नता होती है, ग आदि वर्णों में कोई भेद नहीं होता। इसलिए 'गर्ग पढ़ रहा है' 'माठर' पढ़ रहा है इस प्रकार उच्चारण कर्त्ता में ही भिन्नता होती है उच्चार्यमाण वर्ण में नहीं। सभी उच्चारणकर्त्ता के द्वारा उच्चारित 'ग' एक ही होता है। जहां एक वक्ता ही बारम्बार 'ग' आदि का उच्चारण करता है, जैसे गङ्गा, गगन, और गर्ग आदि शब्दों के उच्चारण स्थल में, वहां भी एक ही 'ग' का रूपान्तर देखा जाता है। द्रुत और विलम्बित आदि भेद भी नादों की विभिन्नता के ही आधार पर होता है। शावलेय आदि के समान 'ग' व्यक्ति के भेद प्रयुक्त नहीं। गत्व जाति के स्वीकार करने पर भी तथा ग आदि के द्रुत, और विलम्बित आदि भेद मानने पर भी 'ग' आदि वर्णों को भिन्न नहीं माना जा सकता

औपाधिक एव तस्मिन् भेदप्रतिभासो वर्णनीयः। सोऽयं गकार इतिप्रत्ययात् व्यक्तावेकत्वं कथं न वर्ण्यते। तस्या एवैकत्वादेकप्रत्ययो भेदभ्रमस्तु व्यञ्जकाधीन इति। एवं हि कल्पना लघीयसी भवति। तस्मान्न नानागकारवृत्ति गत्वसामान्यं नाम किञ्चिदस्ति।

अपि च गोगुरुगेहादौ भिन्नाजुपश्लेषकारित एव व्यञ्जनेषु बुद्धिभेदः परोपाधिरवधार्यते। सोऽयमत्वाद्यपि परोपाधिरेव भवितुमर्हति। वर्णाश्रितत्वाद् व्यञ्जनभेदप्रत्ययवदिति। तस्माद् गत्ववदत्वसामान्यमपि नास्ति। यत्पुनरष्टादशभेदमवर्ण कुलमुच्यते तदौपाधिकमेव ह्रस्वदीर्घप्लुतसंवृतविवृतादिबुद्धीनां ध्वनिभेदानुविधायित्वात्।

विवृतः संवृतादन्यो न गकाराद्वकारवत्।
अपि त्वकार एवासौ प्रतिभाति यथा तथा।।

कथं तर्हि शब्दभेदाभावे भिन्ने अर्थप्रतिपत्ती अरण्यमारण्यमिति ध्वनिकृते एव ते भविष्यतः। अशब्दधर्मस्य दीर्घत्वादेः कथमर्थप्रतीत्यनङ्गमिति चेत् तुरगवेगवद्भविष्यति।

यथा तुरगदेहस्थो वेगः पुंसोऽर्थसिद्धये।
परधर्मोऽपि दीर्घादिरेवं तस्योपकारकः।।

है। वहाँ भेद का प्रतिभास औपाधिक ही कहना चाहिए। 'यह वही गकार है' इस प्रकार होने वाले एकता प्रत्यय के बल पर 'ग' में एकत्व ही क्यों न कहते हो? उस 'ग' आदि व्यक्ति की ही एकता प्रयुक्त 'यह वही' इस प्रकार एकता का प्रतिभास होता है। जहाँ भेद का भ्रम होता है वहाँ वह व्यञ्जक भेद के कारण ही होता है। इस प्रकार कल्पना में ही लाधव है। इसलिए विभिन्न 'ग' में रहने वाला कोई गत्व सामान्य है नहीं। और यह कि 'गो' 'गुरु' 'गेह' आदि में विभिन्न अच् अर्थात् ओ, उ, ए, आदि के सम्बन्ध प्रयुक्त जो भेद अवधारित होता है। वह वहाँ अत्व उत्व ओत्व एत्व आदि भी अन्य उपाधि मूलक ही हो सकता है, क्योंकि वे अत्व आदि भी वर्ण में ही आश्रित होते हैं। व्यञ्जन वर्णगत भेद प्रत्यय के समान। इसलिए गत्व के समान 'अत्व' आदि भी सामान्य नहीं है। अवर्ण के कुल को जो अठारह प्रभेद वाला कहा गया है, वह भी औपाधिक ही है। क्योंकि ह्रस्व दीर्घ प्लुत संवृत विवृत आदि की बुद्धियाँ ध्वनिभेद का ही अनुगमन करती हैं।

गकार से वकार के समान विवृत संवृत से अन्य होता नहीं। किन्तु सम्वृत हो या विवृत अकार अकार ही होता है, भले ही वह जिस तिस प्रकार में भासे। इस पर यह पूछा जा सकता है कि तब अर्थात् शब्दगत भेद न मानने पर 'अरण्य' और 'आरण्य' शब्द के उच्चारण स्थलों में विभिन्न प्रकार की अर्थ प्रतीति क्यों होती है? तो इसका उत्तर यह है कि वे ध्वनि भेद कृत ही होती है। अशब्द के धर्मभूत दीर्घत्व आदि में प्रतीति की अङ्गता का अभाव कैसे? तो इसका उत्तर यह है कि घोड़े के वेग के समान होगा। अभिप्राय यह कि जिस प्रकार घोड़े के शरीर में होने वाला वेग चढ़े हुए व्यक्ति के प्रयोजन की सिद्धि करने में समर्थ होता है यद्यपि वह और का अर्थात् घोड़े का धर्म होता है, उसी प्रकार दीर्घ आदि

इतश्चैतदकारसामान्यमनुपपन्नम्, अत्वं हि न दीर्घप्लुतयोरनुगतं भवति, आत्वं न ह्रस्वदीर्घयोरिति। तस्मादेकत्वाद्वर्णानां नावान्तरजातयः सम्भवन्ति शब्दत्वं तु नियतार्थप्रतिपत्तौ व्यभिचारीतो नात्र धूमादिन्यायः।

तेनार्थप्रत्ययः शब्दादन्यथा नोपपद्यते।
न चेद् नित्यत्वमित्यस्मिन्नर्थापत्तेः प्रमाणता।।
अनुमानादन्यथात्वमर्थापत्तेर्न दृश्यते।
तेनानुमानमप्येतत्प्रयोक्तुं न न शक्यते।।

तदिदमुच्यते शब्दो धर्मी नित्य इति साध्यो धर्मः सम्बन्धग्रहणसापेक्षार्थप्रतिपादकत्वाद् धूमादिजातिवत्। तदिदमुक्तं 'नित्यत्वं तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वादिति'। एवं सम्बन्धग्रहणात्प्रभृत्यर्थप्रतिपत्तेरवस्थितस्य विनाशहेत्वभावादात्मादिवन्नित्यत्वम्। न ह्ययमवयवविनाशान्नश्यति शब्दो निरवयवत्वात्। तदेव कथमिति चेद् उच्यते—

स्वल्पेनापि प्रयत्नेन यदि वर्णः प्रयुज्यते।
यदि वा नानुभूयेत शकलो नानुभूयते।।

उपाधि भूत ध्वनि का धर्म होकर भी प्रतीति स्वरूप वर्ण के प्रयोजन की सिद्धि करेगा, इसका उपकारक होगा।

इसलिये भी अत्व आदि को सामान्य नहीं माना जा सकता, वह उपपन्न नहीं होता है कि अत्व दीर्घ और प्लुत में अनुगत होता नहीं और अत्व ह्रस्व तथा दीर्घ में अनुगत होता नहीं है। इसलिए वर्णों की एकता प्रयुक्त अवान्तर जातियाँ नहीं मान्य है। शब्दत्व तो नियत अर्थ की प्रतिपत्ति में व्यभिचारी पाया जाता है। इसलिए यहाँ धूम आदि का दृष्टान्त सङ्गत नहीं है। अन्यथा अर्थात् शब्द के नित्य माने बिना वाक्यार्थ की प्रतीति हो नहीं सकती है। इसलिए शब्द की नित्यता में अर्थापत्ति प्रमाण होता है। अर्थापत्ति को वस्तुतः अनुमान के अतिरिक्त नहीं देखा जा सकता। इसलिए अनुमान का भी प्रयोग यहाँ नहीं किया जा सकता, ऐसा नहीं। सारांश यह कि अनुमान से भी शब्द की नित्यता स्थिर की जा सकती है। तो मेरे द्वारा यहाँ यह अनुमान कहा जा रहा है कि—'शब्द धर्मी नित्य है' इसलिए नित्यत्व धर्म शब्द में साध्य है। इसे ही बतलाया गया है कि 'शब्द में नित्यता मान्य होगी क्योंकि दर्शन परार्थ होता है'। इस प्रकार सम्बन्ध के अर्थात् वाच्यवाचकभाव के ग्रहण काल से लेकर अर्थ प्रवृत्ति काल तक अवस्थित शब्द का नित्यत्व अनिवार्य होगा, क्योंकि कोई विनाशक नहीं होगा। अतः आत्मा आदि के समान शब्द नित्य है। यह अवयव के विनाश प्रयुक्त विनष्ट होने वाला नहीं माना जा सकता। क्योंकि शब्द निरवयव है। उसमें निरवयवता ही कैसे? तो इसका उत्तर कहा जा रहा है—अल्प प्रयत्न कर के शब्द का यदि उच्चारण किया जाय तो उसका अनुभव न हो पाये— यह बात हो सकती है, किन्तु उसका कोई खण्ड अर्थात् अवयव अनुभूत नहीं होता है।

सावयवे हि वस्तुनि द्विधावयवा दृश्यन्ते आरब्धकार्याश्चानारब्धकार्याश्चेति। इह पुनरारब्धकार्या अनारब्धकार्या व पटे तन्त्वादय इव वर्णे न केचिदवयवा उपलभ्यन्ते न चानुमीयन्ते लिङ्गाभावात्। नाप्याश्रयविनाशाद्विनाशः शब्दस्यात्मादिवदनाश्रितत्वात्। आकाशाश्रितत्वपक्षे वा तन्नित्यत्वात्। न चान्यः–

तस्मात्तिरोहितोऽप्यास्ते यदि शब्दः क्षणान्तरम्।
मृत्योर्दुःखादपक्रान्तः पुनः केनैष हन्यते।।

अतश्च नित्यः शब्दः संख्याभावाद् अष्टकृत्वो गोशब्दः प्रयुक्त इति वदन्ति न त्वष्टौ गोशब्दा इति, तेनैकत्वमवगम्यते। योऽक्रियाभ्यावृत्तिगणने विहितः कृत्वसुच्प्रत्ययः स क्रियावतामभेदे भवति तेनोच्चारणवृत्तिमात्रम्। तदुक्तम्–

क्रियावतामभेदे हि क्रियावृत्तिषु कृत्वसुच्।
तत्प्रयोगाद् ध्रुवं तस्य शब्दस्यावर्त्तते क्रियेति।।

संख्यावताम्।

संख्याभिधायिनः शब्दात्कृत्वसुच्प्रत्ययं विदुः।
तदनेन प्रकारेण प्रत्यभिज्ञानमुच्यते।।

वस्तु के सावयव होने पर दो प्रकार के अवयव देखे जाते हैं। या तो वे अनारब्धकार्य रहते हैं या आरब्धकार्य। इस परिस्थिति में पट आदि कार्यों के स्थल में भली भाँति देखा जा सकता है कि तन्तु आदि अवयव कभी अनारब्धकार्य रहते हैं और फिर आरब्धकार्य हो जाते हैं। वहाँ के समान शब्द के अवयव उपलब्ध हैं नहीं। वे अनुमान प्रमाण से भी नहीं समझे जा सकते हैं। क्योंकि अनुमापक लिङ्ग नहीं है। शब्द का नाश आश्रयनाश प्रयुक्त भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वह भी आत्मा आदि की तरह अनाश्रित है। यदि शब्द को आकाश में आश्रित माना भी जाय तब भी उसमें नित्यता ही होगी। अन्य अर्थात् अनित्यता नहीं। इसलिए शब्द यदि क्षणान्तर में तिरोहित रूप में भी रह जाता है तो मृत्यु दुःख को पार कर जाने के कारण वह फिर किस से मारा जायेगा?

इस लिए भी शब्द नित्य है कि उसमें संख्या का अभाव है। 'गो शब्द का प्रयोग आठ बार किया गया' ऐसा ही लोग कहते हैं। यह नहीं कहते हैं कि आठ गो शब्द प्रयुक्त हुए। इससे उसका एकत्व निर्णीत होता है। जो कृत्वसुच्, प्रत्यय क्रिया की बारम्बारता की गणना अर्थ में व्याकरण शास्त्र में विहित है सो क्रियावान् की अभिन्नता होने पर ही सम्भव है। इसलिए उच्चारण व्यापार मात्र ही कृत्वसुच् से समझा जाता है। जैसाकि कहा भी गया है कि 'क्रियावान् के अभिन्न होने पर क्रिया की वृत्ति अर्थ में अर्थात् परिगणनीय उसकी बारम्बारता के अर्थ में कृत्वसुच् प्रत्यय होता है। उस कृत्वसुच् का जहाँ प्रयोग होता है वहाँ निश्चय ही क्रिया आवृत्त होती है अर्थात् वहाँ क्रिया की बारम्बारता अवश्य समझी जाती है। संख्याभिधायी शब्द से होने वाले 'कृत्वसुच्' प्रत्यय को लोग इसी प्रकार जानते हैं। इसलिए शब्द की प्रत्यभिज्ञा होती है कि यह वही 'ग' है। वह सकल श्रोतृसाक्षिक

प्रमाणं शब्दनित्यत्वे सकलश्रोतृसाक्षिकम्।
तथा ह्यस्ति स एवायं गोशब्द इति वेदनम्।।
श्रौत्रं करणकालुष्यबाधसन्देहवर्जितम्।।

श्रोत्रेन्द्रियव्यापारान्वयव्यतिरेकानुविधानाच्छौत्रमिदं विज्ञानम्। न चैतज्जनकस्य कारणस्य किमपि दौर्बल्यमुपलभ्यते। न च किं स्विदिति कोटिद्वयसंस्पर्शितयेदं विज्ञानमुपजायते। न च नैतदेवमिति प्रत्ययान्तरमस्मिन् बाधकमुत्पश्यामः। इदानीन्तनास्तित्वप्रमेयाधिक्यग्रहणाच्चेदमनधिगतार्थग्राह्यपि भवितुमर्हति। भवन्मते च गृहीतग्राहित्वेऽपि प्रत्यभिज्ञायाः प्रामाण्यमिष्यते न हि तदप्रामाण्यं वक्तुं शक्यते, शाक्यैरिव भवद्भिः क्षणिकपदार्थानभ्युपगमात्।

न सादृश्यनिमित्तत्वं वक्तुं तस्याश्च युज्यते।
सामान्यविषयत्वं वा द्वयस्यापि निषेधनात्।।
कैश्चित्तिरोहिते भावादित्यप्रामाण्यमुच्यते।
तदसत्तत्प्रतीत्यैव तिरोधाननिषेधनात्।।
जीवति त्वन्मतेऽप्येष शब्दस्त्रिचतुरान् क्षणान्।
प्रत्यभिज्ञा च कालेन तावता तु न सिद्ध्यति।।
एकक्षणायुषि त्वस्मिन्प्रतीतिरतिदुर्लभा।

अर्थात् जिसके सम्बन्ध में सभी श्रोता साक्षी हैं, वह उक्त प्रकार प्रत्यभिज्ञा शब्द की नित्यता में प्रमाण है। ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती ही है कि 'यह वही गोशब्द है'। वह प्रत्यभिज्ञा श्रोत्र इन्द्रियजन्य होती है, जो कि करण दोष बाध और सन्देह सबसे रहित होता है।

श्रोत्र इन्द्रिय के व्यापार का अन्वय और व्यतिरेक उपलब्ध होने के कारण यह ज्ञान श्रौत्र अर्थात् कान से उत्पन्न होने वाला होता है। इस के उत्पादक करण में कोई दुर्बलता उपलब्ध नहीं होती है। और 'यह क्या है' इस प्रकार यह ज्ञान कोटिद्वय को स्पर्श करने वाला भी नहीं होता। तथा 'यह ऐसा नहीं है' इस प्रकार कोई इसका बाधक ज्ञान भी उपलब्ध नहीं होता है। इदानीन्तन अस्तित्वात्मक प्रमेय का अधिक रूप में ग्रहण होने के कारण यह ज्ञान अज्ञात वस्तु का ग्राहक भी हो सकता है। आप के मत में तो गृहीतग्राही प्रत्यभिज्ञा को भी प्रमा माना ही जाता है। इसलिए बौद्धों के समान क्षणभङ्ग नहीं मानने के कारण इस ज्ञान में अप्रामाण्य भी नहीं कहा जा सकता। उक्त प्रकार प्रत्यभिज्ञा को न तो सादृश्य निमित्तक कहा जा सकता और न सामान्य विषयक। क्योंकि दोनों का निषेध किया जा चुका है। कुछ लोगों के द्वारा तिरोहित विषयक होने के कारण प्रत्यभिज्ञा में अप्रामाण्य माना जाता है, किन्तु सो उचित नहीं। क्योंकि उस प्रतीति के द्वारा ही तिरोधान का निषेध हो जाता है। तुम्हारे मत में भी तो शब्द तीन चार क्षणतक जीता ही है परन्तु उतने ही काल को लेकर प्रत्यभिज्ञा सिद्ध हो सकती नहीं। शब्द को एक क्षण मात्र आयु

न खल्वजनकं किं चिद्वस्तु ज्ञानेन गृह्यते।। इति।

क्षणभङ्गभङ्गे वक्ष्यते, अपि च–

यथा निशीथे रोलम्बश्यामलाम्बुदडम्बरे।
प्रत्यभिज्ञायते किं चिदचिरद्युतिधामभिः।।
तथाविरतसंयोगविभागक्रमजन्मभिः।
प्रत्यभिज्ञायते शब्दः क्षणिकैरपि मारुतैः।।

[शब्दाभिव्यक्तावनुपपत्तिप्रदर्शनम्]

अत्राह, मारुतैरित्युपोद्घातेन साधु स्मारितम्। तिष्ठतु तावत्प्रत्यभिज्ञानं प्रथममेव शब्दस्य यन्नियतग्रहणं तदभिव्यक्तिपक्षे दुर्घटम्।

नित्यत्वाद्व्यापकत्वाच्च सर्वे सर्वत्र सर्वदा।
शब्दाः सन्तीति भेदेन ग्रहणे किं नियामकम्।।

ध्वनयो हि नाम संयोगविभागविशेषिता वायवः वायुवृत्तयो वा संयोगविभागास्ते हि शब्दस्य व्यञ्जका इष्यन्ते। तैश्च करणं वा संस्क्रियते कर्म वा द्वयं वा सर्वथा च प्रमादः।

करणे संस्कृते तावत्सर्वशब्दश्रुतिर्भवेत्।
गकारायैव संस्कार इत्येष नियमः कुतः।।

युक्त मानने पर तो उसके सम्बन्ध में प्रतीति भी दुर्लभ हो उठेगी। कोई भी अजनक वस्तु ज्ञान से गृहीत होती नहीं– यह बात क्षणभङ्ग के भङ्ग के अवसर पर बतलायी जायेगी। जिस प्रकार भ्रमर के समान काले मेघ के आडम्बर से युक्त रात में कोई भी वस्तु बिजली के प्रकाश में प्रत्यभिज्ञात होती है उसी प्रकार अविरत भाव से होने वाले संयोग और विभाग के क्रम से उत्पत्तिशील अल्पकालिक वायु से शब्द भी प्रत्यभिज्ञात होता है।

शब्द को अभिव्यक्त होने वाला मानने पर अनुपपत्ति

इस पर कहते हैं–'वायुके द्वारा' यह कहकर आपने अच्छा स्मरण दिलाया। रहे अभी प्रत्यभिज्ञा की बात तो शब्द को अभिव्यक्त होने वाला मानने पर पहले ही जो शब्द का नियत रूप से ग्रहण होता है, वह दुर्घट हो उठेगा।

नित्य और व्यापक माने जाने के कारण सभी शब्द सदा सर्वत्र रहेंगे। ऐसी परिस्थिति में विभिन्न रूप में जो शब्द का ग्रहण होता है वह कैसे हो पायेगा? उसका नियामक कौन होगा? ध्वनि तो संयोग-विभागयुक्त वायु है या उस वायु का व्यापार अर्थात् संयोग विभाग। वे ही शब्द के व्यञ्जक माने जा रहे हैं। उन संयोग और विभागों के द्वारा क्या करण संस्कार युक्त किया जाता है या कर्म? अथवा दोनों? कुछ भी कहने पर कहने वाले का प्रमाद ही सिद्ध होता है। यदि करण को संस्कृत माना जाय तो सभी शब्दों का श्रवण आपन्न हो उठेगा। गकार के लिए ही संस्कार हुआ यह नियम क्यों? और यह भी कि

अपि च–स्तिमितसमीरणापसरणमेव करणस्य संस्कारः। स चायं तद्देशव्यवस्थितसकलतद्विषयसाधारण एव।

यथा जवनिकापायप्राप्तप्रसरमीक्षणम्।
रङ्गभूमिषु तद्देशमशेषं वस्तु पश्यति।।
तथा प्रसरसंरोधिसमीरोत्सारणे सति।
श्रोत्रं तद्देशनिःशेषशब्दग्राहि भविष्यति।।

आकाशं च श्रोत्रमाचक्षते भवन्तः, तच्च विभु निरवयवं चेति क्व चिदेव तस्मिन्संस्कृते सति सर्वे च तदैव संस्कृतकरणाः प्राणिनः सम्पन्ना इति सर्व एव शृणुयुः। विषये तु संस्क्रियमाणे तस्यानवयवस्य व्यापिनश्च संस्कृतत्वात् सर्वत्र श्रवणमिति मद्रेष्वभिव्यक्तो गोशब्दः काश्मीरेष्वपि श्रूयेत। नहि तस्याधारद्वारकः संस्कारः आकाशवदनाश्रितत्वात्। आकाशाश्रितत्वपक्षेऽपि तदेकत्वाद्। नापि भागशः संस्क्रियते गोशब्दः, तस्य निरवयवत्वात्। उक्तं हि–

अल्पीयसा प्रयत्नेन शब्दमुच्चारितं मतिः।
यदि वा नैव गृह्णाति वर्णं वा सकलं स्फुटम्।। इति।

उभयसंस्कारपक्षे तु दोषद्वयस्याप्यनतिवृत्तिः सर्वेषां ग्रहणं सर्वत्र श्रवणमिति। न च समानदेशानां समानेन्द्रियग्राह्याणां च भावानां प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वमुपलब्धम्।

स्तिमित वायु का अपसारण ही होगा करण का संस्कार, सो यह तो वहाँ रहने वाले सभी शब्दों के लिए साधारण ही होगा। जिस प्रकार परदे के हटने पर वहाँ रङ्गभूमि में रहने वाली सभी वस्तुएं देखी जाती हैं उसी प्रकार श्रोत्र वहाँ विद्यमान सारे शब्दों का ग्राहक हो उठेगा। इसलिए सारे शब्द एक साथ ही गृहीत हो उठेंगे। आप लोग आकाश को ही श्रोत्र कहते हैं। वह व्यापक और निरवयव है। ऐसी परिस्थिति में कहीं भी उसके संस्कृत होने पर उसी समय सभी प्राणी संस्कृत कान वाले हो उठेंगे। इसलिये एक साथ ही सभी सुनने लगेंगे। यदि विषय को अर्थात् शब्द को संस्कृत माना जायेगा तो निरवयव और व्यापक होने के कारण वह पूर्ण रूप से संस्कृत हो जायेगा। इसलिए सब जगह शब्द का श्रवण आपन्न होगा। अर्थात् मद्रदेश में अभिव्यक्त होने वाला शब्द काश्मीर देश में भी सुना जाने लगेगा। यह भी नहीं कि उसका संस्कार आधार द्वारक होगा। क्योंकि शब्द व्यापक होने के कारण आकाश के समान अनाश्रित माना जा रहा है। आकाशाश्रित शब्द को मानने पर भी वह आपत्ति होगी, क्योंकि आकाश एक ही है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि शब्द भागशः अर्थात् भाग विशेष में ही संस्कृत होता है। क्योंकि वह तो निरवयव है। कहा ही गया है कि – थोड़े प्रयत्न से उच्चारित शब्द को या तो प्रत्यक्ष विषय नहीं बनायेगा अथवा स्फुट हो उठने वाले सारे शब्दों को वह विषय बनायेगा। करण और कर्म दोनों के संस्कार की मान्यता पक्ष में सब का सब जगह ग्रहण होगा, श्रवण होगा। एक ही स्थान में विद्यमान और एक ही इन्द्रिय के द्वारा गृहीत होने वाल भावों की 'प्रतिनियत व्यञ्जक'

गृहे दधिघटीं द्रष्टुमानीतो गृहमेधिना।
अपूपानपि तद्देशान् प्रकाशयति दीपकः।।

तस्मात्कृतत्वपक्षे एवं नियतदेशं शब्दस्य ग्रहणं परिकल्प्यते नाभिव्यक्तिपक्षे इति। अपि च, अभिव्यक्तिपक्षे तीव्रमन्दविभागोऽभिभवश्च शब्दस्य शब्दान्तरेण न प्राप्नोति। न हि शब्दस्तीव्रो मन्दो वा कश्चित् स्वतस्तस्य भेदाभावात्। संस्कारस्य च तदभिव्यक्तिहेतोर्न काचन तीव्रता, मन्दता यदनुसारेण विषये तथा बुद्धिःस्यात्। पवनधर्मो वा तीव्रादिर्भवन्कथं श्रोत्रेण गृह्येत, सावयवे हि वस्तुनि सकलविशेषग्रहणाग्रहणसंभावत्तदपेक्षया प्रतीतिभेदो भवेत्। इह तु निरवयवे शब्दे न तथोपपद्यत इति। तस्मात्कृतकपक्ष एव श्रेयानिति।

[शब्दाभिव्यक्तिपक्षानुपपत्तिपरिहरणम्]

अत्रोच्यते– करणसंस्कारपक्ष एव तावदस्तु। तच्च करणं किञ्चिदेव मरुद्भिरुपाहितसंस्कारं कं चिदेव शब्दं गृह्णाति।

तथा ताल्वादिसंयोगविभागाः के चिदेव नः।
कस्य चिद्ग्रहणे शक्तं श्रोत्रं कुर्वन्ति संस्कृतम्।।
यथा च तेषामुत्पत्तौ सामर्थ्यनियमस्तव।

रूप में व्यङ्ग्यता देखी नहीं जाती है। किसी भी गृहस्थ व्यक्ति के द्वारा दही के पात्र को देखने के लिए लाये गये दीप से वहाँ विद्यमान मालपूये आदि भी देखे ही जाते हैं। दीप दधिपात्र के साथ वहाँ अवस्थित अपूप आदि अन्य वस्तुओं का भी प्रकाशन करता ही है। इसलिए शब्द की अनित्यता पक्ष में ही शब्द का ग्रहण बन पाता है अभिव्यक्ति पक्ष में नहीं। और यह भी कि अभिव्यक्ति पक्ष में शब्द का तीव्र मन्द आदि विभाग और शब्दान्तर के द्वारा अभिभव भी नहीं प्राप्त हो पाता है। कोई भी शब्द स्वतः तीव्र एवं मन्द नहीं हो सकता है। क्योंकि अनेकधा श्रूयमाण एक वर्ण में भेद तो माना जायेगा नहीं। उसकी अभिव्यक्ति में हेतुभूत संस्कार में तो कोई तीव्रता मन्दता आदि कही जा नहीं सकेगी। जिसके अनुसार विषय भूत शब्द में तीव्रता आदि की बुद्धि होगी। तीव्रता आदि को पवन का धर्म मानने पर कान से उसका ग्रहण कैसे हो सकेगा? किसी भी सावयव वस्तु में सभी प्रकार की विशेषताओं का ग्रहण एवं अग्रहण सम्भव होता है और उसको अपेक्षा करके प्रतीति भेद हो सकता है। यहाँ निरवयव होने वाले शब्द में तो वैसा हो सकता नहीं। इसलिए शब्द का अनित्यत्वपक्ष ही श्रेयस्कर है।

शब्द के अभिव्यक्ति पक्ष में अनुपपत्ति का परिहार

इस पर कहा जा रहा है – करण संस्कार पक्ष ही मान्य रहे। वह करण ही किसी वायु के द्वारा संस्कार पाकर किसी शब्द को अपनाता है अर्थात् ग्रहण कराता है। उसी प्रकार हम लोगों के तालु आदि देशों के संयोग और विभाग संस्कृत करके श्रोत्र को किसी शब्द के

तथैवैषामभिव्यक्तौ सामर्थ्यनियमो मम।।

व्यञ्जकानां नियमो न दृष्ट इति चेत् क एवमाह सहस्राक्षः। तथा हि पृथिव्यामेव वर्त्तमानो गन्धः समानदेशो भवति, समानेन्द्रियग्राह्यश्च, घ्राणैकविषयत्वात्। तस्य च नियमतस्तद्व्यञ्जकव्यङ्ग्यता दृश्यत एव।

क्व चित्पावकसम्पर्कादर्कांशुस्पर्शतः क्व चित्।
क्व चित्सलिलसंसेकाद् गन्धोऽभिव्यज्यते भुवः।।

न च स्तिमितपवनापनोदनमात्रं करणस्य संस्कार इष्यते, यः सर्वसाधारणः स्यात्। किं त्वन्य एव नियतः प्रतिविषयं योग्यतालक्षणः।

यत्पुनरभ्यधायि नभसि श्रोत्रेऽभ्युपगम्यमाने सर्वप्राणिनामेकमेव श्रोत्रं भवेदिति। तदप्यसाधु धर्माधर्मयोर्नियामकत्वात्। आकाशस्यापि घटाकाशवदन्यावच्छेदोपपत्तेः। धर्माधर्मनिबन्धन एव बधिरेतरविभागः। अपि च भवतामेवैष दोषो येषामाकाशमेव श्रोत्रमित्यभ्युपगमनियमः। मीमांसकानां तु नावश्याकाशमेव श्रोत्रं कार्यार्थापत्तिकल्पितं तु किमपि करणमात्रं प्रतिपुरुषनियतं श्रोत्रमिति नातिप्रसङ्गः। तथा च भर्त्तृमित्रः पवनजनितसंस्कारपक्षो भवतु तथापि नातिप्रसङ्गः नियतदेशस्यैव तत्र संस्कारात्। न

ग्रहण में समर्थ बनाते हैं। जिस प्रकार उन शब्दों की उत्पत्ति में तेरे मत में सामर्थ्य का नियम मान्य है उसी प्रकारे मेरे मत में अभिव्यक्ति में सामर्थ्य का नियम मान्य है। इस पर यदि यह कहें कि व्यञ्जकों का नियमन नहीं देखा जाता है तो ऐसे कहने वाले कौन सहस्राक्ष हैं? इसे इस प्रकार समझा जाय कि – पृथिवी में ही सारी गन्ध रहती हैं इसलिए सभी गन्ध समान देश होती हैं एवं एकमात्र घ्राण से गृहीत होती है, समानेन्द्रिय ग्राह्य होती हैं। तदनुसार गन्ध में नियमतः एकव्यञ्जकव्यङ्ग्यता देखी ही जाती है। यह भी देखा जाता है कि एक ही पृथ्वी की गन्ध कहीं अग्नि के सम्पर्क से अभिव्यक्त होती है तो कहीं सूर्यकिरण के स्पर्श से। और वही फिर कहीं जल के सेचन से अभिव्यक्त होती है। स्तिमित वायु का अपनोदन मात्र ही करण का संस्कार इष्ट नहीं है, जो कि सर्व साधारण होगा। किन्तु प्रत्येक विषय के लिए नियत होने वाला और ही योग्यतात्मक व्यञ्जक विवक्षित है।

यह भी जो कहा गया है कि श्रोत्र को आकाश मानने पर सब का श्रोत्र एक हो जायेगा। सो भी नहीं, क्योंकि धर्म और अधर्म नियामक होंगे। अकाश का भी घटाकाश के समान किसी अन्य के द्वारा अवच्छेद अर्थात् परिसीमन उपपन्न हो सकता है। बधिर और अबधिर का विभाग धर्म और अधर्म मूलक होगा। और यह दोष तो आप नैयायिकों के मत में ही होगा, जो कि श्रोत्र को निश्चित रूप से आकाश ही मानते हैं। मीमांसकों के मत में तो आवश्यक रूप में आकाश ही श्रोत्र नहीं मान्य है। कार्यार्थापति द्वारा कल्पित होने वाला प्रत्येक व्यक्ति के लिए नियत करण मात्र ही होगा श्रोत्र। इसलिए कोई अतिप्रसङ्ग नहीं होगा। इसीलिए भर्तृभित्र का कहना है कि – पवन जनित संस्कार पक्ष ही रहे, फिर भी कोई अतिप्रसङ्ग नहीं होगा। क्योंकि नियत देश का ही संस्कार होगा। उसका संस्कार

चास्य भागशः संस्कारो निरवयवत्वात्। तथापि जातिवदस्य ग्रहणनियमो भविष्यति। तथा च भवतामेव पक्षे–

यथा सर्वगता जातिः पिण्डदेशैव गृह्यते।
न च कात्स्र्यगृहीतापि पिण्डेऽन्यत्र न दृश्यते।।
तथा सर्वगतः शब्दो नाददेशेषु गृह्यते।
कात्स्न्र्येन च गृहीतोऽपि पुनरन्यत्र गृह्यते।।
पिण्डोऽभिव्यञ्जको जातेः शब्दस्य व्यञ्जको ध्वनिः।
आश्रितानाश्रितत्वादिविशेषः क्वोपयुज्यते।।

सर्वगतत्वनिरवयवत्वाविशेषात् तीव्रमन्दत्वादयश्च ध्वनिधर्मा अपि भवन्तः शब्दवृत्तितयावभान्ति। यथा स्थूलत्वकृशत्वादयः पिण्डधर्मा अपि जातिवृत्तित्वेन क्वचिद् गृह्यन्ते। अगृहीतशाबलेयादिविशेषस्य कृशा गाव इत्यादिप्रतिभासदर्शनात्।

यद्वा न तीव्रमन्दादेर्वर्णधर्मतया ग्रहः।
बुद्धिरेव तथोदेति व्यञ्जकानुविधायिनी।।
तावन्त एव ते वर्णाः प्रचयापचयस्पृशः।
एवं चाभिभवोऽप्येषां स्वतो नास्ति परस्परम्।।
मरुद्भिरभिभूयन्ते मारुता एव दुर्बलाः।
तेजोभिरिव दीप्तांशोर्दिवा दीपप्रभादयः।।

भागशः नहीं होगा, क्योंकि वह निरवयव है। तथापि जाति के समान शब्द का ग्रहण नियम बन जायेगा। ऐसा होने पर आप लोगों के मत में ही–जिस प्रकार जाति व्यापक होने पर भी पिण्डदेश रूप में ही अर्थात् व्यक्ति में ही गृहीत होती है। पिण्ड में पूर्णरूप से गृहीत होने पर भी अन्यत्र देखी नहीं जाती हैं। उसी प्रकार शब्द सर्वगत होने पर भी नाद देश में ही पूर्णरूप से गृहीत होता है। और एक जगह गृहीत होकर फिर अन्य जगह भी गृहीत होता है। जाति का अभिव्यञ्जक पिण्ड होता है और शब्द का अभिव्यञ्जक ध्वनि। आश्रितत्व और अनाश्रितत्व आदि विशेष कहाँ उपयोग में आता है। जाति और शब्द दोनों में सर्वगतत्व और नित्यत्व समान हैं। तीव्रता मन्दता आदि ध्वनि के धर्म होने पर भी शब्दगत रूप में अवभासित होते हैं। जिस प्रकार स्थूलत्व कृशत्व आदि पिण्डगत होते हुए भी जाति गत रूप में कहीं गृहीत होते हैं। क्योंकि जो व्यक्ति शबलता आदि का ज्ञान गाय में करता नहीं, उसे भी 'ये गायें कृश हैं' 'ये गायें मोटी हैं' इत्यादि प्रतीतियाँ होती पायी जाती हैं।

अथवा ऐसा कहा जाय कि तीव्रता मन्दता आदि का ज्ञान वर्ण के धर्म रूप में होता नहीं। व्यञ्जक के अनुरूप वैसी बुद्धि ही उत्पन्न होती है। प्रचय और अपचय को प्राप्त करने वाले वे वर्ण उतने ही हैं। एसा होने पर वर्णों के बीच परस्पर अभिभव भी स्वतः नहीं होता। वायु से दुर्बल वायु ही अभिभूत होते हैं। जैसे दिन में सूर्य के प्रकाश से दीप प्रभा

द्वयसंस्कारपक्षोऽप्येवं समाहितो भवति उभयेषामपि दोषाणामुत्सारणात्। तस्मात्प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययप्रभावसिद्धनित्यत्वस्य शब्दस्याभिव्यक्तिरेव साधीयसी।

[कार्यशब्दपक्षापेक्षयाभिव्यङ्ग्यशब्दपक्षे लाघवप्रदर्शनम्]

इदं चालोच्यतामार्याः कार्याभिव्यङ्ग्यपक्षयोः।
शब्दस्य ग्रहणे गुर्वी लघ्वी वा कुत्र कल्पना।।

तथा हि भवन्तो वैशेषिकाः, सांख्याः, जैनाः, सौगताश्च कार्यशब्दवादिनः। चार्वाकास्तु वराकाः कस्यैवं विधासु गोष्ठीषु स्मृतिपथमुपयान्ति।

तत्रभवतां वैशेषिकाणां शब्दस्य श्रवणे तावदेषा तुल्यैव कल्पना। संयोगाद्विभागाद्वा शब्द उपजायते जातश्चासौ तिर्यगूर्ध्वमधश्च सर्वतोदिक्कानि कदम्बगोलकाकारेण सजातीयनिकटदेशानि शब्दान्तराण्यारभते। तान्यपि तथेत्येवं वीचीसन्तान वृत्त्यारम्भप्रबन्धप्राप्तोऽन्त्यः श्रोत्राकाशजन्मा शब्दस्तत्समवेतस्तेनैव गृह्यत इति। तदियं तावदतिघर्घरा कल्पना।

शब्दः शब्दान्तरं सूते इति तावदलौकिकम्।
कार्यकारणभावो हि न दृष्टस्तेषु बुद्धिवत्।।

आदि। इसी प्रकार दोनों का संस्कार पक्ष भी समाहित होता है। क्योंकि दोनों के दोषों का निराकरण हो जाता है। इसलिए प्रत्यभिज्ञा के बल पर सिद्ध होने वाला शब्द का नित्यत्व सिद्ध होने से शब्द की अभिव्यक्ति ही अच्छी लगती है अर्थात् वही मान्य है।

उत्पत्तिपक्ष से अभिव्यक्ति पक्ष में लाघव का प्रदर्शन

मान्य जन इस ओर भी ध्यान दें, यह भी सोचें कि शब्द के उत्पत्ति पक्ष और उस के अभिव्यक्ति पक्ष के बीच किस की मान्यता में शब्द ग्रहण में कल्पनालाघव या कल्पनागौरव होता है? तो इस प्रकार समझा जाय कि वैशेषिक, सांख्य, जैन, और बौद्ध– ये आप लोग शब्द को कार्य अर्थात् अनित्य मानने वाले हैं। चार्वाक बेचारे ऐसी गोष्ठियों में किसके स्मृतिपथ पर आ सकते हैं? उक्त दार्शनिकों के अन्दर आप वैशेषिकों को शब्द के श्रवण में यह तुल्य ही कल्पना होती है। संयोग अथवा विभाग से शब्द उत्पन्न होता है। और उत्पन्न होकर वह शब्द आठो ओर तथा उपर और नीचे सभी दिशाओं में कदम्ब गोलक के आकार में सजातीय एवं निकट स्थानवर्त्ती शब्दों को उत्पन्न करता है। और फिर वे शब्द भी उसी प्रकार दश दिशाओं में दश शब्दों को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार तरङ्ग सन्तान क्रम से उत्पन्न होने वाला श्रोत्राकाश में उत्पन्न होने वाला अन्तिम शब्द उस श्रोत्राकाश में ही समवाय सम्बन्ध से रहता हुआ उसी से गृहीत भी होता है। यह आप की कल्पना अर्थात् दलील अत्यन्त घर्घरा अर्थात् लचर है।

शब्द शब्दान्तर को उत्पन्न करता है यह बात अत्यन्त अलौकिक प्रतीत होती है। ज्ञानों के बीच होने वाले कार्यकारणभाव के समान शब्दों के बीच कार्यकारण नहीं देखा जाता

जन्यन्तेऽनन्तरे देशे शब्दैः स्वसदृशाश्च ते।
तिर्यगूर्ध्वमधश्चेति केयं वा श्रद्दधानता।।
शब्दान्तराणि कुर्वन्तः कथं च विरमन्ति ते।
न हि वेगक्षयस्तेषां मरुतामिव कल्प्यते।।
कुड्यादिव्यवधाने च शब्दस्यावरणं कथम्।
व्योम्नः सर्वगतत्वाद्धि कुड्यमध्ये व्यवस्थितिः।।

अथावरणात्मककुड्यादिद्रव्यसंयोगरहितमाकाशं शब्दजन्मनि समवायिकारणमिष्यते। तदत्र प्रमाणं विशेषे वक्तव्यम्।

तुल्यारम्भे च मन्देन तीव्रस्य जननं कथम्।
श्रूयते चान्तिकात्तीव्रः शब्दो मन्दस्तु दूरतः।।
वीचीसन्तानतुल्यत्वमपि शब्दे सुदुर्वचम्।
मूर्त्तिमत्त्वक्रियायोगवेगादिरहितात्मसु।।

यदप्युच्यते सजातीयजनकः शब्दः गुणात्वाद्रूपादिवदिति। तदिदमसिद्धमसिद्धेन साध्यं गुणत्वस्यासिद्धत्वात्।

न शब्दः पारतन्त्र्येण कदा चिदुपलभ्यते।
द्रव्यस्थ इव रूपादिरतोऽस्य गुणता कुतः।।

है। अव्यवहित उत्तर देश एवं काल में दशो दिशाओं में शब्दों के द्वारा स्वसजातीय शब्द उत्पन्न किये जाते हैं– इस बात पर कैसे श्रद्धा की जाय? कैसे विश्वास किया जाय? यदि शब्द शब्दान्तर को उत्पन्न करते हैं तो वे उससे विरत क्यों होते हैं? वायु में जिस प्रकार वेग क्षीण हो जाता है शब्द में तो उस प्रकार वेग की क्षीणता कही नहीं जा सकती? भित्ति आदि के द्वारा व्यवहित होने पर जो शब्द का आवरण होता पाया जाता है सो कैसे सङ्गत होगा? क्योंकि आकाश के सर्वगत होने कारण उस की स्थिति तो भित्ति आदि में भी होगी।

यदि यह कहा जाय कि आवरक भित्ति आदि द्रव्य के संयोग से रहित ही आकाश शब्द को उत्पन्न करता है, वैसा ही आकाश शब्द का समवायिकारण होता है– ऐसा मानते हैं। तो इस विशेषता के प्रति प्रमाण बतलाना होगा। और यह भी कि जब शब्द सजातीय का ही आरम्भक होगा तो तीव्र शब्द की उत्पत्ति कैसे होगी? वही शब्द निकट से तीव्र सुनाई देता है और वही दूर से मन्द सुना जाता है। शब्द में जो तरङ्ग धारा की तुल्यता बतलायी गई है, वह भी तर्क से नहीं सिद्ध हो पाती। क्योंकि शब्दों में न मूर्ति है न क्रिया है और न वेग आदि होते हैं। यह भी जो कहा जाता है कि रूप आदि के समान शब्द सजातीय का उत्पादक होता है सो भी असिद्ध है, असिद्ध से साध्य है क्योंकि गुणत्व ही अब तक सिद्ध हुआ नहीं। शब्द कभी भी द्रव्यगत रूप आदि के समान परतन्त्र रूप में गृहीत नहीं होता– फिर वह गुण कैसे माना जा सकता? और यह भी कि रूप आदि के

अपि च न शब्दान्तरारम्भकः शब्दो गुणत्वाद् रूपवत्, शब्दः शब्दं नारभते शब्दत्वाच्छ्रोत्रशब्दवत्। न संयोगविभागौ शब्दस्य जनकौ संयोगविभागत्वादन्य संयोगविभागवद् इत्यादयः प्रतिहेतवोऽप्यत्र सुलभा इति यत् किञ्चिदेतत्।

कापिलास्तु ब्रवते श्रोत्रवृत्तिः शब्ददेशं गच्छति, सा शब्देन विक्रियत इति। तत्र श्रोत्रस्य व्यामिश्रत्वान्निकटदेशेनैव शब्देन तद्वृत्तिर्विक्रियते न दूरदेशेनेत्यत्र को नियमः। नियमाभावाच्च कान्यकुब्जप्रयुक्तो गोशब्दो गौरमूर्तकेऽपि श्रूयेत। अमूर्त्ता च श्रोत्रवृत्तिः प्रसरन्ती न मूर्त्तैः कुड्यादिभिरभिहन्तुं शक्यते इति व्यवहितस्यापि शब्दस्य श्रवणं स्यात्।

वायौ शब्दानुकूले च न तस्य श्रवणं भवेत्।
गच्छन्त्याः प्रतिकूलो हि श्रोत्रवृत्तेः स मारुतः।।

दूरेऽपि शब्दस्य श्रवणं यददृष्टं प्रतिवातं च निकटेऽपि यदश्रवणं तदस्मिन् पक्षे विपरीतं स्यात्।

समान गुण होने के कारण शब्द शब्दान्तर को उत्पन्न करता है– यह नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि उसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि श्रोत्रस्थ शब्द के समान जब अन्य शब्द भी शब्द ही होता है तो उसके समान वह अन्य शब्द भी शब्द को नहीं उत्पन्न करता है। इसी प्रकार संयोग और विभाग शब्द को उत्पन्न नहीं करते क्योंकि सभी संयोग विभाग तो शब्द को उत्पन्न नहीं करते । फिर कोई संयोग या विभाग क्यों शब्द को उत्पन्न करेगा? इत्यादि विपरीत साधक अर्थात् अनित्यत्व साधक अनुमान भी सुलभ हैं। इसलिए नैयायिक और वैशेषिकों का कथन सारहीन है।

कापिलों अर्थात् साङ्ख्य दर्शनानुयायिओं का कहना यह है कि श्रोत्र की वृत्ति शब्द के स्थान तक जाती है अर्थात् परिणाम के माध्यम से शब्द ही श्रोता के कान तक पहुँचता है। वहाँ जाने पर वह श्रोत्र की वृत्ति शब्द के सम्पर्क में आकर विकृत हो उठती है। वहाँ श्रोत्र का व्यामिश्रण प्रयुक्त निकटवर्ती ही शब्द से श्रोत्र की वृत्ति विकृत होती है और दूरस्थ शब्द से श्रोत्रवृत्ति विकृत नहीं होती। इसलिए निकटस्थ ही शब्द गृहीत होता है दूरस्थ शब्द नहीं। परन्तु इसमें नियामक क्या माना जा सकता है, जिसके कारण निकटस्थ शब्द ही श्रोत्र को विकृत करेगा और दूरस्थ शब्द नहीं? और नियमन न होने पर कान्यकुब्ज देश में प्रयुक्त होने वाला शब्द दूरवर्ती गौर मूर्त्तक देश में भी सुना जाने लगेगा। और फैलने वाली श्रोत्रवृत्ति मूर्त्त भित्ति आदि के द्वारा प्रतिहत हो नहीं सकेगी। इसका परिणाम यह होगा कि अतिदूर वर्त्ती शब्द भी सुना जाने लगेगा। और यह भी कि वायु जो कि शब्द के लिए अनुकूल होता है वह उसके लिए प्रतिकूल हो पड़ेगा। क्योंकि बहने वाली वायु श्रोत्र की वृत्ति धारा को बाधा पहुँचायेगी। वायु के बहने पर शब्द सुना न जा पायेगा। सारांश यह कि दूर में जो शब्द सुना जाता है और हवा के विपरीत होने पर निकट में भी

वृत्तिवृत्तिमतोर्भेदो नास्तीतीन्द्रियवद्भवेत्।
व्यापिका वृत्तिरित्येवं कथं सर्वत्र न श्रुतिः।।

आर्हतास्त्वाहुः सूक्ष्मैः शब्दपुद्गलैरारब्धशरीरः शब्दः स्वप्रभवभूमेः निष्क्रम्य प्रतिपुरुषं कर्णमूलमुपसर्पतीति। तदेतदतिसुभाषितम्।

वर्णस्यावयवाः सूक्ष्माः सन्ति के चन पुद्गलाः।
तैर्वर्णोऽवयवी नाम जन्यते पश्य कौतुकम्।।
तेषामदृश्यमानानां कीदृशो रचनाक्रमः।
केन तत्संनिवेशेन कः शब्द उपजायताम्।।
लघवोऽवयवाश्चैते निबद्धा न च केन चित्।
न चैनं कठिनं कर्तुं वर्णावयविनं क्षमाः।।
कृशश्च गच्छन्स कथं न विक्षिप्येत मारुतैः।
दलशो वा न भज्येत वृक्षाद्यभिहतः कथम्।।
प्रयाणकावधिः कश्च गच्छतोऽस्य तपस्विनः।
एकश्रोत्रप्रविष्टो वा स श्रूयेतापरैः कथम्।।
निष्क्रम्य कर्णादेकस्मात्प्रवेशः श्रवणान्तरे।
यदीष्येत कथं तस्य युगपद्बहुभिः श्रुतिः।।

शब्द सुना नहीं जाता, सो उसके विपरीत मान्य होगा। और यह भी कि साङ्ख्य सिद्धान्त में तो वृत्ति और वृत्तिमान् को एक ही माना जाता है। तदनुसार इन्द्रिय के समान उसकी वृत्तिमें भी व्यापकता मान्य हो उठने के कारण सब जगह अर्थात् अतिदूर में भी शब्द क्यों नहीं सुनाई देगा?

इसके सम्बन्ध में जैनों का कहना यह है कि सूक्ष्म शब्द पुद्गलों के द्वारा आरब्ध शरीर वाला शब्द अपने स्थान से निकलकर प्रत्येक सुनने वाले व्यक्तियों के कान तक जाता है। वाह क्या कहना है– उन लोगों का यह कथन तो बहुत अच्छा है? इस मत में यह आश्चर्य देखा जाय कि वर्ण के बहुत से परमाणु होते हैं, जिससे अवयवी शब्द उत्पन्न होता है। यह तो अद्भुत बात है।

उन अदृश्य शब्द परमाणुओं का शब्द रचनाक्रम कैसा है? उसके किस रचना से कैसा शब्द बनेगा? ये लघु शब्दावयव किसी से बँधने वाले तो होते नहीं है। और ये फिर कठिन अर्थात् घनीभूत शब्दावयवी को बनाने में कैसे समर्थ हो सकते? अर्थात् समर्थ नहीं हो सकते हैं। वे अति कृश अर्थात् दुर्बल शब्द परमाणु हवा के झोंके में क्यों न बिखर पड़ेंगे? या वृक्ष आदि से अभिहत होकर टूट क्यों नहीं जायेंगे? उन तपस्वियो के लिए यात्रा की सीमा क्या होगी? और एक व्यक्ति के श्रोत्र में प्रविष्ट होने वाला लघु शब्दावयवी दूसरे से कैसे सुना जा सकेगा? एक के कान से निकलकर वह दूसरे के कान में कैसे घुसेगा? यदि ऐसा कर्णान्तर में प्रवेश मान भी लिया जाय तो एक ही साथ बहुतों के द्वारा शब्द का

श्रोतृसंख्यानुसारेण न नानावर्णसंभवः।
वक्तुस्तुल्यप्रयत्नत्वाच्छ्रोतृभेदे तदत्यये।।
तदलं परिहासस्य महतो हेतुभूतया।
नग्नक्षपणकाचार्यप्रज्ञाचातुर्यचर्चया।।

शाक्यप्रायास्त्वाचक्षते अप्राप्त एव शब्दः श्रोत्रशक्त्या गृह्यत इति। तदेतदतिव्यामूढभाषितम्। अप्राप्त्या तुल्यतायां दूरव्यवहितादीनामश्रवणकारणाभावात्। प्राप्यकारिताख्यकर्णधर्माप्रसङ्गाच्च। न च चार्वाकवदपरीक्षित एवायमर्थ उपेक्षितुं युक्तः।

इति कार्यत्वपक्षेऽमूः श्रुतास्तार्किककल्पनाः।
अथाभिव्यक्तिपक्षेऽस्य शृणु श्रोत्रियकल्पनाम्।।

विवक्षापूर्वकप्रयत्नप्रेर्यमाणस्तावद्वेगवत्तया क्रियावत्तया च कोष्ठ्यो बहिर्निस्सरति समीरण इति सुस्पष्टमेतत्। प्रत्यक्षपवनवादिनां पक्षे पवनसमये वक्तृवदन निकटनिहितहस्तस्पर्शेनैव स उपलभ्यते, अनुमेयमारुतपक्षेऽपि तदानीमास्य समीपसन्निधापिततूलककर्मणा सोऽनुमीयते।

श्रवण कैसे बन पायेगा? श्रोता की संख्या के अनुसार नाना वर्णो की सम्भावना तो की नहीं जा सकती? वक्ता का प्रयत्न तो एक ही होता है, विभिन्न श्रोताओं के विभिन्न श्रोत्रों में वह शब्द एक ही समय कैसे आपाता है? इसलिए महान् परिहास के विषय बनने वाली दिगम्बर जैनाचार्य की यह चातुर्यचर्चा व्यर्थ है।

बौद्ध से समानता रखने वाले कुछ लोग यह कहते हैं कि श्रोतृशक्ति के द्वारा असम्बद्ध होने पर भी शब्द गृहीत हो जाते हैं। किन्तु यह तो अत्यन्त व्यामोह ग्रस्त लोगों का ही कथन हो सकता है। क्योंकि अप्राप्ति को लेकर तुल्यता के कारण दूरवर्ती एवं व्यवहित शब्दों के अश्रवण का कोई कारण नहीं बताया जा सकता। और कान के 'प्राप्य कारित्व' धर्म का अभाव प्रसङ्ग भी होगा। चार्वाक के समान इसे अपरीक्षित ही छोड़ना तो उचित नहीं कहा जा सकता? यहाँ तक शब्द की अनित्यता के पक्ष में तार्किकों की कल्पनाएँ बतलायी गयी। अब शब्द की अभिव्यक्ति पक्ष में अर्थात् नित्य शब्द की अभिव्यक्ति द्वारा श्रवण सम्पादन के पक्ष में अर्थात् वैदिक मीमांसकों के पक्ष की कल्पना को सुनो।

विवक्षापूर्वक प्रयत्न से प्रेरित होने वाला कोष्ठगत पवन वेगवान् तथा क्रियावान् रूप में बाहर निकलता है, यह तो सुस्पष्ट ही है। पवन प्रत्यक्षवादियों के मत में अर्थात् जो लोग पवन का प्रत्यक्ष मानते हैं उनके मत में वायु के समय अर्थात् उकार आदि करते समय वक्ता व्यक्ति के मुँह के पास हाथ लगाने पर वायु का स्पार्शन प्रत्यक्ष होता पाया ही जाता है। जो लोग वायु को अनुमेय ही मानते हैं, उनके मत में भी उस समय वक्ता व्यक्ति के मुख के निकट रखी गई धुनी हुई रुई में क्रिया को देखकर वह पवन अनुमित होता ही है।

स गच्छन्सर्वतोदिक्कः स्तिमितानिलनोदनम्।
करोति कर्णाकाशे च प्रयाति श्रुतियोग्यताम्।।
स च प्रयत्नतीव्रत्वमन्दत्वेन तदात्मकः।
शब्दे तथाविधज्ञप्तिहेतुतामवलम्बते।।
स चैष गच्छन्नुद्दामवेगयोगाहितक्रियः।।
शरवद्वेगशान्त्यैव न दूरं गन्तुमर्हति।।
स मूर्त्तः प्रसरन्मूर्त्तैरपरैः प्रतिरुध्यते।
कुड्यादिभिरितो नास्य श्रुतिर्व्यवहितात्मनः।।
स वेगगतियोगित्वादागच्छति यतो यतः।
श्रोता ततस्ततः शब्दमायान्तमभिमन्यते।।
स तु शङ्खादिसंयोगप्रेर्यमाणः समीरणः।
शब्दस्यावर्णरूपस्य भवति व्यक्तिकारणम्।।
यद्वा यद्यपि वर्णात्मा श्रोत्रग्राह्यो न विद्यते।
तथापि तत्र शब्दत्वं श्रवणेन ग्रहीष्यते।।

तदिह न काचिदस्माभिरधिका कल्पना कृता। मारुतगतेरस्याः सर्वलोकप्रसिद्धत्वात् कर्णाकाशसंस्कारमात्रमदृष्टं कल्पितं तदपि कार्यार्थापत्तिगम्यत्वान्नापूर्वमिति।

तदनुसार सभी दिशाओं में जाने वाला वह शब्द स्तिमित पवन के साथ नोदनात्मक संयोग प्राप्त करता हुआ कर्णाकाश में श्रवण योग्य हो जाता है। वक्ता का प्रयत्न तीव्र मन्द आदि रूप में विभिन्न होने के कारण वह पवन भी तदात्मक अर्थात् तीव्र मन्द आदि रूप हो जाता है। वही पवन शब्द के तीव्र मन्द आदि रूप में ज्ञप्ति का हेतु हो जाता है। वह पवन ही चलनशीलता के समय प्रबल वेग के कारण अधिक गतिशील होकर गतिशील वाण के समान वेग की शान्ति पर अधिक दूर नहीं जा पाता। वह पवन मूर्त्त होने के कारण प्रसरण के समय अन्य मूर्त से प्रतिरोध पाता है। अतः शब्द भी प्रतिरोध प्राप्त करता है। इसलिए व्यवहित होने पर शब्द का श्रवण नहीं होता है। वह शब्द उक्त प्रकार से वेग योगी अर्थात् वेगवान् एवं क्रियायोगी अर्थात् क्रियावान् होने के कारण जहाँ जहाँ होता हुआ आता है, श्रोता उसे वहाँ से आता हुआ समझता है। शंख आदि के संयोग से प्रेरित होता हुआ वह पवन रङ्ग आकार आदि रहित शब्द की अभिव्यक्ति का कारण बनता है। अथवा वर्णात्मक शब्द यद्यपि श्रोत्र ग्राह्य नहीं होता है, फिर भी उस में शब्दत्व श्रोत्र के द्वारा गृहीत होगा। इस प्रकार हम लोगों के द्वारा कोई अधिक कल्पना नहीं की गयी। क्योंकि उक्त पवनगति तो सकल लोक प्रसिद्ध है। केवल न देखा जाने वाला कर्णाकाश का संस्कार मात्र की कल्पना की गयी है। और वह भी कार्यार्थापत्ति से अवगत होने के कारण।

अपक्षपातिनः सभ्याः सत्यमुत्पत्त्यपेक्षया।
शब्दस्य कल्पनामाहुरभिव्यक्तौ लघीयसीम्।।

तदेवमभिव्यक्तिपक्षे नियतग्रहणोपपत्तेः प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययप्रामाण्यान्नित्यत्वमेवोप गन्तव्यम्।

या त्वनैकान्तिकत्वोक्तिः धीकर्मप्रत्यभिज्ञया।
प्रत्यक्षे चोद्यमानासौ दर्शयत्यतिमूढताम्।।
तेनानुमानदोषेण प्रत्यक्षं न हि दूष्यते।
सिद्धान्तान्तरचिन्ता तु भवेद्भृशमसंगता।।
निर्बाधं प्रत्यभिज्ञानमस्ति चेद् बुद्धिकर्मणोः।
तयोरप्यस्तु नित्यत्वं नो चेत्का शब्दतुल्यता।

[शब्दनित्यत्वोपसंहारः]

तस्मान्नित्यः प्रत्यभिज्ञाप्रभावात् सिद्धः शब्दः पश्यतां तार्किकाणाम्।
अर्थापत्तिः पूर्वमुक्ता च तस्मिन्नस्थायित्वे युक्तयश्च व्युदस्ताः।।
अस्ति च वेदे वचनं सिद्धामनुवदति यद् ध्रुवां वाचम्।
तल्लिङ्गदर्शनादपि नित्यः शब्दोऽभिमन्तव्यः।।
शिक्षाविदस्तु पवनात्मकमेव शब्दमाचक्षते तदसमञ्जसमप्रतीतेः।
अर्हन्मतप्रथितपुद्गलपर्युदासनीत्या च वाय्ववयवा अपि वारणीयाः।।

इसलिए उसे भी अपूर्व नहीं कहा जा सकता। पक्षपात रहित सभ्य जन शब्द की उत्पत्ति की कल्पना से उसकी अभिव्यक्ति की कल्पना को अत्यन्त लाघवयुक्त मानते हैं। अतः अभिव्यक्तिपक्ष में शब्द का ग्रहण नियत रूप से उपपन्न होने के कारण प्रत्यभिज्ञा के प्रामाण्य प्रयुक्त शब्द को नित्य ही मानना चाहिए।

ज्ञान और कर्म की प्रत्यभिज्ञा को लेकर जो प्रत्यक्ष में हेतु को अनैकान्तिक कहा गया है, सो कहने वाले की अति मूढ़ता को बतला रहा है। इसलिए अनुमान दोष से प्रत्यक्ष दुष्ट नहीं होता। अन्य सिद्धान्त की चिन्ता तो अत्यन्त असङ्गत होगी। यदि ज्ञान और कर्म के सम्बन्ध में भी बाध रहित प्रत्यभिज्ञा होती है तो उन दोनों को भी नित्य मान लिया जाय। नहीं तो उन दोनों में शब्द की समानता ही क्या?

शब्द के नित्यत्व का उपसंहार

इसलिए प्रत्यभिज्ञा के प्रभाव से शब्द में नित्यता सिद्ध हो गयी। अर्थापत्ति पहले बतलाई जा चुकी है। आप लोग देखें तार्किकों की शब्द में अस्थायिता को बतलाने वाली युक्तियाँ खण्डित हो गयीं। यह वेद में भी है कि वचन पूर्वसिद्ध अतएव ध्रुव अर्थात् नित्य वाणी का फलतः वाक्यात्मक शब्द का अनुवाद ही करता है। इसलिए लिङ्ग से भी अर्थात् शब्द सामर्थ्यात्मक लिङ्ग प्रमाण के बल पर भी शब्द नित्य ही मान्य है। कुछ शिक्षाविद् जन जो शब्द को पवनात्मक ही मानते हैं सो उचित नहीं। क्योंकि वैसी प्रतीति नहीं होती है। क्योंकि जैनमतसिद्ध पुद्गल के खण्डन की नीति के अनुसार वायु रूप माने जाने वाले

येऽपि स्थूलविनाशदर्शनवशाद् ब्रूयुः क्षणध्वंसिनो
भावांस्तेऽपि न शक्नुवन्ति गदितुं शब्दस्य विध्वंसिताम्।
अन्ते हि क्षयदर्शनात् किल तथा तेषां भ्रमोऽस्मिन्पुनः
शब्दे नान्तपरिक्षयाविति कथं कुम्भादिवद्भङ्गिता।।

[शब्दनित्यत्वखण्डनोपक्रमः]

अत्र ब्रूमहे – न खलु भवदभिहितमेतत्प्रमाणद्वयमपि शब्दनित्यतां प्रसाधयितुमर्हति। यावता यदर्थापत्तिरवादि दर्शनस्य परार्थत्वादिति सा क्षीणैवार्थप्रतीतेरन्यथाप्युपपन्नत्वात्। तत्र सादृश्यमप्यनभ्युपगतमेव दूषितमित्यस्थाने क्लिष्टा भवन्तः।

गत्वादिजातीराश्रित्य सम्बन्धग्रहणादिकः।
अर्थावगतिपर्यन्तो व्यवहारः प्रसेत्स्यति।।
ननु गत्वं प्रतिक्षिप्तमेतदेव परीक्ष्यताम्।
अस्मिन्समाप्यते वादो मर्मस्थानमिदं च नः।।
प्रतिक्षिप्ते च गत्वादौ नार्थसम्प्रत्ययोऽन्यथा।
प्रत्यभिज्ञानभूमिश्च नान्यास्तीति वयं जिताः।।
सिद्धे तु गत्वसामान्ये तत एवार्थवेदनम्।
तदेव प्रत्यभिज्ञेयमिति यूयं पराजिताः।।

शब्द के भी अवयव वारित होंगे। जो बौद्ध जन स्थूल घट पट आदि का विनाश देखें जाने के कारण सारे भाव पदार्थ क्षणमात्र रहकर ध्वस्त हो जाते हैं– ऐसा मानते हैं। वे भी शब्द को ध्वंसी कहने में समर्थ नहीं हो सकते। क्योंकि कुम्भ आदि का पीछे क्षय देखा जाता है, इसलिए सभी भावों की क्षण ध्वंसिता का उन्हें भ्रम हो उठता है। परन्तु इस शब्द का तो न विराम होता है और न नाश, फिर कैसे शब्द को क्षणभङ्गी कहा जायेगा?

शब्द-नित्वत्व के खण्डन का उपक्रम

इस पर हम लोग कह रहे हैं कि आप के द्वारा कथित प्रमाण द्रय शब्द की नित्यता को सिद्ध नहीं कर सकता है। क्योंकि अर्थापत्ति जो कही गयी है कि दर्शन परार्थ होता है, सो अर्थ की प्रतीति अन्यथा उपपन्न होने के कारण स्वतः क्षीण हो जाती है। सादृश्य भी हमारे यहाँ करणीय नहीं है, अतः वह भी दूषित हो गया। इसलिए आप लोगों का सारा परिश्रम व्यर्थ ही गया। गत्व आदि जाति को आश्रयण करके व्याप्ति ग्रह से लेकर अर्थ की अवगति पर्यन्त व्यवहार सिद्ध होगा। जिस गत्त्व आदि जाति का प्रतिक्षेप किया, उसी की परीक्षा कर ली जाय। इसी पर विवाद समाप्त किया जाता है। हम लोगों का मर्मस्थान यही है। यदि गत्व जाति का प्रतिक्षेप हो जाता है तो शब्द को नित्य माने बिना अर्थ सम्प्रत्यय नहीं हो पायेगा। क्योंकि प्रत्यभिज्ञा का स्थान और कोई रहेगा नहीं। इसलिए आपके द्वारा हम लोग जीत लिये जायेंगे। और यदि गत्व आदि जातियों की सिद्धि हो जाती है, तो उस के बल पर ही अर्थवेदन हो पायेगा और प्रत्यभिज्ञा का विषय भी वही हो जायेगा। इसलिए

तेनान्यत्सर्वमुत्सृज्य वादस्थानकडम्बरम्।
गत्वादिजातिसिद्ध्यर्थमथातः प्रयतामहे।।

[प्रत्यभिज्ञोपपादकगत्वादिजातिसमर्थनाय वर्णभेदोपपादनम्]

तत्रेदं विचार्यताम्–य एव गकारभेदप्रतिभासः स किं व्यञ्जकभेदकृत उत वर्णभेदविषय इति। व्यञ्जकभेदकृते तस्मिन्नेकत्वाद् गकारस्य किंवृत्ति गत्वसामान्यं स्यात्। वर्णभेदविषयत्वे तु तद्भेदसिद्धेरभेदप्रत्ययत्वविषयो मृग्य इति। तद्ग्राह्यमपरिहार्य गत्वसामान्यम्। तदुच्यते नायं व्यञ्जकभेदकृतः गकारभेदप्रत्ययः। यदि हि व्यञ्जकभेदाधीन एष भेदप्रतिभासस्तर्हि यरलवादिवर्णभेदप्रत्ययोऽपि तत्कृत एव किमिति न भवति। ततश्च सकलवर्णविकल्पातीतमेकमनवयवं शब्दतत्त्वं वैयाकरणवदभ्युपगन्तव्यम्।

अथ मनुषे यरलवादीनामितरेतरविभक्तस्वरूपप्रतिभासात् शुकसारिकामनुष्येषु हि वक्तृभेदे सति व्यञ्जकनानात्वसम्भावनया वर्णभेदप्रत्ययस्य तत्कृतत्वं काममाशङ्क्येतापि वक्त्रैकत्वे तु गगनादौ कुतस्तत्कृतो भेदः।

आप लोग हम लोगों से पराजित हो जायेंगे। इसलिए और सब को, जो कि वाद का कड़म्बर अर्थात् शाक नाड़िका के समान परित्याज्य है, छोड़कर अब गत्व आदि जाति की सिद्धि के लिए ही प्रयत्न करते हैं।

ग आदि वर्णों के भेद का उपपादन

यह विचार करें कि गकार में जो भेद का प्रतिभास होता है वह क्या व्यञ्जक भेद प्रयुक्त होता है या विषय भूत ग आदि वर्ण भेद प्रयुक्त? यदि व्यञ्जक भेद प्रयुक्त माना जाय तो गकार एक होने के कारण किन में गत्व सामान्य रहेगा? और यदि वर्णभेद विषयक माना जाय तो वर्णभेद सिद्ध होने के कारण अभेद प्रत्यय का विषय खोजना होगा। इसलिए तद्ग्राह्य अर्थात् अभेद प्रत्यय का विषय मृग्य अर्थात् अन्वेषणीय होगा। ऐसी परिस्थिति में अभेद प्रत्यय का अर्थात् प्रत्यभिज्ञा का विषय गत्व सामान्य को ही कहना होगा। तो हम कहते हैं कि गकार आदि में जो भेद का प्रतिभास होता है सो व्यञ्जक भेद प्रयक्त नहीं होता। यदि वर्णभेद के प्रत्यय को व्यञ्जक भेद प्रयुक्त माना जाय तो य,र,ल,व, आदि वर्णगत भेद का प्रत्यय भी क्यों न व्यञ्जक भेद प्रयुक्त ही माना जायगा? तब तो वैयाकरणों की तरह सकल वर्ण विकल्पातीत एक निरवयव शब्दतत्त्व अर्थात् स्फोटात्मक ही शब्द माना जायेगा।

यदि मानो कि य,र,ल,व, आदि में परस्पर स्वरूप भेद के प्रतिभास प्रयुक्त शुक सारिका और मनुष्यों के बीच वक्तृगत भेद होने पर व्यञ्जकगत नानात्व की सम्भावना के कारण वर्णभेद के प्रत्यय को व्यञ्जक भेद कृत होने की आशङ्का कदाचित् की भी जाय परन्तु वक्ता के एक मात्र होने पर गगनादि गत उनमें व्यञ्जकभेदकृत भेद क्यों होगा? इस

ननु तत्रापि मरुतो भिन्ना एव व्यञ्जकाः। मुखं त्वेकं भवतु किं तेन तदपि वा भिन्नमित्येके। उच्यते स तर्हि मरुतां भेदो यरलवादिष्वपि तुल्य इति मा भूत्तेषामप्यभेदः।

ननु यरलवानां विशेषप्रतीतिरस्ति गकारे तु सा नास्तीत्युक्तं उच्चारणस्यैव तत्र भेदो नोच्चार्यस्येति। नैतत्सारम्, मा भूदेष विशेष इति प्रतीतिर्भेदबुद्धिस्तु विद्यत एव। अन्या च विशेषबुद्धिरुच्यते अन्या च भेदबुद्धिरिति। विशेषाप्रतिभासेऽपि क्वचिद्विच्छेदप्रतीतिदर्शनात्।

नन्वत्रोच्यते–

दृश्यते शाबलेयादिव्यक्त्यन्तरविलक्षणा।
बाहुलेयादिगोव्यक्तिस्तेन भेदोऽस्ति वास्तवः।।
न तु द्रुतादिभेदेन निष्पन्ना सम्प्रतीयते।
गव्यक्त्यन्तरविच्छिन्ना गव्यक्तिरपरा स्फुटा।।इति।

नैतद्युक्तम्, शाबलेयादौ प्रतिव्यक्ति सास्नाखुरककुदाद्यवयववर्त्तिनो विशेषाः प्रतिभासन्ते। ते च स्थूलत्वात्सुगमा भवन्ति। यत्र तु तिलतण्डुलकुलित्थादौ प्रतिसिक्थं विशेषा न प्रतिभासन्ते। तत्र विशेषप्रतीत्यभावेऽपि विच्छेदप्रतिभासो विद्यते एव। सिक्थात्

पर यदि यह कहा जाय कि मुँह एक रहे इस से क्या पवन तो विभिन्न ही व्यञ्जक होंगे। अथवा वह भी भिन्न ही होगा– यह कुछ लोग कहते हैं। तो इसका भी उत्तर कहा जा रहा है कि सो पवन गत भेद तो य र ल व आदि स्थल में भी तुल्य ही होगा। इसलिए य र ल व आदि में भी अभेद न हो। यदि यह कहा जाय कि य,र,ल, और व में तो विशेषता की प्रतीति होती है। गकार में तो सो नहीं है। यह कहा जा चुका है कि वहाँ उच्चारण में ही भेद होता है उच्चार्य में नहीं। तो यह कथन सार युक्त नहीं है। 'यह विशेषता है' इस प्रकार प्रतीति भले ही न हो किन्तु भेद बुद्धि तो होती ही है। विशेषता की बुद्धि अन्य होती है और भेद की बुद्धि अन्य। क्योंकि विशेषता का प्रतिभास न होने पर भी कहीं विच्छेद की प्रतीति देखी ही जाती है। इस पर प्रतिपक्षी की ओर से यह कहा जाता है कि – शावलेय आदि गाय व्यक्ति से विलक्षण बाहुलेय आदि गो व्यक्ति देखी ही जाती है। इसलिए गाय आदि व्यक्तियों में तो भिन्नता वास्तव में होती है परन्तु द्रुत आदि रूप में निष्पन्न होने वाली 'ग' व्यक्ति से उस प्रकार विलक्षण 'ग' आदि व्यक्ति तो स्फुट रूप में पायी नहीं जाती। तो यह कथन युक्तियुक्त नहीं। क्योंकि शावलेय गाय आदि में प्रतिव्यक्ति, सास्ना खुर ककुद आदि अवयव गत विशेषताएँ सुगम रूप से प्रतिभासित होती हैं स्थूलता के कारण जहाँ पर तिल, चावल, कुलथी आदि में प्रत्येक के अन्दर कोई विशेषता देखी नहीं जाती। वहाँ विशेषता की प्रतीति न होने पर भी विच्छिन्नता की प्रतीति होती है। क्योंकि एक से अलग दूसरे का प्रतिभास होता है। इसी प्रकार यहाँ भी 'यह है गकार ग विशेष है' इस प्रकार विशेष का प्रतिभास न होने पर भी विच्छेद का प्रतिभास तो होता ही है।

सिक्थान्तरत्वेन प्रतिभासात्। एवमिहाप्येष गकारविशेष इति प्रतिभासाभावेऽपि विच्छेदग्रहणाद् गकारनानात्वम्।

ननु तण्डुलादावपि सिक्थात्सिक्थान्तरे विशेषाः प्रतिभासन्ते एव। तदप्रतिभासे भेदस्यापि ग्रहीतुमशक्यत्वात्। मैवं वादीः - यत्ने सति चतुरस्त्रत्रिकोणवर्त्तुलत्वादिविशेषा अप्यमुत्र प्रतिभासिष्यन्ते। प्रयत्नं विनापि तु प्रथमाक्षनिपात एव विच्छेदबुद्धिरुत्पद्यत इति तयैव नानात्वसिद्धिः।

ननु नैवानधिगतविशेषस्य विच्छेदबुद्धिरुत्पत्तुमर्हति इति विशेषबुद्धिरेव विच्छेदबुद्धिः। नैतदेवम्, भ्रमणादिकर्मक्षणानां सूक्ष्मविशेषाप्रतिभासेऽपि विच्छेदप्रतिभासात्। ननु तत्रापि विशेषग्रहणं कल्प्यते अन्यथा विच्छेदप्रतीत्यनुपपत्तेः। यद्येवं वर्णेष्वपि गगनादौ विच्छेदप्रतीतिदर्शनात्कल्प्यतां विशेषग्रहणम्। नन्वस्त्येव तत् किं त्वौपाधिकः स्फटिके रक्तताप्रत्ययवत्। विषमो दृष्टान्तः स्फटिकस्य शुद्धस्य दृष्टत्वाल्लाक्षाद्युपाधिनिमित्तको

इसलिए गकार का नानात्व मानना होगा।

इस पर प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि तण्डुल आदि के स्थलों में भी एक दाने से दूसरे दानों में भिन्नता का प्रतिभास होता ही है। क्योंकि विशेषता के प्रतिभास के बिना भिन्नता भी प्रतीत नहीं हो सकती। तो इसका उत्तर यह है कि ऐसा मत कहो। क्योंकि प्रयत्न करने पर उन तण्डुल आदि में चतुरस्त्रता, त्रिकोणता और वर्त्तुलता अर्थात् गोलाई आदि का भी प्रतिभास होगा ही। और उस ओर ध्यान न देने पर उन पर दृष्टिपात मात्र से भी विच्छिन्नता की बुद्धि होती है। इसलिए उस से ही नानात्व की अर्थात् भिन्नता की सिद्धि होती है।

इस पर यह कहा जा सकता है कि जिस व्यक्ति को वस्तुगत विशेषता का भान नहीं रहता है, उस व्यक्ति को उन वस्तुओं में विभिन्नता का भी भान होता नहीं है। इसलिए विशेषता की बुद्धि ही होती है विच्छेद बुद्धि, परन्तु ऐसी बात नहीं है। क्योंकि भ्रमण आदि कर्म के क्षणों के बीच किसी प्रकार की सूक्ष्म विशेषता का प्रतिभास न होने पर भी विच्छेद का प्रतिभास होता हुआ पाया ही जाता है। इस पर यदि यह कहा जाय कि वहाँ भी विशेषता की बुद्धि की कल्पना करेंगे, क्योंकि अन्यथा विच्छेद की बुद्धि हो नहीं पायेगी? तो इस पर कहना यह है कि यदि ऐसा है, तो आकाश आदि में वर्णों के बीच भी विच्छिन्नता की बुद्धि पाई जाने के कारण वर्णों में भी विशेषता के ग्रहण की कल्पना की जाय। इस पर यदि यह कहा जाय कि वर्णों में विशेषता होती तो है परन्तु वह वास्तविक नहीं होती, वह स्फटिक में होने वाली रक्तताबुद्धि के स्थल के समान औपाधिक अर्थात् काल्पनिक होती है। तो इस पर कहना यह है कि यहाँ दिया गया दृष्टान्त विषम है अर्थात् सही नहीं है। क्योंकि स्फटिक तो स्वच्छ रूप में पहले देखा गया रहता है इसलिए लाक्षा आदि के सन्निधान पर होने वाला रक्तता आदि का ज्ञान उपाधि मूलक माना जाता है।

रक्तताप्रत्ययः। वर्णानां तु नित्यमेवोदात्तादिविशेषवतां प्रतिभासात्तद्रहितानामनुपलब्धेश्च नैसर्गिक एवायं भेदः। तद्यथा बुद्धीनां घटपटादिविषयविशेषशून्यानामसंवेदनात्प्रतिविषयं नानात्वं तथा वर्णानामपि प्रत्युदात्तादिविशेषं नानात्वम्। न च बुद्धिरेकैव मत्या च विषयभेदोपाधिनिबन्धनस्तद्भेद इति साम्प्रतम्। स्वयमेव 'बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्ष'मित्यभिधानात्। अस्माभिश्च बुद्धिनित्यताया उपरिष्टान्निराकरिष्यमाणत्वात्। विषयभेदाच्च तद्भेदाभिधाने विषयस्यापि कुत इदानीं भेदः। बुद्धिभेदादिति चेद् इतरेतराश्रयप्रसङ्गः। तदिमाः स्वत एव भेदवत्यो बुद्धयः विषयाणामपि स्वत एव भेदो भवति। स च बुद्धिभिर्ज्ञायत इत्यलमर्थान्तरगमनेन। यथा च शुक्लगुणस्य भास्वरधूसरादिभेदवतो नानात्वं यथा वर्णस्याप्युदात्तादिभेदवतः। शुक्लगुणोऽप्येक एव आश्रयभेदात्तु तद्भेद इति चेद् अहो रससमारूढो भट्टः।

कर्मैकं बुद्धिरप्येका जगत्येकः स्थितो गुणः।
तैश्च तन्नित्यमित्येताः स्त्रीगृहे कामुकोक्तयः।।

किन्तु वर्णों में तो उदात्तता अनुदात्तता आदि का प्रतिभास विशेषरूप से सदा ही होता है, उदात्तता अनुदात्तता आदि से रहित रूप में वर्णों का प्रतिभास कभी होता पाया नहीं जाता है इसलिए उदात्त अनुदात्त आदि वर्णों का भेद नैसर्गिक अर्थात् स्वाभाविक ही मान्य है। इसलिए घट पट आदि प्रतियोगी स्वरूप विशेष रहित ज्ञानों का प्रेतिभास कभी न होने के कारण ज्ञानों को विषय भेद से विभिन्न ही माना जाता है। उसी प्रकार वर्णों को भी प्रत्येक उदात्त आदि विशेषता के अनुसार नाना अर्थात् विभिन्न मानना चाहिए। यह मानना उचित नहीं कि वस्तुतः ज्ञान एक ही है प्रतीति के अनुसार विभिन्न विषयात्मक उपाधिमूलक उसका भेद होता है। क्योंकि स्वयं जैमिनि ने मीमांसा दर्शन में यह कहा है कि 'ज्ञान का जन्म होता है प्रत्यक्ष उसका एक प्रभेद है'। हम ज्ञान की नित्यता का निराकरण अन्यत्र करने वाले है। और विषय के भेद से ज्ञान का भेद कहने पर प्रश्न यह उठ खड़ा होगा कि अब विषय का भी भेद क्यों माना जाय? इसके उत्तर में यदि यह कहा जाय कि विषय का भेद ज्ञान गत भेद प्रयुक्त होता है तो अन्योन्याश्रय दोष लग आयेगा। इसलिए ये ज्ञान स्वतः भिन्न होते हैं और विषयों के बीच भी पारस्परिक भेद स्वतः होता है। वह भेद ज्ञान के द्वारा ज्ञात अर्थात् विषयीकृत होता है। इसलिए और अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं। जिस प्रकार भास्वर और धूसर अर्थात् किञ्चित् मलिन रूप में श्वेत रूपात्मक गुण स्वतः भिन्न होता है। यदि भाट्ट मीमांसकों की ओर से यह कहा जाय कि शुक्ल गुण भी वस्तुतः एक ही है आश्रय के भेद प्रयुक्त उसका भी भेद औपाधिक ही है तो वाह!! अच्छे रसिक निकले भट्ट। संसार में कर्म भी एक, ज्ञान भी एक और गुण भी एक ही है। इस प्रकार इनकी नित्यता के कारण तुम भी नित्य ही हो अर्थात् सदा युवती ही रहोगी, यह स्त्री के घर में कामुक व्यक्ति की उक्तियाँ हो सकती हैं।

अपि चैकात्मवादोऽप्येवमेवावतरेत्सुखिदुःख्यादिभेदस्य शरीरभेदेनाप्युपपत्तेः। अद्वैतस्य च नातिदवीयानेष पन्था इत्यलमलीकविकत्थनेन। तस्माद् बुद्ध्यादिवत्सर्वदा सविशेषाणामेव वर्णानां ग्रहणान्नानात्वम्। तत्रैतत्स्यात् गगनादावकारोपश्लेषकृत एव भेदप्रत्ययो न स्वरूपभेद इति। तदयुक्तम्, अकारस्यापि भवन्मते भेदाभावात्। अविद्यमाने च तदुपश्लेषे दिगजो दिग्गज इति भेदेन प्रतिभासो भवत्येव। तथा च समदः सम्मदः पटः पट्टः आसनम् आसन्नं मलः मल्लः अविकः अविक्कः पतिः पत्तिः पतनं पत्तनमित्यादावपि वर्णभेदप्रतीतिः। अर्थप्रतीतिभेदोऽपि च दिगजदिग्गजादौ शब्दान्तरनिमित्तको भवितुमर्हति न द्विरुच्चारणकृतः। ग्रन्थाधिक्यादर्थाधिक्यं नोच्चारणभेदात्। शतकृत्वोऽपि प्रयुक्ते गोशब्दे सास्नादिमदर्थव्यतिरिक्तवाच्यसंप्रत्यया भावात्। तथा च दिग्गज इति द्विगकारको निर्देश इत्याचक्षते शब्दविदो न द्विर्गकार उच्चारित इति।

ननु गोगुरुगिरिगेहादावज्भेदेऽपि गकारप्रत्ययानुवृत्तेरेक एवायं गकारः। मैवं वोचः, एष एव हि भेदप्रत्ययोऽस्माभिरुपदर्शितः। विनापि च अजुपश्लेषं दिग्गजादौ भेदप्रत्ययो

और तब तो इसी प्रकार एकात्मवाद भी उतर आयेगा। क्योंकि सुखी दुःखी आदि का भेद तो शरीर भेद प्रयुक्त भी उपपन्न हो उठेगा। यह मार्ग तो अद्वैतवाद से अधिक दूर नहीं रह जायेगा। इसलिए इस प्रकार का अलीक अर्थात् निस्तत्त्व बकवास व्यर्थ है। इसलिए ज्ञान आदि के समान सदा सविशेष अर्थात् उदात्त अनुदात्त आदि रूप में विशेषतापन्न ही पाये जाने वाले वर्णों का नानात्व अवश्य मान्य है।

वहाँ यह कहा जा सकेगा कि गगन आदि में अकार आदि के सम्बन्ध कृत ही भेद का ज्ञान होता है स्वतः नहीं, वहाँ स्वरूप भेद होता नहीं। तो यह उचित नहीं। क्योंकि आप मीमांसकों के मत में तो अकार का भी भेद नहीं होता। और किसी उपाधि के सम्पर्क के बिना भी 'दिगज' और दिग्गज, इस रूप में वर्णगत भेद का प्रतिभास होता ही है। तदनुसार 'समद' और 'सम्मद' 'पट' और 'पट्ट' 'आसन' और 'आसन्न' 'मल' और 'मल्ल' 'अविक' और 'अविक्क' 'पति' और 'पत्ति' 'पतन' और 'पत्तन' इत्यादि प्रयोग स्थलों में भी वर्णों के भेद की प्रतीति होती ही है। और 'दिगज' 'दिग्गज' आदि शब्दों के अर्थान्तर बोध का कारण वर्ण भेद ही होता है दो बार उच्चारणकृत भेद नहीं। ऐसा इसलिए की सैकड़ों बार 'गो' शब्द का उच्चारण करने पर भी सास्ना आदि अवयव युक्त पशु से अतिरिक्त वाच्य अर्थ का ज्ञान नहीं होता है। इसीलिए शब्दविद् जन ऐसा कहते पाये जाते है कि 'दिग्गज' शब्द दो गकारों वाला है। ऐसा नहीं वे कहते हैं कि वह ग दो उच्चारणों वाला है। इस पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि 'गो' 'गुरु' 'गिरि' 'गेह' आदि शब्दों में अच् का अर्थात् ओ, उ, इ, और 'ए' का भेद होने पर भी गकार के ज्ञान की अनुवृत्ति अर्थात् बारम्बारता पायी जाती है। इसलिए उन ज्ञानों के विषय भूत 'ग' को एक ही मानना चाहिए। तो इसका उत्तर यह है कि ऐसा मत कहो। क्योंकि यही भेद का

वर्णितः। न च वयमभेदप्रत्ययमपह्नुमहे किं तु भेदप्रत्ययस्याप्यबाधितस्य भावादनन्यथासिद्धत्वाच्च गवादिवत्सामान्यविशेषरूपतां ब्रूमः। व्यञ्जकभेदनिबन्धनत्वं तु यरलवादावपि वक्तुं शक्यमित्युक्तमेव।

अपि च शाबलेयादिभेदप्रत्ययस्यापि व्यञ्जकभेदनिबन्धनत्वादेक एवासौ स्यात्।

ननु तत्र को व्यञ्जको यद्भेदकृतः पिण्डभेदप्रत्ययः इष्यते। आह च–

न पिण्डव्यतिरेकेण व्यञ्जकोऽत्र ध्वनिर्यथा।
पिण्डव्यङ्ग्यैव गोत्वादिजातिर्नित्यं प्रतीयते।। इति।

तदयुक्तम्, गोत्वजातेर्गत्ववदिदानीं विवादास्पदीभूतत्वात्। पिण्डभेदप्रत्ययस्य चक्षुर्व्यापारभेदादप्युपपत्तेः।

ननु सकृदपि व्यापृतलोचनस्य परस्परविभक्तपिण्डप्रतिभासो भवति। मैवम्, तदानीं गोमात्रप्रतीतिरेष शाबलेय एष बाहुलेय इति तु विशेषग्रहणे चक्षुर्व्यापारभेदोऽपरिहार्यः। यदि चाद्य गोपिण्डभेदे प्रथमाक्षसन्निपातजा बुद्धिः सुभगतां गता गकारभेदे तर्हि किंवृत्तमस्या दौर्भाग्यम्। तत्रापि प्रथमश्रोत्रव्यापारवेलायामनवगतव्यञ्जकविभागस्यापि गगनगङ्गादौ

ज्ञान हम लोगों के द्वारा दिखलाया जा चुका है। अच् के उपश्लेष के बिना भी अर्थात् उसके सम्बन्ध के बिना भी दिग्गज आदि शब्दस्थल में वर्णित हो चुका है। हम लोग अभेद के ज्ञान का अपलाप नहीं कर रहे हैं किन्तु अभिन्नता का भी ज्ञान अबाधित रूप से होता है और वह अन्यथा सिद्ध नहीं हो सकता है। इसलिये उनमें गो आदि के समान सामान्य विशेष रूपता बतलाते हैं। व्यञ्जक भेद मूलकता तो य र ल व आदि में भी कही जा सकती ही है। और यह भी कि शावलेय आदि गत भेद का ज्ञान भी व्यञ्जक के भेद प्रयुक्त कहा जा सकता है। ऐसी परिस्थिति में गाय आदि का भी भेद लुप्त हो उठेगा। इस पर इस प्रकार प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि – वहाँ कौन व्यञ्जक होगा, जिसके भेद प्रयुक्त गोशरीरात्मक पिण्डों में भेद का प्रत्यय होगा? वैसा स्वीकार किया जायगा? कहा भी गया है कि 'यहाँ पिण्ड के अतिरिक्त कोई व्यञ्जक पाया जाता नहीं, जैसा कि वर्णस्थल में ध्वनि व्यञ्जक पाया जाता है। गोत्व आदि जाति नियमतः पिण्ड के द्वारा अर्थात् शरीर के द्वारा ही व्यक्त होने वाली पायी जाती है। तो यह कथन युक्त नहीं अर्थात् उचित नहीं। क्योंकि अभी गत्व आदि की तरह गोत्व आदि जातियाँ भी असिद्ध ही हैं। वे भी विवादास्पद ही हैं। पिण्डभेद का प्रत्यय अर्थात् ज्ञान चक्षुगत क्रिया भेद प्रयुक्त भी उपपन्न होने वाला यतः कहा जा सकता है। इस पर यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि एक बार किये जाने वाले चक्षु व्यापार से भी तो परस्पर विभक्त रूप में पिण्डों का प्रतिभास होता हुआ पाया ही जाता है? तो ऐसा कहना ठीक नहीं। वहाँ पहले तो सामान्य रूपसे गाय मात्र की प्रतीति होती है। वह शावलेय है और यह बाहुलेय है। इस प्रकार गायविशेष के ग्रहण स्थल में तो चक्षुगत व्यापार का भेद अपरिहार्य होगा। और यदि पहले गोपिण्डों के बीच होने वाले भेद के सम्बन्ध में प्रथम चक्षु सम्बन्ध से होने वाली बुद्धि सुलभ हो गयी तो

गकारभेदः प्रतिभासते एवेत्यलं प्रसङ्गेन।

[गत्वादिजातिसमर्थनम्]

तदयं वस्तुसंक्षेपः, उपेक्ष्यतां वा सर्वत्र सामान्यविशेषव्यवहारः। इष्यतां वा गोत्वादिवद्गकारभेदवृत्ति गत्वसामान्यम्।

अत्वमपि गत्ववदप्रत्याख्येयम्। इतरेतरविलक्षणानामकाराणां ह्रस्वदीर्घप्लुतादिभेदेन प्रतिभासात्। यः पुनरेकारेऽप्यकारप्रत्यभिज्ञानं ब्रूयात्तस्यैकारोकारप्रतीतिष्वप्यकारस्यैव ग्रहणप्रसक्तिरच्त्वाविशेषात्। अथ तदविशेषेऽपि अकारादिवर्णस्य भेद इष्यते स तर्ह्याकारस्य न निह्नोतव्यः। एवं च सत्यरण्यारण्यशब्दाभ्यां भिन्नार्थप्रतीतिरुपपत्स्यते। उदात्तानुदात्तस्वरितसंवृतविवृतादिभेदोऽपि शब्दविदां प्रत्यक्ष एव गीतज्ञानामिव स्वरग्रामभाषाविभागः। तस्मादष्टादशभेदमकारमाचक्षते। अत्त्वं च तत्सामान्यमवर्णकुलशब्देन व्यवहरन्तीति प्रतिपद्यन्ते लोका न मरुद्भ्यः। अथ मरुतामपि तथा व्युत्पत्तेरर्थप्रतीतिहेतुत्वं तर्हि व्युत्पत्तिरेव प्रमाणं स्याद् न शब्दः। व्युत्पत्तेरव्यभिचारात् शब्दस्य च व्यभिचारादित्यास्तामेतत्।

तस्माद्गत्वादिसामान्यैरर्थसंप्रत्ययात्मनः।

गकार भेद के सम्बन्ध में उसका दौर्भाग्य क्या और क्यों? वहाँ भी श्रोत्रगत प्रथम व्यापार के समय व्यञ्जक भेद से अपरिचित व्यक्ति को आकाश गङ्गा में गकार का भेद प्रतिभासित होता ही है। अतः इस पर अब अधिक विचार स्थगित रखा जाय।

गत्व आदि जाति का समर्थन

इसलिए अब यहाँ संक्षिप्त रूप में वस्तुस्थिति यह है कि या तो सब जगह सामान्य और विशेष के व्यवहार की उपेक्षा की जाय अथवा गोत्व आदि के समान 'गत्व' आदि सामान्य भी माने जायें। अत्व भी गत्व के समान अप्रत्याख्येय है। क्योंकि ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत के भेद से परस्पर विलक्षण अकारों का प्रतिभास होता पाया जाता है। जो लोग 'ए' में भी 'अ' की प्रत्यभिज्ञा कहेंगे उन्हें 'ई तथा उ' आदि की प्रतीति में भी अकार की ही प्रतीति आपन्न होगी। क्योंकि अच्त्व में कोई विशेषता होगी नहीं। यदि अच्त्व के समान होने पर अकार वर्णों में भेद स्वीकार किया जाता है तब आकार का भी वह अपलाप योग्य होगा नहीं। और ऐसा होने पर अरण्य और आरण्य शब्दों से भिन्न अर्थ की प्रतीति उपपन्न होगी। उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, विवृत और सम्वृत आदि शब्दों का भेद भी शब्दज्ञ जनों के लिए प्रसिद्ध ही है, जिस प्रकार कि गीतज्ञ जनों के लिए स्वर ग्राम भाषा आदि का विभाग। इसलिए एक अकार का ही प्रभेद अठारह प्रकार का होता है। उसका सामान्य 'अत्व' वर्णकुल नाम से कहा जाता है, ऐसा लोग समझते हैं, न कि व्यञ्जक वायुगत विशेषता के कारण। यदि वायु में भी व्युत्पत्ति प्रयुक्त अर्थात् बोध प्रयुक्त अर्थप्रतीति की हेतुता मानी जाय तब तो व्युत्पत्ति अर्थात् बोध ही प्रमाण होगा। क्योंकि शब्द का बोध अव्यभिचारी होगा शब्द नहीं। यह विचार अब इतना ही रहे। इसलिए गत्व आदि सामान्य से ही अर्थ निश्चयात्मक कार्य निष्पन्न हो सकने के कारण

कार्यस्य परिनिष्पत्तेर्न वर्णव्यक्तिनित्यता।।

अपर आह, तिष्ठतु तावद् दूरत एव गत्वाद्यपरसामान्यं महासामान्यमपि शब्दत्वं वर्णेषु नोपपद्यते।

व्यक्त्यन्तरानुसन्धानं यत्रैकव्यक्तिदर्शने।
तत्रैकरूपसामान्यमिष्यते तत्कृतं च तत्।।
गकारश्रुतिवेलायां न वकारावमर्शनम्।
बाहुलेयपरामर्शः शाबलेयग्रहे यथा।।
शब्दः शब्दोऽयमित्येवं प्रतीतिस्त्वप्रयोजिका।
एषा हि श्रोत्रगम्यत्वमुपाधिमनुरुध्यते।।

तदेतन्निरनुसन्धानस्याभिधानम्। अनुसन्धानप्रत्ययस्य सामान्यसिद्धावप्रयोजकत्वात्। अनुसन्धानं हि सारूप्याद्विजातीयेष्वपि भवति गवयग्रहणसमये गोपिण्डानुसन्धानवत्, तस्मादबाधितैकरूपप्रत्ययप्रतिष्ठ एव सामान्यव्यवहारः।

समानबुद्धिग्राह्योऽपि सामान्येऽवस्थिते क्व चित्।
भवत्यन्यानुसन्धानं क्व चिद्वा न भवत्यपि।।
तदस्ति खण्डमुण्डादौ पिण्डसारूप्यकारितम्।
गकारादिषु वर्णेषु तदभावात्तु नास्ति तत्।।

वर्णव्यक्तियों की नित्यता मान्य नहीं है।

अपर कुछ लोगों का कहना यह है कि गत्व आदि अपर सामान्य की बात दूर रहे शब्दत्वात्मक महा सामान्य भी वर्णों में उपपन्न नहीं होता है। क्योंकि जहाँ एक व्यक्ति को देखकर व्यत्त्यन्तर का अनुसन्धान होता है, वहाँ उसके आधार पर सामान्य माना जाता है। प्रकृत में वह बात है नहीं। क्योंकि ग को सुनने पर व मनमें आता नहीं, जिस प्रकार कि शावलेय के परामर्श पर बाहुलेय मन में आ जाता है। 'यह शब्द है और यह भी शब्द है' इस प्रकार की प्रतीति को शब्दत्व सामान्य का प्रयोजक नहीं माना जा सकता। क्योंकि यह प्रतीति 'श्रोत्रगम्यत्व' अर्थात् कान से ही ज्ञात हो पाना स्वरूप उपाधि प्रयुक्त कही जा सकती है। परन्तु ऐसा कथन किसी विवेचना हीन व्यक्ति का ही हो सकता है। क्योंकि अनुसन्धानात्मक प्रत्यय सामान्य की सिद्धि का प्रयोजक नहीं होता है। अनुसन्धान अर्थात् स्मरणात्मक ज्ञान तो विजातीयों को भी देखकर होता है। क्योंकि जब व्यक्ति गवय पशु को देखता है तो गाय का भी स्मरण होता पाया ही जाता है। इसलिए सामान्य के व्यवहार को अबाधित एकाकार ज्ञानों के ऊपर ही आधारित मानना होगा।

सामान्य को समान बुद्धि निर्ग्राह्य मानने पर भी कहीं अन्य का अनुसन्धान होता है और वह कहीं नहीं भी होता है। वह अनुसन्धान खण्ड मुण्ड आदि गायों के अन्दर एक को देखकर अपर का होता है और गकार आदि वर्णों के अन्दर समान बुद्धि न होने के कारण

न तु सामान्याभावात्। न च सारूप्यमेव सामान्यं साङ्ख्यवदभिधातुं युक्तं विजातीयेष्वपि गोगवयादिषु तस्य दृष्टत्वात्। यदि च शब्दः शब्द इत्यनुवृत्तबुद्धेः श्रोत्रगम्यत्वोपाधिकृतत्वमुच्यते तर्हि गवादावप्येकबुद्धेर्वाहदोहाद्येकार्थक्रिया कारित्वनिबन्धनत्वाद् गोत्वादिर्जातिनिह्नवो बौद्धवन्मन्तव्यः। न चैतदेवम्, तद्गोत्ववच्छब्दत्वमपि न प्रत्याख्येयम्।

एतेन ब्राह्मणत्वादिसामान्यमपि समर्थितं वेदितव्यम् उपदेशसहायप्रत्यक्षगम्यत्वात्। न चोपदेशापेक्षणादप्रत्यक्षत्वं तस्य भवितुमर्हति गोत्वादिप्रत्ययस्यापि सम्बन्धग्रहणकाले तदपेक्षत्वदर्शनात्। उक्तं च न हि यद्गिरिशृङ्गमारुह्य गृह्यते तदप्रत्यक्षमिति। न चौपाधिकः पैठीनसिपैप्पलादप्रभृतिषु ब्राह्मणप्रत्ययः उपाधेरग्रहणात्। औपाधिकत्वस्य गोत्वादावपि वक्तुं शक्यत्वात्।

अपि चोपदेशनिरपेक्षमपि चक्षुः क्षत्रियादिविलक्षणां सौम्याकृतिं ब्राह्मणजातिमवगच्छति इत्येके। तदलमनया कथया।

विभिन्न अनेक वर्णों में एक सामान्य नहीं होता है। ऐसा इसलिए नहीं होता है कि वर्णों में सामान्य होता ही नहीं। साङ्ख्य सिद्धान्त के समान यह कहना भी सही नहीं है कि समान रूपता ही है सामान्य। क्योंकि समान रूपता तो गाय और गवय आदि में भी देखा जाता है। वहाँ भी समान रूपता की बुद्धि होती पायी ही जाती है। यदि 'यह शब्द है और यह भी शब्द है' इत्यादि बुद्धियों को 'श्रोत्रगम्यत्व' स्वरूप उपाधि कहा जाय तब गो आदि में भी एकाकार बुद्धि वहन दोहन आदि एक प्रयोजन सम्पादकता प्रयुक्त कहा जा सकने के कारण बौद्धों के समान गोत्व आदि जातियों का भी अभाव प्रसङ्ग हो उठेगा। किन्तु ऐसा तो है नहीं। इस लिए गोत्व के समान शब्दत्व जाति का भी खण्डन नहीं किया जा सकता है।

प्रदर्शित युक्ति के आधार पर ब्राह्मणत्व आदि सामान्य भी समर्थित ज्ञातव्य है। क्योंकि वह उपदेश के सामान्य से युक्त प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा जाति रूप में अवगत होता है। यह कहना ठीक नहीं है कि उपदेश की अपेक्षा अवगत होने के कारण वह प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं माना जा सकता। क्योंकि गोत्व आदि का ज्ञान भी सम्बन्ध ग्रहण के काल में उपदेश सापेक्ष पाया जाता है। कहा भी गया है कि 'जो पर्वत के शृंग पर चढ़कर देखा जाता है उसे अप्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता है'। पैठीनसि और पैप्पलाद आदि में होने वाला ब्राह्मणत्व का ज्ञान जातिमूलक नहीं किन्तु उपाधि मूलक होता है– ऐसा नहीं है। क्योंकि उपाधि का ग्रहण वहाँ नहीं होता है। और औपाधिक तो गोत्व आदि को भी कहा जा सकता है। और कुछ लोगों का कहना यह है कि उपदेश की अपेक्षा के बिना भी आँख क्षत्रिय आदि से विलक्षण ब्राह्मण आदि जाति को ग्रहण करती ही है। इसलिए अधिक विचार व्यर्थ है।

[शब्दनित्यत्वसमर्थकयुक्तीनां परिहरणम्]

प्रकृतमुच्यते, गत्वादिभिर्जातिभिरेवार्थसंप्रत्ययोपपत्तेर्यदुक्तं 'नित्यस्तु स्यात् दर्शनस्य परार्थत्वात्' इति। एतदयुक्तम्, एतेन 'सर्वत्र यौगपद्यात्' इत्येतदपि प्रत्युक्तम्। सम्बन्धनियमस्य गत्वादिभ्य एव सिद्धेः।

यदपि कान्तस्य तन्वङ्ग्या त्रिरपाङ्गविलोकनम्।
चतुरालिङ्गनं गाढमष्टकृत्वश्च चुम्बनमिति।।

तद्भेदेऽपि दर्शनात्। अथ तत्र स्त्रीपुंसयोरभेदे चुम्बनादिक्रियामात्रभेद एवेत्युच्यते तथाप्यपूर्वेषु ब्राह्मणेषु भुक्तवत्सु पञ्चकृत्वो ब्राह्मणा भुक्तवन्त इति व्यवहारो दृश्यते।

कविना सदनुप्रासे निबद्धेऽक्षरडम्बरे।
गकारा बहवो दृष्टा इति व्यवहरन्ति हि।।
यदपि प्रत्यभिज्ञानं तद्द्वारकमुदाहृतम्।
तस्यापि सिद्धे प्रामाण्ये जात्यालम्बनता भवेत्।।
नृत्ताभिनयचेष्टादिप्रत्यभिज्ञानतो वयम्।
विशेषं प्रत्यभिज्ञाने न पश्यामो मनागपि।।
शब्दस्य प्रत्यभिज्ञानवेलायामेव दृश्यते।

शब्द की नित्यता के समर्थक युक्ति का परिहार

प्रकृत विषय पर कहा जा रहा है। गत्व आदि जाति के कारण ही अर्थ का ज्ञान उपपन्न होने से 'दर्शन की परार्थता के कारण शब्द नित्य होगा' यह कथन उचित नहीं है। इसी युक्ति से यह भी खण्डित ज्ञातव्य है कि शब्द इसलिए नित्य है कि सब जगह यौगपद्य पाया जाता है'। क्योंकि सम्बन्ध का नियम गत्व आदि से ही सिद्ध हो सकता है। और संख्याके कारण जो कृत्वसुच् प्रत्यय का प्रयोग दिखलाया गया है। वह भी व्यभिचारी पाया जाता है। क्योंकि 'उस युवती के द्वारा अपने पति का तीन बार अवलोकन, चार बार गाढ़ आलिङ्गन और आठ बार चुम्बन किया गया' ऐसा भी वाक्य प्रयोग किया ही जाता है? कृत्वसुच् प्रत्यय का प्रयोग भेद स्थल में भी होता पाया ही जाता है। यदि वहाँ यह कहा जाय कि स्त्री और पुरुष में अभेद होने पर भी चुम्बन आदि क्रिया मात्र का भेद होता है, तो फिर भी विभिन्न ब्राह्मणों के भोजन स्थल में भी 'ब्राह्मणों ने पांच बार कर के खाया' ऐसा वाक्य प्रयोग होता पाया जाता है। 'कवि के द्वारा काव्य में अक्षरावृत्ति स्वरूप अनुप्रास करने पर लोग यह व्यवहार करते ही हैं' कि उनके काव्य में गकार पाये जा रहे हैं। वर्णनित्यता मूलक प्रत्यभिज्ञा की जो बात उठाई गयी है, वह भी जाति के आधार पर होने वाली कही जा सकती है– यह पहले भी सोदाहरण बतलाया जा चुका है। उस प्रत्यभिज्ञा का भी प्रामाण्य सिद्ध होने पर जातिमूलकता कही जा सकती ही है। क्योंकि शब्द प्रत्यभिज्ञा स्थल में भी नृत्य आदि की प्रत्यभिज्ञा से कोई विलक्षणता नहीं पायी जाती है। प्रत्यभिज्ञान काल में ही शब्द का ध्वंस हो जाता है फिर शब्द को नित्य कैसे कहा जा

शब्दरूपस्य विध्वंस इति तन्नित्यता कुतः।।

यद्यपि च क्षणभङ्गभङ्गे प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्यमस्माभिरपि समर्थयिष्यते तथापि स्तम्भादिप्रत्यभिज्ञायाः शब्दप्रत्यभिज्ञाया एष एव विशेषः यदत्र ध्वस्तः शब्द इति तदैव प्रत्ययो जायते। अत एव तिरोहितेऽपि भावादियमप्रमाणं प्रत्यभिज्ञेत्याहुः।

यद्यपि ध्रियतेऽस्माकं शब्दो द्वित्रानपि क्षणान्।
प्रत्यभिज्ञा तु कालेन तावता नावकल्पते।।

तथा हि शब्द उत्पद्यते तावत्ततः स्वविषयं ज्ञानं जनयति। अजनकस्य प्रतिभासायोगात् ततस्तेन ज्ञानेन शब्दो गृह्यते। ततः संस्कारोद्बोधः ततः पूर्वज्ञातशब्दस्मरणं ततस्तत्सचिवं श्रोत्रं मनो वा शब्दप्रत्यभिज्ञानं जनयिष्यति तथा शब्दं ग्रहीष्यत इतीयत्कुतोऽस्य दीर्घमायुः। प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्यादेव तावदायुस्तस्य कल्प्यत इति चेत्सत्यं कल्प्येत यदि विनाशप्रत्ययस्तदैव न स्यात्। अपि च गोशब्दोऽयमश्वशब्दोऽयमिति तदभिधानविशेषोल्लेखात्।

नानानुस्मरणं तस्य तदैवावश्यमापतेत्।
विज्ञानायौगपद्याच्च कालो दीर्घतरो भवेत्।।
यदप्युदितमुद्दाममेघश्यामासु रात्रिषु।

सकता? यद्यपि क्षणभङ्ग के भङ्ग के अवसर पर प्रत्यभिज्ञा के प्रामाण्य का समर्थन हम लोगों के द्वारा भी किया जायेगा तथापि स्तम्भ आदि की प्रत्यभिज्ञा से शब्द की प्रत्यभिज्ञा में यही विशेषता पायी जाती है कि यहाँ प्रत्यभिज्ञा के समय ही शब्द नष्ट हो गया— यह ज्ञान भी होता है। इसीलिए मीमांसक लोग जब तिरोधान के अनन्तर भी प्रत्यभिज्ञा मानते हैं, तब वह प्रत्यभिज्ञा अप्रमाण कही जा सकती है।

यद्यपि हम लोगों के मत में शब्द दो तीन क्षणों तक भी रहता है परन्तु उतने काल को लेकर ही प्रत्यभिज्ञा नहीं बन पाती। जैसे कि शब्द उत्पन्न होता है, तब वह अपने ज्ञान को उत्पन्न करता है, क्योंकि प्रत्यक्ष के अजनक का उसके द्वारा प्रतिभास नहीं होता। तब उस ज्ञान के द्वारा शब्द गृहीत अर्थात् विषयीकृत होता है। तब संस्कार का उद्बोध होता है, तब पूर्वज्ञात शब्द का स्मरण होता है, तब जाकर उसकी सहायता से मन शब्द की प्रत्यभिज्ञा को पैदा करेगा और उसके द्वारा पूर्वगृहीत रूप में वह शब्द गृहीत होगा। शब्द की इतनी दीर्घ आयु कहाँ? इस पर यदि यह कहा जाय कि प्रत्यभिज्ञा गत प्रामाण्य के बल पर ही शब्द की उतनी आयु कल्पित होगी तो इस पर वक्तव्य यह है कि वह कल्पना तब सही हो पाती यदि प्रत्यभिज्ञा काल में शब्द के विनाश का प्रत्यक्ष नहीं होता। और यह भी कि यह गो शब्द है, यह अश्व शब्द है इस प्रकार उसका नामोल्लेख होता पाया जाता है।

जो इस प्रक्रिया को नहीं स्वीकार करेगा उसे नाना स्मरण उतने ही काल में आपन्न होंगे। अनेक ज्ञान युगपत् हो नहीं सकते इसलिए काल को लम्बा अर्थात् अधिक मानना होगा। यह भी जो कहा गया है कि निविड़ मेघ प्रयुक्त काली रातो में विद्युत् और मेघ

साम्यं सौदामिनीधामजन्यया प्रत्यभिज्ञया।।
सदसत्कालदैर्घ्येण तदवस्थितिसम्भवात्।।
विद्युद्दृष्टे च वृक्षादौ नाशसंवित्त्यसम्भवात्।।

प्रत्यभिज्ञा नाम स्मर्यमाणानुभूयमानसामानाधिकरण्यग्राहिणी। संस्कारसचिवेन्द्रिय-जन्या प्रतीतिरिति केचित्।

अन्ये मन्यन्ते स्मर्यमाणपूर्वज्ञानविशेषितार्थग्राहित्वात्प्रत्यभिज्ञायास्तद्विशेषणस्य चार्थस्य बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वानुपपत्तेः स्तम्भादावपि मानसी प्रत्यभिज्ञेति।

निर्बन्धस्त्विह नास्माकं सा यथास्तु तथास्तु वा।
शब्दे विनाशज्ञानात्तु न सा नित्यत्वसाधिका।।
बाध्यबाधकभावे तु नियमो ननु किंकृतः।
शब्दस्य प्रत्यभिज्ञानमन्यथाप्युपपद्यते।।
गत्वादिजातिविषयं यद्वा सादृश्यहेतुकम्।
न त्वभिव्यञ्जकध्वंसान्नाशधीरपि सेत्स्यति।।
तदसावपि बाध्यास्तु यद्वा भवतु संशयः।
मैवं विनाशिता बुद्धिर्भेदबुद्ध्युपबृंहिता।।

मूलक प्रत्यभिज्ञा को लेकर समता होती है, सो भी काल दैर्ध्य के होने और न होने पर भी विद्युत् और मेघ की स्थिति के कारण सम्भव है। विद्युत् के द्वारा वृक्ष आदि के देखे जाने के स्थल में नाश का ज्ञान तो होता नहीं है। प्रत्यभिज्ञा स्मर्यमाण और अनुभूयमान के सामानाधिकरण्य को अर्थात् एकत्र स्थिति को विषय करती है। और कुछ लोगों का कहना यह है कि वह संस्कार के साहाय्य को प्राप्त करने वाली इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाली होती है। और लोग ऐसा मानते हैं कि प्रत्यभिज्ञा नियमतः स्मर्यमाण पूर्वज्ञान से विशेषित विषय को ग्रहण करने वाली होती है। ऐसी परिस्थिति में ज्ञानात्मक विशेषण युक्त अर्थ जो बाह्य इन्द्रिय से गृहीत हो सकता नहीं, वह अनुपपन्न होने के कारण स्तम्भ आदि की प्रत्यभिज्ञा भी मानसी होती है।

इसके सम्बन्ध में हम लोगों को कोई आग्रह नहीं है। वह जिस प्रकार क्यों न हो? हुआ करे। प्रत्यभिज्ञा काल में शब्द के विनाश का ज्ञान होने के कारण वह शब्द के नित्यत्व की साधिका नहीं हो सकती है। बाध्यबाधकभाव मानने पर फिर शब्द की प्रत्यभिज्ञा और उसके विनाश के प्रतिभास इन दोनों का नियम किंकृत होगा? तो कहा जा रहा है – कि प्रत्यभिज्ञा तो और तरह से भी उपपन्न हो सकती। वह गत्व आदि जाति को भी विषय कर सकती है अथवा सादृश्य मूलक भी हो सकती है। किन्तु शब्द के नाश की बुद्धि अभिव्यञ्जक के नाश प्रयुक्त नहीं सिद्ध हो सकती है। इसलिए या तो प्रत्यभिज्ञा बाध्य हो जाय या उसका संशय हो जाय किन्तु शब्द की विनाशिता की बुद्धि उस प्रकार बाध्य नहीं होगी। क्योंकि वह भेद बुद्धि के द्वारा परिपुष्ट होती है। इसलिए शब्द की

सा चेयं चान्यथासिद्धे इति वक्तुमसाम्प्रतम्।
प्रत्यभिज्ञा च सापेक्षा निरपेक्षा त्वभावधीः।।
तेनैवमादौ विषये प्रत्यभिज्ञैव बाध्यते।

शब्दाभावस्य ग्रहणात्प्रत्यभिज्ञायाश्च पूर्वानुसन्धानादिसव्यपेक्षत्वात्। अपि च प्रत्यभिज्ञा व्यभिचरन्ती कर्मादिषु गृह्यते तेनास्यां शब्देऽप्यभावप्रत्ययोपहतवपुषि कः समाश्वासः। न चेदं प्रत्यक्षेऽप्यनैकान्तिकत्वोद्भावनम् अपि तु विनाशप्रत्ययप्रतिहतप्रभावा प्रत्यभिज्ञा नित्यत्वं कर्मादिष्विव शब्देऽपि न साधयितुं प्रभवतीति। दृष्टान्तस्य कोऽवसरः। सत्यम् ग्राहिकास्तु भवादृशाः स्वयमनवबुध्यमाना एवं बुद्ध्यन्ते।

यत्तु प्रवृद्धरभसतया बुद्धिकर्मादावपि नित्यत्वसमर्थनं तदत्यन्तमलौकिकमित्युक्तम्।

किं नाम शब्दनित्यत्वसमर्थनतृषातुरः।
जङ्गमं स्थावरं चैव सकलं पातुमिच्छसि।।

तस्मादलमतिरभसप्रवृत्ताभिराभिर्बुद्धिकर्मादिनित्यत्वसमर्थनकथाभिः।

[शब्दाभिव्यक्तिपक्षखण्डनम्]

यत्पुनरभिव्यक्तिपक्षे शब्दस्य ग्रहणे नियमाभावमाशङ्क्य श्रोत्रसंस्कारेण

विनाशिता की बुद्धि अन्यथा नहीं सिद्ध होती। अतः उसे अन्यथासिद्ध कहना उचित नहीं है। प्रत्यभिज्ञा सापेक्ष होती है और शब्द की विनाश बुद्धि निरपेक्ष होती है। इसलिए ऐसी परिस्थिति में प्रत्यभिज्ञा ही बाधित होती है। क्योंकि शब्द के विनाश की बुद्धि निरपेक्ष भाव से हो जाती है और प्रत्यभिज्ञा को तो पूर्वानुसन्धान आदि की अपेक्षा होती है। और यह भी कि प्रत्यभिज्ञा तो कर्म आदि स्थल में व्यभिचरित पायी जाती है। इसलिए शब्द के विनाश बुद्धि से उपहत होने पर प्रत्यभिज्ञा पर क्या भरोसा किया जा सकता है? उस पर क्या विश्वास किया जा सकता है?

यह प्रत्यक्ष में भी व्यभिचार का उद्भावन नहीं किया जा रहा है। किन्तु प्रत्यभिज्ञा का प्रभाव शब्द के विनाश प्रत्यय से उपहत है— यह बतलाया जा रहा है। इसलिए कर्म के समान शब्द में भी वह नित्यत्व नहीं सिद्ध कर सकती है। प्रत्यक्ष स्थल में दृष्टान्त का क्या अवसर है? सत्य है, प्रत्यभिज्ञा ग्राहक हो ऐसा आप लोग स्वयं न समझते हुए समझते हैं। और दुराग्रह के आवेग में आकर जो ज्ञान और कर्म आदि में भी नित्यत्व का समर्थन किया जाता है, वह अत्यन्त लोक विरुद्ध होने के कारण त्याज्य है यह कहा जा चुका है। क्या शब्द की नित्यता के समर्थन की तृषा से आतुर जन सभी स्थावर जङ्गम आदि तक को पी लेना चाहते हैं? इसलिए अत्यन्त दुराग्रह के आवेग में आकर चलायी जाने वाली ये ज्ञान और कर्म आदि की नित्यता के समर्थन की कथाएँ व्यर्थ हैं।

शब्द के अभिव्यक्ति पक्ष का खण्डन

अभिव्यक्ति पक्ष में शब्द के ग्रहण में नियम के अभाव की आशङ्का उठाकर जो श्रोत्र

विषयसंस्कारेणोभयसंस्कारेण वा नियतं ग्रहणमुपवर्णितं तद्वञ्चनामात्रम्। समानदेशानां समानेन्द्रियग्राह्याणां प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वादर्शनात्। ये पुनरत्र गन्धा उदाहृताः ते समानेन्द्रियग्राह्या भवन्ति न समानदेशाः।

एकभूम्याश्रितत्वेन तुल्यदेशत्वकल्पने।
भवेत्समानदेशत्वं हिमवद्विन्ध्ययोरपि।।
एकत्वेऽपि भुवो भान्ति पदार्थाः पार्थिवाः पृथक्।
व्यज्यन्ते तदधिष्ठाना गन्धास्तैस्तैर्निबन्धनैः।।
भवन्त्वनाश्रिताः शब्दा यदि वाकाशसंश्रिताः।
सर्वथा भिन्नदेशत्वमेषां वक्तुं न शक्यते।।

ननु यथैकत्वेऽपि नभसः तद्भागकल्पनया प्रतिपुरुषं श्रोत्रेन्द्रियभेदः एवं तद्भागकल्पनयैव शब्दानामपि असमानदेशत्वान्नियतव्यञ्जकव्यङ्ग्यता भविष्यति। नैवमुपपद्यते, यत्रैव वक्तृमुखाकाशदेशे श्रोतृश्रोत्राकाशदेशे वा गोशब्द उपलब्धः तत्रैवाश्वशब्द इदानीमुपलभ्यते न पुनरतिमुक्तकुसुमे य उपलब्धो गन्धः स बन्धूके मधूके वा कदा चिदुपलभ्यत इति।

संस्कार के द्वारा या विषय संस्कार के द्वारा अथवा दोनों के संस्कार द्वारा नियत ग्रहण का उपवर्णन किया गया है, वह वञ्चनामात्र है। क्योंकि एक ही स्थान में होने वाले ऐसे बहुतों में जो कि एक ही इन्द्रिय के द्वारा गृहीत होने वाले हों उन में अलग अलग व्यञ्जक के द्वारा व्यक्त होना नहीं पाया जाता। यहाँ जो गन्धों को उदाहरण रूप में उपस्थित किया गया है, वह इसलिए उचित नहीं कि वे एक इन्द्रिय के द्वारा गृहीत होने वाले तो होते हैं किन्तु वे एकत्र ही रहने वाले नहीं होते हैं।

एक पृथिवी में ही आश्रित होने के कारण यदि सभी गन्धों को तुल्यदेश अर्थात् एकत्र स्थित माना जाय तो हिमालय और विन्ध्य पर्वत को भी समान देश मानना पड़ेगा। पृथिवी के एक होने पर भी पार्थिव पदार्थ अलग अलग प्रतीत होते हैं। और उनमें रहने वाली विभिन्न गन्ध विभिन्न उपायों से गृहीत होती हैं। शब्द अनाश्रित हों अथवा आकाशाश्रित हों, सर्वथा उन्हें विभिन्नाश्रित नहीं कहा जा सकता। अब इस पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जिस प्रकार आकाश के एक होने पर भी उसके भाग की कल्पना के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को श्रोत्रेन्द्रिय का भेद होता है। उसी प्रकार उसके भाग की कल्पना करके शब्द में भी असमान देशता हो सकने के कारण नियत ही व्यञ्जक के द्वारा शब्द में अभिव्यङ्ग्यता होगी? तो इस प्रकार वह उपपन्न नहीं हो सकता है। क्योंकि वक्ता के जिस मुखाकाश देश में किंवा श्रोता के श्रोत्राकाश देश में गो शब्द उपलब्ध हुआ था वहाँ ही अब अश्व शब्द उपलब्ध होता है। किन्तु ऐसी बात गन्ध के सम्बन्ध में नहीं होती है, जो गन्ध अतिमुक्त पुष्प में उपलब्ध होता है, वही बन्धूक किंवा मधूक पुष्प में उपलब्ध कभी

तस्मात्समानदेशत्वान्न व्यक्तौ नियमो भवेत्।
उत्पत्तौ तु व्यवस्थायां तद्भेद उपपद्यते।।
नादैः संस्क्रियतां शब्दः श्रोत्रं वा द्वयमेव वा।
सर्वथा नियमो नास्ति व्यञ्जकेष्विति निश्चयः।।
व्यवस्था व्यञ्जकानां चेदुच्यतेऽदृष्टकारिता।
उत्पत्तौ दृश्यमानायां दृष्टमप्यविरोधकम्।।

न च स्तिमितमारुतापनयनव्यतिरिक्तः कश्चन श्रोत्रसंस्कारो विद्यते। तत्र चातिप्रसङ्ग उक्त एवातिरिक्तसंस्कारकल्पनायां त्वदृष्टकल्पना। स्थिरे च शब्दसंस्कारग्रहणमिति पुनरनभिव्यक्तस्यापि गोशब्दस्य श्रवणं स्यात्। तद्ग्रहणहेतोः संस्कारस्य स्थिरत्वात्। तत्क्षणिकत्वे तु शब्दक्षणिकतैव साध्वी प्रतीयमानत्वात्।

यत्तु भर्तृमित्रस्तमेव संस्कारं श्रोत्रेन्द्रियमभ्युपैति। तदिदमपूर्वकं किमपि पाण्डित्यम्। इन्द्रियस्य हि संस्कार्यस्य कल्पनमनुपपन्नम्। अनश्वरत्वे तु शश्वदेव शब्दकोलाहलप्रसङ्ग इति यत् किञ्चिदेतत्। भट्टेनैव सोपहासमेष दूषितः पक्ष इति, किमत्र विमर्देन।

यदपि भट्ट आह–

यदि त्ववश्यं वक्तव्यस्तार्किकोक्तिविपर्ययः।
ततो वेदानुसारेण कार्या दिक्श्रोत्रतामतिः।। इति।

नहीं होता है। इसलिए समान देश होने के कारण व्यक्ति पक्ष में नियम नहीं बनता है। और उत्पत्ति पक्ष में व्यवस्था प्रयुक्त शब्द भेद एवं श्रवण भेद उपपन्न हो पाता है। नाद के द्वारा शब्द एवं श्रोत्र अथवा दोनों संस्कार युक्त क्यों न हों किन्तु व्यञ्जनपक्ष में नियम सर्वथा नहीं उपपन्न हो सकता– यह बिलकुल निश्चित है। व्यञ्जक की व्यवस्था यदि अदृष्ट कारित अर्थात् अदृष्ट प्रयुक्त कही जाय तो उत्पत्ति दृश्यमान होने के कारण दृष्ट भी विरोध रहित होता है। स्तिमित पवन के अपनयन से अतिरिक्त कोई श्रोत्र का संस्कार नहीं हो सकता है। और उसके सम्बन्ध में अतिप्रसङ्ग कहा ही जा चुका है। और अन्य प्रकार के संस्कार की कल्पना अदृष्ट कल्पना होगी। स्थिर मानने पर संस्कार को मानना होगा और फिर अनभिव्यक्त गोशब्द का भी श्रवण होगा। क्योंकि उसके ग्रहण के हेतु भूत संस्कार सभी समान देश शब्द के लिए स्थिर रूप से व्यञ्जक होगा। उस संस्कार को यदि क्षणिक माना जाय तो उससे अच्छा तो यही होगा कि शब्द को ही क्षणिक मान लिया जाय। क्योंकि वह प्रतीयमान है। भर्तृमित्र जो उस संस्कार को ही श्रोत्र मानते हैं, यह उनका कोई अपूर्व ही पाण्डित्य है। इन्द्रिय की ही संस्कार्य रूप में कल्पना उपपन्न नहीं होता है। क्योंकि शब्द को नित्य मानने पर एक साथ ही कोलाहल का प्रसङ्ग हो उठेगा। अतः इन्द्रिय को संस्कार्य मानना सारहीन है। स्वयं भट्ट के द्वारा ही उपहास पूर्वक यह पक्ष दूषित हुआ है, ऐसी परिस्थिति में उसके खण्डन की क्या आवश्यकता?

यह भी जो भट्ट ने कहा है कि 'तार्किकों की उक्ति के विपरीत यदि अवश्य ही कहना है तो वेद के अनुसार दिक् में ही श्रोत्रता की बुद्धि कर्त्तव्य है' वह भी अनुचित है। क्योंकि

तदप्यसांप्रतम्–

दिशां कार्यान्तराक्षेपादागमान्यपरत्वतः।
आहोपुरुषिकामात्रं दिग्द्रव्यश्रोत्रकल्पनम्।।

इन्द्रियाणां भौतिकत्वस्य साधयिष्यमाणत्वाद्दिशश्चामूर्तत्वान्नेन्द्रियप्रकृतित्वं व्यापकत्वाविशेषे वा कालात्मनोरपि तथाभावप्रसङ्गः। तयोरन्यत्र व्यापारकत्वान्नेन्द्रियप्रकृतित्वमिति चेद् दिग्द्रव्येऽपि तुल्यमेतत्। आगमस्त्वन्यपर एव। यथा हि सूर्यं चक्षुर्गच्छताद् दिशः श्रोत्रमिति पठ्यते एवमन्तरिक्षमसव इति च पठ्यते एव। न चासवोऽन्तरिक्षप्रकृतिकाः पवनात्मकत्वात्। तस्मात्कृतं दिशा आकाश एव कर्णशष्कुल्यवच्छिनः शब्दनिमित्तोपभोगप्रापकधर्माधर्मोपनिबद्धः श्रोत्रमित्युक्तम्।

ननु धर्माधर्मकृतश्रोत्रनियमवदभिव्यक्तिनियमोऽपि शब्दस्य तत्कृत एव भविष्यति किमिति तदनियमो नित्यत्वपक्षे चोद्यत इति। नैतद्युक्तम्, चक्षुरादीन्द्रियाणां वैफल्यमदृष्टनिबन्धनमन्धकारप्रभृतिषु दृश्यते न पुनः पदार्थस्थितिरदृष्टवशाद्विपरिवर्तते, व्यञ्जकधर्मातिक्रमे हि हिममपि शैत्यं स्वधर्ममतिक्रामेत्। व्यञ्जकेषु नियमो न दृष्ट

दिशाओं का कार्यान्तर कल्पित अर्थात् निश्चित है। वेद अन्याभिप्रायक है, अतः दिक् द्रव्य को श्रोत्र मानना एक आश्चर्यप्रद पुरुषत्व का अभिमान मात्र है। इन्द्रियों की भौतिकता आगे चलकर सिद्ध की जाने वाली है। और दिक् अमूर्त है, इसलिए वह इन्द्रिय की प्रकृति नहीं हो सकती अर्थात् उसे इन्द्रिय नहीं माना जा सकता। यदि व्यापकता की समानता बतलायी जाय तो काल और आत्मा की भी श्रोत्रता प्रसक्त होगी अर्थात् आपन्न होगी। यदि यह कहा जाय कि उन दोनों के कार्य और हैं, तो यह बात दिक् द्रव्य में भी समान रूप से लागू होती है। वेद तो अन्याभिप्रायक ही है। जिस प्रकार चक्षु सूर्य को जाये और श्रोत्र दिशाओं को– ऐसा वेद में कहा गया है। उसी प्रकार वहाँ यह भी तो कहा गया है कि प्राण अन्तरिक्ष में जायें। इसलिए दिक् की इस रूप में आवश्यकता नहीं है। इसलिए शब्द के उपभोग का प्रापक धर्म और अधर्म से उपनिबद्ध कर्णशष्कुली से सीमित आकाश ही श्रोत्र है– यह कहा जा चुका है।

इस पर प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि धर्माधर्म कृत श्रोत्र नियम के स मान शब्द का अभिव्यक्ति-नियम भी धर्माधर्मकृत ही होगा है, फिर नित्यत्व पक्ष में उसके अनियम की आशङ्का क्यों उठायी जा रही है? तो उत्तर यह है कि यह उचित नहीं है, क्योंकि अन्धकार आदि स्थलों में चक्षु आदि की विफलता अदृष्टकारित देखी जाती है, किन्तु पदार्थों की स्थिति में परिवर्त्तन अदृष्टकारित नहीं होता है। व्यञ्जक के धर्म में अतिक्रम मानने पर हिम अर्थात् बरफ भी अपने धर्म शीतलत्व का अतिक्रमण करने लगेगा। व्यञ्जकों में नियम नहीं देखा जाता है– यह कहा जा चुका है। वर्णों का भेद जब देखा जा

इत्युक्तम्। दृष्टे च वर्णभेदे नियतोपलब्धिहेतौ सम्भवति सति किमयमदृष्टमस्तके भार आरोप्यते। कथं चाभिव्यक्तिपक्षे तीव्रमन्दविभागः। तीव्रतादयो हि वर्णधर्मा वा स्युः ध्वनिधर्मा वा? वर्णधर्मत्वे तीव्रगकारादन्यत्वं मन्दस्येत्यस्मन्मतानुप्रवेशः।

ध्वनिधर्मत्वपक्षे तु श्रोत्रेण ग्रहणं कथम्।
न हि वायुगतो वेगः श्रवणेनोपलभ्यते।।

यत्तु व्यक्तिधर्माः कृशत्वस्थूलत्वादयो जातावुपलभ्यन्त इति दर्शितं, तत्काममुपपद्येतापि जातेर्व्यक्तेस्तद्धर्माणां च समानेन्द्रियग्राह्यत्वात्।

इह तु स्पर्शनग्राह्यः पवनोऽतीन्द्रियोऽथवा।
तद्धर्माः श्रावणे शब्दे गृह्यन्त इति विस्मयः।।

यत्तु बुद्धिरेव तीव्रमन्दवतीति तदतीव सुभाषितम्। असति विषयभेदे बुद्धिभेदानुपपत्तेः।

किं च नित्यपरोक्षा ते बुद्धिरेवं च नादवत्।
तदग्रहान्न तीव्रादितद्धर्मग्रहसम्भवः।।
अहो तीव्रादयस्तीव्रे प्रपाते पतिता अमी।
यो गृह्यते न तद्धर्मा यद्धर्मा स न गृह्यते।।
यश्चाभिभववृत्तान्तस्त्वन्मते मरुतामसौ।

रहा है और नियत उपलब्धि का हेतु जब हो सकता है तब अदृष्ट के मस्तक पर क्यों भार थोपा जा रहा है! और अभिव्यक्तिपक्ष में तीव्रता और मन्दता की उपपत्ति कैसे होगी? तीव्रता आदि ध्वनि के धर्म होंगे या वर्ण के? यदि उन्हें वर्ण का धर्म माना जाय तो तीव्र गकार से मन्द गकार का अन्यत्व आ गिरेगा। इसलिए मेरे मत में प्रवेश करना पड़ेगा। और यदि तीव्रता आदि को ध्वनि का धर्म माना जायेगा तो श्रोत्र से उसका ग्रहण कैसे होगा? वायुगत वेग तो श्रोत्र से गृहीत नहीं होता? यह जो कहा जाता है कि कृशत्व तथा स्थूलत्व आदि व्यक्तिगत धर्म जाति में उपलब्ध होते हैं, वह हो सकता है कि व्यक्ति और जाति दोनों एक इन्द्रियग्राह्य होते हैं। किन्तु यहाँ तो पवन या तो अतीन्द्रिय होता है या त्वचाग्राह्य, उसके धर्म श्रोत्रग्राह्य शब्द में गृहीत होते हैं– यह तो आश्चर्य की बात होगी। यह जो कहा जाता है कि ज्ञान ही तीव्रता-मन्दता आदि धर्मवाला होता है, यह तो बड़ा अच्छा भाषण हुआ। क्योंकि विषयभेद के बिना बुद्धि भेद सम्भव नहीं है। वह सर्वथा अनुपपन्न है। और यह भी कि तुम मीमांसकों के मत में ज्ञान सर्वथा अतीन्द्रिय है, जिस प्रकार नाद अतीन्द्रिय है। ऐसी परिस्थिति में उसके अग्रहण प्रयुक्त उसके धर्म तीव्रता आदि का भी ज्ञान नहीं हो पायेगा। तब हाय ये तीव्रता आदि अति तीव्र झरने में गिर गये। क्योंकि जो गृहीत होने वाले हैं उनके वे धर्म नहीं है और जिसका वे धर्म माने जा रहे है वह गृहीत नहीं होते हैं। तुम्हारे मत में अभिभव की जो बात की जा रही है सो होगी पवन

अनिले चाभिभूतेऽपि शब्दो न श्रूयते कथम्।।
दीपेऽभिभूते रविणा न हि रूपं न गृह्यते।
नियतव्यञ्जकत्वं तु प्रतिक्षिप्तमदर्शनात्।।
यत्तु शङ्खादिशब्दानां श्रोत्रग्राह्यत्वसिद्धये।
शब्दत्वं तत्र तद्ग्राह्यमित्यवादि तदप्यसत्।।
सत्यं वदत दृष्टं वा श्रुतं वा क्व चिदीदृशम्।
आश्रयस्य परोक्षत्वं तत्सामान्योपलम्भनम्।।
शब्दो न तेऽस्त्य [स्ति] वर्णात्मा न शङ्खो [ब्दो] वर्णसम्भवः।
न नादवृत्ति शब्दत्वमिति तद्ग्रहणं कथम्।।

[अभिव्यङ्ग्यशब्दपक्षापेक्षया कार्यशब्दपक्षे लाघवम्]

यत्पुनरिदं सन्धारितं व्यङ्ग्यकार्यपक्षयोः क्व शब्दग्रहणे गुर्वी कल्पना भवति क्व वा लघ्वीति। तदपि मौलप्रमाणविचारसापेक्षत्वादप्रयोजकम्।

यदि मौलप्रमाणेन साधिता नित्यशब्दता।
त्वदुक्ता कल्पना साध्वी मदुक्ता तु विपर्यये।।

कोष्ठ्येन च बहिः प्रसरता समीरणेन सर्वतः स्तिमितमारुतापसारणं क्रियते इत्येतदेव तावदलौकिकं कल्पितम्। 'अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यग्गमनमणुमनसोश्चाद्यं

में तो उसके अभिभूत होने पर भी शब्द क्यों नहीं सुना जाता है? सूर्य के द्वारा दीप के अभिभूत होने पर ऐसा तो नहीं होता है कि रूप देखा नहीं जाता है। नियत व्यञ्जकता की बात तो अदर्शन से ही प्रतिक्षिप्त हो गयी। यह जो कहा गया है शङ्ख आदि के शब्दों में श्रोत्र ग्राह्यता की सिद्धि के लिए उनमें शब्दत्व को श्रोत्रग्राह्य मानना होगा, वह भी सही नहीं है। सही बतलाओ कहीं ऐसा देखा या सुना भी गया है कि आश्रय हो परोक्ष और उसका धर्मभूत सामान्य हो जाय अपरोक्ष? तेरे मत में शब्द न वर्णात्मक होगा और न वर्ण से उत्पन्न होने वाला। और न शब्दत्व नादवृत्ति होगा फिर उसका ग्रहण कैसे होगा?

शब्द की कार्यता पक्ष में लाघव

यह जो अवधारणा की गयी कि व्यङ्ग्यता पक्ष और कार्यता पक्ष– इन दोनों के अन्दर शब्द के ग्रहण में किस में कल्पनागौरव होता है और किस में कल्पनालाघव? वह भी मूलगत प्रमाण सापेक्ष होने के कारण अप्रयोजक अर्थात् अकिञ्चित्कर है। यदि मौलिक प्रमाण के बल पर शब्द की नित्यता सिद्ध हो जाय तब तो तेरी कल्पना अच्छी होगी और उसके वैपरीत्य में मेरी कल्पना अच्छी होगी। बाहर प्रसरण शील उदर गत पवन के द्वारा स्तिमित वायु का अपसारण किया जाता है – इतना ही तो अलौकिक अर्थात् नवीन कल्पित हो रहा है। क्योंकि 'अग्नि का ऊर्ध्वज्वलन होता है, वायु का तिर्यग्गमन होता है, मन और परमाणु के प्रथम कर्म अदृष्टकारित होते हैं।' यह निश्चित होने के कारण वायु के

कर्मेत्यदृष्टकारितानि' इति मरुतां निर्यग्गमनस्वभावत्वादूर्ध्वमधश्च शब्दश्रवणं न भवेत्।

यावन्न वेगिनान्येन प्रेरितो मातरिश्वना।
तावन्नैसर्गिको वायुर्न तिर्यग्गतिमुज्झति।।
अधोमुखप्रयुक्तोऽपि शब्द ऊर्ध्वं प्रतीयते।
उत्तानवदनोक्तोऽपि नाधो न श्रूयते च सः।।
कदम्बगोलकाकारशब्दारम्भो हि सम्भवेत्।
न पुनर्दृश्यते लोके तादृशी मरुतां गतिः।।
आकण्ठानद्धनीरन्ध्रचर्मावृतमुखोदितः।
शब्दो यः श्रूयते तत्र न कोष्ठ्यानिलसर्पणम्।

कुड्यादिप्रतिबन्धेन वायोरप्रसरणं भवद्भिरपि कथितमेव निर्विवरचर्मपुटोपरुद्धोऽप्यसौ न प्रसरेत।

अपि च सर्वतो निरुद्धनवद्वारस्यापि जठरे गुरगुराशब्दो मन्दाग्नेः श्रूयते अत्र कुतो व्यञ्जकानां कोष्ठ्यपवनानां निस्सृतिः। रोमकूपनिस्सृतानामपि सूक्ष्मतया स्तिमितबाह्यवाय्वपसरणसामर्थ्याभावः। किं च मनागपि बहिर्वायौ वाति न शब्दश्रवणं स्यादिति दुर्बलोऽपि बाह्यः पवनः प्रबलादपि कोष्ठ्यवायोर्बलीयान्भवतीति कथं तेनापसार्येत। अन्ये एव सूक्ष्मा वायवः शब्दावरणकारिणो न पुनरेते परिदृश्यमानाः

तिर्यग्गमन स्वभाव के कारण ऊपर और नीचे स्वतः शब्द नहीं सुना जा पायेगा।

जब तक वेगवान् अन्य वायु के द्वारा प्रेरणा नहीं होती है तब तक वायु के द्वारा अपनी स्वाभाविक तिर्यग्गति छोड़ी नहीं जाती। अधोमुख भाव से प्रयुक्त होने पर भी शब्द ऊर्ध्वाभिमुख सा प्रतीत होता है। और ऊर्ध्वाभिमुख व्यक्ति के द्वारा उक्त होने पर भी वह नीचे नहीं सुनाई देता है – ऐसी बात नहीं है। इसलिए यह मानना आवश्यक होता है कि शब्द का आरम्भ कदम्बगोलक के आकार में होता है। किन्तु वायु की ऐसी गति लोक में स्वाभाविक रूप से पायी नहीं जाती। आकण्ठ निश्छिद्र चर्म से ढके मुख वाले व्यक्ति के द्वारा उक्त शब्द जो सुनाई देता है, वह निश्चय ही कोष्ठगत वायु के द्वारा समर्पण प्रयुक्त है। दीवार आदि से प्रतिबन्ध प्राप्त होने पर वायु का अप्रसरण आप के द्वारा भी कहा ही गया है। विवर रहित चर्मपुटक में अवरुद्ध होने पर भी वायु में प्रसरण नहीं होता है। और सर्वतोभाव से निरुद्ध नौ द्वार वाले व्यक्ति के पेट में मन्दाग्नि प्रयुक्त गुरगुर शब्द सुना जाता है। वहाँ व्यञ्जक पवन का कहाँ से निस्सरण होता है? रोम कूप से निस्सरण सम्भव होने पर भी सूक्ष्म होने के कारण उस के द्वारा स्तिमित बाह्य वायु के निस्सारण का सामर्थ्य उसमें नहीं माना जा सकता है। और यह भी कि बाहर वायु के ईषत् चलन होने पर भी शब्द का श्रवण हो नहीं पायेगा। इसलिए यह मानना होगा कि दुर्बल भी बाहरी वायु बलवान् भी कोष्ठगत वायु से अधिक बलशाली होती है। तब कोष्ठगत वायु से उस का

श्यामाः श्यामाकलतालास्योपदेशिनो मातरिश्वान इति चेन्न, विशेषे प्रमाणाभावात्। यं च सूक्ष्मा अपि वायवः तिरोदधति तं सुतरां बलीयांसोऽपि विवृणुयुरिति यत्किञ्चिदेतत्। तस्मात् सजातीयशब्दसन्तानारम्भपक्ष एव युक्त्यनुगुणः। तथा हि सजातीयगुणारम्भिणो गुणास्तावद्दृश्यन्ते एव रूपादयः। अमूर्त्तापि च बुद्धिर्बुध्यन्तरमारभमाणा दृश्यते देशान्तरेऽपि सैव कार्यमारभते। पथि गच्छतो देवदत्तादेरेकस्मादात्मप्रदेशात्प्रदेशान्तरे बुद्ध्युत्पाददर्शनात्। कार्यारम्भविरतिरपि भवति, अदृष्टाधीनसंसर्गाणां सहकारिणामनवस्थानात्।

तीव्रेणापि शनैरेवमतीव्रारम्भसम्भवः।
सीदत्सचिवसामर्थ्यसापेक्षक्षीणवृत्तिना।।
वीचीसन्तानदृष्टान्तः किञ्चित्साम्यादुदाहृतः।
न तु वेगादिसामर्थ्यं शब्दानामस्त्यपामिव।।

यत्तु कुड्यादिव्यवधाने किमिति विरमति शब्दसन्तानारम्भ इति। नैष दोषः, निरावरणस्य हि व्योम्नः शब्दारम्भे समवायिकारणत्वं तथा दर्शनात्कल्प्यते नाकाशमात्रस्येति।

अपसारण कैसे हो पायेगा? अन्य ही सूक्ष्म वायु शब्द का आवरण करने वाली होती हैं। ये प्रतीत होने वाली श्याम श्यामाकलता को नृत्य का उपदेश देने वाली हवाएँ नहीं हैं – यह कहना सही नहीं है। क्योंकि इस प्रकार की विशेषता में कोई प्रमाण नहीं है। और यह कथन इसलिए भी सारहीन है कि सूक्ष्म वायु भी जिसे तिरोहित करती है उसे अतिबली वायु तो तिरोहित करेगी ही। इसलिए सजातीय शब्द सन्तान का आरम्भ पक्ष ही युक्तियुक्त है, उसके अनुकूल है। इसे यों अच्छी तरह से समझा जा सकता है कि रूप आदि गुण सजातीय गुण का आरम्भक पाये ही जाते हैं। अमूर्त भी बुद्धि बुद्ध्यन्तर का आरम्भक करने वाली देखी जाती है। देशान्तर सें भी वह काम करती है। क्योंकि मार्ग में एक स्थान से अन्य स्थान जाते समय देवदत्त आदि को क्रमिक अनेक समानाकार बुद्धि का उत्पाद देखा जाता है। और कार्यारम्भ की विरति भी होती है। ऐसा इसलिए होता है कि अदृष्टाधीन सम्बन्ध वाले सहकारी कारण नहीं रहते। तीव्र शब्द से भी क्रमशः अतीव्र शब्द का आरम्भ इसलिए हो पायेगा कि उसके सहायक के सामर्थ्य में कमी आ जाने के कारण उसका व्यापार शिथिल हो पड़ेगा। तरङ्ग सन्तान का दृष्टान्त आंशिक समता के आधार पर दिया गया है। क्योंकि जल के समान शब्द में वेग आदि सामर्थ्य नहीं है। यह जो कहा जाता है कि दीवार आदि का व्यवधान आ जाने पर शब्द सन्तान का आरम्भ विरत क्यों हो जाता है? ऐसा नहीं होना चाहिए। तो यह दोष नहीं है, क्योंकि अनावृत आकाश ही शब्द का समवायी कारण होता है, आकाश मात्र नहीं -- यह उस परिस्थिति को देखकर मानना पड़ता है।

[शब्दस्य गुणत्वसाधनम्]

यदपि गुणत्वमसिद्धं शब्दस्येति। तत्र केचिदाश्रितत्वाद् गुणत्वमाचक्षते। तदयुक्तम्–

आश्रितत्वं गुणत्वे हि न प्रयोजकमिष्यते।
षण्णामपि पदार्थानामाश्रितत्वस्य सम्भवात्।।
दिक्कालपरमाण्वादिनित्यद्रव्यातिरेकिणः।
आश्रिता षडपीष्यन्ते पदार्थाः कणभोजिना।।

न च व्योमाश्रितत्वमपि शब्दस्य प्रत्यक्षमप्रत्यक्षे नभसि तदाश्रितत्वस्याप्यप्रत्यक्षत्वात्।

कथमाधारपारोक्ष्ये शब्दप्रत्यक्षतेति चेत्।
यथैवात्मपरोक्षत्वे बुद्ध्यादेरुपलम्भनम्।।

एतदेवासिद्धमिति चेद् अलं वादान्तरगमनेन उपरिष्टान्निर्णेष्यमाणत्वात्। किं तर्हि शब्दस्य गुणत्वे प्रमाणं परिशेषानुमानमिति ब्रूमः। प्रसक्तयोर्द्रव्यकर्मणोः प्रतिषेधे सामान्यादावप्रसङ्गाच्च गुण एवावशिष्यते शब्दः। कथं पुनः न द्रव्यं शब्दः एकद्रव्यत्वात्। अद्रव्यं वा भवति द्रव्यम् आकाशपरमाण्वादि। अनेकद्रव्यं वा द्व्यणुकादि कार्यद्रव्यम्। एकद्रव्यं तु शब्दः एकाकाशाश्रितत्वात् तस्मान्न द्रव्यम्। नापि कर्मशब्दः

शब्द में गुणत्व का साधन

यह भी कहा जाता है कि शब्द में गुणत्व असिद्ध है, वहाँ कुछ लोग उसे आश्रित होने के कारण गुण कहते हैं। किन्तु वह युक्त नहीं है। शब्द के गुण होने में आश्रितत्व प्रयोजक नहीं है। क्योंकि आश्रित तो सभी छह भाव पदार्थ हो सकते हैं। कणाद के मत में दिक्, काल तथा परमाणु आदि नित्य द्रव्यों को छोड़कर अन्य सभी छह द्रव्य आश्रित माने जाते हैं। और शब्द व्योमाश्रित रूप में प्रत्यक्ष होता नहीं है। क्योंकि अप्रत्यक्ष आकाश में रहने के कारण तदाश्रित रूप में उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है।

आधारभूत आकाश के परोक्ष होने पर शब्द का प्रत्यक्ष कैसे कहा जा सकता? यह यदि पूछा जाय तो उत्तर यह है कि जिस प्रकार आत्मा के परोक्ष होने पर भी ज्ञान आदि का प्रत्यक्ष होता है। यदि यह कहा जाय कि यही असिद्ध है तो अभी अन्य विवाद में जाना व्यर्थ है – इसका निर्णय पीछे किया जायेगा। तब शब्द के गुणत्व में प्रमाण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि परिशेषानुमान उस में प्रमाण है। प्रसक्त द्रव्यत्व और कर्मत्व का प्रतिषेध किये जाने पर सामान्य आदि के अन्तर्गत उसके अस्तित्व का अभाव के कारण शब्द अवशिष्ट गुण ही होकर रह जाता है। क्यों शब्द द्रव्य नहीं हैं? इस का उत्तर यह है कि एक द्रव्य होने से अर्थात् एक द्रव्य समवायिकारण होता है। द्रव्य या तो अद्रव्य अर्थात् समवायिकारण रहित होता है, यथा आकाश परमाणु आदि। या अनेक द्रव्य अर्थात् अनेक द्रव्यसमवायिकारणक अर्थात् एकाधिक समवायिकारण वाला, यथा द्व्यणुक आदि अनित्य द्रव्य। शब्द एकमात्र आकाश में आश्रित होता है, अतः एक द्रव्य होता है, अतः

शब्दान्तरजनकत्वात्। कर्मणो हि समानजात्यारम्भकत्वं नास्ति सत्ताशब्दत्वादि सामान्यसम्बन्धाच्च सामान्यादित्रयप्रसङ्गोऽस्य नास्तीति पारिशेष्याद् गुण एव शब्दः।

ननु गुणत्वसिद्धौ सत्यामाकाशाश्रितत्वं शब्दस्य भविष्यति गुणस्य द्रव्यानाश्रितस्यादर्शनात् पृथिव्यादीनां च शब्दाश्रयत्वानुपपत्तेः। ततश्च गुणत्वे सत्येकद्रव्यत्वम् एकद्रव्यत्वे सति गुणत्वमितीतरेतराश्रयत्वम्। तथा च समान जातीयारम्भकत्वमपि गुणत्वसिद्धिमूलमेव। गुणत्वे सति शब्दस्याकाशाश्रितत्वात्तदात्मकेन श्रोत्रेण ग्रहणं तच्च देशान्तरगतसंयोगविभागप्रभवस्य शब्दस्य सन्तानमन्तरेण श्रोत्रदेशप्राप्त्यभावान्न सिद्ध्यतीति गुणत्वसिद्धिमूला सन्तानकल्पना, सन्तानकल्पनायां च समानजात्यारम्भकत्वात्कर्मव्यवच्छेदे सति गुणत्वसिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वमेव।

उच्यते – नोभयत्राप्येष दोषः, श्रोत्रग्राह्यत्वादेव शब्दस्याकाशाश्रितत्वं कल्प्यते समानजातीयारम्भकत्वं च गुणत्वात्। आकाशैकदेशो हि श्रोत्रमिति प्रसाधितमेतत्। प्राप्यकारित्वं चेन्द्रियाणां वक्ष्यते। न चाकाशानाश्रितत्वे शब्दस्य श्रोत्रेण प्राप्तिर्भवति न

वह द्रव्य नहीं है। शब्द कर्म भी नहीं है, क्योंकि वह शब्दान्तर का जनक होता है। कर्म में समानजातीय की आरम्भकता नहीं होती है। शब्द में सत्ता एवं शब्दत्व आदि सामान्य का सम्बन्ध होने के कारण सामान्य आदि तीनों में अन्तर्भाव की सम्भावना नहीं है। इस प्रकार परिशेष प्रयुक्त शब्द गुण ही है।

इस पर प्रश्न यह उपस्थापित होता है कि शब्द में गुणत्व सिद्ध होने पर आकाशाश्रितत्व सिद्ध होगा। क्योंकि गुण द्रव्यानाश्रित नहीं होता है। और पृथिवी आदि शब्द के आश्रय हो नहीं सकते। इससे गुणत्व सिद्ध होने पर उसमें एक द्रव्यता सिद्ध होती है और एक द्रव्यत्व सिद्ध होने पर उसमें गुणत्व सिद्ध होगा। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष प्राप्त होता है। और तब समानजातीयारम्भकत्व भी गुणत्व सिद्धि मूलक ही उसमें होता है। गुणत्व के सिद्ध हो जाने पर शब्द का आकाशाश्रित होने के कारण आकाशात्मक श्रोत्र से उसका ग्रहण होता है। वह फिर देशान्तर गत संयोग विभाग प्रभव शब्द के सन्तान के बिना श्रोत्रदेश से प्राप्ति के अभाव प्रयुक्त सिद्ध हो नहीं सकता है। इसलिए शब्द सन्तान की कल्पना गुणत्वसिद्धिमूलक होती है और सन्तान की कल्पना होने पर समानजातीय का आरम्भक होने के कारण उसमें कर्मता का निषेध होने पर गुणत्व की सिद्धि होती है, इस प्रकार भी अन्योन्याश्रय दोष ही होता है।

तो अब इसका उत्तर कहा जा रहा है – यह दोष दोनों ही जगह नहीं है। क्योंकि शब्द में आकाशाश्रितत्व श्रोत्रग्राह्यता के आधार पर ही कल्पित होती है। और समानजातीया-रम्भकत्व गुणत्व के आधार पर कल्पित होता है। आकाश का एक देश अर्थात् परिच्छिन्न आकाश ही श्रोत्र है – यह सिद्ध किया जा चुका है। इन्द्रियाँ प्राप्यकारी होती हैं– यह बात

चाप्राप्तस्य ग्रहणमिति तदाश्रितत्वं कल्प्यते। एवं समानजातीयारम्भकत्वमपि तत एव श्रावणत्वात् दूरवर्त्तिनः शब्दस्य श्रवणे सति कल्प्यते न तु गुणत्वादिति नेतरेतराश्रयत्वम्। कार्यत्वादाकाशाश्रितत्वं कल्प्यत इत्येके।

ननु कार्यत्वादप्याकाशाश्रितत्वकल्पनायां तदवस्थमेवेतरेतराश्रयत्वं कार्यत्वादाकाशाश्रितत्वमाकाशाश्रितत्वे सति नियतग्रहणपूर्वं पूर्वरीत्या कार्यत्वमिति। नैतदेवम्, भेदविनाशप्रतिभासाभ्यामेव कार्यत्वसिद्धेः, किमर्थस्तर्हि नियतग्रहण समर्थनायायमियान् प्रयासः क्रियते। नियतग्रहणमपि कार्यपक्षानुगुणमिति दर्शयितुं न पुनरेषैव कार्यत्वे युक्तिरित्यलं सूक्ष्मेक्षिकया।

अपर आह परिस्पन्दविलक्षणस्य प्रत्यक्षत्वादकर्मत्वं शब्दस्य साध्यते न समानजात्यारम्भकत्वादितीतरेतराश्रयस्पर्शोऽपि नास्तीति। तस्मात्सर्वथा परिशेषानुमाना च्छब्दस्य गुणत्वसिद्धिः। कथं तर्ह्यस्य महत्त्वादियोगो निर्गुणा गुणा इति काणादाः। अस्ति हि प्रतीतिर्महान् शब्द इति। समानजातीयगुणाभिप्रायं तत्कणादवचनमिति न

आगे बतलायी जायेगी। शब्द के आकाशाश्रित न होने पर श्रोत्र से उसका सम्बन्ध नहीं बन पायेगा। और अप्राप्त का ग्रहण नहीं होता है। इसलिए शब्द को आकाशाश्रित माना जाता है। इसी प्रकार समान जातीय का आरम्भक होना भी उसी श्रावणत्व से सिद्ध होता है। क्योंकि दूरवर्ती शब्द का ग्रहण होता है। गुणत्व प्रयुक्त ही सजातीयारम्भकत्व की कल्पना नहीं होती है। इसलिए अन्योन्याश्रय दोष नहीं होता। कुछ लोगों का कहना यह है कि आकाशाश्रितत्व की कल्पना कार्यता प्रयुक्त होती है।

इस पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि कार्यत्व से आकाशाश्रितत्व की कल्पना मानने पर भी अन्योन्याश्रय दोष पूर्ववत् रहेगा। क्योंकि कार्यता प्रयुक्त आकाशाश्रितत्व माना जायेगा और आकाशाश्रित मानने पर नियतग्रहण पूर्वक पूर्वरीति से शब्द में कार्यत्व होगा? तो इसका उत्तर यह है कि ऐसा नहीं है। क्योंकि भेद और विनाश इन दोनों के प्रतिभासों से ही कार्यत्व की सिद्धि होगी। इस पर यह पूछा जा सकता है कि तब नियत ग्रहण के समर्थनार्थ इतना प्रयास क्यों किया जाता है? नियत ग्रहण भी शब्द की अनित्यता के पक्ष का अनुकूल पड़ता है – यह दिखलाने के लिए। यह बतलाने के लिए नहीं कि शब्द की कार्यता में केवल यही मात्र युक्ति है। अब अधिक सूक्ष्मविचार की आवश्यकता नहीं है।

और किसी का कहना यह है कि शब्द में कर्मभिन्नता की सिद्धि इसलिए होती है कि वह परिस्पन्द से विलक्षण रूप में प्रत्यक्ष होता है। इसलिए नहीं कि वह समानजातीय का आरम्भक होता है। इसलिए अन्योन्याश्रय दोष का स्पर्श भी नहीं है, फलतः परिशेष अनुमान से सर्वथा शब्द में गुणत्व की सिद्धि होती है। तब इस शब्द में महत्त्व आदि का योग कैसे? क्योंकि कणाद के अनुयायी तो गुणों को निर्गुण मानते हैं। ऐसी प्रतीति होती ही है कि महान् शब्द हो रहा है इत्यादि। तो इसका उत्तर यह है कि कणादानुयायियों का वह कथन समानजातीय गुण गुण में नहीं रहता है – एतदभिप्रायक ज्ञातव्य है। इसलिए दोष

दोषः। तस्मादाकाशगुणः शब्दः। अपि च–

यथात्मगुणता हीच्छाद्वेषादेरुपपत्स्यते।
शब्दो नयेन तेनैव भविष्यति नभोगुणः।।

ये तु समानजातीयशब्दारम्भकत्वनिषेधहेतवः शब्दत्वादित्यादयः परैरुपन्यस्ताः तेषामप्रयोजकत्वान्न साधनत्वम्।

इत्थं सन्तानवृत्त्या च शब्दग्रहणसम्भवे।
कल्पनाल्पतरास्माकं न शब्दव्यक्तिवादिनाम्।।
शाक्यकापिलनिर्ग्रन्थग्रथितप्रक्रियाम्प्रति।
यत्तु दूषणमाख्यातमस्माकं प्रियमेव तत्।।

तस्मात्कार्यत्वपक्षे नियतग्रहणोपपत्तेः, अभिव्यक्तिपक्षे च तदभावात्कार्य एव शब्द इति स्थितम्। तदिदमुक्तं सूत्रकृता 'आदिमत्त्वादैन्द्रियकत्वात्कृतकवदुपचाराच्चानित्यः शब्द' इति। आदिमत्त्वादिति संयोगविभागदीनां शब्दे कारकत्वं न व्यञ्जकत्वमिति दर्शितम्। अतश्च न प्रयत्ननान्तरीयकत्वमनैकान्तिकम्। ऐन्द्रियकत्वादिति कार्यपक्षे एव शब्दस्य नियतं ग्रहणमित्युक्तम्। प्रतिपुरुषं प्रत्युच्चारणं च शब्दभेदस्यैन्द्रियकत्वादिति वा हेत्वर्थः। तेन प्रत्यभिज्ञादुराशा श्रोत्रियाणामपाकृता भवति। कृतकवदुपचारादिति

नहीं होता है। फलतः शब्द आकाश का गुण है। और यह भी कि जिस प्रकार इच्छा द्वेष आदि आत्मा के गुण सिद्ध होते हैं, उसी प्रकार शब्द आकाश का गुण सिद्ध होगा। शब्दत्व आदि हेतु जो शब्द की समानजातीयारम्भकता के निषेधक बतलाये गये हैं, वे अनुकूल तर्क शून्य होने के कारण साधक नहीं होते है। इस प्रकार शब्द सन्तान के स्वीकार प्रयुक्त शब्द का ग्रहण सम्भव होने पर हम लोगों को कल्पना लाघव होता है, शब्द की अभिव्यक्ति मानने वालों को नहीं। बौद्ध, सांख्य तथा जैन आदि के द्वारा वर्णित प्रक्रिया का मीमांसकों के द्वारा जो खण्डन उपस्थित किया गया है। वह हम लोगों को भी प्रिय है। इसलिए शब्द को अनित्य मानने पर नियत ग्रहण उपपन्न होने के कारण और अभिव्यक्ति पक्ष में उसके अभाव के कारण शब्द कार्य ही है अर्थात् उत्पाद विनाश शाली ही है – यह सिद्ध होता है। इसलिए सूत्रकार के द्वारा यह कहा गया है – आदिमान् होने के कारण, ऐन्द्रियक होने के कारण और अनित्य के समान ही व्यवहार होने के कारण शब्द अनित्य है। आदिमान् होने के कारण इसका अभिप्रेत अर्थ यह है कि संयोग विभाग और वेग आदि शब्द के कारक होते है उसके अभिव्यञ्जक नहीं। इसलिए भी शब्द अनित्य है कि प्रयत्न नान्तरीयकत्व अर्थात् प्रयत्न के अनन्तर उपलब्ध होना – यह हेतु अनैकान्तिक अर्थात् व्यभिचारी है। सूत्रगत 'ऐन्द्रियकत्वात्' अर्थात् शब्द ऐन्द्रियक है– इसका अभिप्राय यह है कि शब्द को अनित्य मानने पर ही उसका नियतग्रहण उपपन्न होता है। प्रत्येक व्यक्ति के प्रत्येक उच्चारण में शब्दगत भेद सुनने से ही मालूम होता है। यह भी ऐन्द्रियकत्वात् का अभिप्रेत अर्थ हो सकता है। इससे मीमांसकों की प्रत्यभिज्ञा की दुराशा

तीव्रमन्दविभागाभिभवादिव्यवहारदर्शनात्सुखदुःखादिवदनित्यः शब्द इति दर्शितम्। तथा 'प्रागुच्चारणादनुपलब्धेः आवरणाद्यनुपलब्धेश्च' इत्यनेन सूत्रेण शब्दाभावकृतमेव तदग्रहणमिति। न हि स्तिमिता वायवः शब्दमावरीतुमर्हन्ति मूर्त्तं हि मूर्त्तेन व्यवधीयते नामूर्तमाकाशादिवत्। न च प्रकृत्यैवाकाशादिवदतीन्द्रियः शब्दः। तस्मात्क्षणिक प्रतीतेस्तत्कालमेव शब्दस्यावस्थानमित्यस्थानहेतोरपि नान्यथासिद्धत्वम्। वार्त्तिककृता शब्दानित्यत्वे साधनमभिहितम् अनित्यः शब्दो जातिमत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्य करणप्रत्यक्षत्वाद् घटवदिति।

यत्त्वत्र जातीनामपि जातिमत्त्वादनैकान्तिकत्वमुद्भावितम्, 'एकार्थसमवायेन जातिर्जातिमती यत' इति तदत्यन्तमनुपपन्नम्। निस्सामान्यानि सामान्यादीनीति सुप्रसिद्धत्वात्। न हि घटे घटत्वपार्थिवत्वे स्त इति घटत्वसामान्येऽपि पार्थिवत्वसामान्यमस्तीति शक्यते वक्तुम्। अतो निरवद्य एवायं हेतुः। तेन यदुच्यते–

जातिमत्त्वैन्द्रियत्वादि वस्त्वसन्मात्रबन्धनम्।
शब्दानित्यत्वसिद्ध्यर्थं को वदेद्यो न तार्किकः।। इति।

तदविदिततार्किकपरिस्पन्दस्य व्याहृतम्। इह त्वप्रयोजका हेतवो भवन्ति।

खण्डित हो जाती है। सूत्रगत 'कृतकवदुपचारात्' के द्वारा अभिप्रेत अर्थ यह दिखलाया गया है कि तीव्र मन्द आदि विभाग और अभिभव आदि का व्यवहार पाये जाने के कारण सुख दुःख आदि के समान शब्द अनित्य है। तथा 'प्रागुच्चारणादनुपलब्धेः आवरणाद्यनुपलब्धेश्च' इस के द्वारा यह कि शब्द न होने के कारण ही शब्द का अग्रहण होता है। स्तिमित पवन शब्द का आवरण नहीं कर सकता है। क्योंकि मूर्त से ही और मूर्त ही व्यवहित होता है। जैसे आकाशादि अमूर्त नहीं व्यवहित होता है। और शब्द स्वभावतः आकाश के समान अतीन्द्रिय भी नहीं है। इसलिए क्षणिकता की प्रतीति के कारण शब्द का अवस्थान तत्काल ही होता है। इसलिए अनवस्थित हेतु भी अन्यथासिद्ध नहीं है।

वार्त्तिककार ने शब्द की अनित्यता में यह हेतु बतलाया है कि 'शब्द इसलिए अनित्य है कि घट आदि के समान वह जातिमान् होते हुए हम लोगों के बाह्य करण द्वारा गृहीत होता है'। यहाँ पर एकार्थसमवाय सम्बन्ध से जाति में भी जाति रहती है, इसलिए उक्त अनुमान व्यभिचारी है – यह कथन इसलिए अत्यन्त असङ्गत है अत्यन्त अनुपपन्न है कि 'सामान्य निस्सामान्य है' अर्थात् सामान्य हीन है – यह सुप्रसिद्ध है। यह कहना सही नहीं है कि घट में घटत्व और पार्थिवत्व दोनों रहते हैं, इसलिए घटत्व पर भी पार्थिवत्व रहता है। इसलिए यह हेतु दोष रहित ही है। अतः 'तार्किक के अतिरिक्त और कौन यह कह सकता है कि शब्द में जातिमत्ता के साथ ऐन्द्रियकत्व इसीलिए रहता है कि वह असत् अर्थात् अनित्य होता है' यह कथन उन का ही हो सकता है जो कि तार्किक प्रक्रिया से बिलकुल अपरिचित हैं। ये हेतु यहाँ अप्रयोजक अर्थात् तर्क हीन हैं कि 'पूर्वोच्चारित गो

ह्यस्तनोच्चारितस्तस्माद्गोशब्दोऽद्यापि वर्त्तते।
गोशब्दज्ञानगम्यत्वाद्यथोक्तोऽद्यैष गौरिति।।
विज्ञानग्राह्यता नाम वस्तुस्वाभाव्यबन्धना।
नित्यत्वे कृतकत्वे वा न खल्वेषा प्रयोजिका।।
अप्रयोजकता चैवंप्रायाणां चैवमुच्यते।
स्वयं चैते प्रयुज्यन्ते हेतुत्वेनेति किं त्विदम्।।
एवं नित्यत्वे दुर्बलो युक्तिमार्गः
तस्मान्मन्तव्यः कार्य एवेति शब्दः।
वाचोयुक्तित्वे वैदिको योऽनुवादः
न्याये प्रयुक्ते किंफलस्तत्प्रयोगः।।

क्षणभङ्गिभावस्याभावादपि शब्दस्य क्षणिकतां न वक्तुमलम्। स्थलविनाश भावादिति यदुक्तं तदप्ययुक्तम्।

सूक्ष्मविनाशापेक्षी नाशः स्थूलस्थिरस्य कुम्भादेः।
प्रकृतितरलस्य नाशः शब्दस्य स एव हि स्थूलः।।
सत्त्वाद्यदि क्षणिकतां कथयेत्पुरो वा
शब्दस्तदैष कथमक्षणिकोऽभिधेयः।

शब्द आज भी हैं क्योंकि आज भी पहले की गोजातीय पशु गोशब्द जनित ज्ञान का विषय हो रहा है। पहले जैसे कहा गया कि यह गाय है। उसी प्रकार आज भी कहा जा रहा है कि यह गाय है इत्यादि। क्योंकि ज्ञान का विषय होना वस्तुगत स्वभावमूलक है किसी की नित्यता एवं अनित्यता का वह प्रयोजक नहीं है। एक ओर इस तरह के हेतुओं को अप्रयोजक कह दिया जाता है और फिर ऐसे हेतु साधक भी कहे जाते है, यह क्या? इस प्रकार शब्द को नित्य सिद्ध करने वाला युक्तिमार्ग दुर्बल है। इसलिए शब्द कार्य अर्थात् अनित्य ही मान्य है। जब न्याय के द्वारा अर्थात् तर्क के द्वारा शब्द अनित्य स्थिर हो जाता है तब वैदिक वाक्य का शब्द की नित्यता के पक्ष में प्रयोग क्या फल रखता है। कोई भी वस्तु क्षणभङ्गी नहीं है इसलिए शब्द को क्षणिक नहीं कहा जा सकता है, यह भी कोई कहने में समर्थ नहीं हो सकता है। क्योंकि शब्द का स्थूल अर्थात् स्पष्ट विनाश पाया जाता है – यह जो कहा गया है वह भी युक्त अर्थात् उचित ही है। स्थूल एवं स्थिर घट आदि का विनाश सूक्ष्म विनाशापेक्षी होता है अर्थात् अवयव की अपेक्षा करता है किन्तु शब्द तो प्रकृति तरल अर्थात् अमूर्त फलतः निरवयव है। अतः उसका विनाश अवयव विनाशापेक्षी नहीं होता है परन्तु उसका भी नाश स्थूल ही होता है अर्थात् घट आदि के नाश के समान स्पष्ट ही होता है। बौद्ध दार्शनिक यदि सत्ता प्रयुक्त शब्द को क्षणिक कहें तब उसे कैसे अक्षणिक अर्थात् नित्य कहा जायेगा? और युक्त्यन्तर से भी यदि वही बात

ह्यस्तनोच्चारितस्तस्माद्गोशब्दोऽद्यापि वर्त्तते।
गोशब्दज्ञानगम्यत्वाद्यथोक्तोऽद्यैष गौरिति।।
विज्ञानग्राह्यता नाम वस्तुस्वाभाव्यबन्धना।
नित्यत्वे कृतकत्वे वा न खल्वेषा प्रयोजिका।।
अप्रयोजकता चैवंप्रायाणां चैवमुच्यते।
स्वयं चैते प्रयुज्यन्ते हेतुत्वेनेति किं त्विदम्।।
एवं नित्यत्वे दुर्बलो युक्तिमार्गः
तस्मान्मन्तव्यः कार्य एवेति शब्दः।
वाचोयुक्तित्वे वैदिको योऽनुवादः
न्याये प्रयुक्ते किंफलस्तत्प्रयोगः।।

क्षणभङ्गिभावस्याभावादपि शब्दस्य क्षणिकतां न वक्तुमलम्! स्थलविनाश भावादिति यदुक्तं तदप्ययुक्तम्।

सूक्ष्मविनाशापेक्षी नाशः स्थूलस्थिरस्य कुम्भादेः।
प्रकृतितरलस्य नाशः शब्दस्य स एव हि स्थूलः।।
सत्त्वाद्यदि क्षणिकतां कथयेत्पुरो वा
शब्दस्तदैष कथमक्षणिकोऽभिधेयः।

शब्द आज भी हैं क्योंकि आज भी पहले की गोजातीय पशु गोशब्द जनित ज्ञान का विषय हो रहा है। पहले जैसे कहा गया कि यह गाय है। उसी प्रकार आज भी कहा जा रहा है कि यह गाय है इत्यादि। क्योंकि ज्ञान का विषय होना वस्तुगत स्वभावमूलक है किसी की नित्यता एवं अनित्यता का वह प्रयोजक नहीं है। एक ओर इस तरह के हेतुओं को अप्रयोजक कह दिया जाता है और फिर ऐसे हेतु साधक भी कहे जाते है, यह क्या? इस प्रकार शब्द को नित्य सिद्ध करने वाला युक्तिमार्ग दुर्बल है। इसलिए शब्द कार्य अर्थात् अनित्य ही मान्य है। जब न्याय के द्वारा अर्थात् तर्क के द्वारा शब्द अनित्य स्थिर हो जाता है तब वैदिक वाक्य का शब्द की नित्यता के पक्ष में प्रयोग क्या फल रखता है। कोई भी वस्तु क्षणभङ्गी नहीं है इसलिए शब्द को क्षणिक नहीं कहा जा सकता है, यह भी कोई कहने में समर्थ नहीं हो सकता है। क्योंकि शब्द का स्थूल अर्थात् स्पष्ट विनाश पाया जाता है – यह जो कहा गया है वह भी युक्त अर्थात् उचित ही है। स्थूल एवं स्थिर घट आदि का विनाश सूक्ष्म विनाशापेक्षी होता है अर्थात् अवयव की अपेक्षा करता है किन्तु शब्द तो प्रकृति तरल अर्थात् अमूर्त फलतः निरवयव है। अतः उसका विनाश अवयव विनाशापेक्षी नहीं होता है परन्तु उसका भी नाश स्थूल ही होता है अर्थात् घट आदि के नाश के समान स्पष्ट ही होता है। बौद्ध दार्शनिक यदि सत्ता प्रयुक्त शब्द को क्षणिक कहें तब उसे कैसे अक्षणिक अर्थात् नित्य कहा जायेगा? और युक्त्यन्तर से भी यदि वही बात

युक्त्यन्तराद्यदि तदेव हि तर्हि चिन्त्यं
किं प्रौढिवादबहुमानपरिग्रहेण।।
अलमतिविततोक्त्या त्यज्यतां नित्यवादः
कृतक इति नयज्ञैर्गृह्यतामेष शब्दः।
सति च कृतकभावे तस्य कर्त्ता पुराणः
कविरविरलशक्तिर्युक्त एवेन्दुमौलिः।।

इति श्रीजयन्तभट्टविरचितायां न्यायमञ्जर्यां तृतीयमाह्निकम्।

आती है तब तो विचार करना ही होगा। व्यर्थ अधिक प्रौढ़िवाद पर आस्था करना कहाँ तक उचित है? इसलिए शब्द नित्यत्ववाद त्याज्य है, अतिविस्तारोक्ति निष्फल है। नीतिविज्ञ लोगों के द्वारा शब्द अनित्य रूप में ही स्वीकार किया जाय। इस प्रकार शब्द की अनित्यता स्थिर हो जाने पर उसका अर्थात् वेद वाक्यात्मक शब्द का कर्त्ता वह इन्दुमौलि भगवान् शिव ही मान्य हैं, जो कि सर्वाधिक पुराने कवि हैं तथा पूर्ण सामर्थ्यवान् हैं।

जयन्तभट्ट रचित न्यायमञ्जरी का तृतीय आह्निक समाप्त।

चतुर्थमाह्निकम्

[वेदानां पौरुषेयत्वम्]

एवं कृतकत्वे वर्णानां साधिते सति वर्णात्मनः पदात्प्रभृति सर्वत्र पुरुषस्य स्वातन्त्र्यं सिद्धं भवति।

पदनित्यत्वपक्षेऽपि वाक्ये तद्रचनात्मके।
कर्तृत्वसम्भवात्पुंसो वेदः कथमकृत्रिमः।।

तथा च वैदिक्यो रचनाः कर्तृपूर्विकाः रचनात्वाल्लौकिकरचनावत्। एष च पञ्चलक्षणो हेतुः सप्रयोजकश्चेति गमक एव न हेत्वाभासः। न तावदयमसिद्धो हेतुः 'शन्नो देवीरभीष्टये' इत्यादिषु वेदवाक्यसन्दर्भेषु पदरचनायाः स्वरक्रमादिविशेषवत्याः प्रत्यक्षत्वेन पक्षे हेतोः वर्तमानत्वात्। नापि विरुद्धः, सकर्तृकत्ववति सपक्षे कुमारसम्भवादौ रचनात्वस्य विद्यमानत्वात्। नाप्यनैकान्तिकः, कर्तृरहितेषु गगनादिषु गगनकुसुमादिषु वा रचनाया अदृष्टत्वात्। नापि कालात्ययापदिष्टः, प्रत्यक्षेणागमेन वा वेदे

चतुर्थ आह्निक

वेदों की पौरुषेयता

इस प्रकार वर्णों में कृतकता की अर्थात् अनित्यता की फलतः उत्पाद्यता की सिद्धि होने पर वर्णात्मक पदों से लेकर सभी पर अर्थात् वाक्य महावाक्यात्मक शब्दों पर भी पुरुष का अर्थात् आत्मा का स्वातन्त्र्य सिद्ध होता है। पद के नित्यत्व पक्ष में भी पदरचनात्मक वाक्य के प्रति कर्तृत्व आत्मा में सम्भव होने के कारण वेद अकृत्रिम अर्थात् नित्य कैसे कहा जा सकता है? ऐसा स्थिर होने पर 'वैदिक रचनाएँ' कर्तृपूर्वक हैं अर्थात् किसी के द्वारा की गयी हैं। क्योंकि लौकिक रचनाओं की तरह वे भी रचनाएँ हैं। यह हेतु अर्थात् एतत्स्थलीय रचनात्व हेतु पक्षसत्त्व आदि पाँच सद्धेतुलक्षणों से युक्त है और सप्रयोजक है अर्थात् अनुकूल तर्क वाला भी है। इसलिए गमक अर्थात् अनुमापक अर्थात् सद्धेतु ही है, हेत्वाभास नहीं है अर्थात् दुष्ट हेतु नहीं है। उक्त अनुमान वाक्य गत रचनात्व हेतु असिद्ध अर्थात् असिद्धि नामक हेत्वाभास दोष से युक्त इस लिए नहीं है कि 'शन्नो देवीरभिष्टये' इत्यादि वेद वाक्य सन्दर्भों के अन्दर स्वर क्रम आदि विशेषताओं से युक्त रूप में पद रचनाएँ प्रत्यक्षसिद्ध हैं। अतः हेतु पक्ष में वर्तमान है। उक्त रचनात्व हेतु को विरुद्ध अर्थात् विरोध नामक हेतु दोष से भी युक्त नहीं कहा जा सकता। क्योंकि सकर्तृक कुमार सम्भव आदि सपक्षों में रचनात्व हेतु विद्यमान है। वह अनैकान्तिक अर्थात् व्यभिचारी भी नहीं है। क्योंकि कर्त्ता से रहित आकाश या आकाश कुसुम आदि में रचनात्व नहीं देखा जाता है। सारांश यह की उनकी रचनाएँ पायी नहीं जाती। उक्त रचनात्व हेतु को कालात्यपायदिष्ट अर्थात् बाधित भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि प्रत्यक्ष

वक्त्रभावनिश्चयानुत्पादात् नापि सत्प्रतिपक्षः, प्रकरणचिन्ताहेतोः स्थाणुपुरुषविशेषानुपलब्धेरिव हेतुत्वेनानभिधानात्। नापि परमाण्वनित्यतायामिव मूर्त्तत्वमप्रयोजकमिदं साधनं रचनाविशेषाणां कर्तृव्यापारसाध्यत्वावधारणात्। यथा धूमस्य ज्वलनाधीन आत्मलाभो ज्ञप्तिस्तु धूमादग्नेः तथेह कर्त्रधीना रचनानामभिनिर्वृत्तिः प्रतीतिस्तु ताभ्यः कर्त्तुरिति। तस्मात् सप्रयोजक एवायं हेतुः।

[वेदापौरुषेयत्वहेतुनिरासः]

नन्वसत्प्रतिपक्षत्वे विवदन्ते ते। तथा च मीमांसकैः प्रतिहेतुरिह गीयते।

वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनसामान्यादधुनाध्ययनं यथा।। इति।

नैतद्युक्तम्, एवंप्रायाणां प्रयोगाणामप्रयोजकत्वात्। न हि तच्छब्दवाच्यत्वकृतमनादित्वमुपपद्यते। अनैकान्तिकश्चायं हेतुर्भारतेऽप्येवमभिधातुं शक्यत्वात्। भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकं भारताध्ययनवाच्यत्वादिदानीन्तनभारताध्ययनवदिति।

या आगम प्रमाण से वेद के सम्बन्ध में प्रथमवक्ता के अभाव का निश्चय नहीं होता है। वह रचनात्व हेतु प्रतिपक्ष से युक्त न होने के कारण सत्प्रतिपक्ष भी नहीं है। क्योंकि स्थाणु और पुरुषगत विशेषता की अनुपलब्धि के समान प्रकरणचिन्ता का अर्थात् पक्ष और प्रतिपक्ष की चिन्ता का हेतु रूप में अभिहित नहीं हुआ है। और परमाणु की अनित्यता में मूर्तत्व के समान यह साधन अप्रयोजक है। क्योंकि विभिन्न रचनाएँ किसी न किसी कर्ता के द्वारा रचित रूप में निश्चित ही पायी जाती हैं। जैसे धूम की उत्पत्ति आग से होती है। किन्तु अग्नि का ज्ञान धूम से होता है। उसी प्रकार रचनाओं की निष्पत्ति कर्त्ता के अधीन होती है और उनके कर्त्ता की प्रतीति उन रचनाओं से होती है, फलतः यह हेतु सप्रयोजक अर्थात् अनुकूल तर्क से युक्त ही है।

वेद की अपौरुषेयता के हेतु का निरास

यहाँ प्रश्न इस प्रकार उपस्थित किया जाता है कि वे मीमांसक प्रकृत हेतु के असत्प्रतिपक्षितत्व में विवाद उपस्थित करते हैं। जैसे मीमांसकों के द्वारा यहाँ प्रतिहेतु अर्थात् विरोधी हेतु कहा जाता है कि 'वेदों के सारे अध्ययन गुरु के अध्ययन पूर्वक ही होते हैं। क्योंकि वेदाध्ययनत्व सब अध्ययनों में रहता है। जैसे कि आज का वेदाध्ययन। किन्तु यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि इस प्रकार के अनुमान प्रयोग अप्रयोजक अर्थात् अनुकूल तर्क रहित पाये जाते हैं। वह अनादित्व शब्द वाच्यता कृत अर्थात् शब्द कहलाने के कारण मान्य नहीं ठहराया जा सकता। क्योंकि यह हेतु अनैकान्तिक अर्थात् व्यभिचारी भी है। यह बात तो महाभारत के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। जैसे कि सारा महाभारत का अध्ययन गुर्वध्ययन पूर्वक ही होता है। क्योंकि महाभारत का ही अध्ययन कहा जाता है। जिस प्रकार की आज का महाभारत का अध्ययन है। इस पर यदि यह कहा जाय कि

ननु भारते कर्तृस्मृतिरविगीता विद्यते, यद्येवं वेदेऽपि प्रजापतिः कर्त्ता स्मर्यत एव। अथ वैदिकमन्त्रार्थवादमूलेयं प्रजापतिस्मृतिः प्रजापतिना चत्वारो वेदा असृज्यन्त चत्वारो वर्णाश्चत्वार आश्रमा इति तत्र पाठादिति।

उच्यते, हन्त तर्हि भारतेऽपि तत्र वचनमूलैव पाराशर्यस्मृतिरिति शक्यते वक्तुम्।

यथा प्रजापतिर्वेदे तत्र तत्र प्रशस्यते।
भारतेऽपि तथा व्यासस्तत्र तत्र प्रशस्यते।।
अथ प्रणेता वेदस्य न पृष्टः केनचित्क्वचित्।
द्वैपायनोऽपि किं दृष्टो भवत्पितृपितामहैः।।
सर्वेषामविगीता चेत् स्मृतिः सत्यवतीसुते।
प्रजापतिरपि स्रष्टा लोके सर्वत्र गीयते।।

आः किमिति सदसद्विवेकविकलशाकटिकादिप्रवादविप्रलब्धः एवं भ्राम्यसि किल स्वल्पमपि कर्म पित्रा मात्रा वोपदिश्यमानं तद्वचनप्रत्ययादनुष्ठीयते तदयमियाननेकक्लेशवित्तव्ययादिनिर्वर्त्त्यो वैदिकः कर्मकलाप एवमेव

महाभारत के सम्बन्ध में तो अविगीत भाव से कर्ता का स्मरण होता आया है? यदि ऐसा है तो वेद के सम्बन्ध में भी यह स्मरण होता ही आया है कि वेदों के कर्त्ता प्रजापति ब्रह्मा हुए हैं। यदि यह कहा जाय कि यह तो वैदिक मन्त्रों की प्रशंसा के लिए कहा जाता आ रहा है। क्योंकि प्रजापति के द्वारा चार वेद बनाये गये और चार वर्ण तथा चार आश्रम भी– ऐसा पाठ पाया जाता है। तो उत्तर दे रहा हूँ कि हाय तब तो महाभारत के सम्बन्ध में भी व्यास के निर्माण की स्मृति वाचनिक अर्थात् कहने मात्र भर की मानी जायेगी। ऐसा कहा जा सकेगा कि महाभारत को व्यास निर्मित तो उसकी प्रशंसा के लिए कहा जाता है। वह वस्तुतः अनादि नित्य है। जिस प्रकार वेद में जगह जगह पर प्रजापति ब्रह्मा की प्रशंसा पायी जाती है उसी प्रकार महाभारत में भी जगह जगह पर व्यास की प्रशंसा प्राप्त है। यदि यह कहा जाय कि वेद के प्रणेता के सम्बन्ध में तो कहीं प्रश्न नहीं उठाया गया है तो क्या ऐसा कहने वाले आप लोगों के पिता और पितामहों के द्वारा द्वैपायन व्यास के सम्बन्ध में कहीं कोई प्रश्न उठाया गया है? यदि यह कहा जाय कि सत्यवती पुत्र व्यास की कथा तो सर्वजन प्रसिद्ध है। उनके सम्बन्ध में लोग आपस में बात किया ही करते हैं तो प्रजापति भी तो सर्वस्त्रष्टा के रूप में जन प्रसिद्ध ही हैं। आः, सत् और असत् के विवेक से रहित बैलगाडी हाँकने वालों की मनगढ़न्त कथाओं से ठगे जाने के कारण तेरी बुद्धि क्यों इस प्रकार निश्चित रूप से चक्कर खा रही है? क्या छोटी भी कोई क्रिया मां बाप के द्वारा उपदिष्ट होकर उसके वाक्य पर विश्वास करके ही नहीं किया जाता है। उसी प्रकार इतने बड़ा अनेक क्लेश पूर्वक अत्यधिक वित्तव्यय एवं आयससाध्य वैदिक यागात्मक क्रिया कलाप क्या यों ही उसके उपदेष्टा को न मानते हुये ही किया जाता है? यदि कहा जाय कि हाँ तो

तदुपदेशिनमाप्तमस्मृत्वैव क्रियत इति महान् प्रमादः। एवं चोच्चावचकविरचितजरत्पुस्तक लिखितकाव्यवदस्मर्यमाणकर्तृकेण वेदेन व्यवहारानुपपत्तेरवश्यस्मरणीयस्तत्र कर्त्ता स्यात्। न च कदाचन वेदेषु व्यवहारविच्छेदः संभाव्यते, येन तत्कृतं जरत्कूपारामादिष्विव तेषु कर्त्रस्मरणं स्यात्। तस्मादवश्यं स्मर्येत कर्त्ता न च संस्मर्यते स्मर्त्तुं शक्यते वा। स्मृतिर्हि भवन्ती तदनुभवमूला भवति न च मूलेऽपि कर्त्रनुभवः कस्यचिज्जातः सर्गादेरभावात्। भावे वा कर्त्तुरशरीरत्वेन दर्शनयोग्यत्वाभावात्।

सशरीरत्वपक्षे वै पुरुषः कोऽपि तादृशः।
इदानीं दृश्यमानोऽपि वेदं कुर्वन्न दृश्यते।।
अधीयमाने दृष्टेऽस्मिंस्तदा संशेरते जनाः।
किमेष रचयेद्वेदमुत वान्यकृतं पठेत्।।
यत्कृतं वा पठेदेष तस्मिन्नपि हि संशयः।
भङ्ग्या चेदमनादित्वमुन्मीलदिव दृश्यते।।
असत्यादिप्रमाणे च कर्त्तृतानुभवं प्रति।
स्मृतिः प्रबन्धसिद्धापि स्पृशत्यन्धपरम्पराम्।।

यह बहुत बड़ा प्रमाद् होगा? ऐसा विचार करने पर छोटे बड़े कवियों के द्वारा रचित उन काव्यों के समान, जो कि अस्मर्यमाण कर्तृक होते हैं अर्थात् जिनका कोई कर्त्ता ज्ञात नहीं रहता है। वेद से भी याग आदि व्यवहार उपपन्न न हो सकने के कारण वहां भी वेद के कर्त्ता स्मरणीय होना चाहिये था अर्थात् उनकी चर्चा चलनी चाहिए थी कभी भी वैदिक व्यवहार का विच्छेद सम्भावित नहीं है। जिसके कारण पुराने कूप आराम आदि स्थल के समान वहाँ भी उनके कर्त्ता का अस्मरण होगा। इसलिए यदि वेद का कोई कर्त्ता हो तो अवश्य ही लोगों के अन्दर उसका संस्मरण होता आता, किन्तु सो संस्मरण पाया नहीं जाता और संस्मरण सम्भव भी नहीं है। क्योंकि प्रत्येक स्मृति अनुभव मूलक ही होती है। और प्राथमिक रूप में वेद के कर्त्ता का अनुभव किसी को हुआ नहीं। क्योंकि न सृष्टि होती है और न प्रलय। और यदि होना मान भी लिया जाय तो जगत्कर्त्ता को अशरीरी मानने के कारण उसमें दर्शन की योग्यता नहीं होगी। ईश्वर के सशरीरत्व पक्ष में अर्थात् उन्हें शरीरी मानने पर अभी शरीरी देखे जाने पर भी कोई मनुष्य वेद का रचना करने वाला तो पाया नहीं जा रहा है। वेद पढ़ने वाले को देखकर लोग यह सन्देह करते हैं कि क्या यह स्वरचित वेद पढ़ रहा है या अन्य रचित वेद पढ़ रहा है? तो एक प्रकार से वेद की अनादिता निखरती सी दीख पढ़ती है। आदि के सम्बन्ध में अर्थात् वेद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रमाण न पाये जाने पर उसके कर्तृत्व के अनुभव के प्रति प्रबन्ध सिद्ध भी स्मृति अर्थात् बारम्बार की जाने वाली भी स्मृति फलतः उल्लेख अन्ध परम्परा को ही स्पर्श करती है अर्थात् उसे ही उपस्थित करती है। योगियों के द्वारा वेदकर्त्ता देखे जाते हैं – यह भी दुर्वच

योगिभिर्ग्रहणं कर्तुरित्येतदपि दुर्वचम्।
कर्तृता हृदि दुर्बोधा कथं गृह्येत तैरपि।।
योगिभिः सा गृहीतेति वयमेतन्न मन्महे।
अमन्वानाश्च गच्छेम विस्त्रब्धास्तत्पथं कथम्।।
वेदात्कर्त्रवबोधे तु स्पष्टमन्योन्यसंश्रयम्।
ततो वेदप्रमाणत्वं वेदात्कर्तुश्च निश्चयः।।

तस्मात्पौर्वापर्यपर्यालोचनरहितयथाश्रुतमन्त्रार्थवादमूला भ्रान्तिरेषा। न पुनः परमार्थतः कश्चित्कंचिद् वेदस्य कर्त्तारं स्मरति। तस्मादकृतका वेदाः। अवश्यस्मरणीयस्यापि कर्तुरस्मरणात्। न च व्यधिकरणो हेतुरस्मर्यमाणकर्तृकत्वादित्येवं साधनप्रयोगात्।

अत्रोच्यते, अपि तद्गुर्वध्ययनपूर्वकत्वं साधनमुपेक्षितं याज्ञिकैः अयमभिनवो हेतुरस्मर्यमाणकर्तृकत्वादिति प्रयुक्तः। तस्मादस्तु नाम नैनान् हेत्वन्तरोपन्यासिनो निगृह्णीमः। अक्षुद्रकथेयं प्रस्तुता अयमपि त्वस्मर्यमाणकर्तृकत्वादिति हेतुः किं स्वतन्त्र एवाकर्तृकत्वसिद्धये प्रयोज्यते उतास्मदुपचरितरचनात्वप्रतिघातायेति। तत्र न

है अर्थात् नहीं कहा जा सकता। क्योंकि कर्तृता अर्थात् कार्यानुकूल कृति आन्तरिक होने के कारण औरों के लिए दुर्बोध है। ऐसी परिस्थिति में वह किसी के द्वारा कैसे समझी जा सकती? यदि यह कहा जाय कि योगियों के द्वारा गृहीत हो चुकी है तो हम लोग ऐसा नहीं मानते। और न मानते हुए हम लोग उस मार्ग पर विश्वासपूर्वक जायेगें कैसे? यदि यह कहा जाय कि स्वयं वेद अपने कर्त्ता को बतलाता है तो अन्योन्याश्रय दोष अनिवार्य होगा। क्योंकि ईश्वर कर्तृक होने के कारण वेद को प्रमाण माना जायेगा और वेदकर्त्ता के रूप में वेद वर्णित होने के कारण ईश्वर मान्य होंगे। उनका निश्चय होगा। इसलिए पौर्वापर्य की पर्यालोचना से रहित मन्त्रवाक्य एवं अर्थवादवाक्य मूलक यह केवल भ्रम है। वास्तविक रूप में कोई वेद के कर्त्ता का स्मरण नहीं कर रहा है। इसलिए वेद नित्य हैं। क्योंकि अवश्य स्मरणीय कर्त्ता का कहीं स्मरण नहीं पाया जा रहा है। वेद की नित्यता का साधक हेतु निराधार नहीं अथवा साध्य का व्यभिचारी नहीं है। क्योंकि 'वेद यतः अस्मर्यमाण कर्तृक है' इस प्रकार साधन वाक्य का प्रयोग उपस्थापित है।

अब इसका उत्तर कहा जा रहा है – तो क्या अब उन मीमांसकों के द्वारा पूर्वोपन्यस्त गुर्वध्ययनपूर्वकत्व हेतु छोड़ दिया गया? उस हेतु की उपेक्षा कर दी गयी? यह 'अस्मर्यमाण कर्त्तृकत्व' अर्थात् यतः वेद के कर्त्ता का स्मरण नहीं पाया जाता है' हेतु रूप में प्रयुक्त हो रहा है? तब तो यद्यपि 'हेत्वन्तर' नामक 'निग्रह स्थान' से स्वतः प्रयोक्ता निगृहीत हो रहा है, किन्तु रहे, उसके द्वारा निगृहीत नहीं कर रहा हूँ। क्योंकि यह जल्प कथा क्षुद्र नहीं है गम्भीर है। परन्तु पूछना यह है कि क्या यह 'अस्मर्यमाण कर्त्तृकत्व' हेतु स्वतन्त्र रूप में वेदगत नित्यता के साधनार्थ उपस्थापित हो रहा है या मेरे द्वारा वेद की अनित्यता के

तावदनुमानमनुमानान्तरपरिपन्थि कथयितुमुचितम्। प्रत्यक्षागमवदनुमानस्याप्यनुमान बाधकत्वानुपपत्तेः। न हि तुल्यबलयोरनुमानयोर्बाध्यबाधकभावस्तुल्यबलत्वादेव। अतुल्यबलत्वे तु यत्कृतमन्यतरस्य दौर्बल्यं तत एव तदप्रामाण्यसिद्धेः किमनुमानबाधया। तद्विडम्बनार्थं तदभिधानमिति चेत् तदप्ययुक्तम्। एकत्र धर्मिणि युगपदितरेतर-विरोधिधर्मद्वयप्रयोजकहेतुद्वयोपनिपातायोगात्। न हि द्रव्यात्मकानि वस्तूनि भवितुमर्हन्ति इत्यवश्यमन्यतरस्तत्राप्रयोजकहेतुरप्रयोजकत्वादेव तस्यागमकत्वे किं विडम्बनार्थेन। हेत्वन्तरेण प्रयुक्तेन विरुद्धाव्यभिचार्यपि नाम न कश्चिद्धेत्वाभास इति वक्ष्यामः। प्रकरणसमोऽपि न यः कश्चित्सत्प्रतिपक्षो हेतुरिष्यतेऽपि तु संशयबीज-भूतोऽन्यतरविशेषानुपलम्भे भ्रान्त्या हेतुत्वेन प्रयुज्यमानस्तथोच्यत इति दर्शयिष्यामः। तस्मात्परोदीरितं हेतुं निराचिकीर्षता वादिना तद्गतपक्षवृत्तितादिधर्मपरीक्षणे न मनः खेदनीयम्। न हि प्रतिहेतुत्वान्वेषिणा वृथाटाट्या कर्त्तव्या।

साधक रूप में उपस्थापित रचनात्व हेतु के प्रतिघातक रूप में? यहाँ एक अनुमान दूसरे अनुमान का विरोधी नहीं होता है, यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष और आगम के समान अनुमान में अनुमानबाधकता सम्भव नहीं है उपपन्न नहीं है। तुल्यबल दो अनुमानों के बीच बाध्यबाधकभाव नहीं माना जा सकता है। क्योंकि दोनों समान बल वाले होते हैं। और अतुल्यबलता के स्थल में जिस कारण से एक की दुर्बलता होगी तन्मूलक ही उसमें अप्रामाण्य सिद्ध हो जायेगा। अतः दूसरे अनुमान के द्वारा बाधा मानने की आवश्यकता क्या? वहाँ एक अनुमान की विडम्बना के लिए अर्थात् उसकी असाधकता के ख्यापनार्थ दूसरा अनुमान उचित होता है – ऐसा यदि कहा जाय तो वह भी उचित नहीं है। क्योंकि एक धर्मी में एक साथ परस्पर विरोधी दो धर्मों के प्रयोजक हेतु द्वय का उपनिपात सम्भव नहीं है। कोई भी वस्तु 'द्वयात्मक' अर्थात् दो स्वरूपों वाली नहीं होती है। इसलिए अवश्य ही वहाँ एक हेतु अप्रयोजक अर्थात् अकिञ्चित्कर होगा। तत्प्रयुक्त ही उसमें अगमकता अर्थात् असाधकता हो जायेगी – उसकी विड़म्बना की क्या आवश्यकता? अर्थात् उसे अकिञ्चित्कर बतलाने की क्या आवश्यकता? हेत्वन्तर के प्रयोगस्थल में 'विरुद्धव्यभिचारी' नामक कोई हेत्वाभास भी नहीं है – यह आगे चलकर हम कहेंगे। 'प्रकरणसम' नाम का भी कोइ सत्प्रतिपक्ष हेतु अर्थात् हेत्वाभास मान्य नहीं है, किन्तु वह संशय का बीज बन जाता है। क्योंकि वहाँ अन्यतर गत विशेष का उपलम्भ नहीं होता है – इसलिए भ्रान्ति प्रयुक्त हेतु रूप में प्रयुज्यमान होने के कारण वह वैसा कहा जाता है। यह आगे चलकर हम दिखलायेंगे। इसलिए दूसरे वादी के द्वारा उपस्थापित हेतु के निराकरणार्थ इच्छुक वादी को तद्गत पक्षवृत्तिता आदि धर्म के परीक्षण में मन को खिन्न नहीं करना चाहिए। प्रतिहेतुता के अन्वेषणार्थ व्यर्थ इधर उधर नहीं भटकना चाहिए।

ननु कतरदनयोः साधनयोरप्रयोजकं रचनात्वादस्मर्यमाणकर्तृकत्वादिति चेत् उच्यते, रचनात्वमेव सप्रयोजकं न हि पुरुषमन्तरेण क्वचिदक्षरविन्यासो दृष्टः।

भो भगवन्तः सभ्याः क्वेदं दृष्टं क्व वा श्रुतं लोके।
यद्वाक्येषु पदानां रचना नैसर्गिकी भवति।।
यदि स्वभाविकी वेदे पदानां रचना भवेत्।
पटे हि हन्त तन्तूनां कथं नैसर्गिकी न सा।।

'शन्नो देवीरभिष्टये' 'नारायणं नमस्कृत्य' 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा' इति तुल्ये रचनात्वे क्व चित्कर्तृपूर्वकत्वमपरत्र तद्विपर्य्यय इति महान् व्यामोहः। एवं धूमोऽपि कश्चिदग्निमान् कश्चिदनग्निक इत्यपि स्यात्। किमिदानीं कुमारसम्भवतुल्योऽसौ वेदः सम्पन्नः, अहो सर्वास्तिकधुर्येण वेदप्रामाण्यं साधितं नैयायिकेन। अलमुपहासेन रचनामात्रमेव तुल्यं वेदस्य कुमारसम्भवेन नान्यत्। न चेयतोपहसितुं युक्तम्। किमस्य शब्दत्वं सामान्यं शङ्खशब्दासाधारणं नास्ति सत्तासामान्यं वा सर्वसाधारणमिति।

ननु याः कालिदासादिरचनाः कर्तृपूर्विकाः।
ताभ्यो विलक्षणैवेयं रचना भाति वैदिकी।।

अब प्रश्न यह किया जा सकता है कि उक्त रचनात्व और अस्मर्यमाणकर्तृकत्व इन दोनों साधनों के बीच अप्रयोजक अर्थात् अनुकूल तर्क रहित कौन है, तो इसके उत्तर में कहा जा रहा है कि रचनात्व ही अनुकूलतर्कवान् है, क्योंकि कर्त्ता व्यक्ति के बिना अक्षर विन्यास देखा नहीं जाता है। हे प्रभावशील सभ्यगण! यह आप लोगों ने कहाँ देखा या सुना है कि वाक्यान्तर्गत पदों की रचना स्वाभाविक होती है? यदि वेदगत पदों की रचना स्वाभाविक होती है तो हाय पट के अन्तर्गत तन्तु की रचना क्यों न स्वाभाविक है? 'शन्नोदेवी रभिष्ट ये' 'नारायणं नमस्कृत्य' और 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा' इन वाक्यों के अन्दर रचनात्व तुल्य होने पर भी कहीँ कर्त्तृपूर्वकता रहेगी और कहीँ उसके विपरीत उसका अभाव ऐसा मानना कैसा आश्चर्यकारी व्यामोह है? तब तो धूम भी कोई अग्निमान् अर्थात् अग्नि का समानाधिकरणं होगा और कोई अग्नि अर्थात् उसके विपरीत। इस पर यदि यह कहा जाय कि तब क्या वेद भी कुमारसम्भव तुल्य हो गया? तो उत्तर यह है कि यह परम आश्चर्य है कि इस प्रकार कहा जा रहा है। क्योंकि सभी आस्तिकों के अग्रगामी नैयायिक के द्वारा वेद का प्रामाण्य सिद्ध किया जा चुका है। उपहास करना उचित नहीं है, वह व्यर्थ है। क्योंकि वेद और कुमारसम्भव की तुल्यता रचना मात्र की दृष्टि से कही जा रही है, और कुछ नहीं। इतने से ही उपहास करना उचित नहीं है। क्या वेद में शब्दत्व सामान्य शङ्खशब्द साधारण नहीं है? या सत्ता सामान्य सकल शब्द साधारण नहीं है?

इस पर मीमांसकों की ओर से यह कहा जा सकता है कि – कालिदास आदि की जो रचनाएँ कर्त्तृपूर्वक होने वाली निश्चित हैं, वैदिकी रचना उससे विलक्षण ही पायी जाती है।

इहाध्ययनवेलायां रूपादेव प्रतीयते।
अकृत्रिमत्वं वेदस्य भेदैस्तैस्तैरनन्यगैः।।
नामाख्यातोपसर्गादिप्रयोगगतयो नवाः।
स्तुतिनिन्दापुराकल्पपरकृत्यादिनीतयः।।
शाखान्तरोक्तसापेक्षविक्षिप्तार्थोपवर्णनम्।
इत्यादयो न दृश्यन्ते लौकिके सन्निबन्धने।।
तेनाध्येतृगणाः सर्वे रूपाद्वेदमकृत्रिमम्।
मन्यन्त एव लोके तु पीतं मीमांसकैर्यशः।।
वेदा न पठिता यैस्तु त्वादृशैः कुण्ठबुद्धिभिः।
कार्यत्वं ब्रुवते तेऽस्य रचनासाम्यमोहिताः।।

उच्यते, मीमांका यशः पिबन्तु पयो वा पिबन्तु बुद्धिजाड्यापनयनाय ब्राह्मीघृतं वा पिबन्तु वेदस्तु पुरुषप्रणीत एव नात्र भ्रान्तिः।

यथा घटादिसंस्थानाद्भिन्नमप्यचलादिषु।
संस्थानं कर्त्तृमत्सिद्धं वेदेऽपि रचना तथा।।

यहाँ वेद के अध्ययन काल में ही वेद के स्वरूप को देखते हुए उसमें विभिन्न वैदिक विशेषताओं के आधार पर अकृत्रिमता प्रतीत होती है। जैसे नाम, आख्यात, उपसर्ग आदि के प्रयोग की शैली वहाँ नयी ही पायी जा रही है। इसी प्रकार स्तुति, निन्दा, परकृति और पुराकल्प इनकी नीतियाँ भी वेद में विलक्षण ही देखने को मिल रही हैं। शाखान्तरोक्त की अपेक्षा रखने वाला वर्णन और विक्षिप्त अर्थों का उपवर्णन इत्यादि लौकिक सत् रचनाओं में नहीं देखे जाते हैं।

इसलिए सभी अध्येता गण स्वरूप को देखते हुए वेद को अकृत्रिम अर्थात् नित्य मानते हैं। हम मीमांसक तो केवल वाह वाही लूटते हैं। जिन्होंने वेद पढ़ा नहीं, वे तुम जैसे नैयायिक लोग जिनकी बुद्धि कुण्ठित होती है, रचना की समता से मोहित होने के कारण वेद को कार्य अर्थात् अनित्य फलतः किसी व्यक्ति के द्वारा रचित मानते हैं। तो अब इसका उत्तर कहा जा रहा है–

मीमांसक लोग अपनी जड़ता के अपनयनार्थ दूध पीयें या यश पीयें, अथवा ब्राह्मीघृत पीयें किन्तु वेद पुरुष के द्वारा प्रणीत ही है। इसमें तनिक भी भ्रम का स्थान नहीं है। जिस प्रकार घट आदि के संस्थान से अर्थात् अवयवों से पर्वत आदि के संस्थान अर्थात् अवयव भिन्न पाये जाते हैं फिर भी दोनों समान रूप से सकर्त्तृक ही होते हैं उसी प्रकार वेद में भी रचना होती है अर्थात् शैली गत विभिन्नता होने पर भी वह भी लौकिक कुमारसम्भव आदि ग्रन्थों की तरह पुरुष निर्मित अवश्य है।

यच्चात्र किञ्चिद्वक्तव्यं तत्पूर्वमेव सविस्तरमुक्तम्। अपि च यद्विलक्षणेयं रचना तद्विलक्षण एव कर्तानुमीयतां न पुनस्तदपलापो युक्त इत्यप्युक्तम्। याश्चैता निर्विवादसिद्धकर्तृकाः कालिदासादिरचनाः चमत्कारिण्यः तासामन्योन्यविसदृशं रूपमुपलभ्यते एव।

अमृतेनेव संसिक्ताश्चन्दनेनेव चर्चिताः।
चन्द्रांशुभिरिवोद्घृष्टाः कालिदासस्य सूक्तयः।।

प्रकटरसानुगुणविकटाक्षररचनाचमत्कारितसकलकविकुला वाणस्य वाचः। प्रतिकाव्यं च तानि तानि वैचित्र्याणि दृश्यन्ते एव। नामाख्यातादिवैचित्र्यमात्रेण कर्त्रभावो वेदे रूपादेव प्रतीयते इति नूतनेयं वाचोयुक्तिः। अपि च यदि रूपे समाश्वसिति भवतो मनः तदादिमदर्थाभिधानमपि वेदस्य रूपं कथं न परीक्षसे 'बबरः प्रावाहणिरकामयत' 'कुसुरविन्दः औद्दालकिः अकामयत' 'पुरुरवो मा स्पृया' इति। प्रतिसर्गं पुनस्तेषां भावादनादित्वमिति चेत्प्रतिसर्गं तर्हि वेदान्यत्वमपि भविष्यति।यथोक्तम्–

'प्रतिमन्वन्तरं चैषा श्रुतिरन्या विधीयते' इति।

और जो कुछ यहाँ वक्तव्य है, वह विस्तार पूर्वक पहले ही कहा जा चुका है। और यह भी कि जिस लिए वैदिकी रचना अन्य लौकिक रचनाओं से विलक्षण पायी जाती है, अतः वेदकर्त्ता अन्य कर्त्ताओं से विलक्षण अनुमित हो, यह तो ठीक है। किन्तु उसके कर्त्ता का अपलाप ही कर दिया जाय– यह तो उचित नहीं। यह कहा जा चुका है। कालिदास आदि की उन चमत्कारी रचनाओं के बीच जिनके कर्त्ता के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं है परस्पर विलक्षण स्वरूप उपलब्ध होते ही हैं। कालिदास की सूक्तियाँ मानों अमृत से संसिक्त हैं चन्दन से अनुलेपित हैं और चन्द्रकिरणों से मानो पालिस किये हुये हैं। और वाण की वाणियां ऐसी हैं कि वे स्वगत रूप में प्रकट रस के अनुकूल गुणयुक्त सुन्दर अक्षर योजना से समग्र कविकुल को चमत्कृत करने वाली हैं। प्रत्येक कार्य में इस प्रकार की पारस्परिक आकर्षक विलक्षणताएँ देखी ही जाती हैं। यह कहना कि वैदिक नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात आदि लौकिक वाक्यगत उनसे विलक्षण पाये जाते हैं। इसलिए वेद अकर्तृक है उसके कर्ता का अभाव है। यह वेद के स्वरूप को देखकर अर्थात् उसे सुनकर ही प्रतीत हो जाता है – यह तो एक नयी वाचिक युक्ति है। और यह भी कि यदि आपका मन वेद के स्वरूप पर विश्वास करता है तो वेद में कथित घटनाएँ भी तो उसके स्वरूप ही हैं – उनकी परीक्षा क्यों नहीं आप करते हैं? वेद में कहा गया है कि 'प्रवाहण के पुत्र ववर ने कामना की' 'उद्दालक के पुत्र कुसुरबिन्द ने कामना की' इसी प्रकार पुरुरवा को सम्बोधन करते हुए कहा गया है कि 'पुरुरवो मास्पृयाः'। यदि इसके सम्बन्ध में यह कहा जाय कि उक्त ऐतिहासिक जन प्रत्येक सृष्टि में हुआ करते हैं। अतः वेद की अनादिता अक्षुण्ण रह जाती है, तो उन लोगों के समान वेदों की भी तो विभिन्नता हो सकती है। जैसा कहा भी गया है कि प्रत्येक मन्वन्तर में अलग अलग ही श्रुति रची

रूपादकृत्रिमत्वं च कल्पना कल्पितैव सा।
आदिमद्वस्तुबुद्धिस्तु वाचकैरक्षरैः स्फुटैः।।

तेषामन्यथा व्याख्यानं तु व्याख्यानमेव पठन्त एव त्वध्येतारस्तत आदिमतोऽर्थान् बहूनवगच्छन्तीति नानादिर्वेदः, तस्मान्न रचनात्वमप्रयोजकम्।

कर्त्रस्मरणमेव त्वप्रयोजकमसिद्धत्वात्। सिद्धमपि वा वेदे कर्त्रस्मरणमन्यथासिद्धं वेदकरणकालस्यातिदवीयस्त्वात्। तत्प्रणेतुश्च पुंसः सकलपुरुषविलक्षणत्वान्नियतशरीरपरिग्रहाभावादिदन्तयास्य पाणिनिपिङ्गलादिवत्स्मरणं नास्ति न तु स नास्त्येवानुमानागमाभ्यां तदवगमात्। कथं पक्षधर्मतया ग्रहीतुं शक्यते कर्त्रस्मरणं तदध्येतपुरुषसम्बन्धि व्यभिचरति सर्वपुरुषसम्बन्धि तु दुरवगमम्। सर्वे पुमांसः कर्त्तारं वेदस्य न स्मरन्तीति कथं जानाति भवान्न हि तव सकललोकहृदयानि प्रत्यक्षाणि सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात्। न च यत्त्वं न जानासि तदन्योऽपि न जानातीति युक्तम्, अतिप्रसङ्गात्। तस्मादस्मर्यमाणकर्तृकत्वं दुर्बोधमेव। अपि च कर्तुरस्मरणे सति सुतरां वेदार्थानुष्ठानं

जाती है।

स्वरूप भेद के कारण वेद अकृत्रिम अर्थात् नित्य है। यह तो कल्पना मात्र है। और कल्पना तो कल्पित ही होती है। वेद के अन्दर आदिमान् अर्थात् ऐतिहासिक वस्तुओं का उल्लेख हुआ है -- यह बुद्धि तो स्फुट भाव से वाचक शब्दों से प्राप्त हैं। उन वाक्यों का और व्याख्यान तो व्याख्यान ही होगा अर्थात् विकृत अर्थ कथन ही होगा। अध्येता गण वेद पढ़ते समय ही आदिमान् अर्थात् ऐतिहासिक अनेकानेक वस्तुओं को समझते हैं, इसलिए वेद अनादि नहीं है। इसलिए 'रचनात्व' हेतु को अप्रयोजक अर्थात् तर्कहीन फलतः असाधक नहीं कहा जा सकता है। किन्तु कर्त्ता का अस्मरणात्मक मीमांसकों का हेतु ही अप्रयोजक अर्थात् हेत्वाभास फलतः असाधक है, क्योंकि वह असिद्ध है। और सिद्ध होने पर भी वह वेद में कर्त्ता का अस्मरण अन्यथा सिद्ध है। क्योंकि वेद की रचना का काल अत्यन्त दूरवर्ती है। वेद का प्रणेता अन्य सभी व्यक्तिओं से विलक्षण होता है। वह नियत भाव से शरीर परिग्रह भी करता नहीं है, इसलिए पाणिनि पिङ्गल आदि के समान 'ये' इस रूपमें विशेष भाव से निर्देशात्मक उनका स्मरण होता नहीं। किन्तु ऐसी बात नहीं कि वे हैं ही नहीं। क्योंकि आगम और अनुमान प्रमाणों के द्वारा उनका अवगम होता है। इस पुरुष विशेष से सम्बन्ध रखने वाला कर्त्ता का अस्मरण व्यभिचारी है। और सकल पुरुष सम्बन्धी वह समझा ही नहीं जा सकता। सभी लोग वेदकर्त्ता का स्मरण नहीं करते है -- यह आप कैसे जानते हैं। सभी लोगों के हृदयों को तो आप प्रत्यक्ष रूप से जानते नहीं है। क्योंकि तब आप में सर्वज्ञता की आपत्ति होगी। तुम जिसे जानते नहीं उसे और भी कोई जानता नहीं -- यह मानना तो उचित नहीं है, क्योंकि तब अतिप्रसङ्ग होगा। इसलिए अस्मर्यमाण कर्तृकत्व दुर्बोध ही है। और यह भी कि कर्त्ता का अस्मरण मानने पर

प्रेक्षावतां शिथिलीभवेन्न ह्यकर्तृक एवोपदेशः सम्भवति सम्भवन्नपि वा प्रामाण्यनिश्चय-निमित्ताभावात्कथं विस्त्रम्भभूमिरसौ भवेत्। बाधकाभावमात्राच्च न प्रामाण्यनिश्चयो वचसामित्युक्तं प्राक्। तस्मादाप्तप्रत्ययादेव निर्विचिकित्सं वेदार्थानुष्ठानं सुप्रतिष्ठानां सम्भवति नान्यथेति। तस्मान्न कर्त्रस्मरणस्य रचनात्वप्रतिपक्षतयोपन्यास उपपन्नः।

नापि स्वतन्त्रमेवेदं कर्त्रभावसाधनं भवितुमर्हति अनुपलब्धिरियमनेन प्रकारेण किलोच्यते साऽनुपपन्ना मानेन कर्तुरुपलम्भात्। अनुमानेनापि यदुपलब्धं तदुपलब्धमेव भवति। ननु कर्त्रभावस्मरणबाधितत्वादनुमानमिदमयुक्तम्, इतरेतराश्रयप्रसङ्गात्। अनुपलब्धौ सिद्धायामनुमाननिरासः अनुमाननिरासे च सत्यनुपलब्धिसिद्धिः। अनुमानप्रामाण्येऽपि समानो दोष इति चेद् न, तस्य प्रतिबन्धमहिम्ना प्रामाण्यसिद्धेः। न हि तस्यानुपलब्धिसिद्धिनिरासापेक्षं प्रामाण्यम्।

तत्रैतत्स्याद्, न वयं कर्त्रभावे प्रामाण्यं ब्रूमः सकललोकपदार्थव्यवहारिणो हि मीमांसकाः। परं तु वेदस्य पौरुषेयतां ब्रुवाणं प्रमाणं पृच्छामः। तच्चास्य नास्तीति

विवेचकों का वेद प्रतिपाद्य याग आदि का अनुष्ठान स्वतः शिथिल हो उठेगा। पहले तो यह कि कोई भी उपदेश बिना कर्त्ता का नहीं होता है। और उसके होने पर भी उसमें प्रामाण्य का निमित्त न होने के कारण वह व्यक्ति विश्वास का पात्र कैसे हो पायेगा? बाधकाभाव मात्र से प्रामाण्य का निश्चय वाक्य में नहीं होता है– यह बात पहले कही जा चुकी है।

इसलिए वेदार्थ का अनुष्ठान सुप्रतिष्ठित जनों के लिए असन्दिग्ध रूप में उपदेष्टा व्यक्ति में आप्तता प्रत्यय के कारण ही होता है अन्यथा नहीं। इसलिए कर्त्ता के अस्मरण का रचनात्व के प्रतिपक्षी रूप में उपन्यास उपपन्न नहीं होता है। और यह कर्त्ता का अस्मरण स्वतन्त्र रूप से ही कर्त्ता के अभाव का साधक है, यह भी नहीं। क्योंकि यह कर्त्ता की अनुपलब्धि इसी प्रकार ही कही जाती है कि 'वह उपलब्धि अनुपपन्न है क्योंकि प्रमाण के द्वारा कर्त्ता उपलब्ध नहीं होता है।' परन्तु अनुमान प्रमाण के द्वारा जो उपलब्ध होता है। वह तो उपलब्ध ही होता है। यहाँ यदि प्रश्न उठाया जाय कि कर्त्ता के अभाव के स्मरण से कर्त्ता का अनुमान बाधित हो जाता है, तो यह भी उचित नहीं है। क्योंकि तब अन्योन्याश्रय दोष हो उठेगा। कर्त्ता की अनुपलब्धि के सिद्ध होने पर अनुमान का निरास होगा और अनुमान का निरास होने पर कर्त्ता की अनुपलब्धि होगी। यदि यह कहा जाय कि यह दोष तो अनुमान के प्रामाण्य पक्ष में भी है। तो ऐसा नहीं, क्योंकि अनुमान के प्रामाण्य की सिद्धि व्यक्ति के बल पर हो जायेगी। कर्त्ता के अनुमान में प्रमाण्य की सिद्धि अनुपलब्धि सिद्धि के निरास की अपेक्षा नहीं रखती।

इस पर मीमांसकों की ओर से यह कहा जा सकता है कि हम अनुमान में कर्त्ता के अभाव के प्रति प्रामाण्य नहीं कहते हैं। हम मीमांसक तो सकल लोक और सभी पदार्थों के व्यवहार पर आस्था रखते हैं। परन्तु जो लोग वेद को पौरुषेय मानते हैं, उनसे उसके

बलादनुपलब्ध्या तदभावनिश्चयो व्यवतिष्ठते इति। स्यादेतदेवं यद्यनुमानं न स्यात्। उक्तं च 'रचनात्वादि'त्यनुमानम्।

यत्पुनरवादि वेदेषु पुरुषस्य कर्तृत्वमशक्यं ग्रहीतुमिति तदप्यसाधु, परोक्षस्य कुविन्दादेरपि अभिनवावरकपटादौ कार्ये कथं कर्तृतावगम्यते।

पटादिरचनां दृष्ट्वा तस्य चेत्सानुमीयते।
वेदेऽपि रचनां दृष्ट्वा कर्तृत्वं तस्य गम्यताम्।।

शरीरपरिग्रहमन्तरेण प्राणिनामुपदेशस्य कर्तुमशक्यत्वात् कदाचिदीश्वरः शरीरमपि गृह्णीयादिति कल्प्यते। नियतशरीरपरिग्रहाभावाच्च व्यासादिवदसौ न स्मर्यते। ततश्च–

अद्य सद्यः कविः काव्ये यथा कर्त्तेति मीयते।
तथा तत्कालजैः पुम्भिः सोऽपि कर्त्तेति मन्यते।।
यथा परकृताशङ्का तस्मिन् काव्ये व्यपैति ते।
वेदेऽप्यन्यकृताशङ्का तथा तेषां व्यपैष्यति।।
परोक्षमनुमानेन यच्च बुद्ध्यामहे वयम्।
प्रत्यक्षं योगिनां तच्चेत्युक्तं प्रत्यक्षलक्षणे।।

सम्बन्ध में प्रमाण पूछते हैं। वह प्रमाण नहीं है तो अगत्या प्रमाण की अनुपलब्धि के बल पर वेद के कर्त्ता का अभाव सिद्ध हो जाता है। वेद के कर्त्ता के अभाव का निश्चय सुप्रतिष्ठित हो जाता है। तो इसका उत्तर यह है कि ऐसा तब हो पाता यदि वेदकर्त्ता का साधक अनुमान न होता। रचनात्व हेतुक अनुमान कहा जा चुका है। यह जो कहा गया है कि पुरुष में वेद का कर्तृत्व ग्रहणार्ह नहीं है। उसका ग्रहण नहीं किया जा सकता है, तो वह भी ठीक नहीं है। परोक्ष कुबिन्द आदि में नवीन आवरक पट आदि कार्य के प्रति कर्तृता कैसे समझी जाती है? पट आदि की रचना को देखकर यदि पट की कर्तृता अनुमित होती है तो वेद की रचना को अर्थात् वर्ण-पद-विन्यास को देखकर उसकी कर्तृता भी अनुमित हो जाय। शरीर परिग्रह के बिना ईश्वर उपदेश नहीं दे सकते, इसलिए वे कभी शरीर का भी धारण कर लेते हैं– यह कल्पना की जाती है। और नियतभाव से वे शरीर का ग्रहण करते नहीं इसलिए व्यास आदि की तरह लोगों के द्वारा स्मृत नहीं होते हैं। इसलिए आज तुरन्त काव्य करने वाला व्यक्ति जिस प्रकार लोगों के द्वारा कवि अर्थात् काव्य का कर्त्ता कहा जाता है उसी प्रकार उस काल के लोगों के द्वारा वे वेद कवि अर्थात् वेद का करने वाले कहे जाते हैं और माने जाते हैं। जिस प्रकार उस काव्य में परकृतत्व की शङ्का आज तुम्हे नहीं होती है, उसी प्रकार उन लोगों को वेद में अन्य कृतत्व की आशङ्का नहीं होती है। सारांश यह कि उन्हें वेद बनाते हुए देखने वाले को वेद में अन्य कृतत्व की शङ्का जाती रहेगी। जिस किसी भी परोक्ष वस्तु को, जो हम लोग अनुमान के द्वारा समझते हैं, वह वस्तु योगियों के लिए प्रत्यक्ष ही होती है, यह प्रत्यक्ष लक्षण के अवसर पर कहा जा चुका

प्रत्यक्षमनुमानं च तदेवं कर्तृतामितौ।
मूलप्रमाणमस्तीति स्मृतौ निन्दापरम्परा।।
मन्त्रार्थवादमूलत्वं तत एष न तत्स्मृतेः।
यथोदितानुमानादिप्रमाणन्तरसम्भवात्।।

यदपीतरेतराश्रयमभाषि पुरुषोक्ते वेदे प्रामाण्यं वेदप्रामाण्यात् पुरुषसिद्धिरिति। तदपि न सम्यक्, पूर्व परिहृतत्वात्। अनुमानात्प्रसिद्धे कर्त्तरि वेदवाक्यैस्तत्प्रतीतेरूपोद्बलनमिष्यते न त्वागमैकशरण एव कर्त्रवगमः। उक्तं च पूर्वमपि पृथिव्यादिना कार्येण कर्तुरनुमानम्।

[वेदकर्तु रेव पृथिव्यादिकर्तृत्वम्]

किं येनैव कर्त्रा पृथिव्यादि कार्यं निर्मितं तेनैव वैदिक्यो रचना निर्मिता इति चेद् ओमित्युच्यते। किमत्र प्रमाणमिति चेत्–

उच्यते तर्हि सर्वज्ञः स्त्रष्टुं प्रभवतीदृशम्।
विचित्रं प्राणिभृत्कर्मफलभोगाश्रयं जगत्।।
तत्कर्मफलसम्बन्धविदा तदुपदेशिना।
तेनैव वेदा रचिता इति नान्यस्य कल्पना।।

है। इसलिए इस प्रकार वेद की कर्तृता के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो मौलिक प्रमाण हैं। इसलिए उस कर्तृता की स्मृति के सम्बन्ध में निन्दा परम्परा प्राप्त है। इसलिए वेदकर्त्तृता को मन्त्र और अर्थवाद मूलक कहा जाता है उसकी स्मृति के कारण नहीं। क्योंकि उक्त प्रकार अनुमानात्मक प्रमाणान्तर सम्भव है। अन्योन्याश्रय दोष भी जो इस प्रकार बतलाया गया है कि आप्त पुरुष होने के कारण वेद को प्रमाण माना जा रहा है और उस वेद के प्रामाण्य के आधार पर पुरुष की अर्थात् परमेश्वर की सिद्धि की जा रही है, वह भी सही नहीं है। क्योंकि उस का परिहार किया जा चुका है। अनुमान से पूर्ण रूप में ईश्वर की सिद्धि हो जाने पर वेद वाक्य के द्वारा उसकी पुष्टि की जाती है – यही माना जाता है। वेदकर्त्ता की स्वीकृति केवल वेद शरण नहीं है अर्थात् वेदवाक्य मात्र पर आधारित नहीं है। पहले कहा भी जा चुका है कि पृथिवी आदि कार्य से उसके कर्त्ता का अनुमान किया जाता है।

वेद के कर्त्ता ही पृथिवी आदि के भी कर्त्ता हैं।

क्या जिस कर्त्ता के द्वारा पृथिवी आदि कार्य निर्मित हुआ उसी कर्त्ता के द्वारा वैदिक रचना भी रचित हुई? अर्थात् वैदिक पद विन्यासात्मक वाक्य की रचना भी क्या उसी पृथिवी आदि के कर्त्ता के द्वारा किया गया? यदि यह प्रश्न उठाया जाता है तो इसका उत्तर 'हाँ' यही वक्तव्य है। इसमें प्रमाण क्या है – यह यदि पूछा जाय तो बतलाया जा रहा है – कि इस विचित्र जगत् का जो कि अनन्त एवं विभिन्न प्रकार के प्राणियों के कर्म भोग का आश्रय है, स्त्रष्टा वही हो सकता है जो कि सर्वज्ञ हो। और यही परिस्थिति वेद रचना की भी है अर्थात् वेद का भी उपदेशक वही हो सकता है अर्थात् उसकी रचना भी वही कर

एकेनैव च सिद्धेऽर्थे द्वितीयं कल्पयेम किम्।
अनेककल्पनाबीजं न हिं किञ्चन विद्यते।।

जगत्सर्गे तावदेक एवेश्वर इष्यते न द्वौ बहवोऽभिन्नाशयकल्पने एकत्र वैयर्थ्यादितरत्र व्यवहारवैशसप्रङ्गेन तत एकस्येश्वरत्वविधानात्। तथा हि –

अनेकेश्वरवादो हि नातीव हृदयङ्गमः।
ते चेत्सदृशसङ्कल्पाः कोऽर्थो बहुभिरीश्वरैः।।
सङ्कल्पयति यदेकः शुभमशुभं वापि सत्यसङ्कल्पः।
तत् सिद्ध्यति तद्विभवादित्यपरस्तत्र किं कुर्यात्।।
भिन्नाभिप्रायतायां तु कार्यविप्रतिषेधतः।
नूनमेकः स्वसङ्कल्पविहत्यानीश्वरो भवेत्।।
एकस्य किल सङ्कल्पो राजायं क्रियतामिति।
हन्यतामिति चान्यस्य तौ समाविशतः कथम्।।
राज्यसङ्कल्पसाफल्ये विहता वधकामना।

सकता है, जो सर्वज्ञ हो। क्योंकि असंख्य तत्तत् प्राणियों के कर्म और उनके फल तथा उन दोनों के बीच होने वाले पाप पुण्यात्मक सम्बन्ध इन सब का ज्ञान वेद की रचना करने वाले को भी उसी प्रकार आवश्यक होगा, जिस प्रकार जगत् के कर्त्ता को। इसलिए यह मानना आवश्यक है कि जगत् और वेद दोनों का कर्त्ता एक ही व्यक्ति है। अन्य कर्त्ता की कल्पना उचित नहीं है। और यह भी कि एक ही ईश्वर से जब कि दोनों कार्य हो सकते हैं दूसरे कर्त्ता की कल्पना क्यों की जाय? अनेक कर्त्ता की कल्पना का तो कोई बीज पाया नहीं जा रहा है। जगत् की सृष्टि के लिए भी एक ही ईश्वर मान्य है अनेक नहीं। सारांश यह कि ईश्वर दो या बहुत नहीं मान्य है। क्योंकि एक आशय वाले अनेक की कल्पना व्यर्थ होगी और विभिन्न आशय वाले अनेक ईश्वर को मानने पर जागतिक व्यवहार अवरुद्ध हो उठने की आशङ्का आ गिरेगी। इसलिए एकेश्वरता का ही विधान है।

इसे यों समझा जाय कि अनेकेश्वरवाद बिलकुल हृदयङ्गम नहीं है। क्योंकि वे बहुत ईश्वर यदि समान सङ्कल्प वाले होंगे तो बहुत ईश्वर मानने की आवश्यकता क्या? उन समान संकल्प शील ईश्वरों के अन्दर एक जो शुभ या अशुभ सङ्कल्प करेगा, उसकी सिद्धि उसकी सत्य सङ्कल्पता के कारण होगी ही। क्योंकि उसका वैभव अपरिहार्य होगा। ऐसी परिस्थिति में दूसरा ईश्वर बैठा क्या करेगा? और मान्य बहुत ईश्वरों के अभिप्राय भी यदि बहुत होंगे तो कार्य में विरोध प्राप्त होने पर जिस ईश्वर का सङ्कल्प खण्डित हो जायेगा, वह अनीश्वर हो उठेगा। संकल्प में विरोध इसलिए प्राप्त होगा कि किसी व्यक्ति के बारे में एक ईश्वर यह चाहेगा कि यह व्यक्ति राजा हो जाय और दूसरा ईश्वर उसके विरुद्ध यह चाहेगा कि यह मारा जाय। अब इन दोनों विपरीत इच्छाओं का समावेश कैसे सम्भव होगा?

तस्याः सफलतायां वा राज्यसङ्कल्पविप्लवः।।
तेन चित्रजगत्कार्यसंवाहानुगुणाशयः।
एक एवेश्वरः स्त्रष्टा जगतामिति साधितम्।।

[सर्ववेदानामेककर्तृकत्वम्]

एवं जगत्सर्गवत्स एव वेदानामप्येकः प्रणेता भवितुमर्हति नानात्वकल्पनायां प्रमाणाभावात् कल्पनागौरवप्रसङ्गाच्च। तेन यदुच्यते–

नन्वेकः सर्वशाखानां कर्त्तेत्यवगतं कुतः।
बहवो बहुभिर्ग्रन्थाः कथं न रचिता इमे।। इति।

तत्परिहृतं भवति। अतश्चैककर्तृका वेदा यतः परस्परव्यतिषक्तार्थोपदेशिनो दृश्यन्ते। एकमेव हि कर्म वेदचतुष्टयोपदिष्टैः पृथग्भूतैरप्येकार्थसमवायिभिरङ्गैरन्वितं प्रयुज्यते। तत्र हि हौत्रमृग्वेदेन, यजुर्वेदेनाध्वर्यवम्, औद्गात्रं सामवेदेन, ब्रह्मत्वमथर्ववेदेन क्रियते। पैप्पलादादिशाखाभेदोपदिष्टं च तत्तदङ्गजातं तत्र तत्रापेक्ष्यते। तत्र सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्मेत्याहुः। एतच्चादूर एवाग्रे निर्णेष्यते।

क्योंकि एक ईश्वर के उसके राजा होने का सङ्कल्प सफल होने पर उसी के सम्बन्ध में होने वाली दूसरे ईश्वर की बंध कामना खण्डित हो जायेगी। और दूसरे ईश्वर की बध कामना ही यदि सफल हुई तो प्रथम की यह कामना कि 'यह राजा हो जाय' यही खण्डित हो उठेगी। इसलिए तीनों लोकों के कार्यों के निर्वाहानुकूल एक ही ईश्वर समग्र जगत् के स्त्रष्टा हैं – यह सिद्ध होता है।

सारे वेदों का भी कर्त्ता एक ही ईश्वर है।

इसी प्रकर जगत् की सृष्टि स्थल के समान सारे वेदों का भी प्रणेता एक ही ईश्वर हो सकता है। क्योंकि उसकी विभिन्नता की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है। इससे यह जो अवैदिक अनीश्वर वादी के द्वारा कहा जाता है कि सारी वैदिक शाखाओं की रचना एक ही के द्वारा की गयी– यह कैसे अवगत हुआ? बहुत से वैदिक ग्रन्थ बहुतों के द्वारा रचे गये – ऐसा ही क्यों न माना जाय? वह भी परिहृत अर्थात् खण्डित हो गया। इस कारण भी सारे वेद एक कर्त्तृक मान्य हैं कि सारे वेद परस्पर सम्बद्ध अर्थों के उपदेशक पाये जा रहे हैं। एक ही कर्म पृथक् होने पर भी एक ही क्रिया से सम्पृक्त चारों वेदों के द्वारा उपदिष्ट अङ्गों से अन्वित रूप में प्रयुक्त होता है। उनके अन्दर ऋग्वेद के द्वारा होता का, यजुर्वेद के द्वारा अध्वर्यु का, सामवेद के द्वारा उद्गाता का कर्त्तव्य अङ्ग कर्म उपदिष्ट हुआ है। और सब का वेदत्व अथर्ववेद के द्वारा किया जाता है। पैपल्लाद आदि शाखाओं के द्वारा उपदिष्ट तत्तत् अङ्ग समुदाय तत्तत् स्थल में अपेक्षित होते हैं। वहाँ ऐसा भी एक कर्म पाया जाता है जिसको समझने के लिए सारी शाखाएं अपेक्षित होती हैं– यह विवेचकों ने कहा है। इसका निर्णय निकट में ही किया जाने वाला है।

एकाभिप्रायबद्धत्वं तेन सर्वत्र गम्यते।
भवेद्भिन्नाशयानां हि कथमेकार्थमीलनम्।।

काव्यसमस्यापूरणे का वार्त्तेति चेत्–

तत्रापि प्रथमस्यैव कवेस्तद्वस्तुदर्शनात्।
तदभिप्रायवेदी तु सोऽन्यस्तमनुवर्त्तते।।
अन्यथानन्वितं काव्यं स्याद्विश्ववसुकाव्यवत्।
अन्वितत्वे तु सा नूनमाद्यस्यैव कवेर्मतिः।।
इहाप्येकाशयाभिज्ञद्वितीयेश्वरकल्पने।
एकाभिप्रायतैव स्यात्किं स्यात्तत्कल्पने फलम्।।

तस्मादेक एव कर्त्ता सर्वशाखानां काठकादिव्यपदेशस्तु प्रकृष्टाध्ययननिबन्धनो भविष्यतीति भवद्भिरप्युक्तम्। अपि च यथा तरोर्विक्षिप्ताः शाखा भवन्ति न च कृत्स्नं पुष्पफलपत्रमेकस्यां शाखायां सन्निहितं भवति किं तु कस्यां चित्कस्यां चित्। एवं वेदस्यापि शाखाः पृथगङ्गकर्मोपदेशिन्यो विक्षिप्ताश्च।

तासां च वृक्षशाखानामेकस्माज्जन्म बीजतः।
तथैव सर्वशाखानामेकस्मात् पुरुषोत्तमात्।।
कर्त्ता य एव जगतामखिलात्मवृत्ति
कर्मप्रपञ्चपरिपाकविचित्रताज्ञः।

इसलिए सभी वेदों में एक ही अभिप्राय से निर्मितत्व प्रतीत होता है। क्योंकि विभिन्न आशयों का एक अर्थ में अर्थात् एक क्रिया में मेलन अन्यथा कैसे सम्भव हो सकता? काव्य समस्या पूर्त्तिस्थल में कैसे उक्त प्रकार मेलन सम्भव होता है? वहाँ क्या बात होती है, यह यदि प्रश्न किया जाय तो उत्तर यह है कि वहाँ भी उस वस्तु का दर्शन प्रथम कवि को ही होता है उसी के अभिप्राय को ध्यान में रखकर वह अन्य कवि उसका अनुवर्त्तन करता है। अन्यथा वह काव्य विश्ववसु के काव्य के समान अनन्वित ही होगा अर्थात् असङ्गत ही हो पड़ेगा। यहाँ भी एक के आशय के अभिज्ञ द्वितीय ईश्वर की कल्पना करने पर एक ही अभिप्राय मानना होगा। तब द्वितीय ईश्वर की कल्पना से क्या लाभ होगा? इसलिए सारी वैदिक शाखाओं का कर्त्ता एक ही हैं। काठक आदि शाखा भेद का व्यपदेश प्रकृष्ट अध्ययन मूलक होगा– यह आपने भी कहा है।

और यह भी कि जिस प्रकार वृक्ष की शाखाएँ बिखरी होती हैं। सारे पुष्प फल और पत्र एक में ही सन्निहित नहीं होती हैं किन्तु वे अलग अलग विभिन्न शाखाओं में सन्निहित होते हैं, उसी प्रकार वेद की भी शाखाएँ बिखरी हुई हैं, जो कि अलग अलग अङ्गभूत कर्मों का उपदेश करती हैं। वृक्ष की उन बिखरी सभी शाखाओं का जन्म जिस प्रकार एक ही बीज से होता है। उसी प्रकार सभी वैदिक शाखाओं की उत्पत्ति भी एक ही पुरुषोत्तम से होती है। सारी परिस्थितियों को देखते हुए उचित यही प्रतीत होता है कि जागतिक निखिल आत्मगत कर्म समुदाय को एवं उनके विचित्र कर्म विपाक को जानने वाले भगवान् एक

विश्वात्मना तदुपदेशपराः प्रणीता-
स्तेनैव वेदरचना इति युक्तमेतत्।।
आप्तं तमेव भगवन्तमनादिमीश-
माश्रित्य विश्वसिति वेदवचस्सु लोकः।
तेषामकर्तृकतया न हि कश्चिदेवं
विस्रम्भमेति मतिमानिति वर्णितं प्राक्।।

एवं च पदवाक्यरचनादौ तावद्वेदेषु पुरुषापेक्षित्वमुपपादितम्।

[शब्दार्थसम्बन्धनिरूपणम्]

यदपि सम्बन्धकरणे पुरुषानपेक्षत्वमुच्यते यत् चित्रभानोरिव दहनशक्तिः शब्दस्य नैसर्गिकी वाचकशक्तिः व्युत्पत्तिस्तु वृद्धेभ्य एव व्यवहरमाणेभ्य उपलभ्यते इति किमत्र पुरुषः करिष्यतीति तदप्यघटमानम्। पुरुषपरिघटितसमयसम्बन्धव्यतिरेकेण शब्दादर्थप्रत्ययानुत्पत्तेः।

ननु नैव शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः कश्चिदस्ति कस्येदं पुरुषसापेक्षत्वं तन्निरपेक्षत्वं वा चिन्त्यते। न हि शब्दार्थयोः कुण्डबदरयोरिव संयोगस्वभावः तन्तुपटयोरिव समवायात्मा वा सम्बन्धः प्रत्यक्षमुपलभ्यते। तन्मूलत्वाच्च सम्बन्धान्तराण्यपि न सन्ति। तदुक्तं मुखे

ही हैं। उन्ही सर्वान्तर्यामी के द्वारा उपदेश फलक सारे वेद वाक्य रचित हुये हैं। उन्हीं अनादि एवं सर्व कार्य समर्थ भगवान् को आप्त रूप में देखकर लोग वेदवाक्य पर विश्वास करते हैं। कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति वेद को अकर्तृक अर्थात् कर्त्ता रहित नित्य समझकर उस पर विश्वास नहीं करता है – यह पहले वर्णन किया जा चुका है। इस प्रकार वैदिक पद वाक्य रचना आदि में कर्ता पुरुष की अपेक्षा उपपादित हुई।

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का निरूपण।

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध योजन में भी जो पुरुष की अपेक्षा का अभाव कहा जाता है कि अग्निगत दहन शक्ति के समान शब्दगत वाचकतात्मक बोधन शक्ति भी नैसर्गिक अर्थात् स्वाभाविक है। उसकी व्युत्पत्ति अर्थात् परिचय व्यवहारी वृद्धों के व्यवहार से ही होता पाया जाता है। इसलिए उस में पुरुष क्या करेगा? वह भी सम्भव नहीं है। क्योंकि पुरुष के द्वारा नियोजित शक्ति स्वरूप सम्बन्ध के बिना शब्द से अर्थ का बोध उत्पन्न नहीं हो सकता है।

प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि शब्द के साथ अर्थ का कोई सम्बन्ध है ही नहीं फिर किस को पुरुष की अपेक्षा होगी? अथवा विचार करके सम्बन्ध की अपेक्षा का अभाव स्थिर किया जा रहा है – शब्द और अर्थ के बीच कुण्ड और बैर के बीच संयुक्त होने का स्वभाव तो है नहीं। इसी प्रकार तन्तु और पट के समान समवायात्मक सम्बन्ध भी प्रत्यक्षतः उपलब्ध नहीं होता है। तन्मूलक ही होने के कारण सम्बन्धान्तर भी सम्भव नहीं

शब्दमुपलभामहे भूमावर्थमिति। नाप्यनुमीयते शब्दस्यार्थेन सबन्धः क्षुरमोदकशब्दोच्चारणे मुखस्य पाटनपूरणानुपलम्भात्। न च शब्ददेशे अर्थः सम्भवति न चार्थदेशे शब्दः स्थानकरणप्रयत्नानां तद्धेतूनां घटाद्यर्थदेशेऽनुपलम्भात्। व्यापकत्वं तु शब्दस्य प्रतिषिद्धमेव।

उच्यते, न संश्लेषलक्षणः शब्दार्थसम्बन्धोऽस्माभिरभ्युपगम्यते। तत् किं कार्यकारणनिमित्तनैमित्तिकाश्रयाश्रयिभावादयः शब्दस्यार्थेन सम्बन्धाः। एतेऽपि नतराम्, न तर्हि तस्य कश्चिदर्थेन सम्बन्धः। न नास्ति शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः प्रत्ययनियमहेतुत्वात् धूमादिवत्। तत् किं शब्दार्थयोरविनाभावः संबन्धः सोऽपि नास्ति। एवं हि शब्दोऽनुमानमेव स्यात्। कस्तर्हि समय इति ब्रूमः। कोऽयं समयो नाम। अभिधानाभिधेयनियमनियोगः समय उच्यते। यद्येवं किमनाशङ्कनीयसंश्लेषपरिचोदनेन तद्दूषणेन च। उच्यते, शब्दार्थाभेदवादिनां हि वैयाकरणानामेष संश्लेष उपपत्तिमान् समयो ऽप्ययमनुपपन्न एव। स हि पुरुषकृतः सङ्केतो न च पुरुषेच्छया वस्तुनियमोऽवकल्पते

है। जैसा कि कहा गया है कि शब्द मुख में होता हुआ पाया जाता है और अर्थ भूमि पर शब्द के साथ अर्थ का सम्बन्ध अनुमान से भी सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि छुरा शब्द के उच्चारण से मुह कटता नहीं है और मोदक शब्द के उच्चारण करने पर मुँह भर नहीं आता। जहाँ शब्द होता है वहाँ अर्थ नहीं होता है और जहाँ अर्थ वहाँ शब्द नहीं। क्योंकि शब्द के हेतु स्थान करण प्रयत्न आदि घट आदि वस्तु के स्थान में उपलब्ध नहीं होते। शब्द की व्यापकता खण्डित हो ही चुकी है। तो इसका अब उत्तर दिया जा रहा है – शब्द और अर्थ के बीच हम लोगों के द्वारा संश्लेषात्मक सम्बन्ध तो माना नहीं जा रहा है, तो क्या शब्द के साथ अर्थ के कार्यकारणभाव आश्रयाश्रयिभाव आदि सम्बन्ध होंगे? परन्तु वे तो और भी नहीं हो पायेंगे। तो फलितार्थ यह निकला कि शब्द का अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है? परन्तु ऐसा नहीं है, यह बात नहीं कही जा सकती। क्योंकि धूम से अग्नि के समान शब्द से अर्थ का बोध नियत रूप से होते पाये जाने के कारण शब्द अर्थ बोध का हेतु है। तो क्या शब्द और अर्थ के बीच अविनाभाव सम्बन्ध है? परन्तु सो भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि तब तो शब्द प्रमाण भी अनुमान प्रमाण हो जायेगा। तब उन दोनों के बीच कौन सा सम्बन्ध है? उत्तर यह है कि वह सम्बन्ध समय अर्थात् शक्ति फलतः वाच्यवाचकभाव रूप है। इस पर प्रश्न यह किया जा सकता है कि तब अनाशङ्कनीय संयोग तथा समवाय आदि सम्बन्ध का उपस्थापन और उसके खण्डन से क्या लाभ? तो कहा जा रहा है – कि शब्द और अर्थ के बीच अभेद मानने वाले वैयाकरण के मत में ही सम्बन्ध उपपन्न होता है। समय भी उनके मत में अनुपपन्न ही है। क्योंकि समय है सङ्केत, जो कि पुरुष कृत होता है। पुरुष की इच्छा के अनुसार वस्तु का नियम सम्भव नहीं है। क्योंकि व्यक्ति की इच्छा की गति तो अव्याहत होती है। अर्थ भी वाचक क्यों नहीं होता है? ऐसा है नहीं। ऐसा नहीं

तदिच्छाया अव्याहतप्रसरत्वात्। अर्थोऽपि किमिति वाचको न भवति। न चैवमस्ति न हि दहनमनिच्छन्नपि पुरुषो धूमान्न तं प्रत्येति जलं वा तत इच्छन्नपि प्रतिपद्यते। तत्र यथा धूमाग्न्योर्नैसर्गिक एवाविनाभावो नाम सम्बन्धः ज्ञप्तये सु भूयोदर्शनादिनिमित्तमाश्रीयते एवं शब्दार्थयोस्सांसिद्धिक एव शक्त्यात्मा सम्बन्धः। तद्व्युत्पत्तये तु वृद्धव्यवहार-प्रसिद्धिसमाश्रयणम्। स्वाभाविके सम्बन्धे सति दीपादिवत् किं तद्व्युत्पत्त्यपेक्षणेनेति चेद् न शब्दस्य ज्ञापकत्वात्, ज्ञापकस्य धूमादेरेतद्रूपं यत्सम्बन्धग्रहणापेक्षं स्वज्ञाप्यज्ञापकत्वम्। तद्योग्यतादयस्तु प्रत्यक्षसामग्र्यन्तर्गतत्वान्न व्युत्पत्त्यपेक्षा भवन्ति। शक्तिस्तु न नैसर्गिकी यथा रूपप्रकाशिनी दीपादेस्तथा शब्दस्यार्थप्रतिपादने। तस्मान् न समयमात्रादर्थप्रतिपत्तिः।

अपि च यदुच्यतेऽभिधानाभिधेयनियमनियोगरूपः समयो ज्ञानमेव न ततोऽर्थान्तरं, ज्ञानं चात्मनि वर्त्तते न च शब्दार्थयोरिति, न तयोः सम्बन्धः स्यात्। किं च समयः क्रियमाणः प्रत्युच्चारणं वा क्रियते प्रतिपुरुषं सर्गादौ वा सकृदीश्वरेणेति। प्रत्युच्चारणं प्राक्तन एव क्रियते नूतनो वा। नवस्य तावत्क्रियमाणस्य कथमर्थप्रत्यायनसामर्थ्यमवगम्यते।
है कि आग नहीं चाहने वाला व्यक्ति भी धूम को देखकर अग्नि को नहीं समझता है। या ऐसा भी नहीं होता है कि कोई जल चाहने वाला व्यक्ति धूम को देखकर जल को समझ ले। अतः वहाँ जिस प्रकार धूम और अग्नि के बीच स्वाभाविक– अविनाभाव– सम्बन्ध होता है, जो कि ज्ञान के लिए भूयोदर्शन आदि निमित्त को आश्रयण करता है अर्थात् उसकी अपेक्षा करता है। उसी प्रकार शब्द और अर्थ के बीच सांसिद्धिक अर्थात् स्वाभाविक ही शक्त्यात्मक सम्बन्ध है और उस के ज्ञानार्थ वृद्ध व्यवहार आदि का आश्रयण होता है। यह प्रश्न उठाना ठीक नहीं कि शब्द और अर्थ के बीच स्वाभाविक सम्बन्ध मानने पर दीप आदि के समान उस सम्बन्ध को समझने की क्या आवश्यकता? क्योंकि शब्द ज्ञापक होता है कारक नहीं। ज्ञापक धूम आदि का यह स्वभाव होता है कि वह सम्बन्ध ग्रहण की अपेक्षा करके ही ज्ञाप्य का ज्ञापक होता है। कार्यजनन की स्वरूप योग्यता आदि प्रत्यक्ष सामग्री के अन्तर्गत होने के कारण ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखते हैं। शब्द गत शक्ति दीप गत रूप प्रकाशन सामर्थ्य के समान स्वाभाविक नहीं है। इसलिए ज्ञान के बिना अज्ञात समय से अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं होती है।

यह भी विपक्षी की ओर से जो कहा जाता है कि अभिधान और अभिधेय के नियम का नियोग भी ज्ञान ही है, उससे कोई अर्थान्तर नहीं है। ज्ञान तो आत्मा में रहता है, वह शब्द या अर्थ में रहता नहीं है। इसलिए वह उन दोनों का सम्बन्ध नहीं बन सकेगा। और यह भी कि 'समय' क्या प्रत्येक उच्चारण पर नवीन किया जाता है प्रत्येक व्यक्ति के लिए या सृष्टि के आदि में एक ही बार वह सब के लिए ईश्वर के द्वारा किया जाता है। और प्रत्येक उच्चारण पर भी पूर्वानुरूप ही समय किया जाता है या नवीन नवीन। नवीन नवीन किये जाने वाले समय में अर्थ को समझाने की सामर्थ्य फिर कैसे समझी जाती है? और

तदवगतौ व किं तत्करणेन। पूर्वकृतस्य तदा कृतत्वादेव पुनः करणमनुपपन्नम्। एकस्य वस्तुनो ज्ञप्तिरसकृदावर्त्तते नोत्पत्तिः। प्रतिपुरुषमपि सम्बन्धो भिन्नोऽभिन्नो वा क्रियते। भेदपक्षे कथमेकार्थसञ्ज्ञानं गोशब्दस्य सास्नादिमानर्थः केसरादिमानश्वशब्दस्येति। अभेदेऽपि तथैव कृतस्य करणायोगाज् ज्ञानमेव सम्बन्धस्य न करणम्। सर्गादावपि सकृत्सम्बन्धकरणमयुक्तं तथाविधकालासम्भवादेव। न हि शब्दार्थव्यवहाररहितः कश्चित्काल उपपद्यते। तस्मान्नित्यस्यैव सम्बधस्य लोकतो व्युत्पत्तिः न पुनः करणम्। व्युत्पत्तिपक्षं च न करणपक्षाभिहिता दोषाः स्पृशन्ति प्रत्यक्षसिद्धत्वात्। प्रत्यक्षं हीदमुपलभ्यते। वृद्धानां हि स्वार्थे व्यवहरमाणानामुपश्रृण्वन्तो बालास्ततस्ततः शब्दात्तं तमर्थं प्रतियन्ति। तेऽपि वृद्धा यदा बाला आसंस्तदाऽन्येभ्यो वृद्धेभ्यस्तथैव प्रतिपन्नवन्तस्तेप्यन्येभ्य इति नास्त्यादिस्संसारस्येति।

अपि च समयमात्रशरणः शक्तिशून्यः शब्दः कथमक्षिनिकोचहस्तसंज्ञादिभ्यो भिद्येत, स हि तदानीं कशाङ्कुशप्रतोदाभिघातस्थानीय एव भवेत्तथा च शब्दार्थं

वह यदि यों ही समझा जाता है तो फिर उस समय को भी करने की क्या आवश्यकता? पूर्वकृत तो किया ही रहेगा, अतः पुनः उसे करने की क्या आवश्यकता? और वह अनुपपन्न भी होगा। एक वस्तु के ज्ञान बारम्बार होते हैं। उसकी उत्पत्ति बारम्बार नहीं होती है। और प्रत्येक पुरुष के लिए भी वह सम्बन्ध एक किया जाता है या अनेक? भेद पक्ष में एक अर्थ का संज्ञान कैसे? कि 'गो' शब्द का अर्थ है गलकम्बल आदि युक्त और 'अश्व' का अर्थ है गले के ऊपर बाल वाला ग्राम्य पशु। अभेद पक्ष में भी उसी प्रकार कठिनाई है। क्योंकि किये हुए का पुनः किया जाना सम्भव नहीं है। अतः सम्बन्ध का बारम्बार ज्ञान किया जा सकता है, उसे बारम्बार नहीं किया जा सकता। सृष्टि के आदि में ही एक बार शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को करना भी युक्त नहीं है। क्योंकि वैसा काल ही सम्भव नहीं जब कि शब्द और अर्थ का व्यवहार न हो। शब्द और अर्थ तथा उनके व्यवहार से रहित कोई काल उपपन्न नहीं होता है। अतः नित्य ही सम्बन्ध का बोध होता है उसका करना सम्भव नहीं है। नित्य सम्बन्ध के बोध पक्ष को कणाद के मत में प्रदर्शित ये दोष स्पर्श नहीं करते है। क्योंकि प्रत्यक्ष सिद्धता है। यह प्रत्यक्ष ही उपलब्ध है कि अपने अर्थ में बृद्धों के द्वारा व्यवहार किये जाने वाले शब्दों को सुनकर बालकगण तत्तत् शब्द से तत्तत् अर्थ को समझते हैं। और वे वृद्ध जब बालक थे तब उन्होंने भी इसी प्रकार अन्य वृद्धों से अर्थात् उनके द्वारा किये गये व्यवहारों से शब्द तथा अर्थगत स्वाभाविक सम्बन्ध समझकर वाक्यार्थबोध किया। इसलिए संसार का आदि नहीं है।

और यह भी कि समयात्मक शक्ति को ही शरण बनाने वाला वास्तविक शक्तिशून्य शब्द अक्षिनिकोच– आंख दबाना और हाथमात्र के इसारे आदि से कैसे विभिन्न हो पायेगा? वह उस समय कोड़े अङ्कुश और वाद्यस्पर्श आदि के तुल्य ही होगा। और वैसा

प्रतिपद्यामहे इति लौकिको व्यपदेशो बाध्येत। समयादर्थं प्रतिपद्यामहे इति स्यात्। समयपक्षे च यदृच्छाशब्दतुल्यत्वं सर्वशब्दानां प्राप्नोति, येन गवाश्वादीनां शब्दानां नियतविषयत्वं न स्यात्।

यत्पुनरुच्यते जातिविशेषे चानियमात्समयरूपः सम्बन्ध इति। जातिशब्देनात्र देशो विवक्षितः, किल क्वचिद्देशविशेषे कश्चिच्छब्दो देशान्तरप्राप्तप्रसिद्धमर्थमुत्सृज्य ततोऽर्थान्तरे वर्त्तते। यथा चौरशब्दस्तस्करवचन ओदने दाक्षिणात्यैः प्रयुज्यते। एतच्च समयपक्षे युज्यते। नित्ये तु सम्बन्धे कथं तदर्थव्यभिचार इति। तदप्ययुक्तम्, सर्वशब्दानां सर्वार्थप्रत्यायनशक्तियुक्तत्वात् क्वचिद् देशे केनचिदर्थेन व्यवहारः। अत एव चानवगतसम्बन्धे श्रुते सति सन्देहो भवति कमर्थं प्रत्याययितुमनेनायं शब्दः प्रयुक्तः स्यादिति। असत्यां हि शक्तौ अकृतसमये निरवलम्बना प्रत्यायकत्वाशंकेति। अथ वार्यदेशप्रसिद्ध एव शब्दानामर्थः इतरस्तु म्लेच्छजनसम्मतो नादरणीय एव। तस्मात्समयपक्षस्यातिदौर्बल्यादकृत्रिम एव शब्दार्थयोः सम्बन्ध इति न तत्र पुरुषस्य प्रभविष्णुता।

होने पर 'हम लोग शब्द से अर्थ समझते हैं' इत्यादि सामाजिक प्रतीतियाँ एवं उक्तियाँ बाधित हो उठेंगी। उनके स्थान पर ऐसी प्रतीतियाँ तथा उक्तियाँ होंगी कि 'हमलोग सङ्केत से अर्थ समझते हैं'। समयपक्ष में अर्थात् सङ्केत पक्ष में सारे शब्दों को यदृच्छाशब्दों की समता आपन्न होगी, जिसका कुफल यह होगा कि 'गो' 'अश्व' आदि नियत विषयक नहीं हो पायेंगे। और यह जो कहा गया है कि जातिविशेष के लिए विषय नहीं है, इसलिए शब्द और अर्थ के बीच समयात्मक अर्थात् सङ्केतात्मक ही सम्बन्ध है। वहाँ 'जाति' शब्द से विवक्षित है देश। निश्चित रूप से किसी देश विशेष में कोई शब्द देशान्तर में प्रसिद्ध उसके अर्थ को छोड़कर अन्य अर्थ में प्रयुक्त होता है। जिस प्रकार 'चौर' शब्द चोरी करने वाले के अर्थ में प्रसिद्ध है किन्तु दक्षिण देशवासियों के द्वारा ओदन अर्थात् चावल फलतः भात अर्थ में प्रयुक्त होता है। यह सङ्केत पक्ष में ही युक्त होता है। शब्द तथा अर्थ के बीच के सम्बन्ध को नित्य मानने पर इस प्रकार अर्थ व्यभिचार अर्थात् अर्थ परिवर्त्तन कैसे सम्भव होगा? यह सब कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि सारे शब्द सारे अर्थों को समझाने में समर्थ होते हैं।

इसलिए किसी देश में किसी अर्थ को लेकर उस का व्यवहार होता है। इसलिए अर्थ के साथ सम्बन्ध रहित रूप में शब्द श्रुत होने पर यह सन्देह श्रोता को होता है कि किस अर्थ को समझाने के लिए यह शब्द प्रयुक्त हुआ है? यदि नित्य शक्ति न मानी जाय तो विना सङ्केत किये शब्दों में प्रत्यायकता की अर्थात् बोधकता की शंका निराधार हो उठेगी। अथवा शब्द का वास्तविक अर्थ वही माना जाय जो कि आर्य देश में प्रसिद्ध हो। तदतिरिक्त म्लेच्छजन सम्मत अर्थ आदरणीय नहीं है। इसलिए समय पक्ष की अतिदुर्बलता प्रयुक्त शब्द और अर्थ के बीच का सम्बन्ध अकृत्रिम अर्थात् स्वाभाविक ही मानना चाहिए। इसलिए उस पर व्यक्ति का वश चलने वाला नहीं है।

[शब्दार्थसम्बन्धनित्यतानिराकरणम्]

अत्रोच्यते – न नित्यः सम्बन्ध उपपद्यते, शब्दवदर्थवच्च तृतीयस्य तस्य प्रत्यक्षादिना प्रमाणेनाप्रतीयमानत्वात्।

ननु शक्तिरूपः सम्बन्ध इत्युक्तं शक्तिश्च तदाश्रितेति कथं धर्म्यन्तरवत्पृथक्तया प्रतीयेत। नैतत्साम्प्रतम्, स्वरूपसहकारिव्यतिरिक्तायाः शक्तेः सूक्ष्मायाः प्रागेव विस्तरतः प्रतिक्षिप्तत्वात्। न च शक्तिः प्रत्यक्षगम्या द्रव्यस्वरूपवदनुपलम्भात्। नानुमेया कार्याणामन्यथाऽपि घटमानत्वात्। कल्पयित्वा च शक्तिमपरिहार्यः समयः समयमन्तरेणार्थप्रतिपत्तेरसिद्धेः। सिद्धे च समये तत एवार्थसिद्धेः किं नित्यसम्बन्धाश्रयणेन।

यत्तूक्तं समयस्य पुरुषेच्छाधीनत्वात्तस्याश्चाव्याहतप्रसरत्वाद्वाच्यवाचकव्यत्ययः स्यादिति। तदयुक्तम्, शक्त्यभावे शब्दस्यैव वाचकत्वे योग्यत्वात्। का पुनः शक्त्यभावे योग्यतास्येति चेद् योऽयं गत्वादिजातियोगः क्रमविशेषोपकृतः गत्वौत्वादिसामान्यसम्बन्धो हि यस्य भवति स वाचकत्वे योग्य इति। इतरस्तु वाच्यत्वे, यथा द्रव्यत्वाद्यविशेषेऽपि

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की नित्यता का खण्डन।

अब इस पर कहा जा रहा है – कि नित्य सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता है क्योंकि शब्द के समान तथा अर्थ के समान तृतीय रूप में उस का प्रत्यक्ष आदि प्रमाण के द्वारा प्रतीय मानता नहीं है। इस पर् यह प्रश्न उठाया जा सकता है– कि वह सम्बन्ध शक्ति रूप है यह कहा जा चुका है। तदनुसार वह शक्ति तदाश्रित होगी। ऐसी परिस्थिति में अन्य धर्मी के समान पृथक् रूप में वह कैसे पृथक् हो पायेगी? तो यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि स्वरूप सहकारी से अतिरिक्त सूक्ष्म शक्ति का विस्तार पूर्वक पहले ही निराकरण किया जा चुका है। शक्ति पदार्थ को प्रत्यक्षगम्य कहा नहीं जा सकता है। क्योंकि द्रव्य के स्वरूप के समान उसका स्वरूप उपलब्ध नहीं होता है। उसे अनुमेय भी नहीं कहा जा सकता है कि कार्य अन्यथा भी सिद्ध हो जाता है। शक्ति की कल्पना कर के समय भी अपरिहार्य होता है। क्योंकि समय के बिना अर्थ की प्रतीति सिद्ध नहीं होती है। और समय के सिद्ध होने पर उससे ही प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर नित्यसम्बन्ध के स्वीकार का क्या प्रयोजन?

यह जो कहा गया है कि समय तो व्यक्ति के इच्छा के अधीन होगा अर्थात् तदात्मक होगा और इच्छा की गति अव्याहत होती है। इसलिए वाच्य वाचक भाव का व्यत्यय हो उठेगा, वह भी युक्त अर्थात् उचित नहीं है। क्योंकि शक्ति पदार्थ के अभाव में वाचकता की योग्यता शब्द में ही होगी। शक्ति के न मानने पर शब्द में क्या योग्यता होगी? यह यदि प्रश्न उठाया जाय तो जो यह 'गत्व' आदि जाति का योग होता है और क्रम विशेष से उपकृत होता हुआ जो गत्व ओत्व आदि सामान्य का पुनः सम्बन्ध होता है, वह जिसमें होता है अर्थात् उसका आश्रय जो शब्द होता है, वही वाचकता के लिए योग्य होता है और शब्द के अतिरिक्त अर्थवाच्यत्व के लिए योग्य होता है। जिस प्रकार द्रव्यत्व कृत समानता

वीरणत्वादिसामान्यवतां च कटनिष्पत्तौ। न च तत्र शक्तिरस्तीत्युक्तम्। न च कारणे कार्यं सदिति सांख्यैरिव भवद्भिरिष्यते। तस्यामसत्यामपि शक्तौ सामान्यविशेषसम्बन्धस्य नियामकत्वान्न वाच्यवाचकयोर्व्यत्यय इति न शक्तिरूपः शब्दार्थयोः सम्बन्धः। न च तयोरविनाभावे न धूमाग्न्योरिव सम्बन्धः। तत्र हि सम्बन्धः प्रतीयमान एव प्रतीयते धूम ऽग्निं विना न भवतीति। इह पुनरयमस्मात्प्रतीयते इति एतावन्मात्र व्युत्पत्तिपर्यवसानम्। अत एवावगतिपूर्विकैवावगतिरिहेत्यनुमानाच्छब्दस्य भेद उक्तः। प्रकाशकत्वमपि शब्दस्य समयप्रसादोपनतमेव न स्वाभाविकम्, सांसिद्धिके हि तथात्वे भ्रमित्वादप्रयुक्तादन्यतो वा यतः कुतश्चिदभिनवादपि दीपादिव शब्दार्थप्रतीतिः स्यात्।

यत्तु नैसर्गिकेऽपि प्रकाशकत्वे शब्दस्य धूमादेरिव ज्ञापकत्वात्संबन्धग्रहणसापेक्षत्वमुक्तं, स एष विषम उपन्यासः। न हि धूमादेः प्रत्यायकत्वं स्वाभाविकम् अनलाविनाभावित्वं तु तस्य निजं बलं तत्र चागृहीते तस्मिन् प्रतीतिरेव न जायते इति युक्तं तद्ग्रहणं प्रतीत्यर्थम्। इह तु प्रतीतिशक्तिरेव स्वाभाविकी भवताभ्युपगम्यते सा चेत्स्वाभाविकी

होने पर भी वीरणत्व आदि सामान्य वान् को ही कट की निष्पत्ति के प्रति स्वरूप योग्यता है। वहाँ कोई शक्ति होती नहीं है। साङ्ख्य दर्शन जिस प्रकार कार्य की अभिव्यक्ति के लिए कारण में पहले से ही विद्यमान कार्य की शक्ति उसी प्रकार आप भी मानते हैं। उस शक्ति के न होने पर भी सामान्य और विशेष का सम्बन्ध के नियामक होने के कारण वाच्यवाचकभाव में किसी प्रकार का व्यत्यय नहीं होता है। इसलिए नित्य शक्ति पदार्थात्मक शब्द और अर्थ का सम्बन्ध मान्य नहीं है। उन दोनों में धूम और अग्नि के समान अविनाभाव को लेकर सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि वहाँ धूम और अग्नि की प्रतीयमानता के साथ ही सम्बन्ध प्रतीत हो जाता है कि धूम अग्नि के बिना नहीं होता है। और यहाँ फिर इस से यह प्रतीत होता है, इतना में ही व्युत्पत्ति का पर्यवसान हो जाता है। इसीलिए यहाँ अवगति मात्र पूर्वक अवगति होती है। यह अनुमान से शब्द का भेद कहा गया है। शब्द में प्रकाशकत्व भी समय के अर्थात् सङ्केत के ही प्रसाद से उपनत है स्वाभाविक नहीं। क्योंकि भ्रमण शील होने के कारण अनुक्त शब्द से अथवा अन्य शब्द से भी उसी प्रकार अर्थ की प्रतीति आपन्न होगी, जिस प्रकार अभिनव दीप से भी वस्तु की प्रतीति होती है। शब्द में नैसर्गिक प्रकाशकता मानने पर भी जो धूम आदि के समान ज्ञापकता प्रयुक्त सम्बन्ध ग्रहण की अपेक्षा कही गयी है सो यह उपन्यास अर्थात् दृष्टान्त का उपस्थापन विषम है। धूम आदि में प्रत्यायकता अर्थात् ज्ञापकता स्वाभाविक नहीं है। अनल का अबिनाभावी होना यही धूम का अपना बल होता है। उस निजीबल के ज्ञान के बिना वहाँ प्रतीति ही नहीं होती है।

इसलिए प्रतीति के लिए उसका ग्रहण अपेक्षित होना उचित ही है। यहाँ तो शब्द में आप प्रतीति शक्ति ही स्वाभाविक मान रहे हैं। वह शक्ति यदि शब्द में स्वाभाविक ही है तो व्युत्पत्ति की अर्थात् उसकी प्रतीति की आवश्यकता क्यों? यह जो कहा जाता है कि

किं व्युत्पत्त्यपेक्षणेनेति, यच्चोच्यते प्रत्यायक इति प्रत्ययं दृष्ट्वावगच्छामो न प्रथमश्रवण इति। यावत्कृत्वः श्रुतेनेयं संज्ञायं संज्ञीत्यवगम्यते तावत्कृत्वः श्रुतादर्थावगम इति। सोऽयं समयोपयोग एव कथितो भवति। संज्ञासंज्ञिसम्बन्धो हि समय एवोच्यते। तदुपयोगमन्तरेण प्रत्यायकत्वानवगमान्न स्वाभाविकी शक्तिः।

यत्त्वभ्यधायि समयस्य ज्ञानात्मकत्वादात्मनि वृत्तिः न शब्दार्थयोरित्येतदप्यचतुरश्रम्, तदाश्रयत्वाभावेऽपि ज्ञानस्य तद्विषयत्वोपपत्तेः।

यदप्यभाणि समयमात्रशरणे सृणिप्रतोदनोदननिर्विशेषे शब्दे शब्दादर्थं प्रतिपद्यामहे इति व्यपदेशो न स्यादिति तदपि न किञ्चित्। नैसर्गिकशक्तिपक्षे अपि शक्तेरर्थं प्रतिपद्यामहे न शब्दादिति स्यात्। तदङ्गत्वादविनाभावादेर्न तथा व्यपदेश इति चेत् तदितरत्रापि समानम्।

धूमे हि व्याप्तिपूर्वत्वं शब्दे समयपूर्वता।
नानयोस्तदपेक्षायां करणत्वं विहन्यते।।

अपि च लौकिको व्यपदेशः समयपक्षसाक्षितामिव भजते देवदत्तेनोक्तम् अमुतः

शब्द प्रत्यायक है – यह तो प्रत्यय को हुए देखकर समझते हैं प्रथम श्रवण पर ही तो नहीं अर्थात् सुनते ही तो नहीं। इसलिए जितनी बार शब्द को सुनने पर 'यह संज्ञा है और यह संज्ञी' यह समझा जाता है उतनी बार शब्द को सुन लेने के अनन्तर ही शब्द से अर्थ का बोध होता है। तो यह समय का अर्थात् सङ्केत का उपयोग ही तो कथित होता है। संज्ञा और संज्ञी का सम्बन्ध ही तो समय कहलाता है? उसके उपयोग के बिना शब्द में *प्रत्यायकता अवगत नहीं होती है, इसलिए शब्द में स्वाभाविक प्रकाशन शक्ति नहीं कही* जा सकती। यह भी जो कहा गया है कि समय ज्ञानात्मक होने के कारण उसका अस्तित्व आत्मा में होता है शब्द और अर्थमें नहीं, सो यह भी चतुरस्र अर्थात् शोभन नहीं है। क्योंकि ज्ञान शब्दाश्रित एवं अर्थाश्रित भले ही न हो किन्तु उसकी विषयता तो शब्द और अर्थ में रहती है?

यह भी जो कहा गया है कि शब्द को चाबुक दिखाना, आवाज देना तथा एंड़ा लगाना आदि तुल्य मानने पर 'मैं शब्द से अर्थ का बोध कर रहा हूँ' यह वाचिक व्यवहार नहीं हो पायेगा। वह भी कुछ नहीं अर्थात् वह कथन भी निस्सार है। क्योंकि शब्दगत शक्ति की नैसर्निकता पक्ष में भी 'व्याप्ति से मैं अग्नि को समझ रहा हूँ धूम से नहीं' ऐसा वाचिक व्यवहार होने लगेगा। अबिनाभाव धूम आदि में आश्रित होता है – इसलिए वैसा व्यपदेश होता है। ऐसा यदि कहा जाय तो सो तो अन्यत्र भी अर्थात् प्रकृत में भी समान है। धूम में व्याप्तिपूर्वता होती है और शब्द में समयपूर्वता इसलिए इन दोनों को उनकी अपेक्षा होने पर भी करणत्व विहत नहीं होता है।

और यह भी कि लौकिक व्यपदेश समय पक्ष का ही साक्षी होता हुआ पाया जाता है। क्योंकि लोग इसी प्रकार कहते पाये जाते हैं कि देवदत्त ने कहा 'इस शब्द से यह अर्थ

शब्दादमुमर्थं प्रतिपद्यस्वेति। एवं हि व्यपदिशति लोकः, तस्मात्समय एव। अतश्चैवं देशान्तरे सङ्केतवशेन तत एव शब्दादर्थान्तरप्रतिपत्तिः।

नन्वत्रोक्तं सर्वशब्दाः सर्वार्थप्रत्यायनयुक्ता इति केन चिदर्थेन क्वचिद् व्यवहार इति। तदेतदयुक्तम्, शक्तीनां भेदाभेदविकल्पानुपपत्तेः। न शब्दस्वरूपाद्भिन्नाः शक्तयः तथानवभासात्। अव्यतिरेके चैकस्माच्छब्दादनन्यत्वात्परस्परमव्यतिरेकस्तासां स्यात्। न च भिन्नकार्यानुमेया भिन्नाः शक्तयः कार्यभेदस्यान्यथाप्युपपत्तेः। सर्वशक्तियोगे च सर्वार्थप्रत्ययप्रसङ्गः। समयोपयोगो नियामक इति चेत् स एवास्तु किं शक्तिभिः।

यदप्यगादि शब्दश्रवणे सति सर्वार्थविषयसन्देहदर्शनात्सर्वत्र तस्य शक्तिः कल्प्यते इति। तदप्यसारम्, न हि शक्तिकृतः सन्देहः किं तु गत्वादिवर्णसामान्यनिबन्धनः। तथा च गत्वादिजातिमतां वर्णानामर्थे वाचकत्वमवगतम्। अमी तज्जातियोगिनो वर्णाः कस्यार्थस्य वाचकाः स्युरिति भवति सन्देहः।

यत्पुनरवादि स एव शब्दस्यार्थो यत्रैनमार्याः प्रयुञ्जते न म्लेच्छजनप्रसिद्ध इति। तदेतत्कथमिव शपथमन्तरेण प्रतिपद्येमहि। न हि म्लेच्छदेशेऽपि तदर्थप्रत्ययो न जायते।

समझो'। इस लिए शब्द और अर्थ के बीच का सम्बन्ध समय ही है। इसीलिए देशान्तर में सङ्केतान्तर के कारण उसी शब्द से अन्य अर्थ की प्रतीति पायी जाती है। इस पर यदि यह कहा जाय कि मैं ने तो कहा है कि सभी शब्द सभी अर्थों के वाचक हैं – इसलिए किसी अर्थ को लेकर कहीँ किसी शब्द का व्यवहार होता है तो वह अयुक्त है, क्योंकि शक्तियों के भेद एवं अभेद का विकल्प उपपन्न नहीं होता है। शब्द की शक्ति शब्द से भिन्न नहीं मानी जा सकतीं। क्योंकि वैसा प्रतिभास होता नहीं है। और उन्हें शब्द से अभिन्न मानने पर एक ही शब्द से अभिन्न हो जाने के कारण उनका पारस्परिक भेद भी खतम हो जायेगा।

यह नहीं कहा जा सकता है कि शक्तियों के बीच पारस्परिक भेद कार्यभेद से अनुमित होगा। क्योंकि कार्य भेद अन्यथा भी उपपन्न हो सकता है। सर्वशक्तियोग प्रयुक्त सारे अर्थों का सर्वत्र भान प्रसङ्ग होगा। यदि यह कहा जाय कि समय का उपयोग नियामक होगा तो फिर वही नियामक मान लिया जाय उससे अतिरिक्त शक्ति की क्या आवश्यकता?

यह भी जो कहा गया है कि शब्द का श्रवण होने पर सभी अर्थ के विषय में सन्देह देखे जाने के कारण शब्द में सब की वाचकतात्मक शक्ति मान्य है, उसकी कल्पना की जाती है, सो कथन भी निस्सार है। वहाँ सन्देह शक्तिकृत नहीं होता है किन्तु गत्व आदि वर्ण सामान्य निबन्धन सन्देह होता है। इस से तो गत्व आदि जाति युक्त वर्णों में वाचकत्व अवगत हुआ कि ये गत्व आदि जातिमान् वर्ण किस अर्थों के वाचक होंगे? यह भी जो कहा गया है कि शब्द का वही अर्थ मान्य होता है, जहाँ आर्य जन उसका प्रयोग करते हैं। म्लेच्छ जनों के अन्दर प्रसिद्ध वस्तु शब्द का वाच्य नहीं है। वह शपथ के बिना यह हम लोग कैसे समझ पायेंगे कि म्लेच्छदेश में भी इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग नहीं होता है।

बाध्यते वा सन्दिग्धो वेति कथं न शब्दार्थः? आर्यप्रसिद्धिर्बाधिकेति चेत् आर्यप्रसिद्धेरपि मलेच्छप्रसिद्धिः कथं न बाधिका अक्षादिवच्च विकल्प्यमानार्थोपपत्तेः। व्यवस्थितविषय एव विकल्पो भविष्यति। पिकनेमतामरसादिशब्दानां च भवद्भिः म्लेच्छप्रयोगादर्थनिश्चय आश्रित एव। अवेष्ट्यधिकरणे च राज्यशब्दमान्ध्रप्रसिद्धेऽर्थे वर्णितवन्तो भवन्त इत्यलमवान्तरचिन्तनेन। तस्मात्समय एव सम्बन्ध इति युक्तम्। तदुक्तं जातिविशेषे चानियमादिति।

अथ यदुक्तं समयः प्रत्युच्चारणं प्रतिपुरुषं च तत्करणम् अनभ्युपगतमेव दूषितम्। सर्गादौ सकृदेव समयकरणमिति नः पक्षः। अत एव न सर्वशब्दानां यदृच्छातुल्यत्वम्। केषां चिदेव शब्दानामस्मदादिभिरद्यत्वे सङ्केतकरणात्त एव यदृच्छाशब्दा उत्पद्यन्ते। सर्गादिश्च समर्थित एव ईश्वरसिद्धावप्यविकल्पमनुमानमुपन्यस्तम्। एष एव चावयोर्विशेषो यदेष शब्दार्थसम्बन्धव्यवहारस्तवानादिर्मम तु जगत्सर्गात्प्रभृति प्रवृत्त इति। अद्यत्वे तु शब्दार्थसम्बन्धव्युत्पत्तौ तुल्य एवावयोः पन्थाः। तत्रापि त्वयं विशेषो यत्तव शक्तिपर्यन्ता

वह बाधित होता है अथवा सन्दिग्ध होता है, क्यों शब्द का अर्थ नहीं होता है? आर्यदेश में उसकी प्रसिद्धि अर्थ प्रतीति का बाधक होती है तो फिर मलेच्छ देश में प्रसिद्धि उसका बाधक क्यों नहीं होती है। अक्ष आदि शब्दस्थल के विकल्प्यमान अर्थ आँख एवं जूआ आदि की उपपत्ति के समान उपपत्ति मानने पर कहना होगा कि विकल्प व्यवस्थित विषयक ही उपपन्न होगा अर्थात् प्रसङ्गानुसार किसी एक अर्थ की प्रतीति ऐसे स्थलों में होती है। पिकनेम और तामरस आदि शब्दों का अर्थ निश्चय आप लोगों ने म्लेच्छजनों के प्रयोग पर आधारित ही माना है। अवेष्टि अधिकरण में 'राज्य शब्द' को आन्ध्रदेश प्रसिद्ध अर्थ का बोधक आपने माना है। तो अब यहाँ यह अवान्तर विचार रखा जाय। इसलिए शब्द और अर्थ के बीच का सम्बन्ध 'समय' ही है, यही उचित है। यही कहा गया है 'जातिविशेषे चानियमात्' इस सूत्र के द्वारा।

और यह जो कहा गया है कि समय प्रति उच्चारण अलग होता है और प्रत्येक व्यक्ति के लिए वह अलग अलग किया जाता है, इसका तो अस्वीकार के द्वारा ही दूषित किया गया समझना चाहिए। हम लोगों का मान्य पक्ष यह है कि वह सृष्टि के आदि में एक ही बार किया जाता है। इसलिए सारे शब्द यदृच्छा तुल्य नहीं हो पाते हैं। कुछ ही शब्दों का आज तक हमलोगों के द्वारा सङ्केत किये जाने के कारण वे कुछ शब्द ही यदृच्छा शब्द उत्पन्न होते हैं। सृष्टि आदि का समर्थन किया ही जा चुका है। ईश्वर की सिद्धि में भी दोष रहित अनुमान बतलाये जा चुके हैं।

हम और आप में मौलिक अन्तर यही है कि आप के मत में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अनादि है और मेरे मत में यह सृष्टि के आदि में प्रवृत्त हुआ। और आज तो शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की व्युत्पत्ति के मार्ग तुल्य ही है। वहाँ भी यह विशेषता है कि तेरे मत में शक्ति नामक अतिरिक्त पदार्थ पर्यन्त में व्युत्पत्ति होती है और मेरे मत में वैसा न होकर

व्युत्पत्तिर्मम तु तद्वर्जमिति। तथा चेयमियती व्युत्पत्तिः लोके दृश्यते यदयमस्य वाच्यो ऽयमस्य वाचक इति। न पुनः शक्तिपर्यन्ता व्युत्पत्तिरस्ति। तथा हि यत्र शृङ्ग्राहिकया शब्दमर्थं च निर्दिश्य सम्बन्धः क्रियते तत्रेयन्तमेवैनं क्रियमाणं पश्यामः। अयमस्य वाच्यो ऽयमस्य वाचक इति। यत्रापि च वृद्धेभ्यो व्यवहारमाणेभ्यो व्युत्पद्यते तत्रापीयदेवासौ जानाति अयमर्थः अमुतः शब्दादनेन प्रतिपन्न इति न त्वन्यास्य का चिच्छक्तिरस्तीति। इयत्यैव च व्युत्पत्त्या शब्दादर्थप्रत्ययोपपत्तेरस्याश्चापरिहार्यत्वादधिककल्पनाबीजाभावाच्च न नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः। अत एव च सम्बन्धस्त्रिप्रमाणक इति यत्त्वयोच्यते तदस्माभिर्न मृष्यते 'शब्दवृद्धाभिधेयांश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति' इति सत्यम्। 'श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया' इत्येतदपि सत्यम्। 'अन्यथाऽनुपपत्त्या तु बुध्येच्छक्तिं द्वयात्मिकाम्' इत्येतत्तु न सत्यम्, अन्यथाप्युपपत्तेरित्युक्तत्वात्। तस्माद् द्विप्रमाणकः सम्बन्धनिश्चयो न त्रिप्रमाणकः। तदेवं शब्दस्य नैसर्गिकशक्त्यात्मकसम्बन्धाभावादीश्वरविरचितसमय निबन्धनः शब्दार्थव्यवहारो नानादिः।

तद्रहित रूप में ही। इसीलिए लोगों के बीच ऐसी व्युत्पत्ति होती पायी जाती है कि यह अर्थ इस शब्द का वाच्य है और यह शब्द इस अर्थ का वाचक, तदनुसार शक्ति पर्यन्त व्युत्पत्ति नहीं होती है। तभी शृङ्ग्राहिकया अर्थात् प्रातिस्विक रूप से शब्द और अर्थ का निर्देश करते हुए जहाँ सम्बन्ध किया जाता है, वहाँ इतने को ही अर्थात् सम्बन्ध मात्र को ही क्रियमाण रूप में हम लोग देखते हैं कि यह इसका वाच्य अर्थ है और यह उसका वाचक शब्द। जहाँ वृद्ध व्यवहार से भी शक्ति ग्रह होता है, वहाँ भी तटस्थ ग्रहीता व्यक्ति इतना ही जानता है कि यह अर्थ अमुक शब्द से इसके द्वारा ज्ञात हुआ है। इसलिए शक्ति नामक कोई अन्य पदार्थ नहीं है। इसलिए इतनी ही व्युत्पत्ति से शब्द से अर्थ प्रत्यय उपपन्न होने के कारण और इतना ही अपरिहार्य होने के कारण तथा अधिक कल्पना में बीजाभाव प्रयुक्त भी शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य नहीं है। और आप लोगों के द्वारा यह भी जो कहा जाता है कि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का निर्णय 'त्रिप्रमाणक' होता है अर्थात् तीन प्रमाणों के द्वारा गृहीत होता है, इसे हम लोग सहन नहीं करते हैं। शब्द, वृद्ध और अभिधेय अर्थात् प्रतिपाद्य इन तीनों को प्रत्यक्ष प्रमाण से देखा जाता है, यह सही है। और श्रोता व्यक्ति चेष्टा लिङ्गक अनुमान के द्वारा समझता है– यह भी सही है किन्तु अन्यथानुपपत्ति से अर्थात् अर्थापत्ति प्रमाण से द्वयात्मिका अर्थात् वाच्यवाचकभावात्मिका शक्ति को समझेगा, यह सत्य नहीं है। क्योंकि अन्यथा भी वह उपपन्न है, यह कहा जा चुका है। सम्बन्ध निश्चय द्विप्रमाणक ही होता है त्रिप्रमाणक नहीं। इसलिए इस प्रकार शब्द का अर्थ के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध न हो सकने के कारण शब्द और अर्थ का व्यवहार अनादि नहीं है किन्तु ईश्वर कृत सङ्केतात्मक सम्बन्ध के अधीन ही होता है। अब यहाँ प्रश्न यह

नन्वीश्वरोऽपि सम्बन्धं कुर्वन्नवश्यं केनचिच्छब्देन करोति तस्य केन कृतः सम्बन्धः। शब्दान्तरेण चेत्तस्यापि केन कृतस्तस्यापि केनेति न कश्चिदवधिस्तस्मादवश्यमनेन सम्बन्धं कुर्वता वृद्धव्यवहारसिद्धाः केचिदकृतसम्बन्धा एव शब्दा अभ्युपगन्तव्याः। अस्ति चेद् व्यवहारसिद्धिः किमीश्वरेण किं वा तत्कृतेन समयेनेत्यनाद्यपक्ष एव श्रेयान्। उच्यते–

अस्त्रमायुष्मता ज्ञातं विषयस्तु न लक्षितः।
अस्मदादिषु दोषोऽयमीश्वरे तु न युज्यते।।
नानाकर्मफलस्थानमिच्छयैवेदृशं जगत्।
स्त्रष्टुं प्रभवतस्तस्य कौशलं को विकल्पयेत्।।

इच्छामात्रेण पृथिव्यादेरियतः कार्यस्य करणमस्मदादीनां यन्मनोरथपदवीमपि नाधिरोहति, तदपि यतः सम्पद्यते तस्य कियानयं प्रयासः। तदत्रेश्वरसद्भावे परं विप्रतिपत्तयः। तस्मिंस्तु सिद्धे क एवं विकल्पानामवसरः। उक्तं च तत्सिद्धौ निरपवादमनुमानम्। वयं तु न कर्त्तार एव सम्बन्धस्य यत एवमनुयुज्येमहि –

उपस्थित है कि ईश्वर भी तो सम्बन्ध का निर्माण करता हुआ किसी शब्द के द्वारा ही उसे करेगा तो उस शब्द का सम्बन्ध किस शब्द को लेकर करेगा?

यदि यह कहा जाय कि शब्दान्तर को लेकर तो उस शब्दान्तर का भी स्वार्थ का सम्बन्ध किस शब्द को लेकर करेगा? इस प्रकार उस का भी किस शब्द को लेकर उस का भी किस शब्द को लेकर इस प्रकार प्रश्न निरवधि हो उठने के कारण अगत्या अन्त में यह कहना ही पड़ेगा कि वृद्धव्यवहार सिद्ध कुछ ऐसे ही शब्द होंगे, जो कृत सम्बन्ध नहीं होंगे। इस प्रकार यदि पीछे जाकर शब्द की व्यवहार सिद्धि माननी ही होगीं तब ईश्वर की क्या आवश्यकता और तत्कृत सङ्केतात्मक समय की क्या आवश्यकता? इसलिए शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की अनादिता पक्ष ही श्रेयस्कर होगा।

तो इसका उत्तर दिया जा रहा है कि आप आयुष्मान् के द्वारा अस्त्र ही केवल ज्ञात हुआ विषय तो नहीं देखा गया। यह दोष ईश्वर के लिए नहीं दिया जा सकता है। क्योंकि नाना प्रकार के कर्म उसके फल और उसके स्थान भूत ईदृश जगत् को इच्छामात्र से सृष्टि की क्षमता रखने वाले उस परमेश्वर के कौशल के सम्बन्ध में कौन विकल्प उठा सकता है? सारांश यह कि इच्छा मात्र से इतने जो पृथिवी आदि कार्यों का करना हम लोगों के मनोरथ का विषय भी नहीं बन सकता, वह भी जिस से अनायास सम्पन्न होता है, उसके लि ए शब्दान्तर के बिना शब्द और अर्थ के बीच सम्बन्ध को कर देना कौन महान् प्रयास होगा? इसलिए यहाँ विप्रतिपत्ति यदि उपस्थापित हो, वह ईश्वर के सद्भाव में ही उपस्थापनीय होगी। और उस परमेश्वर के सिद्ध हो जाने पर ऐसे विकल्पों का अवसर कहाँ? और उसकी सिद्धि में निर्विवाद फलतः निर्दोष अनुमान बतलाया जा चुका है। हम लोग तो उस सम्बन्ध के कर्त्ता नहीं ही हैं, जिसके कारण हम लोग आक्षेप के पात्र बनेंगे?

अङ्गुल्यग्रेण निर्दिश्य कञ्चिदर्थं पुरः स्थितम्।
व्युत्पादयन्तो दृश्यन्ते बालानस्मद्विधा अपि।।

तस्मादीश्वरविरचितसम्बन्धाधिगमोपायभूतवृद्धव्यवहारलब्धतद्व्युत्पत्तिसापेक्षः शब्दोऽर्थमवगमयतीति सिद्धम्। न च नित्यसम्बन्धाभावे शब्दस्यार्थास्पर्शित्वं समयबलेनार्थप्रत्ययस्याबाधितस्य सिद्धेरित्युक्तत्वादित्यलं विस्तरेण।

तस्मात्पदे च वाक्ये च सम्बन्धे च स्वतन्त्रता।
पुरुषस्योपपन्नेति वेदानां तत्प्रणीतता।।

[आप्तोक्ततया वेदप्रामाण्यावगमनिरूपणम्]

तस्मादाप्तोक्तत्वादेव वेदाः प्रमाणं न नित्यत्वात्। नन्वाप्तोक्तत्वस्य हेतोः पक्षधर्मत्वं कथमवगम्यते, न प्रत्यक्षेण क्षोणीधरधर्मत्वमिव धूमस्य वेदानामाप्तप्रणीतत्वमवगम्यते, श्रवणयुगलकरणलब्धजन्मनि प्रत्यये वेदाख्यस्य शब्दराशेरेव प्रतिभासात्। न चोदात्तादिवद्वर्णधर्मत्वेनाप्तोक्तत्वं गृह्यते। नाप्यनुमानमस्मिन्नर्थे सम्भवति लिङ्गाभावात्, प्रामाण्ये हि वेदस्याप्तोक्तत्वं लिङ्गम्। आप्तोक्तत्वानुमितौ तु न लिङ्गान्तरमुपलभामहे

और हमारे जैसे लोग भी तो पुरोवर्ती किसी वस्तु को अङ्गुली के अग्रभाग द्वारा निर्देश करके बालकों को व्युत्पत्ति अर्थात् शब्दार्थसम्बन्ध बोध कराते पाये ही जाते हैं। इसलिए ईश्वर विरचित शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के अधिगम के लिए उपाय भूत वृद्ध व्यवहार से लब्ध होने वाले उक्त समय की अपेक्षा रखने वाला शब्द अर्थ को समझाता है, यह सिद्ध होता है। यह नहीं कि शब्द और अर्थ के बीच नित्य सम्बन्ध न मानने पर शब्द का अर्थ के साथ स्पर्श ही नहीं हो पायेगा? अर्थात् उसका सम्बन्ध ही नहीं हो पायेगा। समय के बल पर अर्थ का प्रत्यय अबाधित रूप में सिद्ध हो सकता है – यह कहा जा चुका है। अतः इस पर अब विस्तार की आवश्यकता नहीं है। इसलिए उस पुरुषोत्तम को पद, वाक्य और सम्बन्ध सब में स्वतन्त्रता उपपन्न है। इसलिए वेद उन के द्वारा प्रणीत कहा जा सकता है।

आप्तोक्त रूप में वेद के प्रामाण्य का निरूपण

इसलिए वेद का प्रामाण्य आप्तोक्तता-प्रयुक्त ही है नित्यता प्रयुक्त नहीं। इस पर प्रश्न यह है कि आप्तोक्तत्व हेतु में पक्षधर्मता अर्थात् वेद निष्ठत्व का अवगम कैसे होता है? जिस प्रकार धूम हेतु में पर्वत वृत्तित्व प्रत्यक्ष प्रमाण से देखा जाता है उस प्रकार तो वेद में आप्तोक्तत्व प्रत्यक्ष प्रमाण से देखा नहीं जाता है। क्योंकि दोनों कानों से होने बाल ज्ञान में तो केवल वेदात्मक शब्द राशि का ही प्रतिभास होता है। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि उदात्त अनुदात्त आदि वर्णधर्म से युक्त होने के कारण आप्तोक्तत्व गृहीत होता है। और इस विषय में अनुमान भी नहीं हो सकता है, क्योंकि लिङ्ग का अभाव है। वेद के प्रामाण्य में आप्तोक्तत्व लिङ्ग है। आप्तोक्तत्व की अनुमिति में तो लिङ्गान्तर का उपलम्भ

इति कुतस्त्यः पक्षधर्मत्वनिश्चयः। उच्यते, अलं सरस्वतीक्षोदेन उक्त एव पक्षधर्मत्त्वनिश्चयोपायः। तथा हि–

शब्दस्य साधितं तावदनित्यत्वं सविस्तरम्।
रचनाः कर्तृमत्यश्च रचनात्वादिति स्थितम्।।
कर्त्ता सर्वस्य सर्वज्ञः पुरुषोऽस्तीति साधितम्।
कार्येणानुगुणं कल्प्यं निमित्तमिति च स्थितम्।।
प्रत्यक्षादिविसंवादो वेदे परिहरिष्यते।
व्याघातपौनरुक्त्यादिदोषश्च वचनान्तरैः।।
विध्यर्थवादमन्त्राणामुपयोगश्च वक्ष्यते।
न मात्रामात्रमप्यस्ति वेदे किञ्चिदपार्थकम्।।
शब्दब्रह्मविवर्त्तादिकल्पनाश्च पुरोदिताः।
सर्वाः परिहरिष्यन्ते कार्यत्वस्य विरोधिकाः।।

इत्थं च स्थिते किमन्यदवशिष्टं वेदेष्वाप्तोक्ततानिश्चयस्य। सोऽयं सकलशास्त्रार्थ-स्थितौ सत्यां पक्षधर्मत्वनिश्चयो हेतोराप्तोक्तत्वस्य गीयते।

यत्तु प्रत्यक्षमनुमानं वा तन्निश्चयनिमित्तमिति विकल्पितं तत्र प्रत्यक्षमास्ताम्।

हम लोग कर नहीं रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में पक्षधर्मता का निश्चय कहाँ से हो पायेगा? तो उसका उत्तर दिया जा रहा है कि वाग्विचूर्णन व्यर्थ है। पक्षधर्मता के निश्चय का उपाय बताया जा चुका है। यथा–'शब्द का अनित्यत्व विस्तार पूर्वक स्थिर किया जा चुका है। यह भी निर्णीत हो चुका है कि सभी रचनाएँ रचना होने के कारण सकर्त्तृक होती हैं। सभी कार्यों का अर्थात् समग्र जगत् का कर्त्ता कोई एक अवश्य है – यह भी सिद्ध किया जा चुका है। कारण की कल्पना स्थल में कारण कार्य के अनुरूप ही मान्य होना चाहिए– यह भी स्थिर है। वेद पर उपस्थाप्य प्रत्यक्ष आदि का विसम्वाद आगे चलकर परिहृत होगा। वचनान्तर को लेकर उपस्थाप्य व्याघात और पुनरुक्ति आदि दोष भी आगे चलकर परिहृत होगा। विधिवाक्य, अर्थवाद वाक्य और मन्त्रों का उपयोग भी आगे चलकर बतलाया जायेगा। वेद में अल्प से अल्प कुछ भी अपार्थक अर्थात् व्यर्थ नहीं कहा गया है। यह जगत् शब्द ब्रह्म का अथवा अशब्द ब्रह्म का विवर्त्त है इत्यादि– वे पूर्वोक्त सारी कल्पनाएँ आगे चलकर परिहृत होने वाली हैं, जो कि जगत् गत कार्यत्व का विरोध करने वाली है। इस परिस्थिति में 'वेद आप्तोक्त है' अर्थात् आप्त व्यक्ति के द्वारा रचित है' इस निश्चय के लिए और क्या अवशिष्ट रह गया है? समग्र शास्त्र प्रतिपाद्य अर्थ की यह स्थिति स्पष्ट हो जाने के कारण 'आप्तोक्तत्व' हेतु में पक्षधर्मता का निश्चय कहा जाता है। यह जो विकल्प उठाया गया है कि उसका निश्चायक प्रत्यक्ष है या अनुमान? उसके सम्बन्ध में वक्तव्य यह है कि

अनुमानानि तु यानि रचनात्वादीन्युक्तानि यानि च परदर्शनद्वेषि वक्ष्यन्ते तानि सर्वाण्याप्तोक्ततायाः पक्षधर्मतासिद्ध्यौपयिकानीत्यलं विस्तरेण।

व्याप्तिः पुनरस्य हेतोरायुर्वेदादिवाक्येषु निश्चीयते पिप्लीपटोलमूलादेरप्यौषधस्येत्थमुपयोगादिदमभिमतमासाद्यते अस्य च क्षीरतक्रादिविरोध्यशनस्य परिहारादिदमनिष्टमुपशाम्यतीत्यादिष्वायुर्वेदशास्त्रेषु प्रत्यक्षेण तस्यार्थस्य तथा निश्चयादर्थाविसंवादित्वं नाम प्रामाण्यं प्रतिपन्नं तच्चेदमाप्तवादप्रयुक्तम्। यतो यत्राप्तवादत्वं तत्र प्रामाण्यमिति व्याप्तिर्गृह्यते। तथा मन्त्राणां प्रयोगे वृश्चिकभुजगदष्टस्य भक्षितविषस्य वा निर्विषत्वम्, अपस्मारपिशाचरूपिकागृहीतस्य तदुन्मोचनम्, अतिरभसोज्जिहानेषु दुष्टमेघेषु सस्यरक्षणमित्येवमुपलब्धम्। अतस्तेषां विषभूताशनिशमनकुशलानामाप्ता उपदेष्टार इति। तत्रापि तथैव व्याप्तिनिश्चयः।

नन्वायुर्वेदादौ प्रामाण्यं प्रत्यक्षादिसंवादात्प्रतिपन्नं नाप्तप्रामाण्यात्। अतः कथमाप्तोक्तत्वस्य तत्र व्याप्तिग्रहणम्। नैतदेवम्, प्रत्यक्षादिसंवादात्तन्निश्चीयतां नाम प्रामाण्यम् उत्थितं तु तदाप्तोक्तत्वात्। प्रत्यक्षादावप्यर्थक्रियाज्ञानसंवादात् प्रामाण्यस्य
प्रत्यक्ष ही माना जाय। जो 'रचनात्व' आदिक अनुमान बतलाये गये हैं एवं अन्य दर्शनों पर द्वेष रखने वाला जो आगे चलकर बतलाये जाने वाले हैं, वे सभी आप्तोक्तत्व हेतु में पक्षधर्मता की सिद्धि के लिए ही अपेक्षित ज्ञातव्य हैं। तो अब अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है।

इस आप्तोक्तत्व हेतु में व्याप्ति का निश्चय आयुर्वेद आदि के वाक्य से होते हैं। क्योंकि पिप्पली, पटोल मूल आदि औषध के उपयोग से यह अभिमत लाभ मिलता है। दूध तथा तक्र आदि इसके विरोधी वस्तुओं के खाने से परहेज रखने पर अनिष्ट रोग का उपशमन होता है' इत्यादि आयुर्वेद शास्त्रानुसार आचरण से होने वाला लाभ प्रत्यक्ष देखा जाता है। वहाँ अविसम्वादिता स्वरूप प्रामाण्य आप्तोक्तता प्रयुक्त ही होता है। यह निश्चय होने के कारण 'जहाँ जहाँ आप्तवाक्यत्व रहता है वहाँ वहाँ, प्रामाण्य रहता हैं – यह व्याप्ति होती है। इसी प्रकार मन्त्र के प्रयोग करने पर वृश्चिकदष्ट किंवा सर्पदष्ट व्यक्ति का विष शान्त होता है एवं विषभक्षण करने वाले का भी विष नष्ट हो जाता है। मन्त्र विशेष के प्रयोग से अपस्मार, पिशाच, और रूपिका आदि से आक्रान्त व्यक्ति का उनसे छुटकारा देखा जाता है। मन्त्र प्रयोग से शस्य की मेघ से रक्षा की जाती है – यह भी देखा जाता है। इसलिए यह निश्चय होता है कि उन मन्त्रों के रचयिता भी अवश्य आप्त थे। वे मन्त्र भी आप्तोक्त थे। इसलिए यहाँ भी व्याप्ति का निश्चय होता है। इस पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि आयुर्वेद आदि में प्रामाण्य का निर्णय तो प्रत्यक्ष लाभ देखने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है, उसके उपदेष्टा व्यक्ति के आप्त होने के कारण नहीं। एसी परिस्थिति में आप्तोक्तत्व हेतु में प्रामाण्य साध्य की व्याप्ति का निर्णय कैसे बतलाया जा सकता? तो ऐसा नहीं है। क्योंकि वहाँ प्रामाण्य का निश्चय भले ही प्रात्यक्षिक सम्वाद से हो, किन्तु वहाँ प्रामाण्य

ज्ञप्तिरुत्पत्तिस्तु गुणवत्कारककृतेत्युक्तम्। नद्यादिवाक्यानि च विप्रलम्भकपुरुषभाषितानि विसंवदन्ति लोके दृश्यन्ते। तेनाप्तप्रणीतत्वमेव तेषां प्रामाण्यकारणं कारणशुद्धिमन्तरेण सम्यक्प्रत्ययानुत्पादात् निश्चयोपायस्तु प्रत्यक्षं भवतु न तु तत्कृतमेव प्रामाण्यम्। अतो युक्तमाप्तोक्तताया आयुर्वेदादौ व्याप्तिग्रहणम्।

नन्वेवमपि न युक्तम्, आप्तोक्तत्वस्य तत्र परिच्छेत्तुमशक्यत्वात्। अन्वयव्यतिरेकमूल मेवायुर्वेदवाक्यानां प्रामाण्यं नाप्तकृतम्। अन्वयव्यतिरेकौ च यावत्येव दृश्येते तावत्येवार्थे प्रामाण्यं यथा हरीतक्यादिवाक्यार्थे। यत्र तु तयोरदर्शनं तत्राप्रामाण्यम् यथा सोमराज्युपयोगे समाः सहस्रं जीव्यते। आप्ते तु कल्प्यमानेऽर्धजरतीयं स्यात्, अर्धे तस्याप्तत्वमर्धे च कथमनाप्तत्वमिति। तदिदमनुपपन्नम्, अन्वयव्यतिरेकयोर्ग्रहीतुमशक्यत्वात्। तौ हि स्वात्मनि वा ग्रहीतुं शक्येते व्यक्त्यन्तरे वा। व्यक्त्यन्तरेऽपि सर्वत्र क्वचिदेव वा व्यक्तिविशेषे सर्वथा संकटोऽयं पन्थाः, व्याधीनां तन्निदानानां तदुपचयानां तदुपशमोपायानामौषधानां तत्संयोगविशेषाणां तत्परिमाणानां तद्रसवीर्यविपाकानां देशकालपुरुषदशाभेदेन

होता है आप्तोक्तत्व प्रयुक्त ही। क्योंकि प्रत्यक्ष आदि स्थल में भी अर्थसम्पादन आदि के ज्ञानात्मक सम्वाद से प्रामाण्य की ज्ञप्ति होती है, अर्थात् उसका ज्ञान होता है। किन्तु प्रामाण्य का उत्पाद तो गुणवान् कारण से ही होता है। 'नदी के तीर में पाँच फल हैं' इत्यादि वाक्य यदि वञ्चक व्यक्ति के होते हैं तो वे विसम्वादी होते हैं– यह लोक में देखा जाता है। इसलिए वाक्य में आप्तोच्चरितत्व ही प्रामाण्य का कारण होता है। क्योंकि कारण गत शुद्धि के बिना यथार्थ शब्दबोध नहीं होता है। निश्चय का उपाय प्रत्यक्ष हो किन्तु वाक्य में प्रामाण्य आप्तोक्तत्व प्रयुक्त ही होता है। इसलिए आयुर्वेद आदि को लेकर आप्तोक्तत्व में प्रामाण्य की व्याप्ति का निश्चय होता है।

इस पर यह प्रश्न उठाया जाता है कि फिर भी यह कथन युक्त नहीं है। क्योंकि वेद में आप्तोक्तत्व का निश्चय नहीं किया जा सकता है। आयुर्वेद वाक्य का भी प्रामाण्य अन्वय व्यतिरेक मूलक ही है आप्तोक्तत्व मूलक नहीं। अन्वय और व्यतिरेक जितने में देखे जाते हैं उतने में ही प्रामाण्य आयुर्वेदस्थल में भी होता है। जैसे 'हररे खाने से टट्टी होती है' इत्यादि वाक्य में। जहाँ पर अन्वय और व्यतिरेक देखे नहीं जाते, वहाँ अप्रामाण्य ही मान्य है। जैसे 'सोमराजी के उपयोग से व्यक्ति हजार वर्ष जीता है' इत्यादि में। कुछ में आप्तोक्तता की कल्पना करने पर 'अर्धजरतीन्याय' आपन्न होगा। आधे में आप्तोक्तत्व होगा और आधे में अनाप्तोक्तत्व – यह कैसे? दोनों का होना अनुपपन्न है। क्योंकि अन्वय और व्यतिरेक का ज्ञान नहीं किया जा सकता है। वे दोनों अपने में ग्रहण किये जा पायेंगे या अन्य व्यक्ति में? यदि व्यक्त्यन्तर में तो क्या सर्वत्र या किसी व्यक्ति विशेष में? सर्वथा यह मार्ग सङ्कटाकीर्ण है। क्योंकि व्याधियों का, उनके निदानों का, उनकी वृद्धियों का, उनके शमन के उपायभूत औषधों का, उनके संयोग गत विशेषों का, औषध के परिमाणों

शक्तिभेदस्यैकेन जन्मना ग्रहीतुमशक्यत्वात्। जन्मान्तरानुभूतानां च भावानामस्मरणात्।

जनोऽनन्तस्तावन्निरवधिरिह व्याधिनिवहो
न संख्यातुं शक्या बहुगुणरसद्रव्यगतयः।
विचित्राः संयोगाः परिणतिरपूर्वेति च कुतः
चिकित्सायाः पारं तरति युगलक्षैरपि नरः।।

यदेव द्रव्यमेकस्य धातोर्भवति शान्तये।
योगान्तरात्तदेवास्य पुनः कोपाय कल्पते।।
या द्रव्यशक्तिरेकत्र पुंसि नासौ नरान्तरे।
हरीतक्यापि नोद्भूतवातकुष्ठे विरेच्यते।।
शरद्युद्रिक्तपित्तस्य ज्वराय दधि कल्पते।
तदेव भुक्तं वर्षासु ज्वरं हन्ति दशान्तरे।।
न चोपलक्षणं किञ्चिदस्ति तच्छक्तिवेदने।
येनैकत्र गृहीतासौ सर्वत्रावगता भवेत्।

यो वा ज्ञातुं प्रभवति पुरुषः तत्सामर्थ्यं निरवधिविषयम्।
स्यात्सर्वज्ञः स इति न विमतिस्तस्मिन्कार्या स्ववचनकथितैः।।

का, उनके रस वीर्य और विपाकों का और देश, काल तथा दशा के भेद से होने वाले उनके शक्ति प्रभेदों का किसी भी एक व्यक्ति के द्वारा एक जन्म में ग्रहण करना सम्भव नहीं है। और जन्मान्तरानुभूत भावों का स्मरण भी नहीं होता है। लोग अनन्त प्रकार के हैं। व्याधि के प्रभेद भी निश्चित रूप से अनन्त हैं और असंख्य गुण रस और द्रव्य के स्वभाव भी संख्यातीत हैं। औषधों के संयोग भी विचित्र अर्थात् विभिन्न प्रकार के ही हैं। प्रत्येक स्थान पर परिणाम भी नया नया ही देखा जाता है फिर कोई भी व्यक्ति लाखों युगों में भी चिकित्सा के पार को कैसे जान सकता है। अर्थात् उसका रहस्यवेदी कैसे हो सकता है। जो ही द्रव्य एक धातु की शान्ति के लिए समर्थ होता है वही फिर द्रव्यान्तर के संयोग से उस धातु को कुपित करने वाला देखा जाता है। जो द्रव्य शक्ति एक उपयोक्ता व्यक्ति में देखी जाती है वही नरान्तर में अर्थात् अन्यकर्तृक उपयोग स्थल में नहीं पायी जाती है। बात कुष्ठ के उद्भवस्थल में हरीतकी के उपयोग से भी विरेचन नहीं होता पाया जाता है। जो दही शरद ऋतु में उद्रिक्तपित्त व्यक्ति के लिए ज्वरप्रद होता है वही वर्षा ऋतु में दशान्तर में ज्वर को हटाता देखा जाता है। इस प्रकार विचार करने पर यह स्थिर है कि द्रव्यशक्ति के ज्ञानार्थ ऐसा कोई तद्गत चिह्न प्राप्त नहीं है। जिसे एक जगह देखकर अन्यत्र भी उस द्रव्यशक्ति का परिचायक माना जाय। और जो व्यक्ति इस दुर्ज्ञेय अनन्त विषयक द्रव्यशक्ति को समझने में समर्थ होता है, वह अवश्य सर्वज्ञ होगा और उसकी सामर्थ्य भी अनन्त विषयक होगी, इसमें किसी को विवाद नहीं होना चाहिए। क्योंकि द्रव्य शक्ति के

अथोच्यते अनादिरेवैषा चिकित्सकस्मृतिः व्याकरणादिस्मृतिवत्। संक्षेपविस्तर विवक्षयैव चरकादयः कर्त्तारः न तु ते सर्वदर्शिनः। न च स्मृतावन्धपरम्परादोषः समूलत्वात्। यथा व्याकरणस्मृतेः शिष्टप्रयोगो मूलमेवमिहान्वयव्यतिरेकौ। शिष्टविरोधे सति यथा मूलविरोधिनी पाणिन्यादिस्मृतिरप्रमाणं तथा चाहुरिह न भवत्यनभिधानादिति। एवं वैद्यस्मृतिरप्यन्वयव्यतिरेकविरुद्धा न प्रमाणमिति। तदेतदयुक्तम्, अन्वयव्यतिरेकयोर्यथोक्तनयेन परिच्छेदासम्भवेन तन्मूलत्वानुपपत्तेः। यदि ह्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामशेषद्रव्यशक्तीर्निश्चित्य चरकादिभिर्विरचितं शास्त्रमितीदृशमन्वयव्यतिरेकित्वमुच्यते तदपाकृतम्। अद्यत्वे यावन्तावन्वयव्यतिरेकौ वयमुपलब्धुं शक्नुमः तावद्भ्यां ताभ्यामेकदेशसंवादात् प्रामाण्यकल्पनात् तत्र प्रवर्त्तनं न तु तौ तावन्तौ शास्त्रस्य मूलं भवितुमर्हतः। सर्वैरस्मदादिभिस्तादृशशास्त्रप्रणयनप्रसङ्गात्। अनादित्वमपि शास्त्राणां वेदवदनुपपन्नम्,

सम्बन्ध में जो स्वीकार कर लिया गया है वह तब तक नहीं बन पायेगा जब तक उसके ज्ञाता को सर्वज्ञ नहीं माना जाय।

इस पर यदि यह कहा जाय कि चिकत्सकों की यह स्मृति अनादि है, जिस प्रकार व्याकरण आदि स्मृति। चरक आदि आयुर्वेद के कर्त्ता इसी अभिप्राय से कहे जाते हैं कि संक्षेप से कथित आयुर्वेद को उन्होंने विस्तार पर पहुँचाया। वे सर्वज्ञ नहीं थे। इस प्रकार चिकित्सक स्मृति को अनादि मानने पर अन्धपरम्परा दोष आपन्न होगा– यह भी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि वह समूल है, निर्मूल नहीं। जिस प्रकार व्याकरण स्मृति का मूल शिष्ट प्रयोग है उसी प्रकार यहाँ अन्वय और व्यतिरेक मूल हैं। शिष्ट विरोध प्राप्त होने पर जिस प्रकार मूल विरोधी पाणिनि आदि की स्मृति अप्रमाण मानी जाती है। जैसा कि वैयाकरण लोगों ने कहा भी है कि 'यहाँ ऐसा नहीं होता, क्योंकि ऐसा प्रयोग नहीं होता'। उसी प्रकार अन्वय और व्यतिरेक से विरोध रखने वाली वैद्यस्मृति भी प्रमाण नहीं है। यह सब कथन भी अयुक्त है। क्योंकि उक्त प्रकार से अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा द्रव्यशक्ति आदि का सही ज्ञान असम्भव होने के कारण अन्वय और व्यतिरेक को चिकित्सक स्मृति का मूल नहीं कहा जा सकता है। अन्वय और व्यतिरेक के सहारे द्रव्यशक्ति का निश्चय करके चरक आदि ऋषियों ने आयुर्वेद शास्त्र की रचना की। इस प्रकार आयुर्वेद में अन्वय व्यतिरेकित्व कहा जाता है, यह खण्डित हो चुका है।

आज जितनी मात्रा में हम लोग अन्वय और व्यतिरेक का उपलम्भ कर पा रहे हैं उतने उन अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा एकदेश में सम्वाद को अर्थात् सफलता को देखकर समग्र आयुर्वेदिक चिकित्सा में प्रामाणिकता की कल्पना करके उस ओर प्रवृत्ति होती है। परन्तु उतने ही अन्वय और व्यतिरेक शास्त्र के मूल नहीं हो सकते। क्योंकि अन्यथा सभी हम लोग आयुर्वेद आदि जैसे शास्त्र के प्रणेता माने जाने लगेंगे। आयुर्वेद आदि शास्त्रों का

चरकादिकर्तृस्मृतेः कालिदासादिस्मृतिवदविगीतत्वाय। न च चिकित्सास्मरणप्रबन्ध एवमनादिः, तथात्वेऽन्धपरम्पराकारणानवधारणात्। न च तदुक्तं तन्मूलं भवितुमर्हति व्युदस्तत्वात्। तस्मात्सर्वज्ञप्रणीत एवायुर्वेदः।

ननु अविदुषामुपदेशो नावकल्पते इति विद्वांसः चरकादयः कल्प्यन्ताम्। ते तु प्रत्यक्षेणैव सर्वं विदितवन्त इत्यत्र किं मानम्। उच्यते, अन्वयव्यतिरेकयोर्निरा सान्नानुमानस्यैष विषयः। वेदमूलत्वमपि मन्वादिस्मृतिवदयुक्तं कल्पयितुं कर्तृसामान्यासम्भवादिति वर्णयिष्यामः। पुरुषान्तरोपदेशपूर्वकत्वे चरकेणैव किमपराद्धम्। उपमानमनाशङ्कनीयमेवास्मिन्नर्थे। अर्थापत्तिस्तु न प्रमाणान्तरम्। अप्रामाण्यं तु नास्ति बहुकृत्वः संवाददर्शनात्। अतः परिशेषात्प्रत्यक्षीकृतदेशकालपुरुषदशाभेदानुसारिसमस्त व्यस्तपदार्थसार्थशक्ति-निश्चयाश्चरकादय इति युक्तं कल्पयितुम्। यद्येवं कथं तर्हि सोमराज्यादिवाक्येषु व्यभिचारः। व्यभिचारे चार्धजरतीयमित्युक्तम्। नैष दोषः, कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यादेषु व्यभिचारो भविष्यति। वैदिकेषु च कर्मसु मीमांसकस्य समानो दोषः।

अनादित्व भी मुख्यवेद के समान अनुपपन्न है। चरक आदि में कर्तृता की स्मृति कालिदास आदि की कर्तृता के समान अविगीतता अर्थात् प्रशस्तता के ख्यापनार्थ ज्ञातव्य है। और इस प्रकार चिकित्सक स्मृति की परम्परा अनादि भी नहीं है। क्योंकि वैसा होने पर कारण का अनन्वेषण प्रयुक्त अन्ध परम्परा का स्वीकार आपन्न होगा। उसी के द्वारा कथित उसी का मूल नहीं हो सकता है। क्योंकि उसका खण्डन किया जा चुका है। इसलिए आयुर्वेद सर्वज्ञ प्रणीत है।

इस पर यह प्रश्न उठता है कि अविद्वान् के द्वारा उपदेश सम्भव नहीं है, इसलिए विद्वान् चरक आदि की कल्पना की जाय। किन्तु उन्होंने प्रत्यक्ष रूप में ही सब कुछ समझा, इसमें क्या प्रमाण है। तो इसके उत्तर में वक्तव्य है कि अन्वय और व्यतिरेक के निरास प्रयुक्त यह अनुमान का विषय नहीं है। वेद मूलकता की कल्पना भी मनुस्मृति आदि की तरह युक्त नहीं है। क्योंकि कोई सामान्य रूप से भी कर्त्ता कल्पित हो सकता – यह हम आगे चलकर वर्णन करेंगे। पुरुषान्तर के उपदेशपूर्वक मानने पर चरक ने ही ऐसा कौन सा अपराध किया? इस विषय में उपमान प्रमाण की शङ्का की ही नहीं जा सकती है। अर्थापत्ति तो प्रमाणान्तर ही नहीं है। किन्तु उस में अप्रामाण्य नहीं है, क्योंकि सम्वाद बहुशः देखा जाता है। इसलिए परिशेषात् चरक आदि देश, काल तथा व्यक्ति, उसकी दशा आदि तथा विशेषता आदि के अनुसार सभी सामान्य एवं विशेष पदार्थ समुदाय गत सामर्थ्य का निश्चय रखने वाले थे– यह कल्पना उचित है। इस पर यह कहा जा सकता है कि यदि ऐसा है तो 'सोमराजी' आदि वाक्य स्थल में व्यभिचार क्यों? और व्यभिचार होने पर अर्धजरतीन्याय आपन्न होता है – यह कहा जा चुका है? तो यह दोष नहीं है। क्योंकि उन स्थलों पर कर्म उसके कर्त्ता तथा कर्म के साधन आदि की विगुणता के कारण व्यभिचार होगा। वैदिक कर्मस्थल में मीमांसकों को भी यह दोष समान होगा।

कारीर्यादौ का ते वार्त्ता यस्यां न स्यादिष्टौ वृष्टिः।
वैगुण्यं चेत्कर्त्रादीनामत्राप्येवं शक्यं वक्तुम्।।
यदि विधुरमभुक्तं कर्म शास्त्रीयमन्यत्
फलविघटनहेतुः कल्प्यते सोऽपि तुल्यः।
क्वचिदथ फलसंपद् दृश्यते तत्प्रयोगे
तदिह दृढशरीराः सन्ति दीर्घायुषश्च।।
आयुर्वेदस्तस्मादाप्तकृतो नान्यमूल इति सिद्धम्।
फलमेवं वेदादौ प्रकाशमाप्तप्रणीतत्वम्।।

तस्मादाप्तोक्तत्वस्य सिद्धमायुर्वेदादौ व्याप्तिग्रहणम्। व्याप्तिप्रदर्शनायैव सूत्रकृता 'स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात्' इत्युक्तम्। दृष्टार्थशब्दे गृहीताविनाभावमाप्तोक्तत्वम् अदृष्टार्थेऽपि प्रामाण्यं साधयतीति। अत एवोक्तम् 'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्' इति।

नन्वत्रापि न वैद्यकं विरचयन्दृष्टो मुनिः सर्ववि-
त्तद्व्याप्तिग्रहणं जने यदि वृथायुर्वेदसङ्कीर्त्तनम्।

कारीरी आदि यज्ञस्थल में तुझे क्या ऐसी बात होगी कि उस यज्ञ के करने पर भी कभी वृष्टि नहीं भी होती है? यदि ऐसा कोई तब तक नहीं भोगा गया अतएव फलविधुर ऐसा शास्त्रीय कर्म कोई माना जाय, जिसके कारण फल में विघटन होता है। तो यह कल्पना भी तुल्य ही होगी। अर्थात् वैसा कर्म तो यहाँ भी कल्पित हो सकता है। कहीं यदि उस कर्म के प्रयोग पर फल की सम्पत्ति पायी जाती है – ऐसा कहें, तो आप दीर्घायु और स्वस्थ शरीर हों, यह आपके लिए शुभ कामना है। इसलिए आयुर्वेद आप्तकृत है अन्य कृत नहीं – यह सिद्ध होता है। और यह स्थिर करने पर फल यह प्राप्त हुआ कि वेद आदि में आप्त प्रणीतत्व निश्चित हो गया। इसलिए आयुर्वेद आदि को लेकर आप्तोक्तत्व हेतु में व्याप्तिग्रह होता है, यह पूर्व कथित निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गया। व्याप्ति के ग्रहणार्थ ही सूत्रकार ने यह सूत्र कहा है 'स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात्' इसका अर्थ यह है कि – शब्द प्रमाण दृष्टार्थक और अदृष्टार्थक इन दो प्रभेदों में विभक्त है। आप्तोक्तत्व हेतु में दृष्टार्थक शब्द को लेकर अविनाभावात्मक व्याप्ति के ग्रहण के अनन्तर वह आप्तोक्तत्व हेतु अदृष्टार्थक वेद में भी प्रामाण्य को सिद्ध करता है। इसीलिए यह सूत्र कहा गया है कि – 'मन्त्रायुर्वेदवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्'। इस सूत्र का अर्थ यह है कि वेद में उसी प्रकार प्रामाण्य है जिस प्रकार वह आयुर्वेद में है। अब भी इस पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि वैद्यक ग्रन्थ की रचना तो आज भी होती पायी जाती है परन्तु उसका रचयिता कोई ऐसा मुनि, जो कि सर्वज्ञ हो, देखा नहीं जाता है। और यदि किसी भी ग्रन्थ रचयिता को लेकर व्याप्ति ग्रह किया जाय तो आयुर्वेद का उल्लेख व्यर्थ हो जायेगा। तो इसका उत्तर

सत्यं किं तु दृढा तथापि चरकाद्याप्तस्मृतिर्वैद्यके
नासौ चार्यनिबन्धनेति कथिता तस्येह दृष्टान्तता।।
इत्यायुर्वेदवाक्यप्रभृतिषु भवति व्याप्तिराप्तोक्ततायाः
पूर्वोक्तेन क्रमेण स्फुटमकथि तथा पक्षधर्मत्वमस्याः।
न प्रत्यक्षागमाभ्यामपहृतविषया नानुमानान्तरेण
व्याधूता वेति सैषा भजति गमकतां पञ्चरूपोपपत्तेः।।
अनपेक्षतया न वेदवाचां घटते निष्प्रतिमः प्रमाणभावः।
क्व गिरामयथार्थतानिवृत्तिः पुरुषप्रत्ययमन्तरेण दृष्टा।।
तत्प्रत्ययाद् बहुतरद्रविणव्ययादि-
साध्येषु कर्मसु तपःसु च वैदिकेषु।
युक्तं प्रवर्त्तनमबाधनकेन नैव
तत्सिद्धिरित्यलमसम्मत एष मार्गः।।

तस्मादाप्तोक्तत्वादेव वेदाः प्रमाणमिति सिद्धम्।

[मीमांसकाभिमतवेदप्रामाण्यावगमोपायनिरूपणम्]

अन्ये त्वन्यथा वेदप्रामाण्यं वर्णयन्ति। तस्य हि प्रामाण्येऽभ्युपगतपरलोकोऽनभ्युपगत-परलोको वा परो विप्रतिपद्यते। तत्रानभ्युपगतपरलोकं प्रति तावदात्मनित्यतादिन्यायपूर्वकं

यह ज्ञातव्य है कि यह कथन सत्य है किन्तु वैद्यक के द्वारा चरक आदि आप्त की स्मृति अवश्य की गयी पायी गयी है और वह स्मृति अवश्य ही चरक आदि की आर्यता प्रयुक्त हुई है, इसलिए आयुर्वेद को दृष्टान्त बनाया गया है। पूर्वोक्त क्रम से उसी प्रकार उक्त आप्तोक्तता हेतु में पक्षधर्मता भी कही गयी है। हेतु बनायी गयी यह आप्तोक्तता प्रत्यक्ष किंवा आगम प्रमाण से अपहृतविषया फलतः बाधित साध्यक भी नहीं है। और अनुमानान्तर के द्वारा साध्य के अभाव के सन्देह को भी नहीं उपस्थित नहीं कर पा रही है। इसलिए पञ्च रूपोपपन्न होने के कारण गमकता को प्राप्त करती है। वेद वाणी में निरपेक्ष भाव से अर्थात् कर्त्ता से रहित रूप में अप्रतिम अर्थात् तुलनारहित प्रामाण्य बन नहीं सकता। क्योंकि वाक्यों में अयथार्थता अर्थात् अप्रामाण्य की निवृत्ति तब तक सम्भव नहीं देखी जाती है, जब तक उसके मूलवक्ता में आप्तता का विश्वास न हो जाये। वक्ता पर आप्तता का विश्वास होने पर ही अत्यधिक धन व्यय आदि साध्य वैदिक कर्मों एवं तपस्याओं में अबाधित रूप से प्रवृत्ति सिद्ध हो सकती है। इसलिए यह मीमांसक सम्मत मार्ग पूर्ण रूप से असम्मत अर्थात् अमान्य है। अतः वेद आप्तोक्त होने के कारण ही प्रमाण है – यह सिद्ध हुआ।

मीमांसक सम्मत वेद प्रामाण्य के निरूपण का उपाय।

अन्य लोग वेद के प्रामाण्य के निरूपण का उपाय अन्यथा बतलाते हैं। वेद के प्रामाण्य के सम्बन्ध में वे दोनों तरह के लोग, जो कि परलोक मानते हैं तथा परलोक नहीं मानते हैं, विप्रतिपत्ति रखते हैं। ऐसी परिस्थिति में जो लोग परलोक विश्वासी नहीं होते

परलोकसमर्थनमेव विधेयम्। परलोकवादिनां तु मते तदेतत्सुखिदुःख्यादिभेदेन जगतो वैचित्र्यं दृश्यते तदवश्यं कर्मवैचित्र्यनिबन्धनमेव। कर्माणि चाननुष्ठितानि नात्मानं लभन्ते। अलब्धात्मनां च नभःकुसुमनिभानां कुतो विचित्रसुखदुःखादिफलसाधनत्वम्। तस्मादनुष्ठानमेषामेषितव्यम्। अनुष्ठानं च नाविदितस्वरूपाणां कर्मणामुपपन्नम्, अजानन् पुरुषस्तपस्वी किमनुतिष्ठेत्। तदवश्यं ज्ञात्वानुष्ठेयानि कर्माणि तदिदानीं तेषां परिज्ञाने कोऽभ्युपायः। न प्रत्यक्षमस्मदादीनां स्वर्गाद्यदृष्टपुरुषार्थसाधनानि कर्माणि दर्शयितुं प्रभवति।

नाप्यनुमानम्, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तृप्तिभोजनयोरिव स्वर्गयागयोः साध्यसाधनसम्बन्धानवधारणात्। जगद्वैचित्र्यान्यथानुपपत्त्या तु विचित्रं कारणमात्रमनुमीयते न च तावतानुष्ठानसिद्धिः। उक्तं च–

अधर्मे धर्मरूपे वाप्यविभक्ते फलं प्रति।
किमप्यस्तीति विज्ञानं नराणां क्वोपयुज्यते।। इति।

उपमानं त्वत्र शङ्क्यमानमपि न शोभते। नापि परस्परमुपदिशन्तो लौकिकाः कर्माणि

उन्हें तो पहले आत्मा की नित्यता सिद्धि के समान प्रयत्न करके परलोक विश्वासी बनाया जाय। उनके समक्ष परलोक का समर्थन किया जाय। और जो लोग परलोक मानते हैं, उनके मत में जो सुखी दुःखी आदि भेद मूलक संसार की विचित्रता देखी जाती है, वह अवश्य ही कर्म की विचित्रता मूलक ही होती है। कर्म तब तक स्वरूप लाभ नहीं प्राप्त करते जब तक वे अनुष्ठित नहीं होते। जो कर्मलाभ अनुष्ठान के बिना स्वरूप लाभ ही नहीं प्राप्त करते वे स्वरूप लाभ के बिना आकाश कुसुम तुल्य होने के कारण विचित्र सुख दुःख आदि के साधन कैसे बन सकते? अतः उनका अनुष्ठान इष्ट अर्थात् अभिमत होना चाहिए। उन कर्मों का अनुष्ठान तब तक सम्भव नहीं है जब तक उनके स्वरूप का परिचय न प्राप्त हो जाए। बेचारा अज्ञानी व्यक्ति भला क्या अनुष्ठान करेगा? इसलिए कर्म का अनुष्ठान उसे जानकर के ही करना होगा। एसी परिस्थिति में कर्मों को पहचानने का उपाय क्या हो सकता है? न देखे जाने वाले स्वर्ग आदि पुरुषार्थ के साधनभूत कर्म प्रत्यक्षसिद्ध नहीं हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण उन कर्मों को दिखलाने में क्षम नहीं हैं। अनुमान भी उन कर्मों को बतलाने में क्षम नहीं है। क्योंकि तृप्ति और भोजन के समान अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा स्वर्ग और याग आदि के बीच साध्यसाधनभावात्मक सम्बन्ध का अर्थात् व्याप्ति का अवधारण नहीं हो सकता है। संसार गत विचित्रता की अन्यथा अनुपपत्ति से तो किसी विचित्र कारण मात्र का अनुमान सम्भव है। केवल वह विचित्र कारण मात्र अनुमित होता है। कहा भी गया है कि – फल के लिए धर्म या अधर्म किसी के अविभक्त होने पर लोगों को होने वाला 'फल का कारण कुछ न कुछ अवश्य है' ऐसा ज्ञान कहाँ उपयोग में आता है?' उपमान की तो शङ्का भी यहाँ शोभा नहीं पाती है। यह कहना भी युक्त नहीं कि जनता

परलोकफलानि जानीयुरिति वक्तुं युक्तम्। अज्ञात्वा उपपादयतामाप्तत्वायोगात्। ज्ञानं तु लौकिकानां दुर्घटं प्रमाणाभावादित्युक्तत्वात्। एवमेव हि पुरुषोपदेशपरम्परा-कल्पनायामन्धपरम्परान्यायः स्यात्। तस्मादवश्यमभ्युपगतपरलोकैः परलोकफलानि कर्माणि कुर्वद्भिः शास्त्रात्कर्मावबोधोऽभ्युपगन्तव्यः। शास्त्रं च वेदा एवेति सिद्धं तत्प्रामाण्यम्।

ननु लोकप्रसिद्धित एव धर्माधर्मसाधनानि कर्माणि ज्ञास्यन्ते किं शास्त्रेण। उपकारापकारौ हि धर्माधर्मयोर्लक्षणमिति प्रसिद्धमेवैतत्। तथाह व्यासः –

इदं पुण्यमिदं पापमित्येतस्मिन् पदद्वये।
आचण्डालं मनुष्याणामल्पं शास्त्रप्रयोजनम्।।इति।

नैतद्युक्तं लोकप्रसिद्धेर्निर्मूलायाः प्रमाणत्वानुपपत्तेः। लोकप्रसिद्धिर्नाम लौकिकानामविच्छिन्ना स्मृतिः। स्मृतिश्च प्रभवन्ती प्रमाणान्तरमूला भवति न स्वतन्त्रेत्यवश्यमस्या मूलमन्वेषणीयम्। तच्च प्रत्यक्षादि नोपपद्यते इति नूनं शास्त्रमूलैव लोकप्रसिद्धिः। विरुद्धानेकप्रकारत्वाच्च लोकप्रसिद्धेर्न तस्यां स्वतन्त्रायां समाश्वसिति लोकः। न चोपकारकमात्रलक्षणावेव धर्माधर्मौ वक्तुं युज्येते। जपशीधुपानादौ तदभावात्।

स्वयं परस्पर उपदेश पाकर कर्म परलोक फल के देने वाले होते हैं' इस प्रकार जान लेगी। क्योंकि पूर्णरूप से जाने बिना उपदेश करने वालों में आप्तता सम्भव नहीं है। उसका सही ज्ञान लौकिकों के लिए दुर्घट है – क्योंकि प्रमाण का अभाव है, यह कहा जा चुका है। यों ही लोगों के बीच उपदेश की परम्परा स्वीकार करने पर 'अन्ध परम्परा न्याय' आपन्न होगा। इसलिए परलोक स्वीकार करके परलोक फलक कर्म करने वालों के लिए यह आवश्यक होगा कि वे कर्म का ज्ञान शास्त्र से ही होने वाला है – इसे स्वीकार करें। और शास्त्र तो वेद ही है, इसलिए वेद का प्रामाण्य सिद्ध होता है। इस पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि लोक प्रसिद्धि के द्वारा ही यह जाना जा सकेगा कि कर्म धर्म और अधर्म के साधन हैं। उपकार और अपकार ही धर्म और अधर्म के लक्षण हैं, यह प्रसिद्ध ही है। जैसा कि व्यास ने कहा है कि 'यह पुण्य है और यह पाप' इसे समझने के लिए चाण्डाल तक मनुष्यों को शास्त्र का थोड़ा बहुत प्रयोजन पड़ता है।

इसका उत्तर यह है कि यह कथन सही नहीं है। क्योंकि निर्मूल लोक प्रसिद्धि प्रमाण नहीं मानी जा सकती। लोक प्रसिद्धि का अर्थ है लोगों की अविच्छिन्न स्मृति। स्मृति नियमतः प्रमाणान्तर मूलक रूपमें ही मान्य होती है स्वतन्त्र रूप में नहीं। इसलिए लोक प्रसिद्धि का मूलभूत प्रमाणान्तर अन्वेषणीय होगा। प्रत्यक्ष आदि उपपन्न होता नहीं, इसलिए उस लोक प्रसिद्धि को शास्त्र मूलक ही मानना होगा। विरुद्ध और अनेक प्रकार की लोक प्रसिद्धि यतः होती है अतः स्वतन्त्र रूप में लोग उस पर विश्वास नहीं करते। धर्म और अधर्म उपकार और अपकार मात्र लक्षण वाले नहीं होते हैं। क्योंकि जप और

गुरुदारगमनादौ च विपर्ययादित्यवश्यं शास्त्रशरणावेव तावेषितव्यौ।

अपि चेदमिष्टिमन्त्रादिकज्ञानमेव फलम्। अयमस्मिन्नधिकृत इति, इयमितिकर्त्तव्यता, एष देशः, इमे ऋत्विज इत्यादि किं लोकप्रसिद्धेरधिगन्तुं शक्यते। तस्मादवश्यं शास्त्राधीन एव विशिष्टकर्मावबोध एषितव्यः। शास्त्रं च वेद एवेत्युक्तम्। अतस्तस्य निर्विवादसिद्धमेव प्रामाण्यमिति।

एवं तु वर्ण्यमाने संसारानादित्वं तावदुक्तं स्यात्। वेदस्यानादित्वं कर्मज्ञानानादित्वात्। यतश्च मीमांसकवर्त्मनैव प्रमाणता सिद्ध्यति नाप्तवादात्। तस्माद्यथोदाहृत एव मार्गः प्रमाणतायामनुवर्तनीयः। अथ वा–

वयमपि न विशिंष्मोऽनादिसंसारपक्षं
युगपदखिलसर्गध्वंसवादे तु भेदः।
अकथि च रचनानां कार्यता तेन सर्गात्-
प्रभृति भगवतेदं वेदशास्त्रं प्रणीतम्।।
अनादिरेवेश्वरकर्तृकोऽपि सदैव सर्गप्रलयप्रबन्धः।
सर्गान्तरेष्वेव च कर्मबोधो वेदान्तरेभ्योऽपि जनस्य सिध्येत्।।

चरणामृत पान आदि स्थलों में तुरन्त कोई उपकार होता नहीं पाया जाता है। और अकर्तव्य गुरु स्त्री गमन आदि स्थल में भी तुरन्त सम्भोग सुख पाया जाता है। इसलिए धर्म और अधर्म को भी शास्त्र शरण ही मानना होगा। और यह भी कि याग एवं तत्सम्पृक्त मन्त्र आदि का ज्ञान भी शास्त्र का ही फल है। यह व्यक्ति इस याग के करने का अधिकारी है, यह यहाँ की इतिकर्तव्यता है अर्थात् यह याग इस प्रकार से कर्त्तव्य है। यज्ञ का स्थान ऐसा होना चाहिए, ये लोग ऋत्विक् अर्थात् होता होने योग्य हैं इत्यादि क्या लोक प्रसिद्धि से समझा जा सकता है? इसलिए तत्तत् याग आदि विशिष्ट कर्म का सही ज्ञान शास्त्र के ही अधीन है। यह अवश्य स्वीकार करना होगा।

शास्त्र वेद ही है यह कहा जा चुका है। इसलिए उसका अर्थात् वेद का प्रामाण्य निर्विवाद रूप से सिद्ध है। इस प्रकार वर्णन के फलस्वरूप संसार की अनादिता प्राप्त होती है। वेद की अनादिता कर्मज्ञान की अनादिता प्रयुक्त स्वीकर्त्तव्य है। चूंकि इस प्रकार वेद का प्रामाण्य तो मीमांसक जनों के मार्ग से ही सिद्ध हो रहा है आप्तवाद मात्र से नहीं। अतः प्रदर्शित मार्ग ही प्रामाण्य के लिए स्वीकरणीय है।

अथवा हम नैयायिक लोग भी संसार की अनादिता पक्ष को विशेषित नहीं करना चाहते हैं। भेद इतना ही है कि एक साथ ही समग्र सृष्टि के ध्वंस के स्वीकार के सम्बन्ध में मतभेद है। वेद रचना की कर्त्तव्यता बतलायी जा चुकी है। इसलिए सृष्टि के प्रारम्भ में भगवान् के द्वारा वेदशास्त्र प्रणीत हुआ। ईश्वर कर्तृक होने पर भी सृष्टि और प्रलय की परम्परा सदा ही अनादि भाव से चलती आ रही है। अन्य सृष्टि में भी कर्मों का प्रबोध वेदान्तर से ही सिद्ध होगा। यदि यह पूछा जाय कि वेदों की अन्यता में क्या प्रमाण है तो

अन्यत्वे किं प्रमाणं ननु तव सुमते किं तदैक्यप्रमाणं
ध्वस्तं तावत्समस्तं भुवनमिति तदा वेदनाशोऽप्यवश्यम्।
एकस्त्वीशोऽवशिष्टः स च रचयति वा प्राक्तनं संस्मरेद्वा
वेदे स्वातन्त्र्यमस्मान्नियतमुभयथाप्यस्ति चन्द्रार्धमौलेः।।
एकस्य तस्य मनसि प्रतिभासमानो
वेदस्तदा हि कृतकान्न विशिष्यतेऽसौ।
प्रत्यक्षसर्वविषयस्य तु नेश्वरस्य
युक्ता स्मृतिः करणमेव ततोऽनवद्यम्।।
तेनाप्तनिर्मिततयैव निरत्ययार्थ-
संप्रत्ययोपजननाय जनस्य वेदे।
शास्त्रं सुविस्तरमपास्तकुतर्कमूल-
मोहप्रपञ्चमकरोन्मुनिरक्षपादः।।

[अथर्ववेदप्रामाण्याक्षेपः]

अत्र कश्चिदाह, युक्तमितरेतरव्यतिषक्तार्थोपदेशित्वेनैककर्तृकत्वानुमानद्वारकं त्रिवेद्याः

पूछना यह है कि ओ मतिमान् बतलाओ तेरे मत में वेद की एकेता में क्या प्रमाण है? जब कि समग्र भुवन ध्वस्त हो गया तब वेद का भी नाश अवश्य ही मनना होगा। प्रलय में एक परमेश्वर ही अवशिष्ट रह जाते हैं और वे ही नवीन वेद की रचना करते हैं या पूर्व सृष्टिगत वेद का स्मरण करते हैं। इसलिए निश्चित भाव से दोनों ही प्रकार से स्वातन्त्र्य भगवान् चन्द्रमौलि को ही प्राप्त है और किसी को नहीं।

उस प्रलयोत्तर सृष्टिकाल में उस एक मात्र परमेश्वर के मन में ही वेद प्रतिभासमान होता है। ऐसा मानने पर वह वेद आदिमान् रूप में मान्य वेद से कोई विशेषता नहीं रखता है। ऐसे परमेश्वर को, जो कि करगत आमलक के समान सदा समग्र जगत् का प्रत्यक्ष करते रहते हैं, उस सृष्टि काल में वेद का स्मरण हो आता है – यह कहना उचित नहीं कहा जा सकता है। इसलिए वेद को सृष्टि के समय उत्पन्न करते हैं – ऐसा मानना ही उचित होगा। वही अनवद्य अर्थात् दोष रहित होगा। इसलिए वेद के आप्तनिर्मित होने के कारण उसके सम्बन्ध में अकाट्य अर्थात् वास्तविक अर्थ के वास्तविक ज्ञान के उपजननार्थ मुनि प्रवर अक्षपाद ने ऐसे सुविस्तृत न्यायशास्त्र का प्रणयन किया, जिससे सारे कुतर्क मूलक मोह प्रपञ्च दूर हो जायें।

अथर्व वेद के प्रामाण्य पर आक्षेप।

यहाँ कोई यह कहते हैं कि परस्पर सम्बद्ध अर्थों का प्रतिपादक होने के कारण अथवा एक कर्तृकता के अनुमान प्रयुक्त त्रिवेदी को अर्थात् त्रयी आदि नामों से अभिहित होने वाले ऋक्, यजुष् और साम नामक वेदों को भले ही प्रमाण मान लिया जाय परन्तु

प्रामाण्यम्। अथर्ववेदस्य तु त्रय्याम्नातधर्मोपयोगानुपलब्धेस्त्रायीबाह्यत्वेन न तत्समानयोगक्षेमत्वम्। अनपेक्षत्वलक्षणप्रामाण्यपक्षेऽपि विक्षिप्तशाखान्तरोपदिष्टविशिष्ट ज्योतिष्टोमाद्यनेककर्मानुप्रविष्टहौत्राध्वर्यवादिव्यापारव्यतिषङ्गदर्शनात्तदर्था त्रय्येव यथा प्रमाणभावभागिनी भवितुमर्हति न तथा पृथग्व्यवहाराथर्वणश्रुतिः। तथा च लोके चतस्त्र इमा विद्याः प्राणिनामनुग्रहाय प्रवृत्ता आन्वीक्षकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिरिति प्रसिद्धिः।

श्रुतिस्मृती अपि तदनुगुणार्थे एव दृश्येते। श्रुतिस्तावद् 'ऋग्भिः प्रातर्दिवि देव ईयते यजुर्वेदेन तिष्ठति मध्येऽह्नः सामवेदेनास्तमेति वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्य' इति। तथा 'प्रजापतिरकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वेमांस्त्रींल्लोकानसृजत पृथिवीमन्तरिक्षं दिव'मिति। तांल्लोकानभ्यतपत्तेभ्यस्त्रीणि ज्योतींष्यजायन्त अग्निरेव पृथिव्या अजायत वायुरन्तरिक्षाद्दिव आदित्य इति। तानि ज्योतींष्यभ्यतपत्तेभ्यस्त्रयो

अथर्ववेद का उक्त वेदत्रयी मे उपदिष्ट याग प्रभृति धर्म में कोई उपयोग अनुपलब्ध होने के कारण त्रयीबाह्यता प्रयुक्त उसे तत्समान योगक्षेम अर्थात् त्रयी समकक्ष नहीं माना जा सकता है। फलतः अथर्ववेद को प्रमाण नहीं माना जा सकता है। प्रामाण्य को निरपेक्षता स्वरूप मानने पर भी विक्षिप्त भाव से वेद की विभिन्न शाखाओं में उपदिष्ट पारस्परिक विशेषता युक्त ज्योतिष्टोम प्रभृति अनेक कर्मों में प्रविष्ट हौत्र अर्थात् होता से सम्बन्ध रखने वाले एवं आध्वर्यव अर्थात् अध्वर्यु से सम्बन्ध रखने वाले कर्मों का सम्बन्ध देखे जाने के कारण तत्प्रतिपादक त्रयी जिस प्रकार प्रमाणभाव की अर्थात् प्रमाणता की भागिनी फलतः उससे युक्त हो सकती है उससे बिलकुल पृथक् व्यवहार रखने वाली आथर्वण श्रुति अर्थात् अथर्ववेद प्रमाण नहीं हो सकता है। इसीलिए जनता में प्रसिद्धि इस प्रकार पायी जाती है कि 'ये चार विद्याएँ प्राणियों पर अनुग्रह करके प्रवृत्त हैं, जिनका क्रमशः नाम हैं (१) 'आन्वीक्षिकी (२) त्रयी (३) वार्ता और (४) दण्डनीति'।

श्रुति और स्मृति ये दोनों भी तदनुकूलार्थक ही अर्थात् त्रयी मात्र को प्रमाण प्रतिपादन करने वाली पाई जा रही हैं। जैसे श्रुति कहती है कि 'सूर्य देव ऋचाओं के साथ प्रातः काल में आते हैं। दिन के बीच अर्थात् मध्याह्न में वे यजुर्वेद को लेकर रहते हैं और सामवेद के साथ वे अस्त प्राप्त करते हैं। इसलिए सूर्यदेव कभी वेद विहीन नहीं होते हैं। वे तीनों समय वेद के साथ ही रहते हैं।

इसी प्रकार यह पाया जाता है कि 'प्रजापति ने कामना की कि मैं बहुत हो जाऊँ प्रजात होऊँ। उन्होंने तपश्चर्या की। उन्होंने तपस्या करके तीनों लोकों की सृष्टि की। पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक – इन तीनों को अभितप्त अर्थात् प्रकाशित किया। उन अभितप्त तीनों लोकों से तीन ज्योतियाँ उत्पन्न हुई। पृथिवी से अग्नि की उत्पत्ति हुई, अन्तरिक्ष से वायु की और द्युलोक से सूर्य की। तब उन तीन ज्योतियों को अभितप्त किया, जिस के

वेदा अजायन्त अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद आदित्यात्सामवेद' इति। तथा 'सैषा विद्या त्रयी तपतीति'। स्मृतिरपि मानवी प्रतिवेदं द्वादशवार्षिकब्रह्मचर्योपदेशिनी दृश्यते षट्त्रिंशद्वार्षिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतमिति। श्राद्धप्रकरणेऽपि–

यत्नेन भोजयेच्छ्राद्धे बह्वृचं वेदपारगम्।
शाखान्तगमथाध्वर्युं छन्दोगं वा समाप्तिगम्।। इति।

त्रिवेदपारगानेव श्राद्धभुजो ब्राह्मणान् दर्शयति नाथर्ववेदाध्यायिनः प्रत्युत निषेधः क्वचिदुपदिश्यते तस्मादाथर्वणं न प्रवृञ्ज्यादिति।

[अथर्ववेदप्रामाण्याक्षेपपरिहारः]

एवमाक्षेपे सति केचिदाचक्षते –

यदि यज्ञोपयोगित्वं नेहास्त्याथर्वणश्रुतेः।
अर्थान्तरे प्रमाणत्वं केनास्याः प्रतिहन्यते।।
शान्तिपुष्ट्यभिचारार्था एकब्रह्मर्त्विगाश्रिताः।
क्रियास्तया प्रमीयन्ते त्रय्येवात्मीयगोचरः ।।इति।

एवं तत्तु सर्वं न साध्वभिधीयते। तथा हि 'तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्ष'त्वादिति,

फलस्वरूप उन अभितप्त तीनों से तीन वेद उत्पन्न हुए। अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और आदित्य से अर्थात् सूर्य से सामवेद। तदनुरूप ही यह त्रयी विद्या तप रही है।' मनु की स्मृति भी प्रत्येक वेद के लिए बारह वर्ष तक ब्रह्मचर्य का उपदेश देने वाली प्राप्त है। कहा गया है कि 'छत्तिस वर्ष तक गुरु की सेवा त्रैवेदिक व्रत है'। श्राद्ध प्रकरण में भी कहा गया है कि यत्नपूर्वक श्राद्ध में वेदपारग 'बह्वृच' अर्थात् ऋग्वेदाध्यायी, अपनी शाखा के अन्त तक पहुँचने वाले अध्वर्यु और सामवेद के अन्त तक पहुँचे हुए छन्दोग को भोजन कराना चाहिए। वहाँ तीनों वेदों के पारङ्गतों को ही श्राद्ध में भोजनीय ब्राह्मणों के रूप में दिखलाते हैं, अथर्ववेद के अध्येता ब्राह्मण को नहीं। प्रत्युत कहीं निषेध उपदिष्ट हुआ है कि 'तस्मादाथर्वणं न प्रवृञ्ज्यात्'।

अथर्व वेद के प्रामाण्य के आक्षेप का परिहार।

इस प्रकार आक्षेप प्राप्त होने पर कुछ लोग इसके उत्तर में यह कहते हैं कि यदि यज्ञ में अथर्ववेद का उपयोग नहीं भी हो तो अन्य प्रतिपाद्य वस्तु के सम्बन्ध में उसका प्रामाण्य किस के द्वारा प्रतिहत किया जा सकता है? क्योंकि जिस प्रकार अध्वर्यु ब्रह्मा और ऋत्विक् आदि से सम्बन्धित वे क्रियाएँ, जो कि आत्मीय अर्थ याग आदि से सम्बन्धित होती हैं, वे त्रयी के द्वारा प्रमित होती हैं, उसी प्रकार शान्ति, पुष्टि और अभिचार आदि आथर्वण श्रुति के द्वारा प्रमित होती हैं।

वस्तुतः उक्त सब आक्षेप उचित नहीं कहा जा सकता है। इसे यों समझा जाय कि 'तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्' अर्थात् वैदिक वाक्य अनपेक्ष होने के कारण प्रमाण

य एष वेदप्रामाण्याधिगतौ जैमिनिना निरदेशि पन्थाः यो वाक्षपादेन कणादेन प्रकटितः 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्य'मिति 'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रमाण्यमाप्तप्रामाण्या'दिति। स चतुर्ष्वपि वेदेषु तुल्यः। तत्र विशेषतुषोऽपि न कश्चिदस्ति प्रयत्नेनान्विष्यमाणः प्राप्यते। न हि मीमांसकपक्षे एवं वक्तुं शक्यते त्रय्येवानादिमती नाथर्वणश्रुतिस्तस्यां कर्तृस्मरणसम्भवादिति। नापि नैयायिकादिपक्षे एवं शक्यम् आप्तप्रणीतास्त्रयो वेदाः चतुर्थस्तु नाप्तप्रणीत इति। तेन प्रामाण्याधिगमोपायाविशेषात्समानयोगक्षेमतया चत्वारोऽपि वेदाः प्रमाणम्।

व्यवहारोऽपि सर्वेषां सारेतरविचारचतुरचेतसां चतुर्भिरपि वेदैश्चतुर्णां वर्णानामाश्रमाणां चतसृषु दिक्षु चतुरब्धिमेखलायामवनौ प्रसिद्ध इति कोऽयमत्रान्यथात्वभ्रमः। श्रुतिस्मृतिमूलश्चार्यावर्त्तनिवासिनां भवति व्यवहारः। ते च श्रुतिस्मृती चतुरोऽपि वेदान् समानकक्षानभिवदतः। ऋग्यजुःसामवेदेष्वपि अथर्ववेदाशंसीनि भूयांसि वचांसि भवन्ति। तद्यथा शतपथे अथ तृतीयेऽहनीत्युपक्रमस्याश्वमेधे परिप्लवाख्याने 'सोऽयमाथर्वणो वेद' इति श्रूयते। छान्दोग्योपनिषदि च 'ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ' इति पठ्यते।

है– यह बादरायण का मत है। इस प्रकार जो जैमिनि के द्वारा मार्ग दिखलाया गया है अथवा कणाद एवं अक्षपाद के द्वारा 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' और 'मन्त्रायुर्वेदवच्च तत् प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्' अर्थात् ईश्वर का वचन होने के कारण वेद में प्रामाण्य है तथा मन्त्र आयुर्वेद आदि के समान वेद का भी प्रामाण्य आप्त प्रामाण्य कृत है, यह जो वेदगत प्रामाण्य के सम्बन्ध में कहा गया है, वह चारों वेदों के सम्बन्ध में समान भाव से लागू पाया जाता है। प्रयत्न पूर्वक अन्वेषण करने पर लेशमात्र भी कोई विशेषता नहीं पायी जाती है। मीमांसक पक्ष में यह नहीं कहा जा सकता है कि केवल त्रयी ही अनादि है, आथर्वण श्रुति अनादि नहीं है। क्योंकि वहाँ कर्त्ता का स्मरण सम्भव है। इसी प्रकार नैयायिक आदि के पक्ष में भी यह नहीं कहा जा सकता कि तीन वेद तो आप्त प्रणीत हैं और चौथा अथर्ववेद आप्त प्रणीत नहीं है। अतः प्रामाण्याधिगम के उपाय गत अविशेषता प्रयुक्त चारों वेद प्रमाण हैं।

व्यवहार भी सभी सार एवं असार विषय के विचार में चतुर बुद्धिवालों का, चारो वर्णों को, चारों आश्रमों को, चारों दिशाओं में चतुस्समुद्रान्त इस पृथ्वी पर चारों वेदों को लेकर ही सम्पन्न होता पाया जाता है। ऐसी परिस्थिति में इसके सम्बन्ध में अन्यथात्व का भ्रम कैसा? आर्यावर्तवासियों का सारा व्यवहार श्रुति स्मृति सिद्ध ही होता है। वे श्रुतियाँ एवं स्मृतियाँ चारों वेदों को समकक्ष कहती हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद में भी अथर्ववेद ख्यापक बहुत वाक्य हैं। जैसे शतपथ में 'अथ तृतीयेऽहनि' अर्थात् तब तृतीय दिन में इस उपक्रम का अश्वमेध में परिप्लवाख्यान में 'सोऽयमाथर्वणो वेदः' यह सुना जाता है। छान्दोग्योपनिषद् में 'ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणः' अर्थात् ऋग्वेद,

नन्वितिहासपुराणानि पञ्चम इति तत्र पठ्यते एव। किं चातः किमियताथर्वणश्चतुर्थो न भवति वेदः। चतुर्थशब्दोपादानादितिहासादितुल्योऽसौ न वेदसमानकक्ष इति चेत् केयं कल्पना। चतुर्थशब्दोपादानादप्राधान्ये त्रयो वेदा असृज्यन्तेत्यादौ त्रित्व संख्योपादानात्तेऽपि न प्रधानतामधिगच्छेयुः। इतिहासादिभिर्वा सह परिगणन-मप्राधान्यकारणं यदुच्यते तदपि सर्ववेदसाधारणमिति यत्किञ्चिदेतत्। तथा शताध्ययनेऽपि 'ऋचो वै ब्रह्मणः प्राणा' इत्यभ्युपक्रम्य 'आथर्वणो वै ब्रह्मणः समान' इति पठ्यते। तथा 'येऽस्योदञ्चो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधुनाड्योऽथर्वाङ्गिरस एव मधुकृत' इति। तथा तैत्तिरीये 'तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमय' इति प्रस्तुत्य 'तस्य यजुरेव शिरः ऋग्दक्षिणः पक्षः सामोत्तरः पक्षः आदेश आत्माथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठेति' पठ्यते। तथान्यत्र 'ऋचां प्राची महती दिगुच्यते दक्षिणामाहुर्यजुषां साम्नामुत्तराम् अथर्वणामङ्गिरसां प्रतीची महती दिगुच्यते' इति। शतपथे ब्रह्मयज्ञविधिप्रक्रमे 'मध्यमे

यजुर्वेद, सामवेद, और चौथा आथर्वण वेद – इस प्रकार पढ़ा गया है। इस पर यह कहा जा सकता है कि वहाँ तो यह भी कहा गया है कि 'इतिहास पुराणानि पञ्चमः' अर्थात् इतिहास और पुराण पञ्चम हैं। तो इससे क्या? क्या इससे यह प्राप्त होता है कि आथवर्ण चतुर्थ वेद नहीं है? 'चतुर्थ' पद के उपादान से वह इतिहास आदि के तुल्य है वेद का समकक्ष नहीं है– ऐसा यदि कहा जाय तो यह कैसी कल्पना? चतुर्थ पद के उपादान से यदि आथर्वण को अप्रधान कहा जाय तो 'त्रयो वेदा असृज्यन्त' अर्थात् तीनों वेद बनाये गये, यहाँ परः त्रित्व संख्या के उपादान प्रयुक्त ऋग्, यजुः, साम भी अप्रधान हो पड़ेंगे। और इतिहास आदि के साथ परिगणन अप्राधान्य का कारण जो कहा जाता है, वह भी सर्ववेद साधारण है। इसलिए वह 'जो कुछ' अर्थात् कुछ भी नहीं अर्थात् निस्सार है। इसी प्रकार 'शताध्ययन' में भी 'ऋचो वै ब्रह्मणः प्राणाः' अर्थात् ऋग्वेद वेदों का प्राण है, इस प्रकार उपक्रम करके 'आथर्वणो वै ब्रह्मणः समानः' अर्थात् अथर्व वेद वेद का समान वायु है, इस प्रकार पठित हुआ है। इसी प्रकार 'येऽस्योदञ्चो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधुनाड्योऽथर्वाङ्गिरस एव मधुकृत' अर्थात् सूर्य की जो उत्तरवर्ती रश्मियाँ हैं, वे तो औदीच्य अर्थात् उत्तरवर्ती मधुनाड़ियाँ हैं आथर्व एवं आङ्गिरस ही 'मधुकृत्' हैं। इसी प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः' अर्थात् इस प्राणमय आत्मा से अन्य मनोमय अन्तरात्मा है' इस प्रकार प्रस्ताव करके 'तस्य यजुरेव शिरः ऋग्दक्षिणः पक्षः सामोत्तरः पक्षः आदेश आत्माऽथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा' अर्थात् उस का यजुर्वेद ही शिर है ऋग्वेद दक्षिण पक्ष है सामवेद उत्तर पक्ष है आदेश आत्मा है अथर्वाङ्गिरस पुच्छ है प्रतिष्ठा है – ऐसा पढ़ा जाता है।

इसी प्रकार अन्यत्र (ब्रह्मोपनिषद् में) कहा गया है कि 'ऋचां प्राची महती दिगुच्यते दक्षिणामाहुर्यजुषां साम्नामुत्तरामथर्वाणामङ्गिरसां प्रतीची महती दिगुच्यते'। अर्थात् ऋक् की महती दिक् है प्राची, यजुवेद की दिशा है दक्षिणा, सामवेद का दिक् है उत्तर और अथर्वाङ्गिरस की महती दिशा है प्रतीची अर्थात् पश्चिम। शतपथ में ब्रह्म यज्ञ के विधान के

पय आहुतयो वा एता देवानां यदृच' इत्युपक्रम्य 'मेद आहुतयो वा एता देवानां यदथर्वाङ्गिरसः स्म य एवं विद्वानथर्वाङ्गिरसोऽहरहः स्वाध्यायमधीते मेद आहुतिभिरेव देवान् स तर्पयति त एनं तृप्तास्तर्पयन्ति' इति। मन्त्रा अपि तदर्थप्रकाशनपरा अनुश्रूयन्ते 'त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्यत' इत्यादयः। न चैषामथर्वा नाम कश्चिदृषिरित्येवंप्रकारं व्याख्यानं युक्तम्, अन्यत्राप्यसमाश्वासप्रसङ्गात्। इत्येवंजातीयकास्तावदुदाहृताः श्रुतिवाचः। स्मृतिवाक्यानि खल्वपि, मनुस्तावत् 'श्रुतीरथर्वाङ्गिरसीः कुर्यादित्यभिचारयन्' इति श्रुतिशब्देन त्रयीवद् व्यवहरति। याज्ञवल्क्यः चतुर्दशविद्यास्थानानि गणयन्–

पुराणतर्कमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।। इति।

चतुर एव वेदानावेदयते। नान्यथा हि चतुर्दशसंख्या पूर्यते। स्मृत्यन्तरे च स्पष्टमेवोक्तम्–

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।
पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश।। इति।

प्रक्रम में यह कहा गया है कि 'मध्यमे पय आहुतयो वा एता देवानां बह्वृचः' अर्थात् मध्यम में ये बह्वृच देवताओं के लिए दूध आहुति देने वाले होते हैं। इस प्रकार उपक्रम करके 'मेद आहुतयो वा एता देवानामथर्वाङ्गिरसः स्म य एवं विद्वानथर्वाङ्गिरसोऽहरहः स्वाध्यायमधीते मेद आहुतिभिरेव स देवान् तर्पयति। त एनं तृप्तास्तर्पयन्ति'। अर्थात् ये अथर्वाङ्गिरस मेदस से अर्थात् चर्वी लेकर देवों को आहुति देने वाले होते थे। जो व्यक्ति इस प्रकार सोचता हुआ अथर्वाङ्गिरस वेद का अध्ययन करता है, वह व्यक्ति मेद आहुति से ही देवताओं को तृप्त करता है। और ये तृप्त होकर अध्येता को तृप्त करते हैं। मन्त्र भी उसके अर्थ के प्रकाशन में तत्पर अनुश्रुत पाये जाते हैं यथा–'त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्यत' अर्थात् हे अग्नि देव तुझे अथर्वा ने पुष्कर क्षेत्र से लाकर निर्माण किया इत्यादि। इन सब का अथर्वा नामक कोई ऋषि इस प्रकार व्याख्यान उचित नहीं है। क्योंकि अन्यत्र भी समाश्वान नहीं प्राप्त होगा अर्थात् अन्य ग्रन्थ से सङ्गति नहीं बैठेगी। इस प्रकार बहुत से श्रुतिवाक्य उदाहृत हैं और स्मृतिवाक्य भी। मनु ने भी कहा है कि अभिचार कर्म करने वाला व्यक्ति अथर्वाङ्गिरस श्रुतियों का उपयोग करे। इस प्रकार त्रयी के समान व्यवहार करते हुए अथर्व वेद सम्बन्ध में श्रुति शब्द का प्रयोग किया गया है। याज्ञवल्क्य ने चौदह विद्या स्थानों का परिगणन करते हुए यह कहा है कि पुराण न्याय मीमांसा और धर्मशास्त्र तथा व्याकरण आदि अङ्गों से युक्त वेद विद्या और धर्म के चौदह स्थान हैं। यहाँ उन्होंने वेद की संख्या चार बतलायी है। अन्यथा चौदह संख्या पूरी नहीं होती। स्मृत्यन्तर में भी स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि व्याकरण आदि छह अङ्ग, चार वेद, मीमांसा, विस्तृत न्याय

अन्यत्राप्युक्तम् पुराणं धर्मशास्त्रं मीमांसा न्यायश्चत्वारो वेदाः षडङ्गानीति चतुर्दश विद्यास्थानानीति। शातातपोऽप्याह–

ऋक्सामयजुरङ्गानामथर्वाङ्गिरसामपि।

अणोरप्यस्य विज्ञानाद्योऽनूचानस्स नो महान्।। इति।

तथान्यत्र चत्वारश्चतुर्णा वेदानां पारगा धर्मज्ञाः परिषदित्युक्तम्। शङ्खलिखितौ च ऋग्यजुःसामाथर्वविदः षडङ्गविद्धर्मविद्वाक्यविद् नैयायिको नैष्ठिको ब्रह्मचारी पञ्चाग्निरिति दशावरा परिषदित्यूचतुः। प्राचेतसे चत्वारो वेदविदो धर्मशास्त्रविदिति पञ्चावरा परिषदित्युक्तम्। तथा च पङ्क्तिपावनप्रस्तावे 'चतुर्वेदः षडङ्गवित् ज्येष्ठसामगोऽथर्वाङ्गिरसोऽप्येते पङ्क्तिपावना' गण्यन्ते। तदयमेवमादिवेदचतुष्टयप्रतिष्ठाप्रगुण एव प्राचुर्येण धर्मशास्त्रकाराणां व्यवहारः। अन्येऽपि शास्त्रकारास्तथैव व्यवहरन्तो दृश्यन्ते। यथा च महभाष्यकारो भगवान् पतञ्जलिरथर्ववेदमेव प्रथममुदाहृतवान् 'शन्नो देवीरभिष्टये' इति। मीमांसाभाष्यकारेणापि वेदाधिकरणे काठकं कालापकं मौद्गलं पैप्पलादकमिति, यजुर्वेदादिकवदथर्ववेदेऽपि पैप्पलादकमुदाजह्ने। सर्वशाखाधिकरणेऽपि वेदान्तर शाखान्तरवन्मौद्गलपैप्पलादकाख्ये अथर्वशाखे अप्युदाहृत्य विचारः कृतः। तथा च

शास्त्र, पुराण और धर्मशास्त्र– ये चौदह विद्याएं हैं। अन्यत्र भी कहा गया है कि पुराण, धर्मशास्त्र, मीमांसा, न्याय, चार वेद और अङ्ग ये चौदह विद्या के स्थान हैं। शातातप ने भी कहा है कि ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्वाङ्गिरस अर्थात् अथर्व वेद एवं इनके छह अङ्ग इनके अल्प विज्ञानी भी हम लोगों के अनूचान हैं, वे हम लोगों में महान् हैं। अन्यत्र भी ऐसा कहा गया है कि 'चार जन चारों वेदों के पारङ्गत धर्मज्ञ हैं परिषद्'। शंख एवं लिखित ने कहा है कि 'ऋग्, यजुः, साम और अथर्व इन चार वेदों के विशेषज्ञ, व्याकरण आदि छह अङ्गों के वेत्ता, नैयायिक, नैष्ठिक ब्रह्मचारी और पञ्चाग्नि व्रती इनकी दशावरा परिषद् होती है। प्राचेतस में चार वेदों के ज्ञाता और एक धर्मशास्त्रज्ञ इनकी पञ्चावरा अर्थात् पाँच से कम सदस्यों की परिषद् होती है' यह कहा गया है।

इसी प्रकार पंक्तिपावन के प्रस्ताव में चारों वेदों को जानने वाले, षड्ङ्गों को जानने वाले, श्रेष्ठ सामगान करने वाले तथा केवल अथर्वाङ्गिरस भी पंक्ति पावन गिने जाते हैं– ऐसा कहा गया है। इस प्रकार चार वेदों की स्थिति के अनुकूल ही धर्मशास्त्रों का व्यवहार पाया जाता है। अन्य शास्त्रकार भी इसी प्रकार व्यंवहार करते हुए देखे जाते हैं। जैसे कि महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि नें प्रथम उदाहरण 'शन्नो देवीरभिष्टये' इसके द्वारा अथर्ववेद का ही पहले प्रस्तुत किया है। मीमांसाभाष्यकार ने भी वेदाधिकरण में काठक, कालापक, मौद्गल और पैप्पलाद की चर्चा की हैं। इस प्रकार यजुर्वेद के समान अथर्व वेद में भी पैप्पलादक के सम्बन्ध में कहा है। सर्व शाखा प्रत्ययाधिकरण में भी वेदान्तर के शाखान्तर के समान मौद्गल और पैप्पलाद नामक अथर्वशाखाओं का भी उल्लेख करके विचार उपस्थित किया गया है।

प्रथमयज्ञो नाम चतुर्षु वेदेषु न कश्चिदस्तीत्यधिकरणान्ते एव लिखितम्। एवं श्रुतिस्मृति शिष्टाचारव्यवहारविदामत्र विप्रतिपत्तिसम्भावनैव नास्ति।

आह, न ब्रूमः अथर्ववेदो न प्रमाणमिति किं तु त्रयीबाह्य इति। उच्यते, आथर्ववेद स्त्रयीबाह्यस्त्रयीयमथर्ववेदबाह्यैव न केवलमेवं त्रय्यामपि परस्परबाह्यत्वमस्त्येव। ऋक्सामबाह्यानि यजूंषि, यजुःसामबाह्या ऋचः, ऋग्यजुर्बाह्यानि सामानीति कियानयं दोषः, सर्वभावानामितरेतरसांकर्यरहितत्वात्। ये हि शब्दात्मानो ग्रन्थसन्दर्भस्वभावा ये च तदभिधेया अर्थस्वभावास्ते सर्वेऽन्योन्यसम्मिश्रितात्मान एव। न च परेणात्मान ममिश्रयन्तोऽपि ते स्वरूपमपि हारयन्तीति।

अथोच्यते, नेदृशं त्रयीबाह्यत्वमथर्ववेदे विवक्षितम् अपि तु यदेष न त्रयीप्रत्ययं कर्मोपदिशति न तत्सम्बद्धं किञ्चिदिति यदस्य त्रयीबाह्यत्वमिति। एतदपि न साधूपदिष्टम्। इष्टिपश्वेकाहाहीनसत्रादिकर्मणां तत्रोपदेशदर्शनात्। सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्मेति न्यायात्। त्रय्युपदिष्ट एव कर्मणि सम्बन्धः सर्वशाखाप्रत्ययमेव नाथर्वं सर्वशाखाप्रत्ययम्। यतः सोमयागादिकर्मणामृग्वेदेन हौत्रं यजुर्वेदेनाध्वर्यवं सामवेदेनौद्गात्रं क्रियते नाथर्ववेदेन

इसी प्रकार चारों वेदों के अन्दर कोई प्रथम यज्ञ नहीं है, यह भी अधिकरण के अन्तमें लिखा है। फलतः श्रुति, स्मृति, शिष्टाचार और व्यवहार को जानने वाले लोगों के बीच इस विषय पर विप्रतिपत्ति की सम्भावना ही नहीं है'। इस पर कोई यह कहता है कि हम लोग यह नहीं कहते हैं कि अथर्ववेद प्रमाण नहीं है किन्तु कहना यह है कि वह त्रयी बाह्य है। तो इसके उत्तर में वक्तव्य यह है कि अथर्ववेद त्रयी बाह्य है, त्रयी अथर्ववेद बाह्य है, इतना ही नहीं किन्तु त्रयी के बीच भी तो परस्पर बाह्यता है। क्योंकि यजुः ऋक् और साम से बाह्य हैं। ऋचाएं यजुः और साम से बाह्य हैं। तथा साम भी यजुः और ऋक् इन दोनों से बाह्य हैं। इस में कितना दोष आपन्न हुआ? क्योंकि सारे ही भाव तो परस्पर के साङ्कर्य से रहित हैं? शब्दात्मक होना आदि जो ग्रन्थ सन्दर्भों का स्वभाव है और उसका अभिधेय होना यह जो अर्थ का स्वभाव है, वे सब परस्पर में मिश्रित स्वभाव ही हैं। वे परस्पर में अमिश्रित रखते हुए भी अपने स्वरूप को भी नहीं छोड़ देंगे।

इस पर यदि यह कहा जाय कि ऐसा त्रयी बाह्यत्व अथर्ववेद में विवक्षित नहीं है किन्तु यह कि त्रयी के द्वारा कर्मों का उपदेश अथर्ववेद नहीं करता है और तत्सम्बद्ध भी किसी का नहीं– यह है इसका त्रयीबाह्यत्व। तो यह भी उपदेश सही नहीं है। क्योंकि इष्टि पशु एकाह अहीन आदि कर्मो का उपदेश वहाँ भी देखा ही जाता है 'सर्व शाखा प्रत्यय एक कर्म होता है' इस न्याय से। त्रयी द्वारा उपदिष्ट कर्म में ही सम्बन्ध है। क्योंकि वहीं सर्वशाखा प्रत्यय पाया जाता है। आथर्वकर्म सर्वशाखा प्रत्यय अर्थात् सकलशाखासम्वादी नहीं पाया जाता है। क्योंकि सोमयाग आदि कर्मों में होता सम्बन्धी कर्म ऋग् वेद से अध्वर्यु सम्बन्धी कर्म यजुर्वद से और उद्गाता सम्बन्धी कर्म सामवेद से किया जाता है। अथर्ववेद से वहाँ कुछ

किञ्चिदिति। तदयुक्तम्, अथर्ववेदेन ब्रह्मत्वस्य करणात्। तथा च गोपथब्राह्मणम् 'प्रजापतिः सोमेन यक्ष्यमाणो वेदानुवाच कं वो होतारं वृणीय'मिति प्रक्रम्य 'तस्मादृग्विदमेव होतारं वृणीष्व स हि हौत्रं वेद यजुर्विदमेवाध्वर्युं वृणीष्व स हि आध्वर्यवं वेद सामविदमेवोद्गातारं वृणीष्व स हि औद्गात्रं वेद अथर्वाङ्गिरोविदमेव ब्रह्माणं वृणीष्व स हि ब्रह्मत्वं वेदे'ति। एवमभिधाय पुनराह अथ चेन्नैवंविधं होतारमध्वर्युमुद्गातारं ब्रह्माणं वा वृणुते पुरस्तादेव वैषां यज्ञो रिष्यतीति। तस्मादृग्विदमेव होतारं कुर्याद् यजुर्विदमेवाध्वर्युं सामविदमेवोद्गातारम् अथर्वाङ्गिरसोविदमेव ब्रह्माणमिति। तथा यज्ञे यदूनं च विरिष्टं च यातयामं च करोति तदथर्वणां तेजसाप्याययतीति। अथानन्ते भृग्वङ्गिरोभ्यः सोमः पातव्य इति।

[अथर्ववेदस्य त्र्यात्मकत्वम्]

नन्वेताः श्रुतीरथर्वाण एवाधीयते नान्ये त्रयीविदः। ते त्वेवं पठन्ति यदृचा हौत्रं क्रियते यजुषाध्वर्यवं साम्ना औद्गात्रम् अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियते इति त्रय्या विद्ययेति ब्रूयादिति। तथा च यदृचैव हौत्रमकुर्वत यजुषाध्वर्यवं साम्नौद्गात्रं यदेव त्रय्यै विद्यायै

भी किया नहीं जाता है, यह कथन भी उचित नहीं है। क्योंकि अथर्ववेद के द्वारा ब्रह्मत्व किया जाता है। जैसा कि गोपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि प्रजापति ने जब सोम याग करना चाहा तो वेदों से उन्होंने पूछा कि आप लोगों में किसे होता रूप में वरण किया जाय?

इस प्रकार प्रक्रम करके 'इस हेतु ऋग्वेदी को ही होता वरण करें' क्योंकि वे ही होता के कर्मों को जानते हैं। यजुर्वेदी को ही अध्वर्यु बनायें, क्योंकि अध्वर्यु से सम्बन्धित कर्मों को वे ही जानते हैं। सामवेदी को ही उद्गाता वरण करें, क्योंकि उद्गाता के कर्मों को वे ही जानते हैं। और अथर्वाङ्गिरस वेदी को ही ब्रह्मा वरण करें, क्योंकि ब्रह्मा होना वे अच्छी तरह जानते हैं। इस प्रकार कहकर फिर कहते हैं कि यदि ऐसे होता ऐसे अध्वर्यु ऐसे उद्गाता और ऐसे ब्रह्मा का वरण नहीं किया जाता है तो किया जाने वाला यज्ञ निष्फल हो जायेगा। इस लिए ऋग्वेदवित् को ही होता, यजुर्वेदवित् को ही अध्वर्यु सामवेदवित् को ही उद्गाता और अथर्वाङ्गिरसवित् को ही ब्रह्मा किया जाय। ऐसा करने पर यज्ञ में जो कमी होती है, विरिष्टि अर्थात् वैकृत्यमूलक फलगत कमी सम्भावित होती है तथा बिलम्ब से काम किया जाता है, वे अथर्वा के तेज से आप्यायित अर्थात् पूर्ण होते हैं। अनन्तर अन्त के पहले ही भृगु और अङ्गिरा के साथ सोम पान करना चाहिए।

अथर्व वेद त्र्यात्मक है।

इस पर प्रश्न यह उपस्थित है कि इन श्रुतियों का अध्ययन अथर्वा के अनुयायी ही करते हैं अन्य त्रयीवित् लोग नहीं। वे तो इस प्रकार पाठ करते हैं कि ऋक् के द्वारा होता सम्बन्धी कर्म किया जाता है, यजुः के द्वारा आध्वर्यव, साम के द्वारा औद्गात्र। तब ब्रह्मत्व किससे किया जाता है? तो त्रयी विद्या के द्वारा, यह कहना चाहिए। फलितार्थ यह कि ऋक्

शुक्रं तेन ब्रह्मत्वमिति।

उच्यते, वयमप्येवमादीनि वाक्यानि न नाधीमहि किं त्वेषामयमेवार्थोऽथर्वोऽङ्गिरोविदेव ब्रह्मेति। कथम्, यतो न त्रयी नाम किमपि वस्त्वन्तरम्, अपि तु त्रयाणां वेदानां समाहार इति। समाहारश्च समाह्रियमाणनिष्ठो भवति। समाह्रियमाणाश्च ऋग्वेदादयस्त्रयो हौत्रादिपरत्वे चरितार्था न पुनस्तत्र भेदमर्हन्ति। एकैकशः चरितार्थानां समुदायोऽपि चरितार्थ एव। समुदायबुद्धौ हि विभज्यमानायां समुदायिन एव प्रस्फुरन्ति नावयविवदर्थान्तरं ते चान्यत्र व्यापृताः। किं नु खलु ऋग्वेदादीनां ब्रह्मत्वं कुर्वतामतिभारो भवति। न ब्रूमः अतिभार इति। किं तु त्र्यात्मकत्वेन ब्रह्मत्वकर्त्तव्यतोपदिश्यते त्र्यात्मकश्चान्यतमोऽपि तेषां न भवति वेदः अथर्ववेदस्तु त्र्यात्मक एव। तत्र हि ऋचो यजूंषि सामानि इति त्रीण्यपि सन्ति, तेन ब्रह्मत्वं क्रियमाण त्रय्या कृतं भवति।

ननु यस्त्रीन् वेदानधीते तेन चेद् ब्रह्मत्वं क्रियेत तत्किं तया न कृतं भवति, बाढमित्युच्यते। सोऽपि एकस्मै वा कामायान्ये यज्ञक्रतवस्समाह्रियन्ते सर्वेभ्यो ज्योतिष्टोमः सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासाविति श्रुतावपि योगसिद्ध्यधिकरणन्यायेनान्यतममेव बुद्धावादाय

के द्वारा ही जो प्राचीनों ने हौत्र कर्म किया, यजुर्वेद से ही आध्वर्यव, सामवेद से ही ओद्गात्र और जो त्रयी विद्या के द्वारा उन लोगों से किया गया वह हुआ शुक्र अर्थात् शुक्ल। उससे हुआ उस शुक्र का ब्रह्मत्व।

उत्तर इसका यह है कि क्या हम लोग इन वाक्यों का अध्ययन नहीं करते हैं? किन्तु अर्थ यही है कि अथर्वा और अङ्गिरा का वेत्ता ही ब्रह्मा हो। यह कैसे? तो यह इसलिए कि त्रयी नामक कोई वस्त्वन्तर नहीं है। किन्तु तीनों वेदों का समाहार है त्रयी। समाहार अवश्य ही समाह्रियमाण का ही होता है। समाह्रियमाण हैं ऋग्वेद आदि तीनों। क्योंकि तभी होता आदि परक रूप में वे चरितार्थ होते हैं। वहाँ वे भेद को प्राप्त नहीं करते हैं। एक एक कर के चरितार्थों का समुदाय भी चरितार्थ ही होगा। समुदाय बुद्धि का विश्लेषण करने पर समुदायी ही प्रस्फुरित होता है। अवयवी के समान कोई अर्थान्तर नहीं है। क्योंकि वे तो प्रयोजनान्तर में व्याप्त होते हैं। फिर ऋग्वेद आदि में ही ब्रह्मत्व मानने में कौन सा महान् भार शिर पर आ गिरता है? तो उत्तर यह है कि हम लोग यह नहीं कहते हैं कि महान् भार शिर पर आ गिरता है। किन्तु कहना यह है कि त्र्यात्मक रूप में ब्रह्मत्व की कर्तव्यता का उपदेश है यह। और उनके अन्दर का कोई भी वेद त्र्यात्मक नहीं होता है। अथर्ववेद तो त्र्यात्मक ही है। उसके अन्दर ऋचाएं, यजुष एवं साम तीनों है। इसलिए उसमें ब्रह्मत्व क्रियमाण होने पर वह त्रयी के द्वारा कृत होता है। इस पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जो तीनों वेदों का अध्ययन करता है उसे लेकर यदि ब्रह्म कर्म का सम्पादन किया जाता है तो क्या त्रयी के द्वारा ही नहीं वह किया जाता है? उत्तर यह है कि ठीक है। वह भी एक एक फल के लिए अन्यान्य यज्ञ किये जाते हैं और ज्योतिष्टोम तथा दर्शपौर्णमास सभी फलों के

विदध्यान्न समुदायं बुद्धावारोपयितुं शक्नुयादित्येकेनैतत्कृतं भवति न त्रय्येति।

नन्वन्येऽपि त्र्यात्मका वेदाः यद्येव सुतरामथर्ववेदो न पृथक् करणीयः सर्वेषां रूपाविशेषात्। तेषां पृथक्प्रतिष्ठैः स्वैः स्वैर्ऋगादिभिरेव व्यपदेश इति न ते समुदायशब्दव्यपदेश्याः। यत्तु वाक्यान्तरे त्रय्यै विद्यायै शुक्रं तेन ब्रह्मत्वमिति तत्रेयं चतुर्थी षष्ठ्याः स्थाने प्रयुक्ता। शुक्रमिति सारमाचक्षते, तेन त्रयीविद्यायाः सारेण ब्रह्मत्वं क्रियते इत्युक्तं भवति। न च त्रय्येव त्रय्याः शुक्रं भवति न चात्यन्तं ततोऽर्थान्तरमत्र तेनेदमथर्ववेदात्मकमेव त्रय्याः शुक्रं, शुक्रमिति च गुह्यमाहुः। अथर्वशब्दोऽपि रहस्यवचनो यज्ञाथर्वाणं चैकस्या इष्टय इति। तेन त्रयीशुक्ररूपेणाथर्ववेदेन ब्रह्मत्वमितीत्थमथर्ववेदस्य न त्रयीबाह्यत्वमित्थं सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्मेति न सर्वशब्दः संकोचितो भवति। अत एव ब्रह्मवेदोऽथर्ववेद इति पूर्वोत्तरब्राह्मणे पठ्यते। एवं ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः ब्रह्मवेद इति। तथा च काठकशताध्ययने ब्राह्मणे ब्रह्मौदने श्रूयते ब्रह्मवादिनो वदन्ति पुरा वा औद्दालकिरारुणिरुवाच ब्रह्मणे त्वा प्राणाय जुष्टं निर्वपामि ब्रह्मणे त्वा व्यानाय

लिए। इस श्रुतिस्थल में भी योगसिद्ध्यधिकरणन्याय से अन्यतम को ही तब बुद्धि में लेकर किया जायेगा, समुदाय को बुद्धि में नहीं लाया जायेगा। इसलिए एक के द्वारा ही वह फल किया जायेगा तीनों से अर्थात् तीनों के अन्दर एक एक मात्र से नहीं। यदि अन्य भी वेद त्र्यात्मक हो तो सुतरां अथर्ववेद पृथक् न किया जाय। क्योंकि सब के स्वरूप में कोई अन्तर रहेगा नहीं। परन्तु वे पृथक् पृथक् प्रतिष्ठा प्राप्त ऋग्वेद आदि पृथक् पृथक् नामों से ही कहे जाते हैं, इसलिए वे समुदाय शब्द से व्यपदिष्ट नहीं होते हैं। और वाक्यान्तर में जो त्रयी विद्या के लिए 'शुक्र' शब्द का प्रयोग किया गया है और उसके द्वारा ब्रह्मत्व कहा गया है, वहाँ चतुर्थी षष्ठी के स्थान में प्रयुक्त हुई है। शुक्र शब्द का प्रयोग 'सार' अर्थ में किया गया है। इससे प्राप्त यह होता है कि त्रयी विद्या के सारभूत के द्वारा ब्रह्मत्व किया जाता है।

त्रयी ही त्रयी का सार हो, यह तो उचित नहीं है। और यह भी नहीं कि वह उससे बिलकुल अर्थान्तर हो। इसलिए वह अथर्ववेदात्मक ही उसका सार है। शुक्र शब्द गुह्य अर्थ को कहता है। और अथर्वःशब्द भी रहस्यवाची है। 'यज्ञाथर्वाणं चैकस्या इष्टये' ऐसा कहा गया है। इसलिए ऋक् आदि वेदत्रयी विद्या के सारभूत अथर्ववेद के द्वारा ब्रह्मत्व अर्थात् ब्रह्मा का कर्म किया जाता है। इस प्रकार अथर्ववेद में त्रयीबाह्यत्व नहीं होता है और ऐसा होने पर 'सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्म' यहाँ पर सर्वशब्द भी सङ्कोचित नहीं होता है। इसीलिए पूर्वोत्तर ब्राह्मण में ऐसा कहा गया है कि 'ब्रह्मवेदोऽथर्ववेदः'। अर्थात् अथर्ववेद ब्रह्मवेद है। इस प्रकार ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और ब्रह्मवेद अर्थात् अथर्ववेद ये चार वेद प्राप्त होते हैं।

तभी काठक शताध्ययन ब्राह्मण में ब्रह्मौदन में सुना जाता है – ब्रह्मवादी गण कहते हैं कि पूर्वकाल में औद्दालकि आरुणि ने कहा कि प्राणभूत तुम ब्रह्मा के लिए जुष्ट अर्थात्

जुष्टं निर्वपामीत्युपक्रम्य आथर्वणो वै ब्रह्मणः समानोऽथर्वणमेवैतज्जुष्टं निर्वपति चतुःशरावो भवति चत्वारो हीमे वेदास्तानेव भागिनः करोति मूलं वै ब्रह्मणो वेदाः। वेदानामेतन्मूलं यदृत्विजः प्राश्नन्ति तद् ब्रह्मौदनस्य ब्रह्मौदनत्वमिति। तथा सामवेदे पृष्ठ्यस्य चतुर्थेऽहन्यार्भवे पवमाने आथर्वणे साम्नौद्गात्रं यत्तद्विधाने श्रूयते चतुर्विधमाथर्वणं भवति चतूरात्रस्य वृत्त्यै चतुष्पदामानुष्टुभानुष्टुभमेवैतदहर्यश्चतुर्थं भेषजं वाथर्वणं तद्धि भैषज्यमेव तत्करोत्याथर्वणानि यागभेषजानीत्येतदालम्बनेयं स्तुतिरत एव प्रागुक्तं यज्ञे यदूनं च विरिष्टं च यातयामं च करोति तदथर्वणा तेजसाप्याययतीति। तस्मादाथर्वण एव ब्रह्मेति। एतच्च शास्त्रान्तरे विस्तरेणाभियुक्तैर्युक्तिभिरुपपादितमिति नेहात्यन्ताय प्रतायते।

यत्तु नाथर्वणेन प्रवृञ्ज्यादिति तत्कल्पसूत्रवाक्यत्वाद् वेदविरुद्धमित्यनादृतम्। अथापि श्रौतमिदं वाक्यं तदापि प्रकरणाधीतं चेत्तत्रैव क्वचित्कर्मणि निवेक्ष्यते। अनारभ्यवादपक्षेऽपि पूर्वोक्तवाक्यविसदृशार्थत्वादथर्ववेदस्य च त्रयीबाह्यत्वेन सम्पर्कपरिहारार्हत्वान्नियत-विषयमेव व्याख्यास्यते।

अच्छा हव्य दे रहा हूँ। व्यानभूत तुम ब्रह्मा के लिए उक्त प्रकार हव्य दे रहा हूँ इत्यादि उपक्रम करके – आथर्वण ब्रह्मा के 'समान' हैं, इसलिए आथर्वण हव्य का ही निर्वाप करते हैं अर्थात् देते हैं। चतुः शराव होता है, चार ही वेद हैं, उन्ही को भागी बनाते हैं। वेद ब्रह्म के मूल हैं और वेदों का मूल है यह, जिसे कि ऋत्विक् गण भक्षण करते हैं। वही ब्रह्मौदन का ब्रह्मौदनत्व है। इसी प्रकार सामवेद में पृष्ठ्य के चतुर्थ दिन आथर्वण आर्भव पवमान में साम के द्वारा जो ओद्गात्र कर्म होता है, उसके विधान में सुना जाता है–कि आथर्वण चार प्रकार का होता है। चतूरात्र के वर्तनार्थ चतुष्पदो के अन्दर आनुष्टुभों के द्वारा यह दिन आनुष्टुभ है, जो कि चतुर्थ होता है। अथवा आथर्वण भेषज होता है। वह निश्चय ही भैषज्य है। इसलिए यजमान आथर्वण भेषज याग करता है। इसी को आलम्बन करके यह पवमान स्तुति है। इसीलिए पहले कहा गया 'यज्ञ में जो कमी होती है, जो विरिष्ट होता है या बिलम्ब से कर्म किया जाता है, वह सब अथर्व स्वरूप तेज के द्वारा अर्थात् प्रकाश के द्वारा आप्यायित होता है अर्थात् पूर्ण होता है। इसलिए ब्रह्मा आथर्वण ही होना चाहिए। यह शास्त्रान्तर में अभियुक्तों के द्वारा विस्तार पूर्वक युक्तयुक्त रूप में उपपादित हुआ है। इसलिए यहाँ पर विस्तारार्थ प्रयत्न नहीं किया जा रहा है। यह जो कहा गया है कि 'नाथर्वणेन प्रवृञ्ज्यात्' सो कल्पसूत्र से विरुद्ध होने के कारण अनादरणीय है। यदि वह वाक्य श्रौत भी है तो प्रकरणाध्ययन के अनुसार वहाँ के ही किसी कर्म में निवेशित कर लिया जायेगा।

अनारभ्यवाद पक्ष में भी पूर्वोक्त वाक्य का विरुद्धार्थक होने के कारण और अथर्व वेद के त्रयीबाह्य होने के कारण सम्पर्क परिहारार्हता प्रयुक्त नियन्त्रित विषय रूप में ही व्याख्या की जायेगी। यह भी जो कहा जाता है कि उच्चैः ऋक् से किया जाता है, उच्चैः साम

यदप्युच्यते उच्चैर्ऋचा क्रियते उच्चैस्साम्नोपांशु यजुषेतिवदथर्वधर्मोऽपि न कश्चिदाम्नात इति। तदप्यसारम्, मन्त्रधर्मो ह्ययमुपदिश्यते न वेदधर्मः। मन्त्रब्राह्मणसमुदायस्वभावा हि चत्वार इमे वेदग्रन्थाः। मन्त्रास्तु ते गद्यपद्यभेदाद् द्विधैव, गद्यबन्धो यजुरुच्यते पद्यबन्ध ऋगिति, गीतिनिबन्धनं तु भेदान्तरम् सामेति। अत एव जैमिनिना मन्त्रविभागं प्रस्तुत्य तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था, गीतिषु सामाख्या, शेषे यजुःशब्द। इत्थमेव तेषां त्रैविध्यमुपपादितम्। तेषामेव चायमुच्चैरादिर्धर्मो न वेदशब्दवाच्यानां मन्त्रब्राह्मणसमुदायात्मनां ग्रन्थानाम्। अथर्ववेदेऽपीयं त्रिविधैव मन्त्रजातिरिति तत्रापीदं धर्मजातमुपदिष्टं भवति। मन्त्रविभागकृत एवायं त्रयीव्यपदेश इति। तच्च सैषा त्रयी विद्या तपतीत्याद्यपि न विरोत्स्यते। एवं ऋग्यजुःसामसमुदायात्मकमन्त्रोपबन्धात् त्रय्यन्तर्गतश्च अथर्ववेदः पृथग्व्यवस्थितग्रन्थसन्दर्भस्वभावत्वाच्च भिन्न इति स्थितम्।

अन्ये पुनः ऋक्प्रचुरत्वात्प्रविरलयजुर्वाक्यत्वादगीयमानसाममन्त्रतावशाच्च ऋग्वेदमेवाथर्ववेदमाचक्षते। अयमपि पक्षोऽस्तु न कश्चिद्विरोधः।

यत्पुनरभिधीयते वेदशब्दस्त्रयाणामेव वाचको न चतुर्थस्येति। सोयमत्युत्कटो द्वेषः।

से भी और यजुः के द्वारा उच्चैः नहीं उपांशुभाव से, उसके समान आथर्वण कोई धर्म अर्थात् अथर्व के सम्बन्ध में नहीं कहा गया है, सो भी कथन असार है। क्योंकि यह तो मन्त्र धर्म कहा गया है, कोई वेद धर्म नहीं। ये चारों वेदग्रन्थ मन्त्र एवं ब्राह्मण स्वभाव ही हैं। और वे गद्य और पद्य के भेद से दो ही प्रकार के होते हैं। गद्यबन्ध यजुः कहा जाता है पद्यबन्ध कहा जाता है ऋक् और गान प्रयुक्त ही भेदान्तर साम नाम से कहा जाता है। इसीलिए जैमिनि के द्वारा मन्त्र भाग का प्रस्ताव करके यह कहा गया है कि उनकी ऋक् यह संज्ञा होती है, जिनकी पाद व्यवस्था अर्थ के आधार पर होती है। गीतों का नाम होता है साम। अवशिष्ट के लिए प्रयुक्त होता है 'यजुः' शब्द। इसी प्रकार उनका अर्थात् मन्त्र का त्रैविध्य उपपादित हुआ है। उन्ही का यह उच्चैः आदि अर्थात् ऊँचे स्वर से उच्चारण आदि धर्म बतलाया गया है। वेद शब्दवाच्य मन्त्र ब्राह्मण समुदायात्मक ग्रन्थ का नहीं। अथर्व वेद में भी यह तीन ही प्रकार की मन्त्रजाति प्राप्त है। इसलिए वहाँ भी यह धर्म समुदाय उपदिष्ट हो जाता है। 'त्रयी' नाम से यह व्यपदेश मन्त्र विभाग कृत ही है। ऐसा मानने पर 'तच्च सैषा त्रयी विद्या' इसके साथ भी विरोध नहीं होगा। इस प्रकार ऋक् यजुः और साम समुदायात्मक मन्त्रों के सम्बन्ध प्रयुक्त अथर्व वेद भी त्रयी के अन्तर्गत कहा जाता है और पृथक् भाव से ग्रन्थ सन्दर्भ के रूप में व्यवस्थित होने के कारण वह त्रयी से भिन्न भी कहा जाता है, यह स्थिर हुआ। कुछ लोग अथर्ववेद को भी ऋग्वेद के ही अन्दर इसलिए मानते हैं कि वह ऋक् प्रचुर है, यजुः वाक्य उसके अन्दर प्रविरल है, और उसमें साम मन्त्र का गान भी नहीं होता है। यह पाचवाँ पक्ष भी मान लिया जाय, इस में भी कोई विरोध नहीं है। फिर यह जो कहा जाता है कि वेद शब्द तीन का ही वाचक है वह चतुर्थ का अर्थात् अथर्ववेद का वाचक नहीं है। सो यह अथर्ववेद पर उत्कट अर्थात् महान् द्वेष है। क्योंकि

वृद्धव्यवहारो ह्यत्र प्रमाणम्। वेदोऽयं ब्राह्मणोऽयमिति तत्र तत्र वेदशब्दे उच्चारिते चत्वारोऽपि प्रतीयन्ते। वेदो मयाधीत इति वदन्तं पृच्छन्ति व्यवहर्त्तारः कतमस्त्वयाधीतो वेद इति। स आह अथर्ववेद इति। न तमेवमाक्षिपन्ति नासौ वेदो यस्त्वया पठित इति। सोपपदोऽथर्ववेदे वेदशब्द इति चेत् वेदान्तरेष्वपि तुल्यमेतत्। ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद इति। निरुपपदोऽपि तेषु वेदशब्दः प्रयुज्यते इति चेत् तदितरत्रापि समानमित्युक्तम्। चतुर्वेदाध्यायी भारद्वाज इति। सर्वथा तु सोपपद एवायुर्वेदादिषु वेदशब्द इति न तत्तुल्यकक्षताधिक्षेपक्षेत्रतामथर्ववेदो नेतव्यः। ब्रह्मयज्ञविधिश्च श्रौतश्चतुर्ष्वप्यविशिष्ट इत्युक्तम्। स्मार्तोऽपि तथाविध एवास्ति। यथाह याज्ञवल्क्यः –

मेदसा तर्पयेद्देवानथर्वाङ्गिरसः पठन्।
पितॄंश्च मधुसर्पिर्भ्यामन्वहं शक्तितो द्विजः ।।इति।

साम्प्रदायिकमध्यापनादियजनादि सर्वमभिन्नमेवेत्यलं प्रसङ्गेन।

तेन प्रमाणतायां वेदस्वाध्यायशब्दवाच्यत्वे पुरुषार्थसाधनविधावपि चत्वारः समा वेदाः।

अथर्व के वेदता में निश्चित रूप से वृद्धव्यवहार प्राप्त है। यह वेद है, यह ब्राह्मण है, इस प्रकार जगह-जगह पर वेद शब्द का उच्चारण करने पर चारों वेद समान भाव से प्रतीत होते हैं। वेद मेरे द्वारा अधीत हुआ है, इस प्रकार कहने वाले को सामाजिक गण इस प्रकार जब पूछते हैं कि कौन वेद तुम ने पढ़ा है? तो वह कहता है कि अथर्व वेद पढ़ा है।

ऐसा सुनकर कोई उस प्रकार खण्डन तो नहीं करता है कि तुम गलत कह रहे हो, जो तुमने पढ़ा है, वह वेद नहीं है। वहाँ वेद शब्द सोपपद प्रयुक्त होता है अर्थात् केवल प्रयुक्त नहीं होता है अपि तु 'अथर्व' शब्द जोड़कर प्रयुक्त होता है। यह यदि कहा जाय तो वह अन्यत्र भी तुल्य है। क्योंकि वहाँ भी 'ऋग्वेद' 'यजुर्वेद' और 'सामवेद' इस प्रकार उपपद युक्त रूप में ही वेद शब्द का प्रयोग होता है। यदि यह कहा जाय कि उन के लिए केवल वेद शब्द का भी प्रयोग होता पाया जाता है तो यह बात अन्यत्र अथर्ववेद के लिए भी समान है, यह कहा जा चुका है। इसी लिए ऐसा भी वाक्य प्रयोग होता पाया जाता है कि 'भारद्वाज चतुर्वेदाध्यायी हैं' इत्यादि। आयुर्वेद आदि के सम्बन्ध में सर्वथा सोपपद ही वेद शब्द प्रयुक्त होता है। इसलिए अथर्ववेद को आयुर्वेद आदि की तुल्यता के अधिक्षेप का स्थान नहीं बनाया जा सकता। श्रौत ब्रह्मयज्ञ का विधान चारों वेदों में समान रूप से पाया जा रहा है, यह कहा जा चुका है। स्मार्त व्यवहार भी वैसा ही पाया जा रहा है। जैसा कि याज्ञवल्क्य ने कहा है कि – अथर्वाङ्गिरस मन्त्र का पाठ करते हुए देवताओं को मेदस् से अर्थात् चर्बी देकर तृप्त करना चाहिए। और पितरों को अपनी शक्ति के अनुसार मधु और घी देकर तृप्त करना चाहिए। परम्परागत अध्ययन, अध्यापन और याजन आदि भी सब समान ही पाया जा रहा है। इसलिए अब अधिक व्यर्थ है इतना ही पर्याप्त है। इसलिए प्रामाण्य एवं वेद स्वाध्याय आदि शब्दों की वाच्यता तथा पुरुषार्थ साधन आदि सब के लिए चारों वेद समान हैं।

[अथर्ववेदस्य प्राथम्यम्]

यदि पुनरौत्तराधर्येण विना न परितुष्यते तदाथर्ववेद एव प्रथमः। ततः परमस्य मन्त्रस्य ब्रह्मणः प्रणवस्याभिव्यक्तेः। तथा च श्रुतिः, ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीदित्युपक्रम्याथर्वणं वेदमभ्यस्याश्नास्यदभ्यतपत्सन्तपत्तस्माच्छान्तात्सन्तप्तादोमिति मन एवोर्ध्वमक्षरमुदक्रामदित्यादि। तथा महाव्याहृतीनां शाखान्तरप्रसिद्धानामप्रसिद्धानां च बृहदित्यादीनां तत एवोत्थानम्। अथर्ववेदकृतोपनयनसंस्कारस्य वेदान्तराध्ययनमविरुद्धम्। अन्यवेदोपनीयमानस्य तु नाथर्वणोपनयनसंस्कारमप्रापितस्याथर्व वेदाध्ययनेऽधिकारः। तदुक्तम्, भृग्वङ्गिरोविदा संस्कृतोऽन्यान् वेदानधीयीत नान्यत्र संस्कृतो भृग्वङ्गिरसोऽधीयीतेति। त्रय्येकशरणैरपि चैतदवश्याश्रयणीयम्, अथर्ववेदविहितं स्वकर्मभ्रंशे प्रायश्चित्तमाचरद्भिरित्यथर्ववेद एव ज्यायान्।

यत्तु मानवं वाक्यमुदाहृतं षट्त्रिंशदाब्दिकं तत् त्रिवेदाध्ययनविषयं वैकल्पिकं 'वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रम'मिति एकस्मिन् वेदे द्वादशवर्षाणि व्रतं

अथर्व वेद की प्राथमिकता।

यदि पुनः ऊँच नीच भाव के बिना परितोष नहीं है तो अथर्ववेद ही प्रथम है। क्योंकि उसके अनन्तर परम मन्त्र प्रणव ब्रह्म की अभिव्यक्ति हुई। जिस प्रकार श्रुति पायी जाती है– 'ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत्' अर्थात् यह सारा का सारा संसार पहले ब्रह्म ही था– इस प्रकार उपक्रम करके यह कहा गया है कि 'आथर्वणं वेदमभ्यस्याश्नास्यदभ्यतपत् सन्तपत् तस्माच्छान्तात्सन्तप्तादोमिति मन एवोर्ध्वमक्षरमुदक्रामत्' अर्थात् आथर्वण वेद का अभ्यास करके अशन की इच्छा रखते हुए अभितप्त किया सन्तप्त किया। शान्त एवं सन्तप्त उससे ओं यह मन में ही ऊर्ध्व अक्षर निकल पड़ा इत्यादि। तथा शाखान्तर प्रसिद्ध महा व्याहृतियों का एवं अप्रसिद्ध 'बृहत्' इत्यादि का भी उत्थान उससे ही हुआ। अथर्ववेद के द्वारा उपनयन संस्कार प्राप्त माणवक का वेदान्तराध्ययन विरुद्ध नहीं माना गया है। किन्तु अन्य वेद के द्वारा कृतोपनीतसंस्कार होने पर भी आथर्वण संस्कार हुए बिना अथर्ववेद के अध्ययन में अधिकार नहीं माना गया है। जैसा कि कहा गया है–'भृग्वङ्गिरोविदा संस्कृतोऽन्यान् वेदानधीयीत नान्यत्र संस्कृतो भृग्वङ्गिरसोऽधीयीते'ति। अर्थात् भृगु और अङ्गिरा को फलतः अथर्ववेद को जानने वाले व्यक्ति के द्वारा संस्कृत व्यक्ति भृग्वङ्गिरा का अर्थात् अथर्ववेद का अध्ययन करे। अन्यत्र संस्कृत व्यक्ति भृग्वङ्गिराओं का अर्थात् अथर्व वेद का अध्ययन नहीं करे। अथर्ववेद विहित यह स्वकर्मभ्रंश होने पर प्रायश्चित्त का आचरणशील एकमात्र त्रयी को ही शरण बनाने वाले के लिए भी यह विहित अथर्ववेद अवश्य आश्रयणीय है। इसलिए अथर्ववेद ही श्रेष्ठ है। मनु का जो वाक्य उदाहृत हुआ है – छत्तिस वर्षों से सम्बन्ध रखने वाला वह वैकल्पिक त्रिवेदाध्ययन विषयक है 'वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्' यह एक वेद के लिए बारह वर्षों का व्रत आश्रयणीय है, दो वेदों के लिए

द्वयोश्चतुर्विंशतिः, त्रयाणां षट्त्रिंशदिति। यस्तु चतुरो वेदानधीते तस्याष्टचत्वारिंशद्वर्षं वेदब्रह्मचर्यमुपासीतेति स्मृत्यन्तरमस्ति, न च तदार्यैर्नादृतम्। त्रिवेदाध्यायिनामेव प्रतिवेदं षोडशवर्षाणि व्रतं चरेदिति व्याख्यानमसङ्गतम्, उपक्रमविरोधाद् अनुपयोगाच्च। तेन वेदान्तराध्ययनकृत एवायं विकल्पविधिर्न द्वादशषोडशवर्षापेक्ष इत्यनादरोऽप्यस्यां स्मृतौ कृष्णकेशोऽग्नीनादधीतेति श्रुतिविरोधकृतो नाथर्ववेदाध्ययननिषेधगर्भ इति। त्रैवेदिकव्रतब्रह्मचर्यस्मृतिरपि चेयम् अथर्ववेदाध्ययनपर्युदासमेव विषयीकरोति, न च वेदान्तराध्ययननिषेधमिति। अत्रापि न विशेषहेतुरस्ति, त्रिषु वेदेष्विदं व्रतं न पुनस्त्रिष्वेव त्रिष्विति नियामकं वचनमस्ति।

यदपि श्राद्धप्रकरणे यत्नेन भोजयेदिति त्रिवेदपारगपरिकीर्त्तनं तद्वेदपारगमिति शाखान्तरगमिति समाप्तिगमिति विशेषणपदपर्यालोचनया ऋग्वेदाद्येकवेदाध्यायिनाम-नधिकारमेव श्राद्धे सूचयति। अथर्वणस्तु अथर्वशिरोऽध्ययनमात्रलब्धपङ्क्तिपावनभाव-स्यैकदेशपाठिनोऽपि तत्राधिकार उपपद्यते। दर्शितं चाथर्वशिरोऽध्ययनमात्रादपि पङ्क्तिपावनत्वं, पङ्क्तिपावनश्च श्राद्धभोजनेऽनधिकृत इति विप्रतिषिद्धम्।

चौबीस वर्षों का व्रत और तीन वेदों के लिए छत्तिसवर्षका व्रत। और जो चारों वेदों का अध्ययन करेगा वह अड़तालिस वर्षों का ब्रह्मचर्य व्रत करेगा– यह भी स्मृत्यन्तर में है, वह भी श्रेष्ठ जनों के द्वारा अनादृत नहीं है। त्रिवेदाध्यायी ही प्रत्येक वेद के लिए सोलह सोलह वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत रखे– यह व्याख्यान असङ्गत है। क्योंकि उपक्रम विरोध होता है और उपयोग भी नहीं है। इसलिए यह वेदान्तर का भी अध्ययनकारी व्यक्ति के लिए ही विकल्प विधि है बारह और सोलह वर्ष की अपेक्षा करने वाला विकल्प विधि नहीं है। इसलिए इस स्मृति वाक्य पर अनादर भी 'कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत' अर्थात् केशकाला रहते हुए ही अग्नि का आधान करे– इस श्रुति वाक्य के साथ विरोध प्राप्त होने के कारण ही ज्ञातव्य है– अथर्व वेद के अध्ययन के निषेधाभिप्राय से नहीं। तीन वेदों के लिए ब्रह्मचर्य की स्मृति भी अथर्ववेद के अध्ययन के पर्युदास को ही विषय करता है, वेदान्तर के अर्थात् अथर्ववेद के अध्ययन के निषेध को विषय नहीं करता।

यहाँ भी विशेष हेतु नहीं है कि तीन वेदों के लिए यह व्रत विधान है न कि तीन ही वेदों के लिए। क्योंकि ऐसा कोई विधायक वचन प्राप्त नहीं है। श्राद्ध प्रकरण में जो यत्नपूर्वक भोजन कराना चाहिए इस प्रकार त्रिवेद पारग का कीर्तन किया गया है, वह 'वेदपारगं' 'शाखान्तगं' और 'समाप्तिगं' इन विशेषणों की पर्यालोचना से ऋग्वेद आदि के अन्तर्गत श्राद्ध में केवल किसी एकवेदाध्यायी के अनधिकार की ही सूचना देता है। अथर्ववेदी तो यदि अथर्वशिरस् मात्र के अध्ययन से पंक्तिपावनता को प्राप्त कर लिया हो तो उसका अधिकार उपपन्न होता है। अथर्वशिरस् मात्र के अध्ययन से पंक्तिपावनत्व दिखलाया गया है। पंक्तिपावन हो और श्राद्धभोजन का अधिकारी न हो यह विरुद्ध है

यत्तु ज्येष्ठसामगस्त्रिमधुस्त्रिसुपर्णिक इति वेदान्तरैकदेशाध्यायिनामपि श्राद्धभोजनाभ्यनुज्ञानं तदनुकल्परूपमिव भाति, प्रथमकल्पेन समग्रवेदाध्ययनोपदेशादिति। तस्मान्नाथर्वनिषेधार्थमेतद्वाक्यमिति। तदेवमवस्थिते यद्वार्त्तिककारेण भयादिव द्वेषादिव मोहादिव सानुकम्पमिव वेदमुच्यते यदि यज्ञोपयोगित्वमित्यादि तदहृदयङ्गमम्। अथर्ववेदे पूर्वोत्तरब्राह्मणे विस्पष्टमिष्टिपश्वेकाकाहाहीनसत्राणामुपदेशात्। वेदान्तरेषु तच्चोदनाभावात् किमथर्ववेदे तदुपदेशेनेति चेत् सुभाषितमिदम्। एवमपि हि वक्तुं शक्यम् अथर्ववेदे तच्चोदनाया दर्शनात् किं तदुपदेशेनेति। न च जाने कस्यैष पर्यनुयोगः किं नित्यस्य वेदस्य किं वा तत्प्रणेतुरीश्वरस्येति। द्वावपि हि तावपर्यनुयोज्यावित्युक्तम्। अर्थान्तरशान्तिपुष्ट्यभिचारादि वेदान्तरेष्वपि न, न दृश्यते, श्येनो हि सामवेद उत्पन्नः अद्‌भुतशान्त्यादयश्च यजुर्वेद इति तदपि समानम्। एकब्रह्मर्त्विगाश्रिता इत्येतदपि न सत्यम्। यत एवं यत्र पठ्यते द्वे यज्ञवृत्ती भवतो वैहारिकी च पाकयज्ञवृत्तिश्चेति। तत्र वैहारिकी नामानेकर्त्विगाश्रितानामेकक्रियाणामुपदेशः। श्रुतावेकब्रह्मर्त्विगाश्रितास्तु

अर्थात् अस्वीकरणीय है। 'ज्येष्ठ सामगः। त्रिमधुस्त्रिसुपर्णिः' इस काव्य के द्वारा जो वेदान्तर के एक देशज्ञ को भी श्राद्ध में भोजन कराने की अनुज्ञा दी गयी है सो अनुकल्प जैसा प्रतीत होता है। क्योंकि प्रथम कल्प रूप में समग्रवेदाध्ययन का उपदेश हुआ है। इसलिए अथर्व वेदी के निषेधार्थ वह वाक्य कहा गया है। इस लिए इस प्रकार स्थिर होने पर वार्तिक कार के द्वारा जो मानो भय से, मानो द्वेष से, मानो मोह के कारण अथवा मानो अनुकम्पा प्रयुक्त 'यदि यज्ञोपयोगित्वं' इत्यादि कहा है सो हृदयङ्गम नहीं है। क्योंकि अथर्ववेद के अन्दर पूर्वोत्तर ब्राह्मण में स्पष्ट रूप में इष्टि, पशु, एकाह और अहीन सत्रों का उपदेश हुआ है। वेदान्तर में उनका विधान न होने के कारण अथर्ववेद में उपदेश क्यों? ऐसा यदि कहा जाय तो यह कथन बहुत सुन्दर होगा। ऐसा भी तो आक्षेप उपस्थित किया जा सकता है कि अथर्ववेद में जब कि उनका विधान पाया ही जाता है तब अन्यत्र उसके विधान की क्या आवश्यकता? तो मैं यह जान नहीं पा रहा हूँ कि यह आक्षेप किस पर किया जायेगा? क्या नित्य वेद पर या वेद के प्रणेता ईश्वर पर? वे दोनों ही पर्यनुयोग के अर्थात् आक्षेप के पात्र नहीं बनाये जा सकते– यह कहा जा चुका है। अर्थान्तिर भूत शान्ति, पुष्टि एवं अभिचार आदि वेदान्तर में भी नहीं देखे जाते हैं ऐसी बात तो नहीं है। श्येन याग साम वेद में विहित हुआ है अद्‌भुत शान्ति आदि यजुर्वेद में इसलिए वह भी समान है। एक ब्रह्म ऋत्विगाश्रित हैं यह भी सत्य नहीं। क्योंकि इस प्रकार जहाँ पढ़ा जाता है कि यज्ञवृत्ति दो हैं वैहारिकी ओर पाकवृत्ति। उनके अन्दर वैहारिकी का अभिप्रेत है अनेक ऋत्विकों से आश्रित एक क्रिया। ऐसी क्रिया का उपदेश श्रुतियों मे है और एक ब्रह्मा ऋत्विक आदि के द्वारा आश्रित शान्ति आदि क्रियाएँ स्मृति में उपदिष्ट हैं। यह कथन परिस्थिति न जानने वालों का है। त्रयी ही आत्मीय विषयक होती है,

शान्त्यादिक्रियाः। स्मृतावित्यभूमिज्ञोक्तिरेषा त्रय्येवात्मीयगोचरा इति। एतदपि परममाध्यस्थ्यम्। न ह्यात्मीयः परकीयो वा कश्चिदस्ति वेदार्थः सर्वशाखाप्रत्ययत्वादेकस्य कर्मणः।

[वेदचतुष्टयसमानत्वोपसंहारः]

तस्मात्समानयोगक्षेमत्वात्सर्ववेदानामेकस्य ततः पृथक् करणं वेदनिन्दाप्रायश्चित्त-निर्भयधियामेव चेतसि परिस्फुरति न साधूनामित्युपरम्यते।

इति तुल्यप्रभावर्द्धिवर्धमानोचितस्तवाः।
विविधाभिमतस्फीतफलसंपादनोद्यताः।।
चत्वारोऽपि पराक्षेपपरिहारस्थिरस्थितिम्।
भजन्ति वेदाः प्रामाण्यलक्ष्मीं हरिभुजा इव।।
चतुःस्कन्धोपेतः प्रथितपृथगर्थैरवयवैः।
कृतान्योन्यश्लेषैरुपचितवपुर्वेदविटपः।।
प्रतिस्कन्धं शाखाः फलकुसुमसंदर्भसुभगाः।
प्रकाशन्ते तस्य द्विजमुखनिपीतोत्तमरसाः।।

यह भी परम माध्यस्थ्य है। क्योंकि वेद का न तो कोई आत्मीय अर्थ है और न परकीय। क्योंकि एक कर्म भी सर्व शाखा प्रत्यय होता है।

चारों वेद की समानता का उपसंहार।

इसलिए सारे वेदों की समान योगक्षेमता के कारण एक को उससे बाहर निकाल फेकना उन्ही लोगों के मन में स्फुरित हो सकता है, जो लोग वेद की निन्दा करने में हिचकिचाते नहीं हैं। वैसा करने पर प्रायश्चित का जिनके मन भय नहीं होता है। साधुओं के मन में वह स्फुरित होता नहीं, इसलिए उपराम लिया जाता है। इसलिए चारों वेद तुल्य प्रभाव एवं ऋद्धि के कारण 'वर्धमानोचितस्तव' हैं अर्थात् उनकी उचित स्तुतियाँ बढ़ती ही जा रही हैं। चारों वेद विविध प्रकार के अभिमत बड़े फलों के सम्पादन में उद्यत रहते हैं। और चारों वेद परकृत आक्षेप के परिहार में स्थिर स्थिति को धारण करने वाले हैं। इसलिये वे भगवान् विष्णु के चार भुजों के समान प्रामाण्य लक्ष्मी का भजन अर्थात् स्वीकार कर रहे हैं। यह वेद विटप चार स्कन्धों अर्थात् प्रभेदों से युक्त है और सुख्यात विभिन्न प्रयोजन सम्पादक उन अवयवो अर्थात् शाखाओं से, जो कि आपस में संश्लेष को कर रहे हैं अर्थात् आपस में मिल रहे हैं, उनसे उपचित वपु अर्थात् परिपुष्ट शरीर है। द्विजों के मुखों द्वारा निपीत उत्तम रस वाली फल और पुष्पों के समुदाय से भरी होने के कारण सुभग अपनी उन शाखाओं से, जो कि इसके प्रत्येक स्कन्ध पर आश्रित हैं राजित अर्थात् सुशोभित हो रहा है।

[तन्त्रागमादिप्रामाण्यविचारः]

आह— किमेतदित्थं प्रामाण्यं वेदानामेव साध्यते।
तन्त्रागमान्तराणां वा सर्वेषामियमेव दिक्।।

किं चातः—

आद्ये पक्षे परेष्वेवं ब्रुवाणेषु किमुत्तरम्।
उत्तरत्र तु मिथ्या स्युः सर्वेऽन्योन्यविरोधिनः।।

कानि पुनरागमान्तराणि चेतसि विधायैव वत्सः पृच्छति, पुराणेतिहासधर्मशास्त्राणि वा शैवपाशुपतपञ्चरात्रबौद्धार्हतप्रभृतीनि वा। तत्र शैवादीनि तावन्निरूपयिष्यामः। मन्वादिप्रणीतानि धर्मशास्त्राणि वेदवत्तदर्थानुप्रविष्टविशिष्टकर्मोपदेशीनि प्रमाणमेव कस्तेषु विचारः। तेषां तु प्रमाणत्वं वेदमूलत्वेनैव केचिदाचक्षते। तथा हि न तावन्मन्वादिदेशना भ्रान्तिमूलाः संभाव्यन्ते बाधकाभावात्। अद्य यावदपरिम्लानादरैर्वेदविद्भिस्तदर्थानुष्ठानात्। नाप्यनुभवमूलाः प्रत्यक्षस्य त्रिकालानवच्छिन्नकार्यरूपधर्मपरिच्छेददशासामर्थ्यासंभवात्।

तन्त्र आगम आदि के प्रामाण्य का विचार।

इस पर कोई यह पूछ बैठता है कि इस प्रकार यह प्राम्राण्य क्या वेदों में ही सिद्ध किया जाता है? अथवा तन्त्र तथा आगमान्तर सब के लिए यही पद्धति है? अर्थात् उन सब को भी प्रमाण मानना है? तो उस पर पूछना यह है कि इससे फिर क्या? उसका उत्तर उस ओर से यह है कि प्रथम पक्ष में अर्थात् वेद के ही प्रामाण्य पक्ष में विरोधियों के द्वारा पूछे जाने पर अर्थात् ऐसा क्यों इस प्रकार पूछे जाने पर क्या उत्तर होगा? अर्थात् तन्त्र और आगमान्तर को भी क्यों न प्रमाण माना जायेगा? और परवर्त्ती पक्ष में अर्थात् सब को प्रमाण मान लेने पर सभी परस्पर विरोध प्रयुक्त मिथ्या हो उठेंगे। फलतः वेद भी अप्रमाण हो उठेगा। अब इस पर कहा जा रहा है – बोलो बच्चे! आगमान्तर पद से किन्हे अभिप्रेत रखकर तुम इस प्रकार पूछते हो? क्या पुराण, इतिहास और धर्मशास्त्र को अभिप्राय का विषय बनाकर या शैव, पाञ्चरात्र, बौद्ध और जैन प्रभृति को? उनके अन्दर पहले शैव आदि का निरूपण उपस्थित करने जा रहा हूँ। मनु आदि के द्वारा प्रणीत धर्मशास्त्र तो वेद के समान वेदगत ही विषयों के अन्दर विशिष्ट कर्मों का उपदेश रहे हैं। अतः प्रमाणभूत ही हैं, उनके सम्बन्ध में भला क्या विचार करना है? उनके प्रामाण्य को तो कुछ लोग वेदमूलक होने के कारण ही बतलाते हैं। जैसा कि – मनु आदि के उपदेश भ्रान्ति मूलक हैं– ऐसी सम्भावना नहीं की जा सकती। क्योंकि बाधक का अभाव है। क्योंकि आज तक उस पर अपरिम्लान भाव से आदर शील वेदविदों के द्वारा उनके प्रतिपाद्य अर्थों का अनुष्ठान किया जाता-आ रहा है। वे उनके उपदेश अनुभवभूलक भी नहीं कहे जा सकते हैं। क्योंकि प्रत्यक्ष में यह सामर्थ्य नहीं है कि वह तीनों कालों की सीमा से रहित क्रियात्मक धर्म में ज्ञाततात्मक दशा ला पाये। उन उपदेशों को उपदेशान्तर मूलक भी नहीं कहा जा

न च पुरुषान्तरोपदेशमूलाः पुरुषान्तरस्यापि तदवगमे प्रमाणाभावात्। भावे वा मनुना किमपराद्धम्। असति हि मूलप्रमाणे पुरुषवचनपरम्परायामेव कल्प्यमानायामन्धपरम्परा स्मरणतुल्यत्वं दुर्निवारम्। न च विप्रलम्भका एव भवन्तो मन्वादय एवमुपदिशेयुरिति युक्ता कल्पना, बाधकाभावात् साधुजनपरिग्रहाच्चेत्युक्तम्। तस्मात् पारिशेष्याद् वेदाख्य-कारणमूला एव भवितुमर्हन्ति मन्वादिदेशनाः। तद्ध्यनुगुणं समर्थं च कारणमिति। तदाह भट्टः–

भ्रान्तेरनुभवाद्वापि पुंवाक्याद्विप्रलम्भकात्।
दृष्टानुगुणसामर्थ्याच्चोदनैव लघीयसी।। इति।

तत्र केचित्परिदृश्यमानमन्त्रार्थवादबलोन्नीतविधिमूलत्वं मन्यन्ते। अन्ये विप्रकीर्णशाखामूलत्वम्।

अपरे पुनरुत्सन्नशाखामूलत्वमिति। अनेन च विशेषविवरणेन न नः प्रयोजनं सर्वथा यथोपपत्ति वेद एव तत्र मूलं प्रकल्प्यतां न मूलान्तरम् अप्रमाणकत्वात्। वेदमूलत्वपक्षेऽपि चेयमखिलजगद्विदिता स्मृतिसमाख्यानुगृहीता भविष्यति। प्रत्यक्षमूलत्वे

सकता। क्योंकि उसके अवगम में पुरुषान्तर को भी प्रमाण मिलेगा नहीं। और यदि उन पुरुषान्तर को प्रमाण मिले और सत्ययुक्त उसे उपदेष्टा माना जाय तो मनु ने क्या अपराध किया कि उन्हें स्वतःउपदेष्टा न माना जाय? मूल प्रमाण के न होने पर पुरुष वचन परम्परा का ही कल्पना होने पर अन्धपरम्परा स्मरण तुल्यता अनिवार्य होगी। मनु आदि वञ्चक होते हुए ही इस प्रकार के उपदेशों के प्रदाता हुये थे– यह कल्पना उचित नहीं है। क्योंकि बाधक कोई पाया नहीं जा रहा है। और अच्छे लोग मनु आदि के उपदेशों को मानकर उस पर चलते आ रहे हैं – यह कहा जा चुका है। इसलिए परिशेषवश मनु आदि के उपदेश वेदात्मक कारण मूलक ही हो सकते हैं। क्योंकि वैसे उपदेश के लिए अनुकूल और क्षम कारण वही हो सकता है। इसीलिए भट्ट ने कहा है – कि भ्रान्ति, अनुभव, वञ्चक पुरुष वाक्य की अपेक्षा से ज्ञात आनुकूल्य तथा सामर्थ्यवश वेद को ही मनु आदि स्मृति का मूल मानने में कल्पना लाघव है। ऐसा होने पर कुछ लोग वेद में देखे जाने वाले मन्त्र एवं अर्थवाद के बल पर उन्नीत अर्थात् कल्पित होने वाले विधिवाक्यमूलक प्रामाण्य मनु आदि की स्मृतियों में मानते हैं। और अन्य कुछ लोग मनुस्मृति आदि गत प्रामाण्य को विप्रकीर्ण अर्थात् बिखरी हुई वैदिक शाखा मूलक मानते हैं।

तदतिरिक्त अन्य कुछ लोग उसे उत्सन्न अर्थात् नष्ट वैदिक शाखा मूलक मानते हैं। इस विशेष विवरण से हम लोगों को कोई विशेष प्रयोजन नहीं है। सर्वथा युक्ति के अनुसार वेद को ही उसके प्रतिमूल माना जाय अन्य को नहीं। क्योंकि वह अन्य अप्रमाणक होगा। वेदमूलत्व पक्ष में भी यह अखिल जगद्विदित श्रुति संज्ञा भी उक्त मान्यता के प्रति अनुकूल बैठती है। यदि मनु आदि की स्मृतियों को भी अनुभव मूलक अर्थात् प्रत्यक्ष मूलक माना जाय तो 'स्मृति' इस नाम का भला क्या अर्थ रह जायेगा?

हि वेदवदत्रापि कः स्मृतिशब्दार्थः। किं च वेदमूलत्वे सति स्मृतेः श्रुतिविरोधे सति तदतुल्यकक्षत्वाद्बाध्यत्वं सुवचं भवति क्लृप्तमेकत्र मूलमितरत्र कल्प्यम्। यावदेव भवान् स्मृतेः श्रुतिं कल्पयितुं व्यवस्यति तावदेतद्विरोधिनी प्रत्यक्षश्रुता श्रुतिरवतरति हृदयपथमिति, कथं तदा मूलकल्पनायै स्मृतिः प्रभवेत्। तदाह–

सोऽयमाभाणको लोके यदश्वेन हृतं पुरा।
तत्पश्चाद्गर्दभः प्राप्तुं केनोपायेन शक्नुयात्।। इति।

अपर आह, विकल्प एवात्र युक्तः किल द्विविधो वेदः श्रूयमाणोऽनुमीयमानश्च। श्रूयमाणश्च श्रुतिरित्युच्यते अनुमीयमानश्च स्मृतिरिति। द्वावपि चैतावनादी इति किं केन बाध्यते व्यक्ताव्यक्तो हि वेद एवासौ। अत एव न मन्त्रार्थवादादिमूलकत्वकल्पनं युक्तं स्मर्यमाणस्य वेदस्यानादित्वात्।

नन्वेवं वेदमूलत्वेन प्रामाण्ये वर्ण्यमाने बाह्यस्मृतीनामपि प्रामाण्यं वदन्तः प्रवादुकाः कथं प्रतिवक्तव्याः। उच्यते प्रत्युक्ता एव ते तपस्विनः। उक्तं हि भगवता जैमिनिना 'अपि वा कर्तृसामान्यात्प्रमाणमनुमानं स्या'दिति। कर्तृसामान्यादिति कोऽर्थः एकाधिकारावगमादिति। य एव वेदार्थानुष्ठानेऽधिकृताः कर्तारस्त एव स्मृत्यर्थानुष्ठाने।

और यह भी कि उन्हें वेद मूलक मानने पर श्रुति विरोध की प्राप्ति पर उसकी अतुल्य कक्षता के कारण बाध्यत्व भी सुवच हो पायेगा। क्योंकि एक जगह मूलक्लृप्त रहेगा और दूसरी जगह वह कल्पनीय होगा। जब तक आप स्मृति के मूल की कल्पना करने का विचार करने जायेंगे, तब तक उसका विरोध करने वाली प्रत्यक्ष श्रुति हृदय पथ पर उतर आयेगी। तब कैसे स्मृति मूल कल्पना में समर्थ होगी? यही कहते हैं – कि यह कहावत अर्थात् लौकिक कथन है कि 'जिसे घोड़े ने पहले ही ले लिया उसे गदहा भला क्या उपाय करके पा सकता है'? अन्य व्यक्ति का यहाँ कहना यह है कि यहाँ विकल्प ही उचित है। श्रूयमाण अनुमीयमान के रूप में अवश्य ही वेद द्विविध है। श्रूयमाण वह कहलाता है जो वेद श्रुति और अनुमीयमान कहलाता है 'स्मृति'। वे दोनों ही हैं अनादि, अतः कौन किसे बाधा देगा?

व्यक्त हो या अव्यक्त दोनों वेद ही तो हैं। इसलिए स्मृति में मन्त्र एवं अर्थवाद मूलकता की कल्पना युक्त नहीं, क्योंकि दोनों अनादि ही हैं। अब इस पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस प्रकार मनु आदि स्मृति को वेदमूलक होने के कारण प्रमाण मानने पर बाहरी स्मृतियों को प्रमाण कहने वाले प्रावादुक गण किस प्रकार प्रतिवक्तव्य होंगे? तो इस का उत्तर यह है कि वे बेचारे तपस्वी तो प्रत्युक्त ही हैं। अर्थात् वे तो निरस्त ही हैं। कहा ही गया है, भगवान् जैमिनि के द्वारा कि 'क्या कर्त्ता की समानता प्रयुक्त अनुमान प्रमाण होगा? यदि हाँ तो कर्त्ता की समानता इसका क्या अर्थ है? क्या यह कि एकाधिकार का अवगम? जो ही लोग वैदिक क्रियाओं के अनुष्ठान में अधिकृत होते हैं, वे

आचमनादिस्मार्तपदार्थसंवलितवेदिस्तरणादिवैदिकपदार्थप्रयोगदर्शनात्। न त्वेवमधिकारावगमो बाह्यस्मृतिषु विद्यते। तस्मान्मन्वादिस्मृतय एव प्रमाणं न बाह्यस्मृतयः।

ननु मन्वादिस्मृतयोऽपि वेदमूलत्वात् प्रमाणं नान्यत इति। अत्रोच्यते, तदेतद्वेदमूलतया प्रामाण्यं योगिप्रत्यक्षं धर्मग्राहकममृष्यमाणाः किलाचक्षते भवन्तः। एतच्च न युक्तम्, यथा हि भगवानीश्वरः सर्वस्य कर्त्ता सर्वस्येशिता सर्वदर्शी सर्वानुकम्पी च वेदानां प्रणेता समर्थितः, तथा योगिप्रत्यक्षमपि धर्मग्रहणे निपुणमस्मदादिप्रत्यक्षविलक्षणं प्रत्यक्षलक्षणं समर्थितमेव। तस्मात्तन्मूला एव मन्वादिदेशना भवन्तु।

यत्तु त्रिकालानवच्छिन्नः कथं प्रत्यक्षगम्यो धर्मः स्यादिति चोदनैव तत्र प्रमाणमुच्यते। प्रतिविहितं तदीश्वरप्रत्यक्षं यथाग्निहोत्रादेर्धर्मत्वस्य ग्राहकमेवमष्टकादियागे तस्य ग्राहकं मन्वादिप्रत्यक्षं भविष्यतीति। किमत्र त्रिकालानवच्छेदेन तदवच्छेदेन वा कृत्यम्। यद्येवमष्टकादिकर्मणां धर्मत्वग्राहित्वादसर्वज्ञ ईश्वरः स्यात्। ज्ञात्वा वानुपदिशन्नकारुणिको

स्मृति वर्णित क्रियाओं के अनुष्ठान में भी? क्योंकि आचमन आदि स्मृति वर्णित कृपा के अनुष्ठान से सम्बन्धित रूप में वेदिस्तरण आदि क्रिया का प्रयोग देखा जाता है। इस प्रकार के अधिकार का अवगम वेद बाह्य स्मृति वर्णित क्रिया में नहीं है। इसलिए मनु आदि की स्मृतियाँ ही प्रमाण है वेद बाह्य स्मृतियाँ नहीं। इस पर यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि तब तो मनु आदि स्मृतियों को भी केवल वेदमूलक होने के कारण ही प्रमाण माना गया और तरह से नहीं अर्थात् तब मनु आदि स्मृतियों का प्रामाण्य अल्प सम्मत ही होगा? तो इसका उत्तर यह है कि यह केवल वेद मूलक रूप में मनु आदि स्मृतियों में प्रामाण्य वे लोग ही कहते हैं, जो लोग योगि प्रत्यक्ष को धर्म ग्राहक नहीं मानते, परन्तु सो उचित नहीं। जिस प्रकार भगवान् ईश्वर सब का कर्ता सब का ईशिता अर्थात् शासक सब को प्रत्यक्षतः देखने वाले सब पर अनुकम्पा रखने वाले वेद को प्रणेता समर्थित हुये हैं। उसी प्रकार वह योगि प्रत्यक्ष भी प्रत्यक्ष विवेचन के अवसर पर समर्पित ही हुआ है, जो कि धर्म के विषयीकरण में निपुण तथा हम लोगों के प्रत्यक्ष से विलक्षण होता है। इसलिए मनु आदि के उपदेश तन्मूलक ही हों।

यह जो कहा गया है कि त्रिकालानवच्छिन्न धर्म कैसे प्रत्यक्षगम्य हो सकेगा, इसलिए वेद ही केवल धर्म के सम्बन्ध में प्रमाण हो सकता है। ईश्वर प्रत्यक्ष का खण्डन किया ही जा चुका है कि जिस प्रकार अग्निहोत्र आदि की धर्मता का ग्राहक वह माना जाता है। ईश्वरवादी के मत में उस प्रकार मनु आदि का प्रत्यक्ष ही अष्टका आदि याग में धर्मता का ग्राहक हो जायेगा। ऐसी परिस्थिति में धर्म की त्रिकालानवच्छिन्नता या त्रिकालावच्छिन्नता से क्या प्रयोजन? और यदि ऐसा है तब अष्टका आदि की धर्मता का अग्राहक होने के कारण ईश्वर असर्वज्ञ हो उठेंगे। या जानते हुए भी उपदेश न देते हुए अकारुणिक माने जाने लगेंगे।

भवेत्। नैष दोषः, सर्वं जानात्येव भगवान् किञ्चित्स्वयमुपदिशति किञ्चित्परानुपदेशयति। ते हि तस्यानुग्राह्या भगवतस्तेषां च तदनुग्रहकृतैव तथाविधज्ञानप्राप्तिः। मन्वादीनां प्रत्यक्षो धर्म इति वेदेऽपि पठ्यते। साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। ते परेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्राहुरिति वेदेऽपि पठ्यते।

नन्वेवं प्रत्यक्षमूलत्वाविशेषात् श्रुतिस्मृत्योर्विरोधे विकल्पः प्राप्नोति। बृहद्रथन्तरविध्योरिव न बाध्यबाधकभावः। न हीश्वरप्रत्यक्षस्य योगिप्रत्यक्षस्य च प्रामाण्ये कश्चिद्विशेषः। नैसर्गिकाहार्यत्वकृतस्तु भविष्यति किं तेन। उच्यते, भवतु विकल्पः को दोषः? वेदमूलत्ववादिभिरपि कश्चिद्विकल्पो व्याख्यात एव। विषयविभागेन वा विकल्पो व्याख्यास्यते। न च श्रुतिस्मृतिविरोधोदाहरणं किञ्चिदस्तीति स्वाध्यायाभियुक्ताः। तस्मादाप्तप्रत्यक्षमूलत्वेन वेदानामिव धर्मशास्त्राणां हि पञ्चमं वेदमाहुः। उक्तं च—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
विभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यतीति।।

तो यह दोष नही दिया जा सकता। भगवान् सब कुछ जानते ही हैं। कुछ उपदेश तो वे स्वयं देते हैं और कुछ और के द्वारा दिलाते हैं। वे दूसरे उपदेशक उन भगवान् के अनुग्राह्य होते हैं अर्थात् अनुग्रह के पात्र होते हैं। उन दूसरे उपदेशकों को बैसे ज्ञान की प्राप्ति भगवान् के उन पर होने वाले अनुग्रह प्रयुक्त नहीं होती है। यह वेद में भी पठित है कि मनु आदि को धर्म का प्रत्यक्ष होता है। ऋषिगण साक्षात्कृतधर्मा होते थे। वे दूसरे साधारण जनों के द्वारा प्रत्यक्ष न किये जा सकने वाले धर्म का उपदेश करने के कारण मन्त्रों को कहा अर्थात् मन्त्रों का वर्णन किया, यह वेद में भी कहा गया है। इस पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस प्रकार मन्वादि स्मृतियों की भी समान रूप से प्रत्यक्षमूलकता होने पर श्रुति और स्मृति के बीच पारस्परिक विरोध उपस्थित होने पर विकल्प मान्य हो उठेगा। क्योंकि वृहद्रथन्तर श्रुतियों के समान बाध्यबाधकभाव नहीं होगा। ईश्वर के प्रत्यक्ष और योगी के प्रत्यक्ष के प्रामाण्य में कोई विशेष नहीं होगा। हाँ, नैसर्गिकत्व और आहार्यत्व कृत मात्र ही वैलक्षण्य होगा। परन्तु उससे क्या?

इसके उत्तर में कहा जा रहा है। हो जाये विकल्प, क्या क्षति है? वेदमूलकता वादी के द्वारा भी कोई विकल्प व्याख्यात होता ही है अर्थात् स्वीकार ही किया जाता है। अथवा विषय विभाग को लेकर विकल्प का व्याख्यान किया जायेगा। श्रुति और स्मृति के बीच विरोध का कोई उदाहरण नहीं है ऐसा प्रामाणिक वेदाभ्यासी गण कहते हैं। इसलिए आप्त प्रत्यक्षमूलता के कारण वेदों के समान स्मृतियों को भी अर्थात् अर्थशास्त्रों को भी उन्होंने पांचवाँ वेद कहा है। जैसा कि कहा भी गया है कि—'इतिहास और पुराणों के द्वारा वेदों को बढ़ाना चाहिए। ऐसा इसलिए कि अल्पश्रुतो से वेद इस प्रकार भय खाता है कि यह मुझ पर प्रहार करेगा।' अथवा हम लोगों को दुराग्रह से क्या प्रयोजन? वेदमूलक होने के

अथ वा किमस्माकं दुरभिनिवेशेन वेदमूलत्वात् स्मृतीनां स्मृतिवत् पुराणानामपि भवतु प्रामाण्यम्। सर्वथा तावद्वेदाश्चत्वारः पुराणं स्मृतिरिति षडिमानि विद्यास्थानानि साक्षात्पुरुषार्थसाधनोपदेशीनि। व्यारणादीनि षडङ्गानि अङ्गत्वेनैव तदुपयोगीनि न साक्षाद् धर्मोपदेशीनि। कल्पसूत्रेष्वपि विक्षिप्तकर्मक्रमनियमसंग्रहमात्रं नापूर्वोपदेशः। मीमांसा वेदवाक्यार्थविचारात्मिका, वेदप्रामाण्यनिश्चयहेतुश्च न्यायविस्तर इत्यामुख एवोक्तम्। तदिमानि चतुर्दश विद्यास्थानानि प्रमाणम्। कानिचित्साक्षादुपदेशीनि कानिचित्तदुपयोगीनि इति सिद्धम्।

[शैवपाञ्चरात्राद्यागमप्रामाण्यस्थापनम्]

यानि पुनरागमान्तराणि परिदृश्यन्ते तान्यपि द्विविधानि। कानिचित्सर्वात्मना वेदविरोधेनैव प्रवर्त्तन्ते बौद्धादिवत्। कानिचित्तदविरोधेनैव कल्पितव्रतान्तपरोपदेशीनि शैवादिवत्। तत्र शैवाद्यागमानां तावत्प्रामाण्यं ब्रूमहे तदुपजनितायाः प्रतीतेः सन्देहबाधकारणकालुष्यकलापस्यानुपलम्भात्। ईश्वरकर्तृकत्वस्य तत्रापि स्मृत्यनुमानाभ्यां सिद्धत्वात्। मूलान्तरस्य लोभमोहादेः कल्पयितुमशक्यत्वात्। न हि तत्रेदंप्रथमता स्मर्यते

कारण स्मृतियों में और स्मृतिमूलक होने के कारण पुराणों में भी हो प्रामाण्य मान्य है। सर्वथा वेद चार हैं और उनके साथ पुराण और स्मृति ये छह विद्यास्थान हैं, जो कि साक्षात् भाव से पुरुषार्थ का उपदेश देने वाले हैं। व्याकरण आदि छह अङ्ग हैं, जो कि अङ्ग रूप में उनके उपयोगी हैं, साक्षात् भाव से धर्म का उपदेश देने वाले नहीं हैं। कल्पसूत्रों में भी बिखरे कर्मक्रम और नियमों का संग्रह मात्र है, कोई अपूर्व उपदेश नहीं है। मीमांसा वेदविचारात्मक है। यह आमुख में ही कहा गया है कि न्याय विस्तर वेद के प्रामाण्यनिश्चय का हेतु है। इसलिए ये चौदह विद्यास्थान प्रमाण है। कुछ तो साक्षात् भाव से उपदेश देने वाले हैं और कुछ उसके उपयोगी हैं– यह सिद्ध हुआ।

शैव पाञ्चरात्र आदि आगम का प्रामाण्य स्थापन।

और जो आगमान्तर देखे जाते हैं, वे भी दो प्रकार के हैं। कुछ तो ऐसे हैं, जो सर्वात्मना अर्थात् पूर्ण रूप से वेद का विरोध करना ही अपना लक्ष्य समझते हैं, बौद्ध आदि के समान और कुछ ऐसे हैं, जो कि नियमतः वेद का विरोध न करते हुए ही प्रवृत्त होते हैं शैव आदि के समान। उनमें शैव आदि आगमों का प्रामाण्य ~~पहले हम लोग~~ बतलाते हैं। क्योंकि उनसे होने वाली प्रतीतियों में सन्देह बाध, कारणगत कालुष्य इन सब की उपलब्धि पायी नहीं जाती है। और उनके मूल में लोभ मोह आदि की कल्पना इसलिए नहीं की जा सकती कि स्मृति और अनुमान के द्वारा यह सिद्ध है कि शैवागम आदि भी ईश्वर रचित हैं। वहाँ भी वेद के समान अमुक व्यक्ति ने सर्वप्रथम उसकी रचना की ऐसा स्मरण नहीं पाया जाता है। और एकदेश सम्वाद भग्न पाया जाता है अर्थात् कुछ ही स्थानों में किं वा कुछ ही लोगों में उनकी मान्यता पायी जाती है, ऐसी भी बात नहीं। ऐसी

वेदवदेकदेशसंवादाश्च भग्ना दृश्यन्ते इति कुतो मूलान्तरकल्पनावकाशः। न च वेदप्रतिपक्षतया तेषामवस्थानं वेदप्रसिद्धचातुर्वर्ण्यादिव्यवहारापरित्यागात्।

मन्वादिचोदनान्यायः स यद्यपि न विद्यते।
शैवागमे तथाप्यस्य ननु युक्ता प्रमाणता।।
सर्वोपनिषदामर्था निःश्रेयसपदस्पृशः।
विविच्यमाना दृश्यन्ते ते हि तत्र पदे पदे।।
ये च वेदविदामग्र्याः कृष्णद्वैपायनादयः।
प्रमाणमनुमन्यन्ते तेऽपि शैवादिदर्शनम्।।
पञ्चरात्रेऽपि तेनैव प्रामाण्यमुपवर्णितम्।
अप्रामाण्यनिमित्तं हि नास्ति तत्रापि किञ्चन।।

तत्र च भगवान् विष्णुः प्रणेता कथ्यते स चेश्वर एव।

एकस्य कस्यचिदशेषजगत्प्रसूति-
हेतोरनादिपुरुषस्य महाविभूतेः।
सृष्टिस्थितिप्रलयकार्यविभागयोगाद्
ब्रह्मेति विष्णुरिति रुद्र इति प्रतीतिः।।

वेदे च पदे पदे एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीय इति, इदं विष्णुर्विचक्रमे इति,

परिस्थिति में मूलान्तर की कल्पना का अवकाश कहाँ रह जाता है? और वेद विरोधी रूप में उनकी स्थिति भी नहीं है। क्योंकि वेद में प्रसिद्ध चातुर्वर्ण्य आदि की व्यवस्था का परित्याग वहाँ भी पाया नहीं जाता है। यद्यपि शैवागम में मनु आदि कृत विधान का कहीं उल्लेख नहीं पाया जाता है अर्थात् वहाँ यह नहीं कहा गया है कि मनु ने इसे कर्तव्य कहा है इसलिए ऐसा करना चाहिए फिर भी शैवागम को प्रमाण मानना उचित है। क्योंकि उसमें पद पद पर निःश्रेयस् पद तक पहुचाने वाले उपनिषत्प्रतिपाद्य कर्त्तव्यों का विवेचन पाया जा रहा है। और जो कृष्ण द्वैपायन आदि वेदज्ञों के अग्रगण्य माने जाते हैं, उन्होंने भी शैव आदि दर्शनों को प्रमाण माना है। पञ्चरात्र में भी प्रामाण्य उन्ही के द्वारा वर्णित हुआ है। इसलिए शैवागम आदि में अप्रामाण्य का कोई भी कारण नहीं पाया जाता हैं। पञ्चरात्र का प्रणेता भगवान् विष्णु कहे जाते हैं, वे भी ईश्वर ही हैं। क्योंकि अशेष जगत् की उत्पत्ति का हेतु महाविभूति अनादि पुरुष एक ही हैं। सृष्टि, स्थिति, और प्रलय इन कार्यों के विभाग से सम्बन्ध रखने के कारण उसी एक अनादि पुरुष की ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र इन प्रभेदों में प्रतीति होती है। वेद के अन्दर पग पग पर 'एक एव रुद्रोऽवतस्थे' अर्थात् एक ही रुद्र अवस्थित रहे और 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' अर्थात् विष्णु ने इस जगत् को आक्रान्त किया अर्थात् वामन के रूप में तीन पांव देकर ही नाप डाला। इस प्रकार रुद्र और विष्णु पठित अर्थात् उल्लिखित हैं। रुद्र और विष्णु के सम्बन्ध प्रयुक्त ही वेद में उनकी आराधनाओं के

रुद्रो विष्णुश्च पठ्यते। तद्योगाच्च तदाराधनोपाया वेदेऽपि चोदिता एव। शैवपञ्चरात्रयोर तद्योगा एवान्यथोपदिश्यन्ते। न चैष वेदविरोधो वैकल्पिकत्वादुपायानाम्। उ आप्तप्रणीतत्वाद्वेदाविरुद्धत्वाच्च न तयोरप्रामाण्यम्।

[बौद्धाद्यागमानामप्रामाण्यम्]

ये तु सौगतसंसारमोचकागमाः पापकाचारोपदेशिनः कस्तेषु प्रामाण्यमार्योऽनुमोदते।

बुद्धशास्त्रे हि विस्पष्टा दृश्यते वेदबाह्यता।
जातिधर्मोचिताचारपरिहारावधारणात्।।
संसारमोचकाः पापाः प्राणिहिंसापरायणाः।
मोहप्रवृत्ता एवेति न प्रमाणं तदागमः।।
निषिद्धसेवनप्रायं यत्र कर्मोपदिश्यते।
प्रामाण्यकथने तस्य कस्य जिह्वा प्रवर्त्तते।
ततो यद्यपि सिद्धिः स्यात् कदाचित्कस्यचित् क्वचित्।
ब्रह्महत्यार्जितग्राम्यभोगवन्नरकाय सा।।
निषिद्धाचरणोपात्तं दुष्कृतं केन शाम्यति।
अतः कालान्तरेणापि नरके पतनं पुनः।।

उपाय भी बतलाये गये हैं। शैव और पञ्चरात्र आगमों में उन्हीं के सम्बन्ध और प्रकार से बतलाये गये हैं। येह कोई वेद का विरोध नहीं है। क्योंकि उपाय वैकल्पिक होते ही हैं। इसलिए आप्तप्रणीत और वेदाविरुद्ध होने के कारण शैव तथा पञ्चरात्र आगमों का प्रामाण्य सिद्ध है।

बौद्ध आदि आगमों का अप्रामाण्य।

सौगत तथा संसार मोचक आदि के जो आगम हैं, जो कि पापमय आचार का उपदेश देने वाले हैं। उनकी प्रमाणता का अनुमोदन भला कौन आर्य कर सकता है।

बुद्ध के शास्त्र में वेद बाह्यता अर्थात् अवैदिकता अतिस्पष्ट भाव से पायी जाती है। क्योंकि वहाँ जाति, धर्म और तदनुकूल आचार का त्याग निश्चित रूप से आदरणीय बतलाया गया है। पापी संसार मोचक गण प्राणियों की हिंसा में संलग्न पाये जाते हैं। उनकी प्रवृत्तियाँ अज्ञान मूलक ही पायी जा रही हैं। इसलिए उन लोगों का आगम प्रमाण नहीं माना जा सकता। जहाँ पर निषिद्ध वस्तुओं के सेवन से ही भरे कर्म कर्त्तव्य रूपमें उपदिष्ट होते हैं, उसे प्रमाण कहने में किसकी जिह्वा प्रवृत्तिशील हो सकती है? उससे यद्यपि कभी किसी को सिद्धि मिल सकती है, किन्तु वह उसकी सिद्धि ब्रह्महत्या करके प्राप्त धन से किये जाने वाले विषयभोग के समान नरक देने वाली ही होती है। निषिद्ध आचरणों से प्राप्त पाप भला किस से नष्ट हो जायेगा? इसलिए कालान्तर में जाकर नरक में गिरना उसके लिए अनिवार्य होगा। यह जो कहा गया कि जो लोग बुद्ध आदि को आप्त मान बैठे है, उनके लिए क्या प्रतिविधान होगा? तो उसके सम्बन्ध में कहा जा रहा है कि महान्

यत्त्वत्र चोदितं परेषु पूर्वोक्तक्रमेण बुद्धाद्याप्तकल्पनां कुर्वत्सु किं प्रतिविधेयमिति। तत्रोच्यते, महाजनप्रसिद्ध्यनुग्रहे हि सति सुवचमाप्तोक्तत्वं भवति नान्यथा। महाजनश्च वेदानां वेदार्थानुगामिनां च पुराणधर्मशास्त्राणां वेदाविरोधिनां च केषांचिदागमानां प्रामाण्यमनुमन्यते। न वेदविरुद्धानां बौद्धाद्यागमानामिति कुतस्तेषामाप्तप्रणीतत्वम्। मूलान्तरं हि तत्र सुवचम्। अज्ञानलोभादीत्येवमभिधाय वेदस्पर्धिनो बौद्धादयो निषेद्धव्याः। आह –

कोऽयं महाजनो नाम किमाकारः किमास्पदः।
किं संख्यः किं समाचार इति व्याख्यातुमर्हसि।।

अपि च बौद्धादयो बुद्धादीनाप्तान् स्वागमप्रामाण्यसिद्धये वदन्ति। ते महाजनमपि निजं तत्सिद्धये वृन्दादिकं वदेयुरेव। कस्तत्र प्रतीकारः? उच्यते, चातुर्वर्ण्यं चातुराश्रम्यं च यदेतदार्यदेशप्रसिद्धं स महाजन उच्यते। आकारस्तु तस्य कीदृशं पाणिपादं कीदृशं शिरोग्रीवं वा कियती तस्य संख्येति पुरुषलक्षणानि गणयितुं न जानीमः। चातुर्वर्ण्यचातुराश्रम्यरूपश्चैष महाजनो वेदपथप्रवृत्त आगमान्तरवादिभिरप्रत्याख्येय एव। तथा चैते बौद्धादयोऽपि दुरात्मानो वेदप्रामाण्यनियमिता एव चण्डालादिस्पर्शं परिहरन्ति।

प्रामाणिक जन समुदाय की मान्यता का आनुकूल्य प्राप्त होने पर ही आप्तोक्तत्व सुबच होता है अन्यथा नहीं। महाजन अर्थात् प्रामाणिक जन समुदाये वेदों और वेदानुगामी पुराण, धर्मशास्त्र आदि और वेद के साथ विरोध न रखने वाले कुछ आगम को ही प्रमाण मानता है। वेद विरुद्ध बौद्धागम आदि को वह प्रमाण नहीं मानता। ऐसी परिस्थिति में उन बौद्धादि आगमों में आप्त प्रणीतत्व कैसे हो सकता है? वहाँ अन्य को ही मूल कहना होगा। और वह लोभ मोह आदि ही होगा, यह कहकर वेद से स्पर्धा रखने वाले बोद्ध आदि निषेद्धव्य हैं।

इस पर आक्षेप यह उपस्थित किया जाता है कि यह महाजन कौन है? वह कैसा आकार वाला है? वह कहाँ रहता है? उसकी संख्या कितनी है? यह आप बतलाएँ और यह भी कि बौद्ध आदि अपने आगम की प्रामाण्य सिद्धि के लिए बुद्ध आदि को आप्त कहते हैं। वे महाजन भी अपने आगम के प्रामाण्य की सिद्धि हेतु वृन्द अर्थात् समुदाय आदि को ही कहेंगे। इसका क्या प्रतिकार होगा? तो इसका उत्तर कहा जा रहा है उसका आकार कैसा है अर्थात् उसके मुँह नाक कान आदि कैसे होते हैं? हाथ पाँव कैसे होते हैं? शिर तथा गर्दन आदि कैसे होते हैं उसकी संख्या कितनी है? इत्यादि लोगों के चिह्नों की गणना हम लोग नहीं जानते है। चातुर्वर्ण्य और चातुराश्रम्य अर्थात् चार वर्णों और चार आश्रमों को मानना तथा वेद के मार्ग पर चलना– यही महाजन का स्वभाव है। और ऐसे महाजन का प्रत्याख्यान आगमान्तर वादी भी नहीं कर सकते। तभी तो ये बौद्ध आदि भी वेद के प्रामाण्य से नियमित होते हुए चाण्डाल आदि के स्पर्श आदि से बचना चाहते हैं? जब कि

निरस्ते हि जातिवादावलेपे वा क्व चाण्डालादिस्पर्शे दोषः? येऽपि अन्ये केचिदशुचिभक्षणागम्यागमनादिनिर्विकल्पदीक्षाप्रकारमकार्यमनुतिष्ठन्ति तेऽपि चातुर्वर्ण्यादि महाजनभीतास्तं तं रहसि कुर्वन्ति न प्रकाशम्। निर्विशङ्के हि तच्छास्त्रप्रत्यये किमिति चौर्यवत्तदर्थानुष्ठानम्। अत एव न निजो महाजन उत्थापयितुं शक्यते वृन्दकादिः किं त्वयमेव चातुर्वर्ण्यादिमहाजनः। स चैष महाजनो वेदविरुद्धमागमं परिहरत्येव नानुमोदते।

संसारमोचकं स्पृष्ट्वा शिष्टाः स्नान्ति सवाससः।
बौद्धैरपि सहैतेषां व्यवहारो न कश्चन।।
वेदधर्मानुवर्त्ती च प्रायेण सकलो जनः।
वेदबाह्यस्तु यः कश्चिदागमो वञ्चनैव सा।।

ईदृशश्चायमनन्यसामान्यविभवो महाभागो वेदनामा ग्रन्थराशिः। यदन्ये बाह्यागमवादिन एवमेव स्पर्धन्ते। ते हि स्वागमप्रामण्यमभिवदन्तो वेदरीत्याभिदधति, वेदे यथा तथा प्रवेष्टुमीहन्ते, वैदिकानर्थानन्तरान्तरा स्वागमेषु निबध्नन्ति, वेदस्पर्शपूतमिवात्मानं मन्यन्ते। तेषामप्यन्तर्हृदये ज्वलतीव प्रामाण्यम्। अत एवंविधाया

जातिवाद का अभिमान वे रखते नहीं, उसका खण्डन ही करते हैं तो चाण्डाल स्पर्श आदि में दोष कहाँ? जो भी अन्य कुछ लोग अशुचि अर्थात् अभक्ष्य भक्षण, अगम्यागमन तथा निर्विकल्प दीक्षा प्रभेद आदि अकर्तव्य का अनुष्ठान करते हैं, वे भी चातुर्वर्ण्य आदि से प्रभावित महाजन से भय खाते हुए उन कामों को छिपाकर ही करते हैं। प्रकाश भाव से उन निन्दनीय कामों को करते नहीं पाये जाते है। यदि उन्हें उस शास्त्र पर निःशङ्क विश्वास हो तो वे चोर की तरह क्यों उन कामों को करें? इसलिए वे अपने वृन्दक आदि महाजन को उठा नहीं सकते अर्थात् सामाजिक सम्मान नहीं दिला सकते। किन्तु यह चातुर्वर्ण्य आदि को मानने वाला जन समुदाय ही महाजन माना जायगा। और वह महाजन वेद विरुद्ध आगम का परिहार करता ही है कभी उसका अनुमोदन नहीं करता।

संसार मोचक को स्पर्श करके शिष्टजन वस्त्र आदि सहित स्नान करते हैं। और इन शिष्ट जनों का बोद्धों के साथ भी कोई व्यवहार नहीं है। प्रायः सारी शिष्ट जनता वेद धर्मानुगामी है। इसलिए जो भी कोई आगम वेद बाह्य है, वह वञ्चनामात्र है। यह वेद नाम का ग्रन्थ राशि इस प्रकार असाधारण प्रभाव रखने वाला एवं महाभाग अर्थात् अतिविस्तृत शाखाओं बाला है, जिसके कारण वेद बाह्य आगम वाले यो हीं स्पर्धा करते हैं। वे अपने आगम को प्रमाण कहते हुए वेद की रीति को अपनाते हुए उपदेश देते हैं। जिस किसी प्रकार से वेद में ही प्रवेश करना चाहते हैं। वेद प्रतिपादित विषयों को अपने आगम में निबद्ध करते हैं। और वेद के साथ सम्बन्ध जोड़कर अपने को पवित्र सा समझते हैं। उनके हृदयमें भी वेद प्रामाण्य बरसा रहा है।

महाजनप्रसिद्धेरागमान्तरेष्वदर्शनान्न तेषामाप्तप्रणीतत्वम्। आह–

महाजनप्रसिद्ध्यैव वेदप्रामाण्यनिश्चयात्।
किमर्थः कण्ठशोषोऽयमियानार्येण संश्रितः।।

वेदप्रामाण्यसिद्ध्यर्थं हि इदं शास्त्रमारब्धमिति गीयते। वेदप्रामाण्यस्य च महाजनसिद्ध्यैव सिद्धत्वात् किं शास्त्रेण। अलं क्षुद्रचोद्यैरीदृशैः। उच्यते–

महाजनप्रसिद्धं हि केचिद् विप्लावयन्त्यपि।
अतस्तदुपघाताय शास्त्रमस्त्रं प्रयुज्यते।।

तस्मात्पूर्वोक्तानामेव प्रामाण्यमागमानां न वेदबाह्यानामिति स्थितम्।

[आप्तोक्तत्वेन सर्वागमानां प्रामाण्यस्य स्थापनम्]

अन्ये सर्वागमानां तु प्रामाण्यं प्रतिपेदिरे।
सर्वत्र बाधसन्देहरहितप्रत्ययोदयात्।।
सर्वत्र वेदवत्कर्तुराप्तस्य परिकल्पना।
दृष्टार्थेष्वेकदेशेषु प्रायः संवाददर्शनात्।।

यत्पुनरत्रोक्तं सर्व एवागमाः परस्परविरुद्धार्थोपदेशित्वादप्रमाणं स्युरिति। तत्रोच्यते,

इसलिए इस प्रकार की महाजन प्रसिद्धि को अन्य आगमों में न देखने के कारण उनको आप्तप्रणीत नहीं मानना चाहिए। वे आप्त प्रणीत नहीं हैं। इस पर आक्षेप यह किया जाता है कि – महाजन प्रसिद्धि के बल पर ही जब कि वेद के प्रामाण्य का निश्चय सुलभ है तब आप श्रेष्ठजनों के द्वारा वेद के प्रामाण्य के स्थापनार्थ इतना क्यों कण्ठ सुखाया जा रहा है? अर्थात् वेद में प्रामाण्य के निश्चयार्थ आप अभी क्यों चिल्लाएँ? सारांश यह कि वेद मे प्रामाण्य के निर्णयार्थ ही यह शास्त्र अर्थात् मीमांसा शास्त्र आरब्ध हुआ है, ऐसा कहा जा रहा है। सो जब वह वेद का प्रामाण्य महाजन की प्रसिद्धि से ही सिद्ध है तो तदर्थ शास्त्र की क्या आवश्यकता? इस प्रकार अल्प प्रयोजन कहना व्यर्थ है। इसका उत्तर यह है कि कुछ लोग ऐसे भी प्रभावशाली निकल आते हैं, जो महाजन प्रसिद्धि को विलुप्त अर्थात् विच्छिन्न कर देते हैं। इसलिए उसके उपघातार्थ शास्त्र रूपी अस्त्र का प्रयोग किया जाता है। इसलिए शैव तथा पाञ्चरात्र आदि आगमो में ही प्रामाण्य है वेद बाह्य बौद्ध आदि आगमों में नहीं।

मतान्तर से आप्तोक्तता प्रयुक्त सभी आगम प्रमाण हैं।

अन्य कुछ लोगो ने सभी आगमों को अर्थात् वेद बाह्य आगमों को भी प्रमाण माना है। क्योंकि सब जगह असन्दिग्ध एवं बाध रहित रूप में प्रत्यय का अर्थात् बोध का उदय पाया जाता है। वेद स्थल के समान सब जगह आप्त शास्त्रकार की परिकल्पना मान्य है। क्योंकि एक देश भूत दृष्टार्थक में प्रायः सम्बाद देखा जाता है। यह जो कहा गया है कि परस्परविरुद्ध उपदेशप्रद होने के कारण सारे अवैदिक आगम अप्रमाण हो जायेंगे। उसका

आप्तप्रणीतत्वेन तुल्यकक्ष्यत्वादन्यतमदौर्बल्यनिमित्तानुपलम्भाच्च न कश्चिदागमः कञ्चिद् बाधते। विरोधमात्रं त्वकिञ्चित्करं प्रमाणत्वाभिमतेषु वेदवाक्येष्वपि परस्परविरोधदर्शनात्। पुरुषशीर्षस्पर्शनसुराग्रहगवालम्भादिचोदनासु वचनान्तरविरुद्धमर्थजातमुपदिष्टमेव। किं चागमानां विरोधोऽपि नातीव विद्यते प्रमाणानां पुरुषार्थे सर्वेषामविवादात्।

नानाविधैरागममार्गभेदैरादिश्यमाना बहवोऽभ्युपायाः।
एकत्र ते श्रेयसि संपतन्ति सिन्धौ प्रवाहा इव जाह्नवीयाः।।

तथा ह्यपवर्ग उपेयः सर्वशास्त्रेषु निर्दिश्यते। ज्ञानविषये तु विवदन्ते। तत्रापि प्रायश आत्मविषयतायां बहूनामविप्रतिपत्तिः। प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानपक्षे तु प्रकृतेर्विविक्ततया पुरुष एव ज्ञेयः। नैरात्म्यवादिनस्तु आत्मशैथिल्यजननायोपदिशन्ति। स्वच्छं तु ज्ञानतत्त्वं यत्तैरिष्यते तत्स्वातन्त्र्यादनाश्रितत्वादात्मकल्पमेव कूटस्थनित्यत्वे प्रवाहनित्यत्वे च विशेषः। एवं प्रधानयोस्तावदुपायोपेययोरविवादः। क्रिया तु विचित्रा प्रत्यागमं भवतु नाम। भस्मजटापरिग्रहो वा दण्डकमण्डलुग्रहणं वा रक्तपटधारणं वा दिगम्बरता वावलम्ब्यतां कोऽत्र विरोधः। वेदेऽपि किमल्पीयांसः पृथगितिकर्त्तव्यता-

उत्तर कहा जा रहा है। आप्त प्रणीत होने के कारण सभी आगम तुल्यबल होते हैं। किसी एक में भी दुर्बलता का निमित्त उपलब्ध होता नहीं है इसलिए कोई भी आगम किसी भी आगम को बाधा नहीं पहुँचाता है।

विरोधमात्र अकिञ्चित्कर है। क्योंकि प्रमाण रूप से अभिमत वेदवाक्यों में भी विरोध पाया ही जाता है। पुरुषमस्तक स्पर्शन, सुराग्रहण तथा गवालम्भन आदि के विधान पर वाक्य में वचनान्तर विरुद्ध अर्थजात का उपदेश हुआ ही है। और सारे प्रमाणों का आगमों के बीच अत्यन्त विरोध भी नहीं है। क्योंकि पुरुषार्थ के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं है। नाना प्रकार के विभिन्न आगमोपदिष्ट मार्गों द्वारा उपदिष्ट होने वाले बहुत से वे उपाय एक कल्याण के लिए उसी प्रकार मिल जाते हैं जिस प्रकार एक ही समुद्र में जाह्नवी गङ्गा के विभिन्न प्रवाह। उसी प्रकार सभी शास्त्रों में अपवर्ग उपदिष्ट पाया जाता है। विवाद ज्ञान के विषयों में है। वहाँ भी ज्ञान की आत्मविषयकता में बहुतों को विप्रतिपत्ति नहीं है। प्रकृति और पुरुष के विवेक ज्ञान पक्ष में तो प्रकृति से विविक्त रूप में पुरुष ही ज्ञातव्य है। नैरात्म्य वादी गण तो आत्मा की ओर शैथिल्य के उत्पादनार्थ उपदेश देते हैं। स्वच्छ जो ज्ञानतत्त्व उन लोगों के द्वारा माना जाता है, वह स्वातन्त्र्य और अनाश्रितत्व के कारण आत्मकल्प ही होता है। विशेष केवल कूटस्थ नित्यता और प्रवाह नित्यता में ही होता है। इस प्रकार प्रधान भूत उपाय और उपेय के विषय में अविवाद है। उसकी प्रक्रिया प्रत्येक आगम में विचित्र हुआ करे। भस्म और जटाधारण किया जाय या दण्ड और कमण्डलु का ग्रहण किया जाय, लाल वस्त्र पहना जाय या दिगम्बर रहा जाय, इसमें क्या विरोध है? वेद में भी क्या कुछ पृथक् इतिकर्तव्यता समुदाययुक्त स्वर्गोपाय नहीं

कलापखचिताः न स्वर्गोपायाश्चोदिताः। तस्मात्परस्परविरोधेऽपि न प्रामाण्यविरोधः। अतश्च यदुच्यते–

कपिलो यदि सर्वज्ञः सुगतो नेति का प्रमा।
अथोभावपि सर्वज्ञौ मतभेदस्तयोः कथम्।। इति।

तदपास्तं भवति। प्रधाने सति भेदाभावात्, क्वचिच्च तद्भावे प्रामाण्याविरोधात्। न च क्रोशनहेतुकर्मोपदेशादागमान्तराणामप्रामाण्यम्, तस्याप्रमाणतायामप्रयोजकत्वात्।

विचिकित्सा हि नृशिरः कपालाद्यशनेषु या।
साप्यन्यदर्शनाभ्यासभावनोपनिबन्धना।।
तथा च शान्तचित्तानां सर्वभूतदयावताम्।
वैदिकीष्वपि हिंसासु विचिकित्सा प्रवर्त्तते।।

अभिचारादिहिंसायां वैदिक्यामपि भवतु हृदयोत्कम्पः। करणांशोपनिपातिनी हिंसेति लिप्सातस्तस्यां प्रवृत्तिः।

यत्त्वग्नीषोमीयादिपशुहिंसेतिकर्त्तव्यतांशस्था, यस्यां क्रत्वर्थत्वं हि शास्त्रादवगम्यते इति वैधी प्रवृत्तिः। तस्यामपि कारुणिको लोकः सविचिकित्सो भवति वदति च 'यत्र प्राणिवधो धर्मस्त्वधर्मस्तत्र कीदृशः' इति। न चैतावता वेदस्याप्रामाण्यमेवमागमान्तरेष्वपि भविष्यति।

विहित हुए हैं? इसलिए परस्पर विरोध होने पर भी प्रामाण्य में कोई विरोध नहीं होता है। अतः यह जो कहा जाता है कि कपिल यदि सर्वज्ञ है तो क्यों बुद्ध नहीं? तो इन दोनों में किसे प्रमा अर्थात् यथार्थ माना जाय? यदि दोनों ही सर्वज्ञ हैं तो उन दोनों में मतभेद कैसे? सो खण्डित हो गया। क्योंकि सद्भूत प्रधान में कोई भेद नहीं। कहीं मत भेद होने पर भी प्रामाण्य में विरोध नहीं कहा जा सकता। एक निन्दित कर्म के आचरण का उपदेश करने के कारण आगमान्तर को अप्रमाण नहीं ठहराया जा सकता है। क्योंकि वह अप्रामाण्य का प्रयोजक नहीं होता है।

नरशिरा कपाल में किये जा रहे भोजन आदि को देखकर जो विचिकित्सा होती है, वह भी अन्यदर्शन के अभ्यास से प्राप्त भावना के कारण ही होती है। तभी तो सभी प्राणियों पर दया रखने वाले शान्तचित्त लोगों को वैदिकी हिंसा पर भी विचिकित्सा होती है? वैदिकी आभिचारिकी हिंसा को देखकर हृदयोत्कम्प हुआ करे किन्तु हिंसा कर्त्तव्य उपाय के अन्दर आती है। इसलिए फल की लिप्सा से उसमें प्रवृत्ति होती है। कहा जाता है कि अग्नीषोमीय आदि पशु हिंसा इतिकर्तव्यता के अन्दर आती है, जिसमें क्रत्वर्थता शास्त्र से अवगत होती है। इसलिए वहाँ की हिंसा में प्रवृत्ति वैदिकी होती है। परन्तु कारुणिक जन उस हिंसा पर भी विचिकित्साशील होते हैं और यहाँ तक कहते हैं कि 'जहाँ प्राणिवध धर्म माना जाता है वहाँ अधर्म कैसा होगा'? किन्तु इस से वेद अप्रमाण नहीं हो जाता है। इसी

यत्तु आगमान्तरेभ्यः कौलादिभ्यः खेचरताद्यर्थसिद्धावपि निषिद्धाचरणकृतः कालान्तरेऽवश्यं भावीत्युक्तम्। तदपि न युक्तम्, तस्यार्थस्य तदागमनिषिद्धत्वाभावात् आगमान्तरनिषिद्धत्वेऽपि वैकल्पिकत्वकल्पनोपपत्तेः। पुरुषार्थप्राप्त्युपायत्वाच्च तस्य तस्मिन् सिद्धे कुतः प्रत्यवायः। भवतु वा कालान्तरे ततः प्रत्यवायः। तथाप्यधिकारिभेदेन तत्फले कर्मणि चोद्यमाने श्येनादाविव नागमप्रामाण्यमत्र हीयते। श्येनेनाभिचरन् यजेतेत्यत्राभिचरन्निति शत्रा लङ्घितनिषेधमधिकारिणमाचष्टे। तस्य च श्येनयागश्चोदितः। स च तत्प्रयोगात्कृतवधः प्रत्यवैत्येव। न च वेदस्याप्रामाण्यम्। उक्तं च उभयमिह चोदनया लक्ष्यते अर्थोऽनर्थश्चेति। अधिकारिभेदाच्च विचित्रकर्मचोदना नानुपन्ना। मरणकामस्य सर्वस्वारः चोदितः आयुष्कामस्य कृष्णलचरुः। तस्मादेतदपि नाप्रामाण्यनिमित्तम्।

यदपि बौद्धागमे जातिवादनिराकरणं तदपि सर्वानुग्रहप्रवणकरुणातिशयप्रशंसापरं न च यथाश्रुतमवगन्तव्यम्। तथा च तत्रैतत्पठ्यते 'न जातिकायदुष्टान् प्रव्राजयेदिति'। तस्मात्सर्वेषामागमानामाप्तैः कपिलसुगतार्हतप्रभृतिभिः प्रणीतानां प्रामाण्यमिति युक्तम्।

प्रकार आगमान्तर में भी प्रामाण्य होगा? यह भी जो कहा गया है कि 'कौल' आदि आगमान्तरों से खेचरता आदि अर्थ की सिद्धि होने पर भी निषिद्धाचरण प्रयुक्त नरक कालान्तरमें अवश्य होगा, वह भी उचित नहीं। क्योंकि उन आचरणों में उस आगम के द्वारा तो निषिद्धता होती नहीं। और आगमान्तर निषिद्ध होने पर भी वैकल्पिकता की कल्पना उपपन्न हो सकती है। और वह अन्यशास्त्रनिषिद्ध आचरण तो पुरुषार्थ प्राप्ति का उपाय होगा। उसके सिद्ध होने पर प्रत्यवाय क्यों होगा? अथवा कालान्तर के लिए हो प्रत्यवाय उससे। तथापि अधिकारी के भेद से तत्फलक कर्म के विहित होने पर श्येनयाग आदि स्थल की तरह आगम का अप्रामाण्य नहीं होगा। प्रकृत आगम में प्रामाण्य हीनता होगी नहीं। क्योंकि 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' यहां पर 'अभिचरन्' इस प्रकर उल्लेख करते हुए वैदिक निषेध का लंघन करने वाले को अधिकारी कहा गया है। उस के लिए ही श्येन याग विहित हुआ। वह उस याग के प्रयोग में संलग्न होने के कारण पशुबध करता है, इसलिए प्रत्यवायी अवश्य होता है परन्तु वेद में अप्रामाण्य नहीं होता है। कहा भी गया है कि विधिवाक्य के द्वारा दोनों लक्षित होता है अर्थ भी और अनर्थ भी। अधिकारी भेद प्रयुक्त विचित्र कर्म का विधान अनुपपन्न होने वाला नहीं होता है। मरण काम व्यक्ति के लिए जहाँ 'सर्वस्वार' विहित हुआ है वहां जीवन काम व्यक्ति के लिए 'कृष्णलचरु' अर्थात् 'स्वर्णमाषचरु' का विधान किया गया है। इसलिए यह भी अप्रामाण्य का निमित्त नहीं है। बौद्ध आगम में जो जातिवाद का निराकरण किया गया है, वह भी सब पर अनुग्रह के अनुकूल करुणातिशय की प्रशंसा परक ज्ञातव्य है। वह 'यथाश्रुत' नही ज्ञातव्य है। तभी यह वहाँ उल्लिखित पाया जाता है कि 'जाति दुष्टों और काय दुष्टों को बौद्ध प्रव्राजी नहीं बनाना चाहिए।' इसलिए कपिल, सुगत और जिन आदि के द्वारा प्रणीत आगमों को भी प्रमाण मानना उचित है।

[सर्वागमानामीश्वरप्रणीतत्वम्]

अन्ये मन्यन्ते सर्वागमानामीश्वर एव भगवान् प्रणेतेति। स हि सकलप्राणिनां कर्मविपाकमनेकप्रकारमवलोकयन् करुणयाताननुग्रहीतुमपवर्गप्राप्तिमार्गं बहुविधमुत्पश्यन्नाशयानुसारेण केषां चित्क्वचित्कर्मणि योग्यतामवगम्य तं तमुपायमुपदिशति। स्वविभूतिमहिम्ना च नानाशरीरपरिग्रहात् स एव संज्ञाभेदानुपगच्छति अर्हन्निति, कपिल इति, सुगत इति, स एवोच्यते भगवान्। नानासर्वज्ञकल्पनायां यत्नगौरवप्रसङ्गात्।

ननु बुद्धः शुद्धोदनस्यापत्यं स कथमीश्वरो भवेत्। परिहृतमेतद्भगवता कृष्णद्वैपायनेन—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।। इति।

शरीरमेव शुद्धोदनस्यापत्यं नात्मा। अतः प्रतियुगं विष्णुरेव भगवान् धर्मरूपेणावतरतीत्यागमविदः प्रतिपन्नाः।

ननु वेदसमानकर्तृकेष्वागमान्तरेषु कथं तादृशो महाजनसंप्रत्ययो नास्ति। एवं नास्ति, तेन वर्त्मना भगवता कतिपये प्राणिनोऽनुगृहीताः, येषां तादृश आशयो लक्षितः। वैदिकेन

आगमों को भी प्रमाण मानना उचित है।

सभी आगम ईश्वर प्रणीत हैं।

अन्य लोग ऐसा मानते हैं कि सभी आगम ईश्वर प्रणीत ही हैं। भगवान् परमेश्वर ही सभी आगमों का प्रणेता हैं। वे ही सभी प्राणियों के कर्मो और उनके विपाकों को अनेक प्रकार देखते हुए करुणा से उन्हे अनुगृहीत करने के लिए अपवर्ग की प्राप्ति के लिए बहुत प्रकार के उपायों को देखते हुए आशय अर्थात् उन अधिकारियों की हार्दिक परिस्थिति के अनुसार किसी कर्म में किसी की योग्यता को देखकर उसे उस उपाय का उपदेश देते हैं। अपनी विभूति की महिमा से नाना प्रकार के शरीरों का परिग्रह करके वे ही नामभेद को प्राप्त करते हैं। वे ही जिन कहलाते हैं, और वे ही कपिल कहलाते हैं। क्योंकि नाना सर्वज्ञ की कल्पना मे प्रयत्न गौरव होगा। अर्थात् व्यर्थ अनेक सर्वज्ञ की कल्पना क्यों की जाय? इस पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि बुद्ध तो शुद्धोदन के पुत्र थे। वे कैसे ईश्वर हो सकते? तो इसका परिहार तो भगवान् कृष्ण द्वैपायन ने ही यह कहकर कर दिया है कि हे अर्जुन! धर्म की ग्लानि जब जब होती है और अधर्म का उत्थान होता है तब तब मैं शरीर का परिग्रह करता हूँ। शुद्धोदन का अपत्य तो बुद्ध का शरीर था आत्मा नहीं। इसलिए प्रत्येक युग में भगवान् विष्णु ही धर्म के अर्थात् उसके उपदेशक रूप में अवतार लेते हैं— इस प्रकार आगम विद्गण मानते हैं। इस पर प्रश्न यह उठाया जाता है कि तब वेद निर्माता के द्वारा निर्मित आगमान्तर में उस प्रकार महाजन का सम्प्रत्यय अर्थात् आदर पूर्ण निश्चय क्यों नहीं है? इसका उत्तर यह है कि वह सम्प्रत्यय इसलिए नहीं है कि उन आगमों के मार्ग पर चलकर भगवान् के द्वारा अल्प ही वे प्राणी अनुगृहीत हुए, जिनका वैसा आशय भगवान् के द्वारा लक्षित हुआ। और वैदिक मार्ग से तो संख्यातीत प्राणी भगवान्

तु वर्त्मना निःसंख्यकाः प्राणिनोऽनुगृहीता इति, तत्र महानादरः आगमान्तरेषु कृश इति। एककर्तृके परस्परविरोधः कथमिति चेद् वेदैरेवात्र वर्णितः समाधिः। तेष्वपि भूम्नः परस्परविरोधस्य दर्शनादित्युक्तम्। तस्मादीश्वरप्रणीतत्वादेव सर्वागमानां प्रामाण्यम्।

अपरे पुनर्वेदमूलत्वेन सर्वागमप्रामाण्यमभ्युपागमन्। यो हि मन्वादिदेशनानां वेदमूलतायां न्याय उक्तः।

भ्रान्तेरनुभवाद्वापि पुंवाक्याद्विप्रलम्भकात्।
दृष्टानुगुणसामर्थ्याच्चोदनैव लघीयसी।। इति।

स सर्वागमेषु समानः। न च मन्वादिस्मृतीनां मूलभूता श्रुतिरुपलभ्यते। अनुमानेन तु तत्कल्पनमागमान्तरेष्वपि तुल्यम्।

ननु चोक्तम् 'अपि वा कर्तृसामान्यात् प्रमाणमनुमानं स्यादि'ति। तच्चेह नास्तीति कथं श्रुत्यनुमानम्। नैष दोषः –

एकाधिकारावगमो न प्रामाण्ये प्रयोजकः।
मिश्रानुष्ठानसिद्धौ तु कामं भवतु कारणम्।।

न च पृथगनुष्ठीयमानमपि कर्म न प्रमाणमूलं भवति वर्णाश्रमभेदानुष्ठेयकर्मवत्।

कर्तृसामान्यशून्यत्वादथ मूलान्तरोदयः।
तदसद्बाधकाभावाद् भ्रान्त्यादिप्रतिषेधनात्।।

के द्वारा अनुगृहीत हुए। इसलिए वैदिक मार्ग का महान् आदर और आगमान्तर में आदर महान् न होकर कृश अर्थात् अल्प है। यदि इस पर यह पूछा जाय कि एक कर्तृकों में परस्पर विरोध कैसे? तो इसका समाधान वेद के द्वारा ही वर्णित है। क्योंकि वेदों में भी तो प्रचुर परस्पर विरोध देखा जाता है, यह कहा जा चुका है। इसलिए ईश्वर प्रणीत होने के कारण ही सारे आगम प्रमाण हैं। अन्य कुछ लोगों ने वेदमूलक होने के कारण ही सारे आगमों को प्रमाण माना है। मनु आदि के उपदेशों में वेदमूलकता के सम्बन्ध में जो न्याय उक्त हुआ है कि 'विप्रलम्भक पुरुष वाक्य से होने वाला अनुभव भ्रम हो सकता है और मनु आदि के उपदेश में वेदानुकूल बोधन सामर्थ्य देखा जाता है, इसलिए वेदमूलकता की कल्पना में ही लाघव है' यह सभी आगम के लिए समान है। मनु आदि स्मृतियों के मूलभूत श्रुति भी तो पायी नहीं जाती है। अनुमान से उसकी कल्पना तो आगमान्तर के लिए भी तुल्य है। इस पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यह तो कहा जा चुका है कि क्या कर्त्ता की समानता के आधार पर अनुमान प्रमाण होगा? सो तो यहाँ है नहीं तो कैसे श्रुति का अनुमान किया जायेगा? तो यह दोष नहीं दिया जा सकता है। एकाधिकार का अवगम प्रामाण्य का प्रयोजक नहीं होता है। मिश्रित अनुष्ठान की सिद्धि में भले ही अनेक कारण हों। पृथक्रूप में अनुष्ठीयमान कर्म प्रमाण मूलक नहीं होता – ऐसी बात नहीं है। क्योंकि वर्ण और आश्रम के भेद से भी पृथक् रूप में कर्म का अनुष्ठान देखा जाता है। यदि

प्रत्यक्षमूलतायां तु गुर्वी भवति कल्पना।
वेदस्त्वनन्तशाखत्वान्मूलं तत्र स्वसङ्गतम्।।
नन्वत्र वेदमूलत्वे द्वेषो वेदविदां कथम्।
गत्वा त एव पृच्छ्यन्तां येषां द्वेषादि विद्यते।।
गोवधे वा कथं तेषां द्वेषः सुस्पष्टवैदिके।
प्रत्युक्तं च विरुद्धत्वं शाखानन्त्याच्च दुर्गमम्।।
किमियद्वेदसर्वस्वं यावदस्मन्मुखे स्थितम्।
शाखान्तराद्वा संवादो न लभ्येतेति का प्रमा।।

तथा च सांख्यशास्त्रप्रसिद्धत्रिगुणात्मकप्रकृतिसूचनपरम् 'अजामेकां लोहितशुक्ल कृष्णा'मिति वैदिकं लिङ्गमुपलभ्यते। निर्ग्रन्थकथितवचसः चित्तत्त्वज्ञानशंसी चायमनुवादो दृश्यते 'मुनयो वातरसना' इति। एवं रक्तपटपरिग्रहभस्मकपालधारणादिमूलमप्यभियुक्ता लभन्त एव।

मन्वादिस्मृतिवत्कर्तृसाम्यस्यासम्भवेऽप्यतः।
प्रमाणं वेदमूलत्वाद्वाच्या सर्वागमा स्मृतिः।।
ततश्च– यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्त्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः।। इति।

बाधकाभाव के कारण भ्रान्ति आदि का प्रतिषेध किया जा चुका है। प्रत्यक्षमूलता स्वीकृत होने पर कल्पना गौरव प्राप्त होता है। अनन्त शाखा युक्त होने के कारण अपने से सम्बन्ध रखने वाला वेद मूल होगा।

इस पर यदि यह पूछा जाय कि आगमों को वेद मूलक मानने पर वेदविदों को उन पर द्वेष क्यों होता हुआ पाया जाता है? तो इसका उत्तर यह है कि जाकर वे ही पूछे जायें, जिन्हें द्वेष आदि है। अथवा जो स्पष्ट रूप से वैदिक है, उस गोबध में उन्हें क्यों द्वेष होता है? शाखा की अनन्तता के कारण दुर्गम होने से विरुद्धता खण्डित हो चुकी है। क्या वेद का सर्वस्व अर्थात् सब कुछ इतना ही है जितना हम लोगों के मुह में स्थित है? इसका क्या ठिकाना अर्थात् कैसे यथार्थ रूप से निर्णीत हुआ कि आगमोक्त विषयों का वैदिक शाखान्तर से सम्वाद नहीं है? तभी तो साङ्ख्य शास्त्र प्रसिद्ध त्रिगुणात्मक प्रकृति का सूचक 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' इत्यादि वैदिक लिङ्ग उपलब्ध होता है? निर्ग्रन्थक अर्थात् दिगम्बर जैन कथित चित्तत्वज्ञान को सूचित करने वाला यह अनुवाद देखा जाता है कि 'मुनयो वातरसनाः'। इसी प्रकार रक्त वस्त्र परिग्रह, भस्म लेपन तथा कपाल धारण आदि सूचक मूल वाक्यों को भी अभियुक्त जन प्राप्त करते ही हैं। इसलिए कर्तृगत समानता अर्थात् एकता के असम्भव पक्ष में भी मनुस्मृति आदि की तरह वेद मूलक होने के कारण सारे आगम स्मृति प्रमाण हैं। इसलिए 'मनु के द्वारा किसी का भी जो कोई धर्म

अत्र यथा मनुग्रहणं गौतमयमापस्तम्बसंवर्तकाठकादिस्मृत्यन्तरोपलक्षणम्। एवमर्हत-कपिलसुगताद्युपलक्षणपरमपि व्याख्येयम्।

ननु च लोकायताद्यागमोऽप्येवं प्रामाण्यं प्राप्नोति। विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्यसंज्ञास्तीति वेदमूलदर्शनात्। ततश्च लोकायतदर्शने प्रमाणभूते सति स्वस्ति सर्वागमेभ्यः। उच्यते –

न हि लोकायते किञ्चित् कर्तव्यमुपदिश्यते।
वैतण्डिककथैवासौ न पुनः कश्चिदागमः।।

ननु च यावज्जीवं सुखं जीवेदिति तत्रोपदिश्यते। न, स्वभावसिद्धत्वेनात्रोपदेश-वैफल्यात्। धर्मो न कार्यस्तदुपदेशेषु न प्रत्येतव्यमित्येवं वा यदुपदिश्यते तत्प्रतिविहितमेव। पूर्वपक्षवचनमूलत्वाल्लोकायतदर्शनस्य। तथा च तत्रोत्तरब्राह्मणं भवति 'न वा अरे अहं मोहं ब्रवीमि अविनाशी वा अरे अयमात्मा मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवती'ति। तदेवं कहा गया है, वह सब वेद में कहा हुआ है। क्योंकि वह वेद सर्वज्ञानमय है अथवा वे मनु सर्वज्ञानमय थे।' यहाँ पर जिस प्रकार 'मनु' का ग्रहण गौतम आपस्तम्ब संवर्त काठक आदि अन्य स्मृतिकारों का भी उपलक्षण है उसी प्रकार जिन, कपिल और सुगत आदि का भी उपलक्षण रूप में व्याख्येय है।

इस पर प्रश्न यह उठता है कि तब तो लोकायत आदि का भी आगम प्रामाण्य को प्राप्त करेगा? क्योंकि 'विज्ञान घन ही इन भूतों से उठकर उन भूतों के साथ ही पीछे विनाश को प्राप्त करता है। मरने पर संज्ञा रहती नहीं-- इसका भी मूलभूत वेद पाया जा रहा है? और तब लोकायत दर्शन के प्रमाण हो जाने पर तो सारे आगमों को पूर्ण शान्ति मिल जायेगी अर्थात् सारे आगम समाप्त हो जायेंगे। तो अब इस पर यह कहना है कि लोकायत शास्त्र में कोई कर्तव्य उपदिष्ट नहीं हुआ है। वह कोई आगम नहीं है। वह तो वैतण्डिक की एक वितण्डा मात्र है। इस पर यह कहा जा सकता है कि ऐसी बात तो नहीं है कि वहाँ कर्त्तव्य का उपदेश है ही नहीं। क्योंकि 'जब तक जिएँ सुख से जिएँ। ऋण कर के भी घी तो पिए' इत्यादि कर्त्तव्य का उपदेश तो वहाँ भी पाया ही जाता है? तो यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि यह तो सभी प्राणियों के लिए स्वभावसिद्ध है, इसलिए उपदेश व्यर्थ है अर्थात् इसे उपदेश कहा ही नहीं जा सकता है। वह कर्त्तव्य धर्म नहीं है। इसलिए उस उपदेश पर विश्वास नहीं करना चाहिए। अथवा उक्त प्रकार जो उपदेश दिया गया है वह तो खण्डित ही है। क्योंकि लोकायत दर्शन पूर्वपक्ष मूलक है। तभी तो यह उत्तर भूत ब्राह्मण वाक्य पाया जाता है कि 'नवा अरे मोहं ब्रवीमि। अविनाशी वा अरे अयमात्मा। मात्रा संसर्गस्त्वस्य भवति।' अर्थात् अथवा यह नही है, यह तो मैंने मोहक वाक्य कहा है। सत्य तो यह है कि यह आत्मा अविनाशी है। इसे तो मात्रा का अर्थात् काल परिच्छिन्न शरीर इन्द्रिय आदि का सम्बन्ध मात्र प्राप्त होता है। इसलिए इस प्रकार लोकायत दर्शन पूर्वपक्ष भूत वैदिक वाक्य

पूर्वपक्षवचनमूलत्वाल्लोकायतशास्त्रमपि न स्वतन्त्रम्। उत्तरवाक्यप्रतिहतत्वात्तु तदनादरणीयम्। शास्त्रान्तराणां तु पूर्वपक्षवाक्यमूलकत्वकल्पनमयुक्तम्। समनन्तरमेव तत्प्रतिपक्षवचनानुपलब्धेरित्यतो वेदमूलत्वात् सर्वागमः प्रमाणम्।

[आगमविशेषाप्रामाण्यस्थापनम्]

सर्वागमप्रमाणत्वे नन्वेवमुपपादिते।
अहमप्यद्य यं कञ्चिदागमं रचयामि चेत्।।
तस्यापि हि प्रमाणत्वं दिनैः कतिपयैर्भवेत्।
तस्मिन्नपि न पूर्वोक्तन्यायो भवति दुर्वचः।।

जरत्पुस्तकलिखितं यदपि तदपि किञ्चिदिदानीं केनापि धूर्तेन प्रख्याप्यते।

महाजनसमूहे ये प्रसिद्धिं प्रापुरागमाः।
कृतश्च बहुभिर्येषां शिष्टैरिह परिग्रहः।।
अद्य प्रवर्तमानाश्च नापूर्वा इव भान्ति ये।
येषां न मूलं लोभादि येभ्यो नोद्विजते जनः।।
तेषामेव प्रमाणत्वमागमानामिहेष्यते।
न मृष्यते तु यत् किञ्चित् प्रमाणं कुट्टिनीमतम्।।

मूलक होने के कारण लोकायत शास्त्र भी स्वतन्त्र नहीं है। अर्थात् मौलिक निर्णयात्मक उपदेश नहीं है। उक्त उत्तर वाक्य के द्वारा खण्डित होने के कारण अनादरणीय है। शास्त्रान्तर को भी पूर्वपक्ष मूलक ही कहना अयुक्त है। क्योंकि अव्यवहित उत्तर में ही उसका विरोधी वचन उपलब्ध नहीं होता है। इसलिए सारे आगमों के वेद मूलक होने के कारण वे सारे आगम प्रमाण हैं।

आगम विशेषमें अप्रामाण्य का स्थापन।

इस पर आक्षेप यह उपस्थित किया जा रहा है कि इस प्रकार यदि सारे आगमों को प्रमाण सिद्ध स्थिर किया जा रहा है तो यदि हम भी आज किसी आगम की रचना करें तो कुछ दिन वाद उसे भी प्रामाण्य प्राप्त हो जायेगा। क्योंकि उसके सम्बन्ध में भी पूर्वोक्तन्याय दुर्बच नहीं है। पुरानी पुस्तकों में जो भी कुछ लिखा होता है सो भी आज किसी धूर्त के द्वारा ख्यापित होता पाया जाता है।

महान् जन समूह के अन्दर जितने आगम प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं और अति अधिक शिष्टों के द्वारा जिन्हें स्वीकार कर लिया गया है, आज प्रवर्तित होने पर भी जो नये जैसे मालूम नहीं पड़ते हैं, जिन आगमों के मूल में लोभ आदि नहीं हैं और समाज जिनसे उद्विग्न नहीं होती है, उन्हीं प्रमाणों में आगमत्व इष्ट है। ऐसा कुट्टिनीमत प्रमाण नहीं मान्य है, जिसमें जो कुछ भी प्रमाण मान लिया जाता है। जैसे यह 'नीलाम्बर व्रत कुछ विटों के

तथा हि–

अमितैकपटनिवीतानियतस्त्रीपुंसविहितबहुचेष्टम्।
नीलाम्बरव्रतमिदं किल कल्पितमासीद्विटैः कैश्चित्।।
तदपूर्वमिति विदित्वा निवारयामास धर्मतत्त्वज्ञः।
राजा शङ्करवर्मा न पुनर्जैनादिमतमेवम्।।
इत्याप्तोक्तत्वहेतोः परिमुषितपरोदीरिताशेषदोषा-
देषां वेदागमानां सुदृढमुपगते मानभावे प्ररोहम्।
तन्मूलत्वात्तथात्वं पुरुषवचनतो वास्तु शास्त्रान्तराणां
तद्द्वारेणापि वक्तुं न खलु कलुषता शक्यते वेदवाचाम्।।

[वेदप्रामाण्याक्षेपः]

ननु नाद्यापिवेदस्य प्रामाण्यं सुस्थवत् स्थितम्।
स्वदेहसंभवैरेव दोषैरनृततादिभिः।।

चित्रया यजेत पशुकामः, पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेतेति श्रूयते न चेष्ट्यनन्तरं पुत्रपश्वादिफलमुपलभ्यते। तस्मादसत्याः चित्रादिचोदनाः।

ननु च यः पशुकामः स इष्टिं कुर्यादितीयानेव वाक्यार्थः। तत्र यागात् पशवो

द्वारा कल्पित हुआ था, जिसका स्वरूप यह है कि इसके अन्दर अमित स्त्री पुरुष एक ही वस्त्र के अन्दर निवीत होकर अनियत रूप से अनेक प्रकार की चेष्टा करते हैं। ऐसा तो इतिहास में भी पहले कभी नहीं सुना गया। यह विचार करके धर्मतत्त्व को जानने वाले राजा शङ्कर वर्मा ने इसे रोका किन्तु जैन आदि के मतों को उन्होंने रोका नहीं। इसलिए आप्तोक्तत्व हेतु से ही परोदीरित अशेष दोष परिहृत हो जाने के कारण इन वेदागमों में प्रामाण्य प्ररूढ़ हो जाने पर तन्मूलक होने के कारण किं वा सामाजिक मान्यता के कारण शास्त्रान्तर को भी तथात्व अर्थात् प्रामाण्य हो। क्योंकि ऐसे नवीन शास्त्रों के द्वारा भी वेद वाणी में कालुष्य अर्थात् विपथगमन कहा नहीं जा सकता।

वेद के प्रामाण्य पर आक्षेप।

अब इस पर प्रश्न उपस्थापित हो सकता है कि आज भी वेद का प्रामाण्य पूर्ण स्वस्थ के समान अवस्थित नहीं हो पाया है। क्योंकि स्वदेहगत अनृत अर्थात् मिथ्या कथन आदि दोष वारित नहीं हो पाये हैं। पशु चाहने वाला व्यक्ति 'चित्रा' नामक इष्टि अर्थात् याग करे और पुत्र चाहने वाला व्यक्ति 'पुत्रेष्टि' नामक याग करे, यह वेद में सुना जाता है। परन्तु ऐसी परिस्थिति पायी जाती है कि उन इष्टियों के करने पर भी पशु पुत्र आदि फल प्राप्त नहीं होते हैं। इसलिए चित्रा आदि इष्टियों का विधान असत्य है। इस पर सिद्धान्ती की ओर से यह कहा जा सकता है कि निश्चित रूप से चित्रा विधि वाक्य का यही अर्थ मानना होगा कि जो व्यक्ति पशु काम होगा अर्थात् पशुफल प्राप्त करना चाहे वह चित्रा नामक याग करे।

भवन्तीति एतदेव तावदुपपाद्यम्। ते च भवन्तोऽप्यनन्तरमेव भवन्तीति, एतद् दुरुपपादनम्। अतः कथं न सत्यार्थत्वं चित्रादिचोदनानाम्। उच्यते, यावज्जीवं यजेत, यावज्जीवं जुहुयादिति जीवनवदसाध्यमानपशुकामनैव नाधिकारिविशेषणं भवितुमर्हति पशूनां ततः कर्मणः सिद्धिमनवबुध्यमानस्य तत्राधिकार एव न सम्प्रवर्त्तते एव इति निर्णेष्यते एतत्। आनन्तर्यमपि कर्मस्वभावपर्यालोचनेनैव गम्यते समनन्तरफलत्वेन कर्मणां दृष्टत्वात्। आह च कर्मकाले च फलेन भवितव्यम्।

यत्कालं हि मर्दनं तत्कालं मर्दनसुखमिति, अधिकार्यपि पश्वाद्यभावपरितप्यमानमानस एव कर्मण्यधिक्रियते। यदि सद्य एव ततः फलमासादयेत्, कालान्तरे च कर्मणः प्रध्वंसात्कुतः फलम्। आह च यदा तावदियं विद्यमानासीत्तदा फलं न दत्तवती यदा फलमुद्यत्पते तदासौ नास्ति। असती कथं फलं दास्यतीति। अपि च कालान्तरे फलस्यान्यत् प्रत्यक्षं कारणमुपलभ्यते सेवादि। तस्मिंश्च कारणे इष्टे सति को नाम सूक्ष्मदृष्टिरदृष्टं चित्रादिकारणं कल्पयेत्। तस्मादसत्याश्चित्रादिचोदनाः प्रत्यक्षादिप्रमाण-

यह तो वाक्यार्थ दुरुपपाद है कि – इष्ट करते ही फल प्राप्त हो जायेगा। इसलिए याग करने पर पशु फल होता है, इतना ही तो उपपादनीय है। इसलिए चित्रा आदि के विधिवाक्य को क्यों न सत्यार्थता होगी? तो इसका उत्तर दिया ज़ाता है कि ऐसा तो विधि वाक्य के द्वारा कहा नहीं गया है कि पशुकाम व्यक्ति जब तक जीए तब तक चित्रायाग करता रहे। इसलिए जीवित व्यक्ति के द्वारा प्राप्त न होने वाले पशु की कामना अधिकारी व्यक्ति का विशेषण नहीं विवक्षित हो सकता है। क्योंकि जीवन पर्यन्त पशु फल नहीं मिलेगा ऐसा समझने वाले को चित्रा याग में प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती– यह निर्णय उपस्थित किया जायेगा। फल में कर्म का आनन्तर्य भी कर्म के स्वभाव की पर्यालोचना से अवगत होता है। कर्म समनन्तरफल अर्थात् अव्यवहितोत्तरफलक रूप में ही देखे जाते हैं। कहा भी जाता है फल को कर्म के अव्यवहित उत्तर काल में ही हो जाना चाहिए। जिसी समय शरीर का मर्दन किया जाता है उसी समय मर्दन जनित सुख मिलता है। अधिकारी भी पशु आदि के अभाव से परितप्यमान होकर ही कर्म का अधिकारी बनता है। वह जब कि यह देखता है कि तुरन्त इसके करने से फल मिलेगा। कालान्तर में तो कर्म का प्रध्वंस हो जाता है तो कैसे अधिकारी को उससे फल मिलेगा? कहा भी जाता है कि जब क्रिया थी तो इस ने फल नहीं दिया और जब फल हुआ तो क्रिया नष्ट हो गयी थी, उस समय वह रहती नहीं है। नहीं रहने वाली क्रिया कैसे फलद हो सकती है। और यह भी कि कालान्तर में तो फल का अन्य कारण प्रत्यक्ष रूप से उपलब्ध होता है सेवा आदि।

उन कारणों के देखे ज़ाने पर भला कौन सूक्ष्म दृष्टि व्यक्ति चित्रा आदि जनित अदृष्ट को कारण मानेगा? फल के कारण के रूप में उसकी कल्पना करेगा? इसलिए चित्रा आदि का विधिवाक्य असत्य हैं। यद्यपि वे विधि वाक्य प्रत्यक्ष आदि प्रमाणगम्य अर्थ का

परिच्छेदयोग्यार्थोपदेशत्वे सत्यपि तत्संवादशून्यत्वाद् एवंविधविप्रलम्भकवाक्यवत्।

चित्रादिवचसामेवमपचारस्य दर्शनात्।
अनाश्वासोऽग्निहोत्रादिचोदनास्वपि जायते।।

अग्निहोत्रचोदना मिथ्या वेदैकदेशत्वाच्चित्रादिचोदनादिवत्, तदत्र तावदसंवादाद-प्रामाण्यम्। एवं पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेतेत्येवमादावपि असंवादो द्रष्टव्यः।

विसंवादोऽपि क्वचिद् दृश्यते। प्रमीते यजमाने पात्रचयाख्यं कर्मोपदिश्यैवमादिदेश वेदः। स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गं लोकं यातीति। तत्रैष इति तावदात्मनो निर्देशः क्लिष्ट एव परोक्षत्वात्। स्फ्यकपालादियज्ञायुधसम्बन्धाभावाच्च। कायस्त्वेष निर्दिश्यते स न स्वर्गं लोकं यातीति, तद्विपरीतभस्मीभावोपलम्भादिति विसंवादः। एवं चासंवादविसंवादाभ्यामप्रमाणं वेदः।

व्याघाताच्च उदिते होतव्यमनुदिते होतव्यं समयाध्युषिते होतव्यमिति होमकालत्रयमपि

उपदेशक हैं फिर भी उसके सम्वाद से शून्यता के कारण अर्थात् फल की प्राप्ति तत्काल न देखे जाने के कारण उन विधि वाक्यों को उस प्रकार के वञ्चकवाक्यों के समान सत्य नहीं कहा जा सकता है। और चित्रा आदि के विधि वाक्यों की असत्यता इस प्रकार सिद्ध हो जाने पर अग्निहोत्रादि विधिवाक्य पर भी अविश्वास हो आता है।

अग्निहोत्र का विधान मिथ्या है क्योंकि वह चित्रा आदि के विधान के समान वेद का एक देश है अर्थात् वैदिक वाक्य है। इसलिए यहाँ असम्वाद के कारण अर्थात् कही बात नहीं मिलने के कारण अप्रमाणता प्राप्त होती है। इसी प्रकार 'पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत' अर्थात् पुत्र फल चाहने वाला व्यक्ति 'पुत्रेष्टि' नामक यज्ञ करे इत्यादि स्थल में भी असम्वाद अर्थात् फल की अप्राप्ति के कारण विहित का झूठा होना ज्ञातव्य है। विसम्वाद भी कहीं देखा जाता है। यजमान के मरने पर 'पात्रचय' नामक कर्म का उपदेश करके वेद ने इस प्रकार आदेश दिया है अर्थात् कहा है कि 'वह यज्ञायुधी यजमान अर्थात् यज्ञात्मक अस्त्र को धारण करने वाला यजमान अञ्जसा अर्थात् अनायास स्वर्गलोक जाता है'। वहाँ 'एष' अर्थात् यह इस, प्रकार आत्मा का निर्देश क्लिष्ट है अर्थात् खीचातानी कर के ही कथञ्चित् लगाया जाने वाला है। क्योंकि वह यजमान आत्मा परोक्ष होता है प्रत्यक्ष नहीं रहता है। और 'स्फ्य' 'कपाल' आदि यज्ञायुध के सम्बन्ध का भी अभाव रहता है। 'एष' शब्द के द्वारा तो काय का अर्थात् शरीर का निर्देश होता है और वह स्वर्गलोक नहीं जाता। किन्तु स्वर्गलोक गमन के विपरीत उस शरीर का भस्मीभाव देखा जाता है। इस प्रकार विसम्वाद होता है। अतः असम्वाद और विसम्वाद इन दोनों के कारण वेद अप्रमाण है। और व्याघात अर्थात् परस्पर विरोध भी पाया जाता है। 'उदय काल में हवन करना चाहिए' 'उदय के पहले ही हवन कर लेना चाहिए' और समयाध्युषित में 'अर्थात् उदय

विधाय निन्दार्थवादैः तदेव निषेधति। श्यावो वा अस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति, शवलो वा अस्याहुतिमभ्यवहरति योऽनुदिते जुहोति, श्यावशवलावस्याहुतिमभ्यवहरतो यः समयाध्युषिते जुहोति। न चार्थवादमात्रमेतदिति वक्तव्यम्। यतः –

विधानं कल्प्यते स्तुत्या निन्दया च निषेधनम्।
विधिस्तुत्योः समा वृत्तिस्तथा निन्दानिषेधयोः।।

न हि निन्दा निन्दितुमुपादीयते किं तु निन्दितादितरत् प्रशंसितुमित्ययमपि प्रकारोऽत्र न सम्भवति। कालत्रयस्याप्यत्र निषेधात्कस्यान्यस्य तन्निन्दया प्रशंसा विधीयते। तस्मात्परस्परविरुद्धार्थोपदेशलक्षणाद् व्याघातादप्रमाणं वेदः।

पौनरुक्त्याच्च त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमामित्यभ्यासचोदनायां प्रथमोत्तमयोः सामिधेन्योस्त्रिर्वचनात्पौनरुक्त्यम्। सकृदनुवचनेन तत्प्रयोजनसम्पत्तेरनर्थकं त्रिर्वचनम्। तस्मदित्थमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषकलुषितत्वादप्रमाणं वेदः। तदाह सूत्रकारः 'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः' पुत्रकामेष्टिहवनाभ्यासेष्विति।

और अनुदय के सन्धिकाल में फलतः सूर्य की लालिमा के समय हवन करना चाहिए' इस प्रकार होम के लिए कालत्रय का विधान करके 'निन्दा अर्थवाद' के द्वारा अर्थात् निन्दा वाक्य का प्रयोग करके वेद स्वयं विहित का निषेध करता है 'श्येयावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति शबलो वास्याहुतिमभ्यवहरति य अनुदिते जुहोति। श्याबशबलावास्याहुतिमभ्यवहरतो यः समयाध्युषिते जुहोति।' अर्थात् उसके द्वारा प्रदत्त आहुति को 'श्याव' नाम का कुत्ता खा जाता है। जो कि उदय हो जाने पर हवन करता है। 'शबल नाम का कुत्ता उस प्रदत्त आहुति को खा जाता है जो कि अनुदय काल में ही प्रदत्त हो जाती है। और श्याव तथा शवल दोनों कुत्ते मिलकर उस आहुति को खा जाते हैं जो कि सूर्य के उदय और अनुदय के सन्धिकाल दी जाती है इत्यादि स्थल में। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता है कि यह अर्थवाद मात्र है अर्थात् केवल स्तुति और निन्दा मात्र है अर्थात् इसमें वास्तविकता नहीं है। क्योंकि स्तुति से विधान की कल्पना होती है और निन्दा से निषेध की विधि अर्थात् विधान और स्तुति का स्वभाव तथा निन्दा और निषेध का स्वभाव समान होता है दोनों समान प्रयोजन का ही सम्पादक होते हैं। निन्दा वाक्य का प्रयोग केवल निन्दा मात्र के लिए नहीं किया जाता है। किन्तु निन्दित से अन्य की प्रशंसा भी करने के लिए, यह भी प्रकार यहाँ हो सकता है। और यह भी प्रकार यहाँ नहीं हो सकता है क्योंकि यहाँ तो कालत्रय का भी निषेध किया जा रहा है। फिर किस अन्य की प्रशंसा की जायेगी? इसलिए परस्पर विरुद्ध अर्थ का उपदेशात्मक व्याघात के कारण वेद प्रमाण नहीं है। जैसा कि सूत्रकार ने कहा है कि 'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः'। अर्थात् मिथ्यात्व, परस्पर विरोध एवं पुनरुक्त दोषों के कारण पुत्रेष्टि वेद वाक्य एवं हवनाभ्यास आदि वाक्य स्थल में अप्रामाण्य निर्णीत होता है।

[वेदप्रामाण्याक्षेपपरिहारः]

अत्र समाधिमाह 'न कर्मकर्तृसाधनवैगुण्या'दिति। अयमाशयः अप्रामाण्यसाधनमनृतत्वं परैरुक्तम् अनृतत्वे च साधनं फलादर्शनम्। एतच्चानैकान्तिकम्, अन्यथापि फलादर्शनोपपत्तेः। किं वेदस्यासत्यार्थत्वादत्र फलादर्शनम् उत कर्त्रादिवैगुण्यादिति न विशेषहेतुरस्ति। ननु न कदाचिदपि कर्मसमनन्तरमेव फलमुपलब्धमिति तदनृतत्वमेव तददर्शनकारणं न कारणवैगुण्यमिति। तदयुक्तम्, अविगुणायां कारीर्यां प्रयुक्तायां सद्य एव वृष्टेर्दर्शनात्। पुत्रादिस्त्वैहिकमपि फलं वस्तुस्वभावपर्यालोचनयैव न सद्यो भवितुमर्हति। नहि नभसस्तदानीमेव वृष्टिरिव निपतति पुत्रः स्त्रीपुंसयोगकारणान्तरसव्यपेक्षत्वात्तदुत्पत्तेः। पश्वादिप्राप्तिस्तु कस्यचिदुत्तरकालेऽपि दृश्यते प्रतिग्रहादिना। तथा ह्यस्मत्पितामह एव ग्रामकामः सांग्रहणीं कृतवान्, स इष्टिसमाप्तिसमनन्तरमेव गौरमूलकं ग्राममवाप। नन्वेवं तर्हि प्रतिग्रहाद्येव दृष्टं कारणमस्तु पश्वादेः। पुत्रस्य च स्त्रीपुंसयोगः। किमिष्टेः कारणत्वकल्पनयेति, मैवं वोचः, सत्स्वपि च दृष्टेषु कारणेषु तददर्शनाद्

वेद के प्रामाण्य पर किये गये आक्षेप का परिहार।

इस पर समाधान उपस्थित किया गया है सूत्रकार के द्वारा 'न कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात्' इस सूत्र का आशय यह है कि दूसरों के द्वारा कहा गया है वेद में अप्रामाण्य का साधक 'अनृतत्व' अर्थात् मिथ्या होना। और उस 'अनृतत्व' का अर्थात् मिथ्यात्व का साधक कहा गया है फल का अदर्शन, सो यह हेतु अनैकान्तिक है अर्थात् व्यभिचारी है। क्योंकि फल का अदर्शन तो अन्य कारण से भी हो सकता है। क्या वेद के असत्यार्थक होने के कारण फलादर्शन होता है या कर्त्ता आदि में होने वाले वैगुण्य के कारण फलादर्शन होता है? इसमें कोई विशेष निर्णायक हेतु नहीं पाया जा रहा है। इस पर प्रश्न यह उपस्थित किया जा सकता है कि कभी भी वैदिक कर्म स्थल में कर्म के अव्यवहित उत्तर में ही तो फल नहीं पाया जाता है। इसलिए अनृतत्व ही फल के अदर्शन का कारण है कारण वैगुण्य नहीं, सो युक्त नहीं है। क्योंकि अविगुण रूप में अर्थात् उचित रूप में 'कारीरी' इष्टि के सम्पादन पर सद्यः ही वृष्टि होती पायी जाती है।

पुत्र आदि ऐहिक फल होते हुए भी सद्यः नहीं हो सकता– यह वस्तु के स्वभाव की पर्यालोचना से सिद्ध है। आकाश से सद्यः गिरने वाली वृष्टि के समान पुत्र कहीं से सद्यः नहीं टपक सकता। क्योंकि उनकी उत्पत्ति स्त्री और पुरुष के संयोगात्मक कारणान्तर सापेक्ष होती है। पशु आदि की प्राप्ति तो प्रतिग्रह आदि के द्वारा किसी को अव्यवहित उत्तरकाल में भी होती पायी ही जाती है। जैसे मेरे पितामह ने ही ग्राम की प्राप्ति की कामना से सांग्रहणी नाम की इष्टि की थी और उस इष्टि की समाप्ति के तुरन्त उत्तर 'गौर मूलक' नामक ग्राम प्राप्त किया था। इस पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि तब ग्राम प्राप्ति आदि के प्रति प्रतिग्रह आदि और पुत्र प्राप्ति के प्रति स्त्री पुरुष संयोग आदि अदृष्ट ही कारण क्यों न माने जायें? इष्टि में कारणता की कल्पना की क्या आवश्यकता? तो इसका उत्तर यह है कि ऐसा

इष्टिप्रयोगानन्तरं चैतद्दर्शनादिष्टिकृतं स्त्रीपुंसयोगादिकारणत्वमिति निश्चीयते। किञ्च –

सेवाध्ययनकृष्यादिसाम्येऽपि फलभेदतः।
वक्तुं न युक्ता तत्प्राप्तिर्दृष्टकारणमात्रजा।।
भूतस्वभाववादादि पुरस्तात्प्रतिषिध्यते।
तस्मान्नूनमुपेतव्यमत्रान्यदपि कारणम्।।

तदुक्तम् तच्चापि हि कारणं अन्यच्चेति। यत्र पुनरविगुणेऽपि कर्मणि प्रयुज्यमाने कालान्तरेऽपि पुत्रपश्वादिफलं न दृश्यते तत्र तीव्रं किमपि प्राक्तनं कर्म प्रतिबन्धकं कल्पनीयम्। यथोक्तम् –

फलति यदि न सर्वं तत्कदाचित्तदेव।
ध्रुवमपरमभुक्तं कर्म शास्त्रीयमास्ते।। इति।

कर्मादिवैगुण्यग्रहणमुपलक्षणार्थमृषिणा प्रयुक्तम्। न तु वेदस्याप्रामाण्यकल्पना साध्वी साद्गुण्ये कर्मणः प्राचुर्येण फलदर्शनात्।

अपि च चित्रातः पशवो भवन्तीत्येतावानेव शास्त्रार्थः। आनन्तर्ये तु न किञ्चित् प्रमाणमस्ति। तदयं प्रत्यक्षादिसंवाद आनन्तर्यविषयः चित्रादिचोदना

मत कहो। क्योंकि दृष्ट कारण के होते हुए भी तो फल नहीं देखा जाता है। और इष्टि के प्रयोग के अनन्तर उस फल की प्राप्ति देखी जाती है। इसलिए यह वहाँ निश्चित किया जाता है कि इष्टिकृत स्त्रीपुरुषसंयोग वहाँ पुत्रोत्पत्ति का कारण होता है। और सेवा, अध्ययन तथा कृषि आदि कारणों की समता देखी जाने पर भी वहाँ की फल प्राप्ति को दृष्टमात्र कारणजन्य नहीं कहा जा सकता। क्योंकि आन्तरिक फल का भेद वहाँ अवश्य देखा जाता है। भूतवाद और स्वभाववाद आदि का खण्डन तुरन्त निकट में किया जाने वाला है। इसलिए यह अवश्य ही स्वीकार करना होगा कि दृष्ट कारण के साथ अन्य भी अर्थात् अदृष्ट भी कारण होता है। इसीलिए कहा गया है कि वह भी कारण होता है और अन्य भी। जहाँ फिर कर्म वैगुण्य रहित रूप में भी प्रयोग में लाया जाता है और कालान्तर में भी पुत्र आदि फल होता हुआ नहीं पाया जाता है, वहाँ कोई तीव्र पूर्वजन्मकृत प्रतिबन्धक कर्म कल्पनीय होगा। जैसा कि कहा गया है कि 'शास्त्रीय तथा दृष्ट दोनों प्रकार के कारणों के होते हुए भी फल होता हुआ नहीं देखा जाता है तो वहाँ अवश्य कोई प्राक्तन प्रतिबन्धक कर्म है' यह कल्पना करनी चाहिए। ऋषि ने कर्म आदि के वैगुण्य का ग्रहण उपलक्षणार्थ अर्थात् अन्य का भी संग्रहार्थ किया है।

वेद में अप्रामाण्य की कल्पना इसलिए उचित नहीं कि कर्म के साद्गुण्य पर फल की प्रचुर रूप में प्राप्ति देखी जाती है। और यह भी कि 'चित्रया यजेत' इत्यादि शास्त्र का प्रतिपाद्य अर्थ यह है कि चित्रा नामक याग के करने से पशु प्राप्त होता है। यह नहीं कि उसके तुरन्त अनन्तर वह प्राप्त होता है इसलिए अव्यवहित उत्तर पशु प्राप्ति में कोई प्रमाण

त्वनिर्दिष्टकालविशेषविषयेति विषयभेदान्न सा तेन बाध्यते। तदाह भट्टः –

आनन्तर्याद्यसंवादो नाविशेषप्रवर्तिनीम्।
चोदनां बाधितुं शक्तः स्फुटाद्विषयभेदतः ।। इति।

यत्तु कर्मस्वभावपर्यालोचनया चित्रादेरनन्तरफलत्वमुक्तम् यत्कालं हि मर्दनं तत्कालं मर्दनसुखमिति। तदेतदत्यन्तमनभिज्ञस्याभिधानम्, विधिफलानां क्रियाफलतुल्यत्वानुपपत्तेः। इह किञ्चिद्विधिफलं भवति किञ्चित् क्रियाफलम्। कृष्यादौ तु भूमिपाटवादि क्रियाफलं सस्यसम्पत्तिस्तु विधिफलम्। कः पुनः कृष्यादौ विधिरस्ति वार्त्ताविद्यायां वृद्धोपदेशे वा कश्चिद्विधिः। अन्वयव्यतिरेकौ वा तत्र विधिस्थानीयौ भविष्यतः। लोकेऽपि च वेतनकामः पचतीत्यादौ पाकक्रियाफलमोदनः विधिफलं तु वेतनम्। तत्र क्रियाफलानामेवैष नियमो यत्क्रियानन्तरभावित्वम्। विधिफलानां तु वेतनादीनां नास्ति कालनियमः। इष्टावपि हविर्विकारादि क्रियाफलं सद्यो भवति। मृद्गतस्तु तु पुंसः सेवाफलमनियतकालम्।

नहीं है। इसलिए मान्य यह है कि चित्रा आदि का विधान वाक्य आनन्तर्य मात्र विषयक ज्ञातव्य है। अर्थात् वह यह बतलाता है कि चित्रा याग करने के अनन्तर उसके कर्ता को पशुफल मिलता है। इसलिए यह प्रत्यक्ष आदि का सम्वाद आनन्तर्य विषयक है। और चित्रा आदि का विधान अनिर्दिष्ट काल विशेष विषयक है इसलिए विषय भेद से दोनों के बीच बाध्यबाधकभाव नहीं है। भट्ट ने कहा है – कि विषय भेद के स्फुट होने के कारण आनन्तर्य आदि का असम्वाद अविशेष भाव से प्रवर्त्तक विधान को बाधा नहीं पहुँचा सकता है। कर्म के स्वभाव की पर्यालोचना से जो 'चित्रा' आदि को अव्यवहित उत्तर फलक कहा गया है कि जितने काल तक शरीर का मर्दन किया जाता रहता है उतने ही काल तक मर्दन जनित सुख प्राप्त होता पाया जाता है। सो यह अत्यन्त अनभिज्ञ व्यक्ति का अभिधान ज्ञातव्य है। क्योंकि विहित क्रिया के फल को साधारण लौकिक क्रिया के फल का तुल्य कहना अनुपपन्न है। यहाँ कोई फल विधिफल अर्थात् विहित क्रिया का फल होता है और कोई साधारण क्रिया का फल। कृषि आदि स्थल में भूमि आदि में विशेषता लाना जोतना आदि लौकिक क्रिया का फल होता है और सस्य की सम्पत्ति अर्थात् अच्छी फसल विधिफल होती है। अब इस पर प्रश्न यह उठना स्वाभाविक है कि कृषि आदि स्थल में विधि क्या है? तो इसका उत्तर यह है कि हाँ, वार्ता विद्या में या वृद्धजनों के उपदेश में उसका भी विधान होता है। अथवा अन्वय और व्यतिरेक वहाँ विधि स्थानीय होंगे। लोक में भी 'वेतन चाहने वाला व्यक्ति पाक करता है' इत्यादि लौकिक विधान स्थल में पाक क्रिया का फल होता है ओदन अर्थात् सिद्ध अन्न और विधि का फल होता है वेतन। उनके अन्दर क्रियाफल अर्थात् साधारण क्रिया के फल के लिए ही यह नियम है कि क्रिया के अव्यवहित उत्तर में ही होना। किन्तु विधिफल वेतन आदि के लिए अव्यवहित उत्तरता का नियम नहीं है। इष्टि के अर्थात् याग के स्थल में भी हव्य का पक जाना आदि क्रियाफल तो सद्यः होता है। इसी प्रकार कृषि स्थल में महीगत क्रियाफल सद्यः होता है। और व्यक्ति का

ग्रामकामो महीपालं सेवेतेत्येवमादिषु।
लौकिकेषु विधिष्वस्ति न कालनियमः फले।।

आयुर्वेदोपदिष्टानामप्यौषधविधीनां न क्रियावत्सद्य एवं फलदर्शनम् अपि तु कालापेक्षमेवेति न फलानन्तर्य्ये किञ्चित् प्रमाणम्।

यत्तु पशुविरहकृतकदशनादिदोदूयमानाधिकारिस्वरूपपर्यालोचनया सद्यः फलत्वमुच्यते। तदपि न साम्प्रतम्, पुरुषेच्छामात्रमेतन्न प्रमाणवृत्तम्।

अपि चैहिकत्वं फलस्य तावता सेत्स्यति न पुनः क्रियाफलवत्सद्यस्त्रम्। सन्ति चैहिकफलान्यपि कालान्तरसव्यपेक्षाणि कर्माणि यथा 'ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे' इति। न तत्र पञ्चमवर्षे उपनीतमात्र एव माणवको ब्रह्मवर्चससम्पन्नो भवति कालान्तरे तु भवतीति। एवं वीर्यकामादिष्वपि द्रष्टव्यम्। तस्माद्विधिफलानामानन्तर्य-नियमाभावान्न तद्विसंवादो दोषाय। कालान्तरेऽपि यत्र फलादर्शनं तत्र क्रियावैगुण्यकर्मान्तरप्रतिबन्धादि कारणमित्युक्तम्।

सेवाफल अनियत काल होता है। कहने का तात्पर्य यह कि 'ग्रामकाम व्यक्ति राजा की सेवा करे' इत्यादि लौकिक विधि वाक्य स्थल में फल की प्राप्ति में काल का नियम नहीं होता है। आयुर्वेद में उपदिष्ट औषध सम्बन्धी विधिवाक्य स्थल में भी छेदन आदि क्रियास्थल के समान सद्यः फल की प्राप्ति नहीं देखी जाती है। किन्तु काल की अपेक्षा करके ही फल की प्राप्ति देखी जाती है, अतः फलानन्तर्य में कोई प्रमाण नहीं है। यह जो कहा जाता है कि पशु के अभाव के कारण कदन्न के अशन से दुःखी अधिकारी के स्वरूप की पर्यालोचना करके क्रिया की सद्यः फलदता मान्य मालूम पड़ती है और तदनुसार वह कही जा रही है तो वह भी उचित नहीं है। क्योंकि वह परिस्थिति व्यक्ति की इच्छा मात्र के ऊपर निर्भर करती है कोई प्रामाणिक स्वभाव नहीं है।

और यह भी कि उससे केवल वहाँ फल की ऐहिकता सिद्ध होती है सर्वसाधारण क्रिया स्थल के समान फल में सद्यस्त्व सिद्ध नहीं होता है। हैं ही ऐहिक फलक भी कालान्तर को अपेक्षा करने वाली क्रियाएं। जैसे 'ब्रह्मवर्चस् फल की कामना रखने वाले ब्राह्मण कुमार का उपनयन संस्कार पाचवें वर्ष में ही कर देना चाहिए' इस स्थल में इसका अभिप्राय यह नहीं होता है कि पाँचवे वर्ष में उपनयन करते ही वह माणवक ब्रह्मतेज सम्पन्न हो जाता है। किन्तु कालान्तर में ही वह फल उसे प्राप्त होता है। इसी प्रकार पराक्रम की कामना आदि स्थल में भी ज्ञातव्य है। इसलिए दोनों प्रकार के फलों में आनन्तर्य के नियम का अभाव होने के कारण उसका विसम्वाद दोषाधायक नहीं है। जहाँ कालान्तर में भी फल नहीं देखा जाता है, वहाँ क्रियागत वैगुण्य एवं कर्मान्तरकृत प्रतिबन्ध आदि उसका कारण बतलाया गया है।

[मतान्तरेण वेदप्रामाण्याक्षेपपरिहारः]

अन्ये कर्त्रादिवैगुण्यकल्पनाननुमोदिनः।
इहाफलस्य चित्रादेः फलमामुत्रिकं जगुः।।

सर्वाङ्गोपसंहारेण काम्यकर्मप्रयोगात् ध्रुवं सम्पत्तेः कोऽवसरः कर्मवैगुण्यकल्पनायाः जन्मान्तरे तु तत्फलमिति कल्पनायाः।

तथा च त्रिविधं कर्म किञ्चिदैहिकफलमेव, किञ्चिदनियतफलमेव, किञ्चिचिदामुष्मिकफलमेव इति कल्पना। तत्र कारीर्यादि तावदैहिकफलमेव। तद्धि सकलजनपदसंतापकारिणि महत्यवग्रहे प्रस्तूयते। वृष्टिलक्षणं च तत्फलं स्वभावत एव सकललोकसाधारणम्। आसन्नतयैव तदभिलषणीयमिति सद्य एव भवितुमर्हति, वचनानि च तत्र तादृंश्येव दृश्यन्ते। यदि वर्षेत्तावत्येवेष्टिं समापयेद्यदि न वर्षेच्छ्वोभूते जुहुयादिति। आमुष्मिकफलं तु कर्म ज्योतिष्टोमादि फलस्वभावमहिम्नैव पारलौकिकफलं भवति।

वेदगत प्रामाण्य के आक्षेप का मतान्तर से परिहार।

अन्य कुछ लोग, जो कि कर्ता आदि गत वैगुण्य का अनुमोदन नहीं करते, वे इस जीवन में चित्रा आदि की निष्फलता के स्थल में 'आमुत्रिक' अर्थात् परवर्ती जन्म में उसका फल मानते हैं। उस जन्मान्तरीय पशुफल को लेकर चित्रा इष्टि की सफलता बतलाते हैं। उनका मन्तव्य यह है कि सारी अङ्ग क्रियाओं का उपसंहार पूर्वक काम्यकर्म के प्रयोग से निश्चित रूप से फल सम्पत्ति के कारण कर्म के वैगुण्य की कल्पना का एवं वहाँ जन्मान्तर में फल मिलने की कल्पना का अवसर ही कहाँ रह जाता है? तब फलितार्थ यह है कि कर्म तीन प्रकार के होते हैं। एक वह, जो ऐहिक फलक अर्थात् वर्तमान जीवन में ही फल देने वाला होता है। दूसरा वह, जो कि अनियत फलक अर्थात् हो सका तो इस जीवन में ही और नहीं तो जन्मान्तर में फल देने वाला होता है। और तीसरा वह, जो कि निश्चित रूप से जन्मान्तर में ही फल देता है, वर्तमान जीवन में कभी नहीं, ऐसी कल्पना है। उनके अन्दर 'कारीरी' आदि नियमतः एहिक फलक ही है। वह इष्टि समस्त जनपद को सन्ताप देने वाले महान् अवग्रह के अर्थात् वृष्टि प्रतिबन्धक के उपस्थित होने पर प्रस्तुत की जाती है। वृष्ट्यात्मक उसका फल स्वाभाविक रूप में सकल लोक साधारण अर्थात् समान रूप से सभी लोगों के लिए सुखद होता है। वह आसन्न अर्शात् अतिनिकटवर्ती रूप में ही अभिलषणीय होता है, इसलिए सद्यः ही होना चाहिए। वैदिक वाक्य भी वहाँ वैसे ही देखे जाते हैं। वेद के उस स्थान पर इस प्रकार कहा गया है कि 'यदि वर्षा हो जाय तो इष्टि को समाप्त कर देना चाहिए। और यदि मेघ नहीं वर्षे, उसके द्वारा जल की वर्षा न की जाय तो दूसरे दिन भी हवन जारी रखना चाहिए।' पीछे जन्म में फल देने वाला होने के कारण 'आमुष्मिक' कहलाने वाला तीसरे प्रकार का कर्म होता है 'ज्योतिष्टोम' आदि। वह फल के स्वभाव की महिमा से ही पार लौकिक फलक अर्थात् परवर्त्ती लोक में ही फलतः स्वर्ग

स्वर्गो निरुपमा प्रीतिर्देशो वा तद्विशेषणः।
भोक्तुं नोभयथाप्येष देहेनानेन शक्यते।।

चित्रादि त्वनियतफलं कर्म तत्फलस्य पश्वादेरिह वा परत्र वा लोके सम्भवात्। अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम्। तथा ह्यकृतचित्रायागानामपि इह जन्मनि पशवो दृश्यन्ते ते परिदृश्यमानसेवाप्रतिग्रहादिकारणका एवेति कल्प्यमाने कर्मनिमित्तत्वहानेः बृहस्पतिमतानुप्रवेशप्रसंगः। कर्मनिमित्तकत्वे तु तेषां पशूनामुपपादकं किं कर्मेति निरूपणीयम्। न हि ब्रह्मवर्चसादिफलात् कर्मणः पशवो निष्पद्यन्ते। चित्रा च पशुफलेह जन्मनि तैर्न कृतैव पूर्वजन्मकृता तु तस्मिन्नेव जन्मनि फलं दत्तवतीति नियतैहिक फलाभ्युपगमादिति कुतः पशुसंपत्। ननु गौतमवचनप्रामाण्यात्पूर्वकृत भुक्तशिष्टज्योतिष्टोमादिकर्मनिमित्तकः पशुलाभो भविष्यति। यथोक्तम् – वर्णाश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेयःफलमनुभूय पतन्तः शेषेण विशिष्टदेशश्रुतवृत्तवित्तादियुक्तं जन्म प्रतिपद्यन्ते इति। नैतद्यथाश्रुतं बोद्धुं युक्तम् –

आदि में ही फल देने वाला होता है। ऐसा इसलिए कि 'स्वर्ग' या निरुपम सुख रूप माना जाय किं वा वैसा एक स्थान विशेष, जो कि उस निरुपम सुखात्मक विशेषण से विशेषित हो अर्थात् उसका देने वाला। उभयथा अर्थात् दोनों पक्षों में उसे स्वर्ग का उपभोग इस देह से सम्भव नहीं है। चित्रा आदि तो अनियत फल अर्थात् अनियत काल में फल देने वाला कर्म है। क्योंकि पशु आदि फल तो इस जीवन में भी मिल सकता हैं और जीवनान्तर में भी, दोनों ही सम्भव हैं। यह अवश्य मानना ही होगा।

जैसे कि जिन्होंने चित्रा नामक इष्टि की नहीं, उन्हें भी पशुफल की प्राप्ति होती पायी जाती है। वे पशुफल को प्राप्त करने वाले देखे जाने वाले सेवा प्रतिग्रह आदि को ही कारण रूप में अपनाने वाले होते हैं। ऐसी परिस्थिति में वहाँ विधि वाक्य के द्वारा कथ्यमान में फल के प्रति कारणता होती नहीं है। अतः वृहस्पति के मत में अर्थात् चार्वाक के मत में प्रवेश प्रसङ्ग हो उठता है। यदि वहाँ के पशुफल को भी कर्मनिमित्तक अर्थात् वैदिक कर्म निमित्तक माना जाय तो फलभूत उन पशुओं के उपपादक कर्म का निरूपण करना होगा। ब्रह्मवर्चस् आदि फलक कर्मों से तो पशुप्राप्ति सम्भव नहीं है। और पशुफलक चित्रा इष्टि तो उस पशु फल के प्राप्ति कर्ता के द्वारा इस जन्म में की नहीं गयी। पूर्वजन्म कृत तो वह पूर्व जन्म में ही फल दे डाला। क्योंकि नियत रूप से ऐहिक फल की ही प्राप्ति मान ली गयी तो फिर पशु की सम्पत्ति अर्थात् प्राप्ति कैसे हुई। इस पर यदि यह कहा जाय कि गौतम ऋषि के वचन गत प्रामाण्य के आधार पर भुक्त शिष्ट पूर्वकृत ज्योतिष्टोम आदि से पशुलाभ होगा। जैसा कि कहा गया है कि 'वर्णाश्रम धर्म को अपनाने वाले स्वकर्मनिष्ठ जन प्रेयः फल को प्राप्त करके अर्थात् उसका अनुभव करके परलोक से च्युत होकर कर्मशेष से विशिष्ट स्थान विशिष्ट विद्या विशिष्ट आचरण और विशिष्ट वित्त आदि युक्त जन्म को

न ह्यन्यफलकं कर्म दातुमीष्टे फलान्तरम्।
साध्यसाधनभावो हि नियतः फलकर्मणाम्।।

तस्मात्समूहापेक्षाशेषवाचोयुक्तिर्व्याख्येया बहूनि कर्माणि वर्णा आश्रयाश्च कृतवन्तः। ततः कर्मसमूहाज्ज्योतिष्टोमादिफलं प्रेत्यानुभूयते। तत· शेषेण चित्रादिना कर्मणा विशिष्टं जन्म प्रतिपद्यन्ते इत्यर्थः। तस्मात्पूर्वजन्मकृतचित्रादिनिबन्धन इह जन्मनि पशुलाभो नाकर्मनिमित्तको नान्यकर्मनिमित्तक इत्येवमनियतफलत्वाच्चित्रादेरिह जन्मनि फलादर्शनेऽपि नानृतत्वं, तच्चोदनानां जन्मान्तरे हि ता इष्टयः फलं दास्यन्तीति।

[मतान्तरेण वेदप्रामाण्याक्षेपपरिहारस्य निराकरणम्]

अत्रोच्यते, किं वाचनिकमेतत्कर्मणां त्रैविध्यम्, अथ विधिवृत्तपरीक्षागम्यम् आहो फलरूपपर्यालोचनया लभ्यम्, उत पुरुषेच्छाधीनमिति। तत्र वचनं तावत् त्रिविधविभागप्रतिपादकं नास्ति कारीरीं निर्वपेद् वृष्टिकामः ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेति, चित्रया पशुकामः इत्येतावन्मात्रश्रवणम्। न ह्यत्रैहिकत्वं पारलौकिकत्वमनियतत्वं

प्राप्त करते हैं' तो यह यथाश्रुत समझ में नहीं आता है। अन्य फलक कर्म फलान्तर को देने में समर्थ नहीं हो सकता। फल और कर्म के बीच कार्यकारणभाव तो नियम रूप में ही हुआ करता है। इसलिए गौतमोक्त 'शेष' से फल प्राप्ति के कथन की व्याख्या समूह को अपेक्षा करके करनी होगी। अभिप्राय यह कि– वर्ण और आश्रम वाले ने बहुत कर्म किये थे। उस कर्म समूह के अन्तर्गत ज्योतिष्टोम कर्म का फल मरकर पाता है उस फल का अनुभव करता है। उससे शेषभूत चित्रा आदि कर्म के द्वारा विशिष्ट जन्म को प्राप्त करता है– यह अर्थ है। इसलिए पूर्वजन्मकृत चित्रा आदि मूलक इस जन्म में पशु का लाभ होता है। इसलिए न तो अकर्म निमित्तक होता है और न अन्यकर्म निमित्तक होता है। इस प्रकार चित्रा आदि के अनियत काल फलक होने के कारण इस जन्म में फल न देखे जाने पर भी वैदिक विधान में अनृतत्व की आपत्ति नहीं होती। क्योंकि वे इष्टियाँ जन्मान्तर में फल देंगी।

वेद प्रामाण्याक्षेपपरिहार से सम्बन्धित मतान्तर का निराकरण।

इस पर अब यह कहा जा रहा है, क्या कर्म में कथित त्रैविध्य वाचनिक है? या विधिवाक्य के स्वरूप की परीक्षा के द्वारा अवगत होने वाला है? किं वा फल के स्वरूप की पर्यालोचना के द्वारा वह लभ्य है अर्थात् अवगत होने वाला है? या पुरुष की इच्छा के अधीन है? इनके अन्दर उक्त त्रैविध्य का प्रतिपादक वचन तो है नहीं। क्योंकि 'कारीरीं निर्वपेद् वृष्टिकामः' अर्थात् 'वृष्टि चाहने वाला व्यक्ति कारीरी याग करे, 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' अर्थात् स्वर्ग चाहने वाला व्यक्ति ज्योतिष्टोम याग करे। 'चित्रया पशुकामः' अर्थात् पशु चाहने वाला व्यक्ति चित्रा से उसे प्राप्त करे' इतना ही सुना जाता है। कहीं भी फल में ऐहिकत्व, पारलौकिकत्व और अनियतत्व अर्थात् अनियतकालत्व आदि तो पठित नहीं है।

वा फलस्य क्वचित्पठितम्। विधिवृत्तमपीयदेव यत्सत्प्रत्ययप्रवर्तनं नाम तत्रेदमेवंकामेन कर्त्तव्यमित्येतावाँल्लिङर्थः अपुरुषार्थरूपे तु व्यापारे प्रवर्त्तकत्वलक्षणस्वव्यापार-निर्वहणमनधिगच्छन्विधिरधिकारिविशेषणस्य काम्यमानस्य स्वर्गादेर्भावार्थस्य च यागादेः साध्यसाधनसम्बन्धमाक्षिपति न काम्यमानस्य सद्यः कालान्तरे वा निष्पत्तिमाक्षिपतीति। फलस्वरूपपर्यालोचनया तु सत्यं स्वर्गस्य पारलौकिकत्वमवगम्यते न तु पश्वादेरनियमः। पुरुषेच्छा तु पुरुषेच्छैव न तथा शास्त्रार्थो व्यवस्थापयितुं शक्यः। तस्मान्निष्प्रमाणकं त्रैविध्यम्।

यस्तु चित्रादीनामनियतफलत्वे न्याय उक्तः 'चित्रादीनां फलं तावत् क्षीणं तत्रैव जन्मनि' इत्यादि। स कारीर्यामपि निश्चितैहिकफलायां योजयितु शक्यः।

अद्याकृतायां कारीर्यां न हि देवो न वर्षति।
जन्मान्तरकृता तत्र करीर्या (री) किं न कारणम्।।

तस्मात्साप्यनियतफला भवतु। अथ अस्य सम्पत्सम्पाद्यसुखसम्भोगसाधन-भूतादृष्टनिमित्ता कारीरीष्टिरद्याकृतायामपि कारीर्यामिति मन्यसे तर्हि दधिक्षीरादिभक्षण-

विधि का अर्थात् विधान वाक्य का भी स्वभाव इतना ही है कि वह सही अर्थ को समझाता है। और समझने वाले को प्रवृत्त कराता है। वहाँ अमुक फल की कामना करने वाले को यह करना चाहिए, इतना ही लिङ् का अर्थ होता है। अपुरुषार्थ भूत अर्थात् फलानात्मक व्यापार में प्रवर्तकत्व स्वरूप अपने कार्य का निर्वाह नहीं प्राप्त करता हुआ विधि अर्थात् विधिवाक्य अधिकारी में विशेषण होने वाले कामना विषय स्वर्ग आदि और भावार्थ अर्थात् क्रियात्मक याग आदि के बीच अर्थात् कार्यकारणभाव सम्बन्ध का आक्षेप करता है। काम्यमान फल की निष्पत्ति सद्यः होगी या कालान्तर में होगी– इसका आक्षेप नहीं करता है। हाँ यह सत्य है कि फल के स्वरूप की पर्यालोचना से स्वर्ग में पारलौकिकता अवगत होती है। पशु आदि की अनियतकालता नहीं। व्यक्ति की इच्छा तो व्यक्ति की इच्छा ही ठहरी, उसके द्वारा शास्त्र प्रतिपाद्य अर्थ की व्यवस्था नहीं की जा सकती। इसलिए उक्त फलगत त्रैविध्य निष्प्रमाणक है अर्थात् उसमें कोई प्रमाण नहीं है।

चित्रा आदि की अनियत फलकता के सम्बन्ध में जो न्याय कहा गया है कि 'चित्रादीनां फलं तावत् क्षीणं तत्रैव जन्मनि' अर्थात् चित्रा आदि का फल उसी जन्म में क्षीण हो जाता है, इत्यादि निश्चित ऐहिक फल वाले कारीरी आदि में भी उसे लगाया जा सकता है। ऐसी बात तो नहीं है कि आज कारीरी न करने पर मेघ बरसता नहीं है। वहाँ भी क्यों न ऐसा कहा जाता है कि जन्मान्तर कृत कारीरी वृष्टि के प्रति कारण है? इसलिए वह भी अनियतफला अर्थात् अनियतकालिक फलयुक्त हो जाय। यदि ऐसा मानते हो कि इसकी सम्पत्ति से होने वाले सुख भोग के साधन भूत अदृष्ट को उत्पन्न करने वाली कारीरी इष्टि आज कारीरी के न करने पर भी होती है तो तब पशु लाभ भी दूध दही आदि के भोजन से होने वाले सुख के आक्षेपक कर्म निमित्तक ही हो जायगा। जो चित्रा याग नहीं

सुखाक्षेपि कर्मनिमित्तकः पशुलाभो भविष्यति। अकृतचित्रायागानां कारीर्यधीन ओदनः कृतचित्रादीनां दधीति दध्योदनभोजनसुखसाधनादृष्टकारिता पशुवृष्टिसृष्टिर्भवतु। अथ शृङ्गग्राहिकया पशुफला चित्रेष्टिरुपदिश्यते, तेन न सुखसामान्याक्षेपकर्मनिबन्धनः पशुलाभः। एवं तर्हि वृष्टावपि शृङ्गग्राहिकया कारीरी पठ्यते एवेति वृष्टिरपि सामान्यादृष्टनिबन्धना मा भूत्।

अथ न यदि वर्षेच्छ्वोभूते जुहुयादित्यादिवचनपर्यालोचनया तस्यामैहिक फलत्वमुच्यते। यद्येवं यत्र तादृशं वचनं नास्ति यो वृष्टिकामः स सौभरेण स्तुवीत यदि कामयेत वर्षेत्पर्जन्य इति नीचैः सदो मिनुयादित्यादौ च तत्र पारलौकिकफलत्वं स्यात्। यदि च श्वोभूते जुहुयादिति वचनमहिम्नैव फले सद्यस्त्वमात्रमधिकं भवतु। तादृशवचनरहितानां कर्मणां विस्पष्टसिद्धमप्यैहिकफलत्वं निवर्त्तते।

यत्पुनर्बहुसाधारणत्वेन वृष्टेरैहिकत्वमुच्यते तदपि पश्वादौ समानम्। न ह्यात्मम्भरिरेव यजमानो भवति। तस्यापि सुवासिनीकुमारातिथिभृत्यादिभोजनपूर्वकस्वभोजन-नियमोपदेशात् बहुतरोपकारकत्वं तु वृष्टेरित्यलं तुलया।

करते हैं, उन्हें भी कारीरी के करने प्रयुक्त ओदन अर्थात् सिद्ध अन्न प्राप्त होता है। और चित्रा याग करने वाले को दही का लाभ होता है तो क्यों न ऐसा माना जाय कि दही और सिद्ध चावल के मिलित भोजन जनित सुख के साधन भूत अदृष्ट से ही पशु और वृष्टि दोनों की सृष्टि मान ली जाय? यदि ऐसा माना जाय कि शृंग ग्रहण न्याय से पशुफलक रूप में चित्रा इष्टि का उपदेश हुआ है। इसलिए सुख सामान्य से आक्षिप्त कर्म मूलक उसे नहीं कहा जा सकता? तब उसी प्रकार 'शृंग ग्रहण' न्याय को अपनाते हुए कारीरी इष्टि भी पठित है ही, इसलिए वृष्टि भी सामान्य अदृष्टमूलक न हो। यदि यह कहा जाता है कि 'यदि मेघ नहीं बरसे तो दूसरे दिन भी हवन करना चाहिए' इत्यादि वचन की पर्यालोचना से उसमें ऐहिक फलकत्व है तो वक्तव्य यह है कि यदि ऐसा है, तो जहाँ वैसा नहीं कहा गया है, उन स्थलों में जैसे 'यो वृष्टिकामः स सौभरेण स्तुवीत'। 'यदि कामयेत वर्षेत्पर्जन्यः' 'नीचैः सदो मिनुयात्' इत्यादि स्थलों में पारलौकिक फलकत्व अर्थात् परलोकमें होने वाले फल से युक्त होना आपन्न हो उठेगा। और यदि 'न यदि वर्षेच्छ्वो भूते जुहुयात्' इत्यादि वचन की पर्यालोचना के अनुसार अर्थात् उसके बल पर ऐहिक फलकत्व हो अर्थात् ऐहिक फलयुक्त होना कहा जाता है तो इसका कुफल यह होगा कि तादृश कथन रहित कर्मों में सुस्पष्ट रूप में प्रतिपादित भी ऐहिक फलकत्व निवृत्त हो उठेगा। फिर जो बहुसाधारणता प्रयुक्त वृष्टि में ऐहिकत्व कहा जाता है वह भी पशु आदि में समान ही है। यजमान आत्मम्भरी होता नहीं है। क्योंकि उसके लिए भी सधवा, कुमार, कुमारी, अतिथि एवं भृत्य आदि को खिला करके ही खाने का उपदेश दिया गया है। इसलिए बहुतरोपकारत्व तो उसमें भी वृष्टि के समान पाया ही जाता है।

यदपि प्रत्यासन्नत्वेन काम्यमानत्वाद् वृष्टेरैहिकत्वं कथ्यते तदपि तादृगेव पश्वादेरपि तथैव काम्यमानत्वात्। तत्रावग्रहविहितसन्तापतया प्रत्यासन्नत्वेन वृष्टिरभिलष्यते इहापि दौर्गत्योद्वेगादासन्नतयैव पशवः काम्यन्ते। 'तस्माद्वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षयमन्नद' इत्यादिवचनोपदिष्टसामान्यसुखसाधनादृष्टनिबन्धनैवेयमिहाकृतकर्मणां वृष्टिपश्वादि सम्पदिति न बृहस्पतिमतवदकर्मनिमित्तं फलम्। नापि कर्मफलसाध्य साधनभावनियम व्यावहारोल्लङ्घनमिति।

यच्च करीर्याः क्वचित्फलविसंवादे समाधानमुक्तम्

'फलति यदि न सर्व तत्कदाचित्तदेव।

ध्रुवमपरमभुक्तं कर्म शास्त्रीयमास्ते'।। इति।

तेन साप्यनियतफलैव स्याद् न हि तत्कर्मणः कर्मान्तरमासंसारं प्रतिबन्धकं भवति। फलोपभोगाद्धि तस्यावश्यं क्षयेण भवितव्यम्। प्रतिबन्धके च क्षीणे कारीर्याः स्वफलं तदा दातव्यमेव साप्यदत्तफला न क्षीयते एवेत्येवं जन्मान्तरे तत्फलसम्भव तस्य

फलकत्व कहा जाता है, वह भी वैसा ही है। क्योंकि वह भी उसी प्रकार काम्यमान होता है। वहाँ यदि 'अवग्रह' प्रयुक्त अर्थात् दुरदृष्ट से सन्ताप की प्राप्ति के कारण प्रत्यासन्नता प्रयुक्त वृष्टि अभिलषित होती है तो यहाँ भी दुर्गति प्रयुक्त अर्थात् दारिद्र्य प्रयुक्त उद्वेग के कारण आसन्न रूप में ही पशु भी काम्यमान होते हैं। इसीलिए 'वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षयमन्नदः' अर्थात् प्यासे को पानी देने वाला तृप्ति पाता है और भूखे को अन्न देने वाला व्यक्ति अक्षय सुख को प्राप्त करता है इत्यादि वचनों के द्वारा उपदिष्ट सामान्य सुखसाधन अदृष्ट मूलक ही होता है। यहाँ कर्म न करने वालों की भी वृष्टि पशु आदि की सम्पत्ति देखी जाती है। इसलिए बृहस्पतिमत के समान यहाँ फल अकर्मनिमित्त अर्थात् कर्मानिपेक्ष नहीं होता है। और कर्म तथा फल के बीच साध्यसाधनभाव के नियम सम्बन्धी व्यवहार का उल्लंघन भी नहीं होता है। कारीरी इष्टि के क्वाचित्क फलविसम्वाद स्थल में जो यह भी कहा गया है कि 'फलति यदि न सर्वं तत्कदाचित्तदेव।

ध्रुवमपरमभुक्तं कर्मशास्त्रीयमास्ते'।

अर्थात् एक जातीय सारे यज्ञ यदि नहीं फलद देखे जाते हैं किन्तु कोई फलद होता हुआ देखा जाता है और कोइ नहीं भी। वहाँ वह शास्त्रीय कर्म अब भी अभुक्त रूप में अर्थात् फलभोग रहित रूप में विद्यमान है। फलतः तज्जनित अभुक्त अदृष्ट तब तक अवश्य पड़ा ही रहता है। जब तक कि उसका फल मिल नहीं जाता है। उससे कारीरी भी अनियत फल वाली ही होगी।

जब तक संसार रहेगा तब तक कोई कर्मान्तर उस कर्म के फलजनक का प्रतिबन्धक रहेगा ही– यह बात नहीं हो सकती। फलोपभोग के अनन्तर अवश्य ही उस कर्म को क्षीण होना होगा। इसलिए प्रतिबन्धक के क्षीण होने पर कारीरी के द्वारा अवश्य फल दिया जायेगा। वह भी फल दिये बिना क्षीण नहीं ही होती है। इसलिए इस प्रकार जन्मान्तर में

अनियतफलत्वम्। अनेन च प्रकारेण चित्रादेरप्यनियतफलत्वमस्माभिरिष्यते एव। यत्र सम्यक् प्रयुक्तायामपीष्टौ कर्मान्तरप्रतिबन्धादेव पशूनामनुपलम्भः कल्प्यते तत्र सर्वथा सद्यः फलत्वमात्रवर्जं समानयोगक्षेमा कारीर्या चित्रेष्टिः। एतेन ब्रह्मवर्चसवीर्यान्नाद्य-ग्रामादिकामेष्टयोऽपि व्याख्याताः। तस्माद्यथाश्रुतं गौतमं बोद्धव्यम्।

यदप्यभ्यधायि समग्राङ्गोपसंहारेण काम्यकर्मप्रयोगात् कुतः कर्मणो वैगुण्यावसर इति। तदप्यसारम्, सर्वाङ्गोपसंहारेण प्रवृत्तावपि प्रमादादसंवेद्यमानवैगुण्यसम्भवात्। स च विचित्रः भाष्यकारेण प्रदर्शितः। तस्मात्पूर्वोक्त एव प्रतिसमाधानमार्गः श्रेयान्।

[स्वमतेन धर्मपदार्थनिरूपणम्]

यत्पुनः पूर्वपाक्षिकेण कथितं कालान्तरे कर्माभावात् कुतः फलमिति। तदपि न सम्यक्–

यद्यप्याफलनिष्पत्तेः कर्मणो नास्त्यवस्थितिः।
तथाप्यस्त्येव संस्कारः पुरुषस्य तदाहितः।।
कर्मजन्यो हि संस्कारः पुंसा बुद्ध्यादिवद्गुणः।
तस्य चाफलसंयोगादवस्थितिरुपेयते।।

उसका फल सम्भव होने के कारण उसमें भी अनियत फलता होती है। इस प्रकार से चित्रा आदि को भी हम लोगों के द्वारा अनियत फलक माना ही जाता है। जहाँ पर इष्टि के सम्यक् प्रयोग पर भी कर्मान्तर कृत प्रतिबन्ध के कारण ही पशु की अप्राप्ति कल्पित होती है, वहाँ सद्यः फलत्व को छोड़ती हुई चित्रा इष्टि कारीरी इष्टि के साथ सम्पन्न योगक्षेमवाली होती है। यहाँ किये गये इस विचार से ब्रह्मवर्चस्, वीर्य, अन्नादि तथा ग्राम आदि की कामनाओं से की जानेवाली अन्य इष्टियाँ भी व्याख्यात हो गयीं। इसलिए गौतम को अर्थात् उक्त गौतम वचन को यथाश्रुत ही समझना चाहिए।

यह भी जो कहा गया कि समग्र अङ्गों का उपसंहार पूर्वक जब कि काम्य कर्म का प्रयोग किया जायेगा तो कर्म वैगुण्य का अवसर कहाँ रह पायेगा? सो भी कथन असार है अर्थात् निस्तत्व है। क्योंकि सारे अङ्गो का उपसंहार करते हुए होने वाली प्रवृत्ति स्थल में भी प्रमाद आदि प्रयुक्त अज्ञातवैगुण्य हो ही सकता है। वह विचित्र प्रकार का प्रमाद भाष्यकार के द्वारा बतलाया ही गया है। इसलिए पूर्वोक्त ही प्रति समाधान मार्ग श्रेयस्कर है।

स्वमत सिद्ध धर्म पदार्थ का स्वरूप निरूपण।

पूर्वपक्ष की ओर के लोगों द्वारा जो फिर कहा गया कि कालान्तर में कर्म का अभाव होने के कारण कैसे फल होगा? वह भी सही नहीं है। क्योंकि यद्यपि फल निष्पत्तिकाल पर्यन्त कर्म रहता नहीं है, परन्तु कर्म के द्वारा आहित संस्कार तो तब तक रहता है? पुरुषों में अर्थात् लोगों में रहने वाला कर्मजन्य संस्कार ज्ञान आदि की तरह गुण होता है। उस संस्कार की स्थिति फल होने तक मानी जाती है। इन्द्रिय आदि के संयोग से जिस प्रकार

यथेन्द्रियादिसंयोगादात्मनो बुद्धिसंभवः।
तथा यागादिकर्मभ्यस्तस्य संस्कारसंभवः।।
बुद्धिस्तु भङ्गुरा तस्य संस्कारस्तु फलावधिः।
साध्यसाधनभावो हि नान्यथा फलकर्मणोः।।
स्मृतिबीजं तु संस्कारस्तस्यान्यैरपि मृष्यते।
तथैव फलसंयोगबीजं सोऽस्य भविष्यति।।
स यागदानहोमादिजन्यो धर्मगिरोच्यते।
ब्रह्महत्यादिजन्यस्तु सोऽधर्म इति कथ्यते।।

[मतान्तरेण धर्मपदार्थस्य निरूपणं तत्खण्डनं च]

काथिलास्तु अन्तःकरणस्य बुद्धेर्वृत्तिविशेषमाहुः। आर्हताः पुण्यपुद्गलान् धर्मत्वेन व्यपदिशन्ति। शाक्यभिक्षवश्चित्तवासनां धर्ममाचक्षते। वृद्धमीमांसकाः यागादिकर्म निर्वर्त्यमपूर्वं नाम धर्ममभिवदन्ति। यागादिकमेव शाबरा ब्रुवते। वाक्यार्थ एव नियोगात्मापूर्वशब्दवाच्यो धर्मशब्देन स एवोच्यते इति प्राभाकराः कथयन्ति। तत्र पुण्यपुद्गलवृत्तिपक्षयोः कपिलार्हद्ग्रन्थकथितयोस्तन्मतनिरासादेव निरासः। आत्मनश्च समर्थयिष्यमाणत्त्वात्तस्यैव वासना न चेतस इति सौगतपक्षोऽप्ययुक्तः।

आत्मा में ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार याग आदि कर्म से आत्मा में संस्कार की भी उत्पत्ति होती है। ज्ञान भङ्गुर अर्थात् अत्यल्पकाल स्थायी होती है। परन्तु संस्कार फलोत्पत्ति तक रहने वाला होता है। यदि ऐसा न माना जाय तो फल और कर्म के बीच कार्यकारणभाव नहीं बन पायेगा। आत्मा में स्मृति के प्रति बीज भूत संस्कार तो अन्य लोगों के द्वारा भी सहन किया ही जाता है अर्थात् स्वीकार किया ही जाता है। उसी प्रकार वह संस्कार फल प्राप्ति का भी बीज होगा। वही याग दान आदि से होने वाला संस्कार 'कर्म' इस नाम से भी कहा जाता है। और वही संस्कार यदि ब्रह्महत्या आदि से जन्य होता है तो वह 'अधर्म' नाम से पुकारा जाता है।

मतान्तर से धर्म पदार्थ का निरूपण और उसका खण्डन।

धर्म को कापिल अर्थात् सांङ्ख्य दर्शनानुयायी बुद्धि नाम से कहे जाने वाले अन्तःकरण का धर्म मानते हैं आत्मा का नहीं। जैन दर्शनानुयायी धर्म नाम से पुद्गलों को कहते हैं। शाक्य भिक्षु अर्थत् बौद्ध भिक्षु चित्तवासना को धर्म कहते हैं। वृद्ध मीमांसक जन याग आदि कर्मों से निष्पादित होने वाले अपूर्व को धर्म नाम से पुकारते हैं। शबर मुनि के अनुयायी अर्थात् भाट्ट मीमांसक याग आदि को ही धर्म कहते हैं। नियोगात्मक वाक्यार्थ ही अपूर्व है और वही धर्म है– ऐसा प्रभाकरानुयायी मीमांसक कहते हैं। उनके अन्दर जैन और कापिल ग्रन्थ सम्मत पुद्गल और अन्तःकरणवृत्ति इन दोनों पक्षों का निरास तो उन दोनों के मतों के निरास से ही हो जाता है। आत्मा का समर्थन आगे चलकर किया जाने वाला है। अतः वासना उसी की होगी चेतस् की अर्थात् विज्ञान की नहीं। इसलिए बौद्धों

स्वर्गयागान्तरालवर्त्तिनश्च स्थिरस्य निराधारस्यापूर्वस्य निष्प्रमाणकत्वात् जरज्जैमिनीयप्रवादोऽप्यपेशलः। अपि च फलस्य या काचिदुत्पत्स्यमानदशा यागस्य वा शक्तिरपूर्वशब्देनोच्यते। न च नियोगो वाक्यार्थ एवापूर्वशब्दवाच्यः तस्योपरिष्टादपाकरिष्यमाणत्वात्। नापि यो यागमनुतिष्ठति तं धार्मिक इत्याचक्षते इति यागादिसामानाधिकरण्येन प्रयोगात्स एव धर्मशब्दवाच्य इति युक्तं वक्तुम्। तस्य क्षणिकत्वेन कालान्तरे फलदातृत्वानुपपत्तेः सामानाधिकरण्यप्रयोगोऽपि चैकान्ततो नास्त्येव।

यागदानादिना धर्मो भवतीत्यपि लौकिकाः।
प्रयोगाः सन्ति ते चामी संस्क्रियापक्षसाक्षिणः।।

एवं यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्निति वैदिकोऽपि प्रयोगः तद्विषय एव व्याख्येयः। तस्य स्थायित्वेन कालान्तरे फलदानयोग्यतोपपत्तेः।

संस्कारो नृगुणः स्थायी तस्माद्धर्म इति स्थितम्।
तस्माच्च फलनिष्पत्तेर्न चित्रादौ मृषार्थता।।

यदपि यज्ञायुधिवाक्ये प्रत्यक्षविरुद्धत्वमुपपाद्यते स्म भस्मीभावोपलम्भात्कायस्येति।

का पक्ष भी अयुक्त है। स्वर्ग और याग के मध्यवर्ती स्थिर निराधार अपूर्व की निष्प्रमाणता के कारण वृद्ध जैमिनीय जनों का प्रवाह भी सुन्दर नहीं है। और फल की ही जो कोई उत्पद्यमानता दशा अथवा याग की शक्ति है, वही अपूर्व कहलाती है। वाक्यार्थभूत नियोग ही अपूर्व शब्द वाच्य है, वही धर्म है– यह भी नहीं। क्योंकि उस का अपाकरण अर्थात् खण्डन आगे चलकर किया जाने वाला है। यह भी कहना युक्त नहीं है कि जो याग करता है उसे ही जनता धार्मिक कहती है। इसलिए याग आदि के समानाधिकरण रूप में अर्थात् अभिन्न रूप में याग शब्द का प्रयोग होने के कारण वही [याग] धर्म शब्द का वाच्य है– यह भी कहना सही नहीं है। क्योंकि याग के क्षणिक होने के कारण कालान्तर में उसमें फलदातृता अर्थात् फल देने योग्य मानना युक्त नहीं है। सामानाधिकरण्य रूप में ऐकान्तिक रूप में अर्थात् अव्यभिचारी रूप में प्रयोग है ही नहीं। 'याग और दान आदि के द्वारा धर्म उत्पादित होता है' इस प्रकार के भी लौकिक प्रयोग होते पाये ही जाते हैं। वे प्रयोग धर्म को संस्कारात्मक मानने के पक्ष में साक्षी होते पाये जाते हैं। इसी प्रकार 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' अर्थात् देवगणों ने यज्ञ के द्वारा यज्ञ का यजन किया वे ही प्राथमिक धर्म थे– यह वैदिक प्रयोग अर्थात् वाक्य भी तदनुरूप ही व्याख्येय है। वह आत्मगत गुण-विशेष रूप धर्म स्थायी होने के कारण कालान्तर में भी फलदान योग्य उपपन्न हो सकता है। इसलिए संस्कार आत्मा का स्थायी गुण है, वही धर्म है– यह स्थिर हुआ। उसी के बल पर फलनिष्पत्ति के कारण चित्रा आदि के वैदिक मृषार्थता नहीं होती है अर्थात् वह मिथ्या अर्थयुक्त नहीं होता है। 'यज्ञायुधी एष यजमानः' इस वाक्य में प्रत्यक्ष विरोध भी जो लौकायतिकों के द्वारा उपपादित हो रहा था कि यज्ञकर्त्ता शरीर का तो

तदप्यसमीचीनम्, एष इति शरीराभेदोपचारेणात्मन एव निर्देशात्तस्य च स्वर्गगमनं भवत्येव। गमनं च तदुपभोग एव तस्योच्यते। यथा शरीरादियोगवियोगौ जन्ममरणे इति, न तु व्यापिनः परिस्पन्दात्मकक्रियायोग उपपद्यते। ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नसमवायश्च तस्य कर्तृत्वमिति वर्णयिष्यते। यज्ञायुधसम्बन्धोऽपि स्वस्वामिभावादिस्तस्यैव व्यापकत्वाविशेषेऽपि व्यवस्थयोपपद्यते इति न कश्चिदत्र विरोधः। तस्मात्सर्वत्र निरवकाशमनृतत्वादिदूषणम्।

[वेदे व्याघातादिदोषाभावः]

योऽपि हवनकालविधौ व्याघातदोषो दर्शितः। सोऽपि न दोष एव–

तत्रानुष्ठानभेदेन कालत्रितयचोदनात्।
यो यस्य चोदितः कालो लङ्घनीयो न तेन सः।।
ततश्चान्यतमं कालमभ्युपेत्येनमुज्झतः।
निन्देति न विरोधोऽत्र कश्चिद्विधिनिषेधयोः।।
अभ्यासे पौनरुक्त्यं च कार्यार्थत्वाददूषणम्।
संपाद्यं पाञ्चदश्यं हि सामिधेनीषु चोदितम्।।

भस्मीभाव उपलब्ध होता है, वह भी समीचीन नहीं है। 'एष' अर्थात् 'यह' इस प्रकार जो निर्देश हुआ है, वह आत्मा को अभिप्राय करके न कि शरीर को अभिप्राय करके। उस आत्मा को तो स्वर्ग प्राप्त होता ही है। वह स्वर्ग का उपभोग ही 'स्वर्गगमन' पद से अभिप्रेत है। वही उस गमन पद से कहा गया है। जिस प्रकार आत्मा के जन्म और मरण शरीर संयोग और शरीर वियोग ही माने जाते हैं। क्योंकि व्यापक उस आत्मा में परिस्पन्दात्मक क्रिया का सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता है। आत्मा में ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न का समवाय ही होता है कर्तृत्व, यह आगे चलकर वर्णित होगा। यज्ञायुध सम्बन्ध भी उसका स्वस्वामिभाव आदि रूप ही विवक्षित है। व्यापकता होने पर भी उस स्वस्वामिभाव की स्थिति को लेकर ही वह यज्ञायुध सम्बन्ध उपपन्न होता है। इसलिए इस में कोई विरोध नहीं है। इसलिए सर्वत्र अनृतत्व अर्थात् मिथ्यात्व दोष निरवकाश है।

वेद में व्याघात आदि दोष का अभाव।

हवन के काल के सम्बन्ध में जो व्याघात आदि दोष दिखलाया गया था वह भी नहीं लगता है। क्योंकि वह अनुष्ठान गत विभिन्नता के आधार पर तीन कालों का विधान किया गया है। जिस व्यक्ति के लिए जो काल विहित है, वह उसके द्वारा लंघनीय नहीं है। इसलिए काल विशेष का अभ्युपगम करके उस नियम का उल्लंघन करने वाले की निन्दा की गयी है। वहाँ विधि और निषेध गत कोई विरोध नहीं है। अभ्यास स्थल में पौनरुक्त्य भी दोष नहीं है, क्योंकि वह किसी प्रयोजन से किया जाता है। क्योंकि सामिधेनीमन्त्रगत

'इममहं पञ्चदशारेण वज्रेणापबाधे योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म' इति श्रूयते। एकादशसामिधेन्य ऋचः पठ्यन्ते। तत्राभ्यासमन्तरेण पाञ्चदश्यं नावकल्पते इत्येवमवश्यकर्त्तव्योऽभ्यासः। स चायमनियमेन प्राप्तो वचनेन नियम्यते प्रथमोत्तमे ऋचौ त्रिरुच्चारणीये इति। तस्मात्तत्प्रयोजनार्थत्वान्न पुनरुक्ततादोषः।

अभ्यासे फलरहिते हि पौनरुक्त्यं
दोषः स्यादिह तु न तस्य निष्फलत्वम्।
व्याघातानृतपुनरुक्ततादि तस्मा-
द्वेदस्य श्लथयति न प्रमाणभावम्।।
इयं च वाक्यार्थविचारणापि
प्रामाण्यसिद्ध्यौपयिकीति मत्वा।
चक्रे स्वशास्त्रे मुनिनेह वेद-
प्रामाण्यनिर्वाहणदीक्षितेन।।

[अर्थवादवाक्यमूलक-वेदप्रामाण्याक्षेपः]

ननु नाद्यापि वेदस्य भवद्भिर्निपुणैरपि।
स्वदेहसंभवा दोषा निखिलाः परिपिञ्जिताः।।

रूप में विहित 'पाञ्चदश्य' सम्पन्न नहीं हो पाता है। अर्थात् पन्द्रह संख्या अन्यथा सम्पन्न नहीं हो सकती है, जो कि विधिवाक्य के अनुसार सम्पादनीय है।

वेद में सुना जाता है कि 'जो व्यक्ति हम लोगों पर द्वेष रखता है और जिस पर हम लोग द्वेष रखते हैं, उस पर पन्द्रह काटेदार वाग्वज्र के द्वारा प्रहार करता हूँ।' सामिधेनी मन्त्र ग्यारह ही पढ़ी गयी हैं। वहाँ अभ्यास के बिना उसकी पन्द्रह संख्या उपपन्न नहीं होती नहीं। इस प्रकार उसका अभ्यास अर्थात् ग्यारह बार से अधिक उच्चारण अवश्य कर्त्तव्य है। सो यह अभ्यास अनियत रूप में प्राप्त होने पर वचन के द्वारा नियमित होता है। प्रथम और अन्तिम मन्त्र तीन-तीन बार उच्चारणीय हैं। इसलिए पुनःपुनः उच्चारण का यह प्रयोजन होने के कारण पुनरुक्तता दोष नहीं होता है। फल रहित अभ्यास अर्थात् पुनः उच्चारण होने पर पुनरुक्ति-दोष होता है। यहाँ तो अभ्यास दोष नहीं है। इसलिए परस्पर विरोधात्मक व्याघात, अनृत अर्थात् मिथ्याकथन और पुनरुक्ति आदि दोष वेद में प्रामाण्य को शिथिल नहीं करते हैं। यह वाक्यार्थ का विचार भी वेद के प्रमाण्य की सिद्धि में अनुकूल है– यह समझकर वेद गत प्रामाण्य के निर्वहण में दीक्षित अर्थात् संलग्न अक्षपाद मुनि के द्वारा अपने शास्त्र में वह किया गया है।

वेद के प्रामाण्य पर अर्थवाद मूलक आक्षेप।

अब प्रश्न यह उठाया जाता है कि आप लोग जैसे निपुण जनों के द्वारा आज भी वेद के स्वदेहगत दोष उन्हें पहचान कर नहीं हटाये गये। जैसे 'सोऽरोदत् यदरोदीत् तत् रुद्रस्य

तथा हि 'सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्, प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्तामग्नौ प्रागृह्णात् ततोऽजस्तूपर उदगात्, देवा वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्राजनन्नि' त्येवमादीनामर्थवादानां किं यथाश्रुतवस्तुपरत्वमुत तेभ्यः कार्यरूपार्थोपदेशपरिकल्पनम् उत लिङादियुक्तवाक्यान्तरप्रतिपाद्यमानकार्यरूपार्थौपयिकत्वमिति चिन्त्यम्। सर्वथा च प्रमादः। स्वरूपपरत्वे तावत्प्रमाणान्तरविरुद्धार्थोपदेशादप्रामाण्यमेवावतरति। रोदनवपोत्खेदनदिङ्मोहादेरर्थस्य तथात्वे निश्चयाभावात्।

किञ्च 'स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वागि'त्येवंजातीयकानामर्थवादवाक्यानां विस्पष्टमेव प्रामाणान्तरविरुद्धार्थप्रत्यायकत्वम्। न हि निसर्गत एव सर्वप्राणिनामनृतवादिनी वाग्भवति स्तेनं वा मनः।

अपि च 'धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिस्तस्मादर्चिरेवाग्नेर्नक्तं ददृशे न धूम' इति प्रत्यक्षविरुद्धमिदमभिधीयते नक्तंदिनं द्वयोरपि इन्द्रियार्थसन्निकर्षे सति ग्रहणात्।

किं च एतन्न विद्मो यदि ब्राह्मणाः स्मोऽब्राह्मणा वेति ब्राह्मणजातेरुपदेश-

रुद्रत्वम्' अर्थात् 'वे रोये। जो वे रोये वह उनका रोना ही है रुद्रता।' प्रजापति ने अपनी चर्वी उखाड़ डाली, उससे उन्होंने अग्नि में हवन किया, जिसे अग्नि ने प्रकृष्ट रूप में ग्रहण किया। उससे बकरा और दुम्मा भेंड़ा निकला'। देवताओं ने देवयज्ञ के सम्बन्ध में दृढ़ निश्चय कर के दिशाओं तक को नहीं जाना ये अर्थवाद वाक्य क्या यथाश्रुत अर्थ ही में अभिप्राय रखने वाले हैं? य उनसे कर्तव्य क्रिया के स्वरूप के उपदेश की कल्पना विवक्षित है? अर्थात् लिङ् आदि से युक्त वाक्यान्तर के द्वारा प्रतिपादित होने वाली क्रिया का उपयोगी होता है? यह विचारणीय है।

सभी प्रकार से प्रमाद ही पाया जाता है। स्वरूप परक मानने पर प्रमाणान्तर विरुद्ध अर्थ का उपदेश होने के कारण वेद में अप्रामाण्य ही अवतरित होता है। रोना, चर्वी उखाड़ना तथा दिङ्मोह आदि विरुद्ध अर्थ के उपदेश के कारण यहाँ प्रामाण्य का निश्चय नहीं होता है। और 'मन चोर है वाणी झूठ बोलने वाली है' इत्यादि के प्रतिपादक अर्थवाद वाक्यों में स्पष्ट ही यह प्रतीत हो रहा है कि वे अर्थवाद वाक्य प्रमाणान्तर विरुद्ध अर्थ का प्रत्यायन अर्थात् बोधन कराते हैं। सारे प्राणियों की सारी वाणियाँ स्वाभाविक रूप से झूठ ही नहीं बतलाती है। सारे मन स्वभावतः चुराने वाले ही नहीं होते हैं। और यह भी कि 'आग के धूम ही दिन में देखे जाते हैं किरणें नहीं देखी जाती हैं अर्थात् प्रकाश नहीं दिन में देखें जाते हैं। इसीलिए रात में आग के प्रकाश ही देखे जाते हैं उसके धूम नहीं' यह प्रत्यक्ष विरुद्ध कहा जा रहा है। क्योंकि क्या दिन और क्या रात दोनों में इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष होने पर दोनों देखे जाते पाये जाते हैं। और यह भी कि 'यह हम लोग नहीं जान पा रहे हैं कि हम लोग ब्राह्मण हैं या अब्राह्मण? एतदर्थक वैदिक अर्थवाद वाक्य विरुद्धार्थक है। क्यों उपदेश की सहायता लेने वाले प्रत्यक्ष के द्वारा ब्राह्मण जाति का प्रत्यक्ष होता ही

सहायप्रत्यक्षगम्यत्वात्तद्विरुद्ध एषोऽर्थवादः। शास्त्रविरोधोऽप्यस्ति को ह वै तद्वेद यदमुष्मिँल्लोकेऽस्ति वा न वेति। शास्त्रे स्वर्गादिफलानां ज्योतिष्टोमादिकर्मणामुपदेशात् केयमनवक्लृप्तिः।

अपि च गर्गत्रिरात्रब्राह्मणमधिकृत्य श्रूयते शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेदेति। न हि कस्यचिदेवंविदतो मुखं शोभते इति प्रत्यक्षविरोधः।

अन्यकर्मानर्थक्यशंसी च कश्चिदर्थवादो भवति पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति, पशुबन्धयाजी सर्वाँल्लोकानभिजयति, तरति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते यश्चैवं वेदेति। यदि पूर्णाहुत्यैव सर्वकामावाप्तिः पशुबन्धयागेनैव सर्वलोकजयः अश्वमेधवेदनेनैव तत्फलावाप्तिः तत्किमर्थमन्यकर्मोपदेशः। उपदिष्टान्यपि तानि बहुक्लेशसाध्यानि कर्माणि व्यर्थानि भवेयुरनेनैव लघुनोपायेन तत्फलप्राप्तेर्दर्शनात्।

अपि च न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवीति वेदे चयननिषेध एवात्र भङ्ग्या भवेद्दिवि चान्तरिक्षे च तावच्चयनप्रयोग एव नास्ति किं तन्निषेधेन। पृथिवीचयननिषेधार्थं च यद्वाक्यं तच्चयनप्रतिषेधार्थमेव भवेत्। अपृथिव्यधिकरणस्य चयनस्यानुपपत्तेः।

है। प्रत्यक्ष विरोध की तरह शास्त्र विरोध भी पाया जाता ही है। क्योंकि 'कौन जानता है कि स्वर्ग आदि इन फलों के अन्दर है या नहीं' इस प्रकार अनिश्चय क्यों जब कि शास्त्र में स्वर्गफल देने वाले ज्योतिष्टोम आदि कर्मों का अर्थात् यागों का उपदेश पाया ही जा रहा है? और गर्गत्रिरात्र ब्राह्मण के बारे में यह सुना जाता है कि 'जो इस प्रकार जानता है उसका मुख सुशोभित होता है – यह बात प्रत्यक्ष विरुद्ध है। अन्य कर्म की अनर्थकता को कहने वाला कोई अर्थवाद है कि पूर्णाहुति से सारी कामनाओं को प्राप्त करता है। पशुबन्ध याग करने वाले लोग सारे फलों को जीतता है। मृत्यु को पार कर जाता है, पापों को तैर जाता है। वह ब्रह्म हत्या को भी तैर जाता है, जो अश्वमेध याग करता है, जो इस प्रकार जानता है। यदि पूर्णाहुति से ही सारे फलों की प्राप्ति हो जाये, पशुबन्ध नामक याग से ही सभी लोकों में जय हो। अश्वमेध याग से ही उसके फल की प्राप्ति होगी, तब अन्यकर्म का उपदेश क्यों? उपदिष्ट होने वाले भी बहुत से कर्म व्यर्थ हो जायेंगे, जो कि अनेकानेक क्लेश साध्य होंगे। क्योंकि इस लघु उपाय से ही फल की प्राप्ति बतलाया गया है।

और यह भी कि 'पृथिवी पर अग्नि का चयन करना चाहिए अन्तरिक्ष में नहीं और द्युलोक में भी नहीं। इस प्रकार जो निषेध किया गया है वह निषेध सही नहीं होता है। क्योंकि अन्तरिक्ष में या द्युलोक में तो चयन सम्भव नहीं है। फिर उसका निषध क्यों? पृथिवीचयन निषेधार्थक जो वाक्य कहा गया है, वह पृथिवी पर होने वाले चयन के निषेध के लिए ही कहा गया है। पृथिवी भिन्न अधिकरण में चयन अनुपपन्न है। और 'यजमान

अपि च यजमानः प्रस्तर आदित्यो यूप इत्येवंजातीयकानां प्रत्यक्षविरुद्धार्थाभिधायिनामर्थवादानां का परिनिष्ठेति। तस्मान्न स्वरूपपरत्वं तेषामुपपद्यते।

नापि तेभ्य एव कार्यरूपार्थपरिकल्पनमुपपन्नम् अशक्यात्। सोऽरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमित्यत्र कार्यं कल्प्यमानमेवं कल्प्येत। रुद्रः किल रुरोद अतोऽन्येनापि रोदितव्यमिति। तच्चाशक्यम्, प्रियविप्रयोगजनितसंतापवशेन हि वाष्पमोचनं रोदनमुच्यते न तच्चोदनोपदेशात्कर्तुं शक्यते, प्रजापतिरात्मनो वपामुच्चिखेद, तस्मादन्योऽप्येव मुत्खिदेदात्मनो वपामिति दुरनुष्ठानोऽयमर्थः। को हि नामात्मनो वपामुत्खिदेत्, कस्य वा वपा होमे सति समनन्तरमेव अजः पशुस्तूपर उद्गच्छेदिति। देवा दिशो नाज्ञासिषुरतोऽन्योऽपि न जानीयादिति। अशक्योपदेशो न हि दिङ्मोहो नामोपदेशात्कर्तुं शक्यः। न च सर्वस्मादर्थवादाद्विधिः कल्पयितुं शक्य इति मध्यमोऽपि न सत्पक्षः।

नापि तृतीयः पक्ष संभवति। वाक्यान्तरविहितकार्यरूपार्थोपयिकत्वं हि तदुपयोगि-द्रव्यदेवतादिविधानद्वारकं भवति यथाग्निहोत्रं जुहोतीत्यत्र दध्ना जुहोति, पयसा जुहोतीति

पत्थर है' 'यूप आदित्य है' इत्यादि प्रत्यक्ष विरुद्ध अर्थों के प्रतिपादक अर्थवाद वाक्यों की स्थिति क्या होगी? इसलिए अर्थवाद वाक्यों को यथाश्रुत स्वरूपार्थक नहीं माना जा सकता। उसकी स्वरूपार्थकता उपपन्न होती है। उन अर्थवाद वाक्यों के द्वारा ही क्रियात्मक अर्थ की परिकल्पना भी उपपन्न नहीं हो सकती, क्योंकि वह की नहीं जा सकती। 'सोऽरोदीद्यदरोदीत्' इत्यादि अर्थवाद वाक्य स्थल में कार्य की कल्पना इस प्रकार करनी होगी कि 'रुद्र रोये इसलिए औरों को भी रोना चाहिए'। सो अशक्य है अर्थात् सम्भव नहीं है। क्योंकि कोई यों ही नहीं रोता, रोना वह अश्रुपात ही कहलाता है, जो कि प्रियविरह आदि जनित सन्ताप प्रयुक्त होता है। वह विधि वाक्य के उपदेश से नहीं हो सकता है। इसी प्रकार 'सप्रजापतिरात्मनो वपामुदाखिदत्' इस अर्थवाद वाक्य स्थल में भी 'प्रजापति ने अपनी चर्वी उखाड़ डाली' इसलिए और लोग भी अपनी चर्वी उखाड़ डालें, यह किया नहीं जा सकता है। कौन भला अपनी चर्वी उखाड़ डाल पायेगा? और केस के द्वारा अपनी चर्वी का हवन करते ही वकरा और दुम्मा भेंड़ा उद्गत हो उठेगा? यह भी उपदेश नहीं किया जा सकता कि देवताओं ने दिशाओं को नहीं समझा, इसलिए औरों को भी दिशाओं को नहीं समझना चाहिए। क्योंकि किसी के उपदेश पर दिग्भ्रम किया नहीं जा सकता है। इस अर्थवाद वाक्य से विधि वाक्य की कल्पना नहीं की जा सकती है। इसलिए मध्यम अर्थात् द्वितीय पक्ष भी सही नहीं है। तृतीय पक्ष भी सही नहीं है। क्योंकि वाक्यान्तर के द्वारा विहित क्रिया में उपयोगी अर्थवाद वाक्य उस क्रिया के प्रति उपयोगी होने वाले द्रव्य या देवता का प्रकाशन करके ही सार्थक हो सकता है। जिस प्रकार कि 'अग्निहोत्रं जुहोति'' अर्थात् अग्नि होत्र नामक यज्ञ करे यहाँ पर 'दध्ना जुहोति' अर्थात् दही से हवन करना चाहिए यह दूसरा वाक्य किंवा 'पयसा जुहोति' अर्थात् दूध से हवन

द्रव्यविनियोगविधेर्यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति देवताविधेर्वा। न चायमर्थवादेषु प्रकारः संभवति। न चैभिः ब्रीहीनवहन्ति ब्रीहीन् प्रोक्षतीतिवद्दृष्टादृष्टा वा काचिदितिकर्त्तव्यतोपदिश्यते। तस्मान्न तेषां तदौपयिकत्वम्।

ननु प्रेक्षावतां प्ररोचनातिशयकरणेन प्रवृत्त्युत्साहमावहन्तोऽर्थवादास्तदुपयोगिनो भविष्यन्ति। नैतदपि सम्यक्, प्रवृत्त्युत्साहो हि केषांचिन्मते निरपेक्षशब्दप्रत्ययादेव सिद्ध्यति। अस्मन्मते तु तत्प्रणेतृपुरुषप्रत्ययादिति किं प्ररोचनया। एवंकाम इदं कुर्यादित्युक्ते यस्तत्र न प्रवर्त्तते स प्ररोचनयापि न प्रवर्त्ततैवेति यत्किंचिदेतत्। तदेवं प्रकारत्रयेणाप्य र्थवादपदानामनन्वयात् एकदेशाक्षेपेण सर्वाक्षेप एव क्रियते इति अप्रमाणं वेदः।

ननु यावत्येव प्रमाणान्तरविरुद्धत्वमुपलभ्यते तावत्येवाप्रामाण्यमस्तु सर्वत्र तु कुतस्त्या तदाशङ्केति। मैवम्, तत्सामान्यादन्यत्राप्यनाश्वासः। मीमांसकपक्षे हि अर्थवादरहित-

करना चाहिए, यह दूसरा वाक्य द्रव्य विनियोग विधि के रूप में उपयोगी होता है। इस प्रकार उक्त विधि वाक्य स्थल में 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति' अर्थात् अग्नि और प्रजापति को सायंकाल में हव्य देना चाहिए, इन वाक्यों का उपयोग देवता के प्रकाशन द्वारा होता है। यह प्रकार अर्थवाद वाक्य स्थल में नहीं हो सकता है। इन अर्थवाद वाक्यों के द्वारा 'ब्रीहीन् प्रोक्षति' 'ब्रीहीनवहन्ति' के समान दृष्ट अथवा अदृष्ट कोई इतिकर्तव्यता उपदिष्ट नहीं होती। इसलिए उक्त अर्थवाद वाक्यों को विधि के साथ वाक्यान्तर का उपयोगित्व नहीं है। इस पर प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि अर्थवाद वाक्य प्रेक्षावानों के लिए प्ररोचना गत अतिशय को करने के द्वारा प्रवृत्ति में उत्साह देते हुए उसमें अर्थात् प्रवृत्ति में उपयोगी होंगे। तो सो भी सही नहीं है। क्योंकि प्रवृत्ति में उत्साह तो कुछ लोगों के मत में निरपेक्ष शब्द जनित बोध से ही हो जायेगा। और हम लोगों के मत में उस वाक्य के मौलिक वक्ता पर विश्वास के कारण अर्थात् वक्ता पुरुष में होने वाली आप्तता के कारण प्रवृत्ति में उत्साह होगा। इसलिए प्ररोचना की अर्थात् क्रिया की प्रशंसा की क्या आवश्यकता? 'यह कामना रखने वाला व्यक्ति यह क्रिया करे' ऐसा कहने पर जो फल कामना शील व्यक्ति उस क्रिया में प्रवृत्त नहीं होगा, वह प्ररोचना से भी प्रवृत्त नहीं होगा। इसलिए अर्थवाद वाक्य प्ररोचना के द्वारा उत्साह जनन कर के प्रवृत्ति में उपयोगी होता है – यह कथन जो कुछ कह देना मात्र है अर्थात् निस्सार है।

इसलिए उक्त प्रकार त्रय से भी अर्थवाद का सम्बन्ध न होने के कारण एकदेश पर किया जाने वाला आक्षेप अनपहृत रह जाने पर समग्र वेद पर आक्षेप किया गया रह जाता है। इसलिए वेद प्रमाण नहीं हो सकता। इस पर यह कहा जा सकता है कि वेद के जितने अंशो में प्रमाणान्तर द्वारा विरोध प्राप्त होता है, उतने ही अंश को अप्रमाण माना जाय समग्र वेद को क्यों अप्रमाण माना जाय? क्यों सारे वेद पर अप्रमाण्य की आशङ्का की जाय? तो ऐसा नहीं। क्यों उस अप्रमाणभूत वेदांश से समानता के कारण वेद के अन्य

केवलवेदग्रन्थानुपलम्भात् तदनुषङ्गेण सर्वत्र सापेक्षत्वमवतरति। नैयायिकमते तु वेदप्रणेतुरीश्वरस्य क्वचिद्वितथवादित्वे दृश्यमाने कथमन्यत्र सत्यवादितायां दृढः प्रत्ययो भवेदित्यप्रामाण्यं सर्वत्रेति।

[अर्थवादवाक्यमूलकस्य वेदप्रामाण्याक्षेपस्य परिहारः]

अत्राभिधीयते, विध्येकवाक्यतयैव भूम्ना तावदर्थवादपदानि पठ्यन्ते 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यतो यद्यपि क्रिया नावगम्यते। नापि तत्संबद्धः कश्चिदर्थः। तथापि विध्युद्देशेनैकवाक्यत्वं प्रतीयते भूतिकाम इत्येवमन्ते विध्युद्देशस्तेनैकवाक्यभूतो वायुर्वैक्षेपिष्ठेत्येवमादिः कथमेकवाक्यभावः पदानां साकाङ्क्षत्वात्।

ननु भूतिकाम इत्येवमन्तेन वाक्येन विधेयं विहितम्, उत्पादितं प्रतिपत्तुरनाकाङ्क्षत्वं, कृतं च शब्दकर्त्तव्यमिति। किमनेन क्षेपिष्ठेत्यादिना प्रयोजनम्। तदर्थस्यैव स्तुतिरिति ब्रूमः।

अंश पर भी अविश्वास हो उठेगा। मीमांसकों के पक्ष में अर्थवाद रहित केवल वेद का उपलभ्मन होने के कारण उसके अर्थात् सापेक्ष वेदांश के सम्बन्ध प्रयुक्त समग्र वेद में सापेक्षता का अवतरण हो उठता है। और नैयायिक पक्ष में भी कहीं भी वेदकर्त्ता परमेश्वर को मिथ्यावादी देखकर अन्यत्र सत्यवादिता में दृढ़ विश्वास कैसे होगा? इसलिए सभी वेद में अप्रामाण्य सिद्ध होता है।

अर्थवाद वाक्य मूलक वेद में अप्रामाण्य के आक्षेप का परिहार।

इस पर कहा जा रहा है अर्थात् इसका उत्तर दिया जा रहा है कि प्रचुर रूप से विधि वाक्य के साथ एक वाक्यता के अभिप्राय से ही अर्थवाद वाक्य पठित हुए हैं। जैसे 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' अर्थात् भूतिकाम व्यक्ति वायुदेवताक श्वेत पशु का वध करे इत्यादि विधिवाक्य के साथ 'वायु वैं क्षेपिष्ठा देवता' अर्थात् वायु देवता शीघ्रगामी हैं इत्यादि अर्थवाद वाक्य पठित है। यद्यपि अर्थवाद वाक्य से कोई क्रिया नहीं अवगत होती है और तत्सम्बद्ध कोई पदार्थ भी नहीं अवगत होता है, फिर भी विधिवाक्य को उद्देश्य करके एकवाक्यता प्रतीत होती है। 'भूतिकामः' यह हुआ है अन्तमें विधिका उद्देश्य, उसके साथ एक वाक्य बनता है 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादि। यदि पूछा जाय कि एक वाक्यता कैसे? तो उत्तर है कि पदों की साकांक्षता के कारण। इस पर प्रश्न यह उपस्थापित होता है कि 'भूतिकामः' एतदन्त युक्त वाक्य के द्वारा विधेय विहित हुआ है अर्थात् उत्पादित हुआ है। फलतः प्रतिपत्ता को निराकांक्ष किया गया है। और शब्द के लिए जो कुछ कर्त्तव्य होता है वह कर दिया गया है। तो फिर इस 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' अर्थात् वायु शीघ्र गामी देवता है, इस कथनका क्या प्रयोजन? तो इसका उत्तर यह है कि वायु देवता की प्रसन्नता के लिए दी जाने वाली श्वेत छागबलि क्रिया की प्रशंसा के लिए– यही हम लोग कहते हैं।

ननु स्तुत्या किं प्रयोजनम् स्तुतोऽस्तुतश्च तावानेव सोऽर्थः। मैवम्, सस्तुतिपदे हि वाक्ये स्तुतिपदसहितं विधायकं विधायकं भवति। किमिदानीं केवलं लिङादियुक्तं वाक्यं न विधायकमुच्यते यदि स्तुतिपदानि न श्रूयन्ते तद्बाढं भवति विधायकम्। एतेषु च सत्सु तत्सहितं तद्विधायकं भवति न केवलं तथा प्रतीतेः। स्तुतिपदसंबन्धे सति भिन्नवाक्यता मा भूदिति विधिपदेन च स्तुति पदेन च संभूयार्थो विधीयते तथावगमात्, अन्यथा हि प्रतीयमानः पदार्थान्वयस्त्यज्येत वाक्यभेदो वा कल्प्येत। तस्मान्न स्तुतिपदानामानर्थक्यम्।

ननु केवलस्यापि विधिवाक्यस्य सामर्थ्यात् किमर्थं स्तुतिपदानि प्रयुज्यन्त इति। उच्यते, अपर्यनुयोज्यो जैमिनीयानां मते शब्दः। अस्माकं च भगवानीश्वरः उक्ते सति प्रतिपत्तारो वयं वेदस्य न कर्त्तारः। प्रतिपत्तौ च क्रमो दर्शितः। एवं च यद्यपि द्रव्यदेवतेतिकर्त्तव्यताविधानद्वारकमङ्गविधिवदर्थवादवाक्यानां कार्यौपयिकत्वं नास्ति तथापि प्रतीत्यङ्गत्वं न निवार्यते। अत एव प्रामाण्योपयोगित्वमाचक्षते न प्रमेयोपयोगित्वम्। केवलविधिपदश्रवणे हि न तदाद्रियन्ते यज्वानः। तत्र विधिविभक्तेः शक्तिरवसीदति

अब प्रश्न यह उठाया जाता है कि स्तुति का क्या प्रयोजन? क्योंकि स्तुति की जाय या न की जाय क्रिया तो ज्यों की त्यों रहती है। तो उत्तर यह है कि ऐसा नहीं है। क्योंकि विधि वाक्य के स्तुति पद सहित होने पर स्तुतिपद सहित विधायक वाक्य विधायक होता है। इस पर फिर यह पूछा जा सकता है कि तो क्या अब केवल लिङ् आदि सहित वाक्य को विधायक नहीं मानना है? तो उत्तर दिया जा रहा है कि कह रहे हैं – यदि स्तुति के पद नहीं भी हो तो हो जाय विधायक वाक्य विधायक। इन स्तुति पदों के रहने पर स्तुतिपद सहित ही वाक्य विधायक होता है केवल विधि वाक्य नहीं। क्योंकि प्रतीति वैसी ही पायी जाती है। स्तुतिपद के साथ सम्बन्ध के रहने पर भिन्न वाक्यता न हो इसलिए स्तुति पद और विधि पद दोनों मिलकर विधायक होते हैं। मिलित से अर्थ का अर्थात् क्रिया का विधान होता है। क्योंकि वैसा ही बोध होता हुआ पाया जाता है। नहीं तो प्रतीयमान पदार्थान्वय छोड़ना होगा अथवा वाक्यभेद की कल्पना करनी होगी। इसलिए स्तुति पदों का आनर्थक्य नहीं है। इस पर यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि केवल विधि वाक्य को भी जब कि समर्थ माना जाता है तब स्तुति पदों का आनर्थक्य क्यों नहीं होगा? तो उत्तर यह है कि कह रहे हैं – जैमिनियों के मत में तो शब्द के ऊपर कोई आक्षेप उठाया ही नहीं जा सकता है। और हम लोगों के मत में वेद के वक्ता भगवान् ईश्वर हैं, हम लोग नहीं। हम लोग तो उनके द्वारा वेद उक्त हो जाने पर उससे बोध करने वाले हैं। बोध के सम्बन्ध में क्रम दिखलाया जा चुका है। ऐसा होने पर यद्यपि द्रव्य देवता और इतिकर्तव्यता के विधान द्वारा अङ्गविधि के समान अर्थवाद वाक्यों में कार्य के प्रति कोई उपयोगिता नहीं है तथापि प्रतीति की अङ्गता नहीं निवारित होती है। इसलिए प्रामाण्य में उपयोगिता मानी जा रही है प्रमेयोपयोगिता

तां निमज्जन्तीमिवार्थवादजनितकर्मप्राशस्त्यप्रत्यय उत्तभ्नाति। सर्वजिता यजतेत्यतो न तथाविधः श्रद्धातिशयो भवति, यथाविधः 'सर्वजिता वै देवाः सर्वमयजन्सर्वस्याप्त्यै सर्वस्य जित्यै सर्वमेवैतेन सर्व जयति' इत्यर्थवादपदेभ्यः। लोकेऽपि इयं गौः क्रेतव्येत्यतो न तथा क्रेतारः प्रवर्त्तन्ते, यथा एषा बहुस्निग्धक्षीरा सुशीला सापत्या अनवप्रजा चेत्येवमादिभ्यः स्तुतिपदेभ्य। स्वानुभवसाक्षिकोऽयमर्थः। अत एव केचिदश्रुतार्थवादकेऽपि विधिवाक्ये तत्कल्पनमिच्छन्ति। यथा क्वचिदर्थवादाद्विधिकल्पनमिति। यथोक्तम् 'विधिस्तुत्योः सदा वृत्तिः समानविषयेष्यते' अनधिगम्यमानविधिवाक्यसंबन्धाच्चार्थ वादाद्विधिरुन्नीयते न गम्यमानविधिसंबन्धात्।

अत एव च सोऽरोदीदित्येवमादिभ्यो न रोदितव्यमित्यादिविधिकल्पनमिष्यते मुधैव पूर्वपक्षिणा तदाशङ्कितम्, विधिवाक्यान्तरेणैकवाक्यत्वं हि प्रत्यक्षमिहोपदिश्यते। वर्हिषि

नहीं। केवल विधि पद सुनकर यज्वागण उसका आदर नहीं करते हैं। वहाँ विधि विभक्ति अवसीदित हो जाती है।

इसलिए उस विधि विभक्ति को डूबती सी देखकर अर्थवाद वाक्य से होने वाला प्राशस्त्य का प्रत्यय उसे ऊपर टानकर बचा डालता है। केवल 'सर्वजिता यजेत' अर्थात् 'सर्वजित् नामक याग करना चाहिए' इस वाक्य को सुनकर वैसा श्रद्धातिशय नहीं होता है जैसा कि 'सर्वजिता वै देवाः सर्वमजयन्' अर्थात् 'देवताओं ने सर्वजित याग करके सब को जीता' इत्यादि अर्थवाद पदों को सुनकर। लोक में भी 'यह गाय खरीदने योग्य' ऐसा कहने से उस वाक्य को सुनकर खरीदने वाले उस प्रकार नहीं प्रवृत्त होते हुए पाये जाते हैं, जिस प्रकार कि इस वाक्य को सुनकर कि 'यह गाय बहुत एवं गाढ़ दूध देने वाली है, सुशील है, बछड़े वाली है तथा नयी व्यायी है' इत्यादि वाक्य को सुनकर। कोई भी व्यक्ति इसका अनुभव स्वयं कर सकता है। इसलिए कुछ लोग जहाँ अर्थवाद वाक्य नहीं भी सुना जाता है वहाँ उसकी कल्पना चाहते हैं, जिस प्रकार कि कहीं अर्थवाद मात्र को पाकर उससे विधिवाक्य की कल्पना की जाती है। जैसा कि कहा गया है कि 'विधि और स्तुति इन दोनों की वृत्ति अर्थात् प्रवृत्ति समान विषय में ही अर्थात् एक विषय में ही होती है'– यह स्वीकार किया जा सकता है।

जहाँ विधायक विधि वाक्य का सम्बन्ध गम्यमान होता है वहाँ के अर्थवाद वाक्य से ही विधिवाक्य की कल्पना की जाती है। ऐसे अर्थवाद वाक्य से नहीं जहाँ विधिवाक्य का सम्बन्ध गम्यमान नहीं होता है। इसीलिए 'सोऽरोदीत्' अर्थात् वे रो पड़े इत्यादि अर्थवाद वाक्य से 'औरों को भी रोना चाहिए' इस प्रकार विधि वाक्य की कल्पना नहीं की जाती है। इस प्रकार विधि की कल्पना इष्ट नहीं मानी जाती है। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा व्यर्थ ही इस प्रकार की शङ्का उठायी गयी।

अर्थवाद वाक्य की वाक्यान्तर से अर्थात् विधिवाक्य से एक वाक्यता स्पष्ट रूप में

रजतं न देयमित्यस्य विधेः शेषोऽयं सोऽरोदीदित्यादिः। रुद्रो रुरोद तस्य यदश्रु अशीर्यत तद्रजतमभवत्, यो हि बर्हिषि रजतं न देयमिति। प्राजापत्यमजं तूपरमालभेतेत्येतस्य विधेः शेषः प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिददिति। वपाहोममाहात्म्यप्रदर्शनार्थमुच्यते अग्नौ वै प्रगृहीतमात्रायां वपायामजस्तूपर उदगादिति। आदित्यः प्रायणीयश्चरुरित्यस्य विधेः शेषोऽयं देवा वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्राजानन्नित्थं व्यामोहानामादित्यः चरुर्नाशयिता यथा दिङ्मोहस्येति। एवं तत्र तत्र विधिशेषत्वमर्थवादानां वेदितव्यम्।

कथं पुनरिदमसत्यमेवोच्यते रुद्ररुदिताद्रजतमजायत। प्रजापतिवपाहोमसमिद्धादग्ने रजस्तूपर उदगादिति। उच्यते, नेदमसत्यम्, यदस्य वाक्यस्य प्रतिपाद्यं तत्र सत्यार्थमेवेदम्।

उपदिष्ट होती है। 'सोऽरोदीत्' अर्थात् वे रो पड़े यह वाक्य 'बर्हिषि रजतं न देयम्' अर्थात् बर्हिष् नामक याग में रजत की दक्षिणा नहीं देनी चाहिए, इस वाक्य का 'शेष' अर्थात् अङ्ग है। फलितार्थ यह है कि रुद्र रो पड़े। उनकी आंख से गिरी आंसू चान्दी बन गयी। जो व्यक्ति 'बर्हिष्' नामक याग में चान्दी की दक्षिणा देता है, उसके घर में एक वर्ष के भीतर रोदन होता है। उसके घर वालों सहित उसे रोना पड़ता है। इसलिए बर्हिष् याग में रजत अर्थात् चान्दी की दक्षिणा नहीं देनी चाहिए। इसी प्रकार 'स प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्' यह वाक्य 'प्राजापत्यमजं तूपरमालभेत' अर्थात् प्रजापति को प्रिय लगने वाले तूपर पशु का अर्थात् दुम्मा भेंडा का आलम्भन अर्थात् बध करना चाहिए। इस वाक्य का शेष अर्थात् अङ्ग है। प्रजापति ने अपनी चर्वी उखाड़ डाली, यह चर्वी के द्वारा किये जाने वाले होम का प्राशस्त्य बतलाने के लिए कहा गया है। अभिप्राय यह है कि चर्वी से किये जाने वाले होम का माहात्म्य अधिक है। यही कहा गया है 'अग्नौ वै प्रगृहीतमात्रायां वपामुदखिदत्' अर्थात् प्रजापति ने आग को देखते ही अपनी चर्वी उखाड़ डाली। फलितार्थ यह है कि अग्नि के लिए चर्वी उखाड़ते ही अर्थात् अग्नि में चर्वी का प्रक्षेप करते ही अग्नि से दुम्मा भेंडा निकल आया।

अतः प्रजापति को वह अतिप्रिय है। 'आदित्यः प्रायणीयश्चरुः' अर्थात् प्रायणीय चरु आदित्य है अर्थात् अदिति देवताक है। इस विधि वाक्य का शेष वाक्य है 'देवा वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्रजानन्' इत्यादि। इसका पूरा अभिप्रेत अर्थ यह है कि देवगण देवयजन का निश्चय करके दिशाओं का सही बोध नहीं कर पाये। इस प्रकार के व्यामोहों का नाश करने वाला होता है, आदित्य चरु, जिस प्रकार की आदित्य अर्थात् सूर्य दिग्भ्रम का नाशक होता है। इस प्रकार जगह जगह पर अर्थवाद वाक्यों को विधिवाक्य का शेष समझना चाहिए। इस प्रकार आक्षेप उपस्थित किया जाता है कि यह मिथ्या ही क्यों कहा जा रहा है कि रोने से रजत उत्पन्न हो गया? और प्रजापति कृत चर्वी के होम से भेंड़ा निकल आया? तो इसका उत्तर दिया जा रहा है – यह असत्य नहीं कहा जा रहा है। क्योंकि इस वाक्य का अभिप्रेत अर्थ असत्य नहीं है। इस वाक्य का जो प्रतिपाद्य अर्थात्

न चास्य यथाश्रुतोऽर्थः प्रतिपाद्यः किं तु विधेयो निषेध्यो वा कश्चिदर्थः। इहान्वाख्याने द्वयमापतति यच्च वृत्तान्तज्ञानं यच्च कस्मिंश्चिदर्थे प्ररोचनाद्वेषौ। तत्र वृत्तान्तज्ञानं न प्रवर्त्तकं न निवर्त्तकमिति प्रयोजनाभावादनर्थकमनादरणीयम्। प्ररोचनाद्वेषौ तु विनिवृत्त्यङ्गत्वात्तदर्थौ गृहीत्वा प्ररोचनायाः प्रवर्तेत तद्द्वेषान्निवर्तेतेति। तत्र तत्प्रतिपाद्यसत्यार्थ एवार्थवादः।

यत्त्वरुदति रुद्रे कथं तद्रोदनवचनम् अरोदनप्रभवे वा रजते कथं तदुद्भवताभिधानमिति। गुणवादमात्रं, गौण एष वादः श्वेतवर्णसारूप्यादिना रोदनप्रभवं रजतं निन्दितुमुच्यते। एवं पशुयागे वपाहोमप्रशंसायै प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिददिति वृत्तान्ताख्यानं योजनीयम्। आदित्यचरुप्रशंसायै देवा देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्राजानन्निति।

अथ वा नैयायिकानामनेकप्रकारपुरुषातिशयवादिनां यथाश्रुतेऽप्यर्थे नात्यन्तमसंभवः रुद्रस्य रुदिताद्रजतजन्म, प्रजापतेर्वपोत्खेदः तद्धोमात्तूपरपशूद्गमः, देवानां देवयजनाध्यवसाने दिङ्मोह इत्येवंजातीयकमपि सत्यमस्तु को दोषः। तत्सर्वथार्थवादानां प्रामाण्यम्।

अभिप्रेत अर्थ है, वह सत्य ही है। यथाश्रुत अर्थ इसका अभिप्रेत नहीं है। किन्तु कोई विधेय किं वा निषेध्य अर्थ अभिप्रेत है। इस अन्वाख्यान स्थल में दो कथाएँ प्राप्त होती हैं।

एक वह जो कि वृत्तान्त का ज्ञान और दूसरा यह जो कि प्ररोचना और द्वेष। इन दोनों के अन्दर वृत्तान्त का ज्ञान न तो प्रवर्तक होता है और न निवर्त्तक। इसलिए प्रयोजन के अभाव प्रयुक्त अनर्थक होता है अर्थात् अनादरणीय होता है। किन्तु प्ररोचना और द्वेष को प्रवृत्ति और निवृत्ति का अङ्ग होने के कारण अर्थों का ग्रहण करके व्यक्ति प्ररोचना से प्रवृत्त होगा और उसमें द्वेष होने के कारण निवृत्त होगा। इस लिए उसके प्रतिपाद्य अर्थात् अभिप्रेत अर्थ को लेकर अर्थवाद वाक्य सत्यार्थक ही होता है। यह जो कहा जाता है कि रुद्र तो रो सकते नहीं, फिर रोने की बात कैसे कही जाती है। और रजत की उत्पत्ति तो रजत के अवयव से ही होती है, रोदन से नहीं। ऐसी परिस्थिति में रोने से रजत की उत्पत्ति कैसे कही जा रही है? सो ठीक नहीं है, क्योंकि वह गुणवाद मात्र है। अर्थात् वह गौण कथन है। श्वेत वर्ण के सादृश्य आदि के द्वारा रोदन प्रभव के रूप में रजत की निन्दा के लिए उस प्रकार कहा गया है। इसी प्रकार पशुयाग में चर्बी के द्वारा किये जाने वाले होम को प्रशस्त बतलाने के लिए 'प्रजापति ने अपनी चर्बी उखाड़ डाली' इस प्रकार वैदिक वृत्तान्त को अर्थात् कथा को लगाना चाहिए। आदित्य चरु की प्रशंसा के लिए 'देवताओं ने देवयजन का निश्चय करके दिशाओं का निश्चय नहीं कर पाया' इस प्रकार कहा गया है। अथवा मनुष्यों में अनेक प्रकार की विशेषताओं को मानने वाले नैयायिकों की दृष्टि में यथाश्रुत अर्थ भी अत्यन्त असम्भव ग्रस्त नहीं है कि रुद्र के रोदन से रजत की उत्पत्ति हुई और प्रजापति ने अपनी चर्वी उखाड़ डाली, तथा देवताओं को देवयजन के अध्यवसाय पर दिग्भ्रम हो उठा इत्यादि भी सत्य हो, क्या दोष है। इसलिए अर्थवाद वाक्य सर्वथा प्रमाण

एवं स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वागिति गौण एष वादः। प्रच्छन्नतया स्तेनं मन उच्यते बाहुल्याभिप्रायेण चानृतवादिनी वागिति।

धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे नार्चिरर्चिरेवाग्नेर्नक्तं ददृशे न धूम इति दूरभूयस्त्वाभिप्रायेण कस्मैचित्प्रयोजनाय सायंप्रातर्होमदेवतास्तुतये कथ्यते।

न चैतद्विद्मो यदि ब्राह्मणाः स्मोऽब्राह्मणा वेति प्रवरानुमन्त्रणप्रशंसायै संशय इव दर्शितः। अब्राह्मणोऽपि यजमानः प्रवरानुमन्त्रणेन ब्राह्मणः स्यादिति। को ह वै तद्वेद यदमुष्मिंल्लोकेऽस्ति वा न वेति दृष्टफलं किमपि कर्म स्तोतुमुच्यते। शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेदेति विद्याप्रशंसैषा, शोभते इति शिष्यैरुद्वीक्ष्यमाणस्य मुखमिति। सर्वान् कामानवाप्नोति इति सर्वत्वं प्रकृतापेक्षम् स्तुत्यर्थं चाश्वमेधाध्ययनेऽपि तत्फलवचनम्।

हिरण्यं निधाय चेतव्यमिति स्तुत्यर्थतया दिव्यन्तरिक्षे पृथिव्यां च चयनं प्रतिषिध्यते अनुपहितहिरण्यायां पृथिव्यामग्निर्न चेतव्यो न पुनर्न चेतव्य एव तस्यामिति।

आदित्यो यूप इत्थमञ्जने सति तेजस्वितया यूपस्यादित्यरूपतास्तुतये कथ्यते।

हैं। इसी प्रकार 'मन चोर है' और 'वाणी झूठी होती है' यह कथन भी गौण है। प्रच्छन्नता के कारण मनको स्तेन अर्थात् चोर कहा गया है। और बाहुल्य के अभिप्राय से यह कहा गया है कि वाक् अर्थात् वाणी झूठ बोलने वाला है।

'दिन में अग्नि का धूम ही देखा जाता है अर्चिः अर्थात् प्रकाश नहीं।' यह अधिक दूरी के अभिप्राय से कहा गया है। अथवा किसी प्रयोजन विशेष से प्रातः कालिक होम और उसकी देवता की स्तुति के लिए कहा गया है। 'यह हम लोग नहीं जान पा रहे हैं कि हम लोग ब्राह्मण हैं या ब्राह्मणेतर? इस प्रकर प्रवरानुमन्त्रण अर्थात् प्रवर कीर्तन की प्रशंसा के लिए संशय सा दिखलाया गया है कि अब्राह्मण यजमान भी प्रवरानुमन्त्रण करके ब्राह्मण हो जायेगा। अर्थात् प्रवर कीर्तन की यह विशेषता है कि उसके कीर्तन से अब्राह्मण भी ब्राह्मण समझा जाने लगता है। 'यह कौन जानता है कि परलोक और उसमें यह फलभोग है या नहीं'– यह किसी दृष्ट फल की स्तुति के लिये कहा गया है। 'उस व्यक्ति का मुह सुशोभित हो उठता है' यह विद्या की प्रशंसा की गयी है।

शिष्यों के द्वारा देखे जाते हुए गुरु का 'मुह शोभित होता है' । 'सब काम्य फलों को प्राप्त करता है' यहाँ 'सर्व' अर्थात् 'सब' इस शब्द का प्रयोग प्रकृत को अपेक्षा करके किया गया है। अश्वमेध के अध्ययन में भी अश्वमेध का फल कथन स्तुत्यर्थ किया गया है। 'हिरण्य रखकर चयन करना चाहिए' यह स्तुति के लिए और पृथिवी तथा अन्तरिक्ष में चयन नहीं करना चाहिए इस प्रकार निषेध बतलाने के लिए कहा गया है। अभिप्राय यह है कि हिरण्य को आधार बनाये बिना अग्नि चयन पृथिवी पर भी नहीं करना चाहिए, यह बतलाने के लिए उस प्रकार कहा गया है न कि यह बतलाने के लिए कि पृथिवी पर अग्निचयन करना ही नहीं चाहिए। 'यूप आदित्य है' इस प्रकार वर्णन करने पर वक्तव्य यह है कि तेजस्वी के रूपमें 'यूप' की प्रशंसा करने के लिए वैसा वर्णन किया गया है।

तत्कार्यकारित्वाच्च यजमानः प्रस्तर उच्यते। न हि मुख्ययैव वृत्त्या लोके शब्दाः प्रवर्त्तन्ते गौण्यापि वृत्त्या व्यवहारदर्शनात्। एवं वेदेऽपि तेषां तथा प्रयोगो भविष्यति। इत्थं च मन्त्रेष्वप्यैन्द्र्या गार्हपत्योपस्थानमविरुद्धम्। एवं स्तुतिनिन्दास्वरूपास्तावदर्थवादाः विध्येकवाक्यत्वेन प्रमाणम्। पुराकृतिपुराकल्पस्वरूपा अपि तथैव योज्याः।

क्वचित्पुनरर्थवादेनैव कश्चिदंशः पूर्यते इति न तु प्रतीत्यङ्गत्वमेव तस्य कार्याङ्गत्वमपि भवति। यथा प्रतितिष्ठन्ति ह्वा य एता रात्रीरुपयन्ति इत्थं श्रूयमाणाधिकारस्य रात्रिसत्रविधेरधिकारांशोऽर्थवादादेव लभ्यते। यथोक्तं 'फलमात्रेयो निर्देशादिति'। तत्र हि प्रतिष्ठाकामाः सत्रमासीरन्नित्यर्थवादवशाद् गम्यते वाक्यार्थः।

क्वचिद्विधिवाक्यस्यार्थसन्देहेऽर्थवादात्मकाद्वाक्यशेषात्तन्निश्चयो भवति। यथा अक्ताः शर्करा उपदधातीत्यञ्जनद्रव्ये घृततैलवसादिभेदेन सन्दिह्यमाने तेजो वै घृतमिति अर्थवादाद् घृतेनाक्ताः शर्करा उपधेया इति गम्यते।

इत्यर्थवादा विधिनैक्यभावा
तद्वत्प्रमाणत्वममी भजन्ते।

'यजमान पत्थर है' यह तत्कार्यकारी अर्थात् पत्थर के समान यज्ञ में यजमान को स्थिर होना आवश्यक है – यह बतलाने के लिए कहा जाता है न कि मुख्य वृत्ति से अर्थात् वाच्यार्थ मात्र को लेकर वैसा कहा गया है। लोक में सर्वत्र शब्द मुख्य वृत्ति को ही लेकर प्रयुक्त नहीं होते हैं। गौणी वृत्ति लेकर भी व्यवहार देखा ही जाता है। उसी प्रकार वेद में भी गौणी वृत्ति को लेकर प्रयोग माना जायेगा। ऐसा स्थिर होने पर 'ऐन्द्री ऋक्' से अर्थात् इन्द्र सम्बन्धी मन्त्र से भी गार्हपत्य अग्नि का उपस्थापन हो पायेगा। वह विरुद्ध नहीं कहा जायेगा। इस प्रकार स्तुति और निन्दात्मक अर्थवाद वाक्य विधि वाक्य से एक वाक्यतापन्न होकर प्रामाणिक होंगे। 'परकृति' और 'पुराकल्प' रूप अर्थवाद वाक्य भी उसी प्रकार योजनीय हैं। कहीं फिर अर्थवाद के द्वारा ही अंश की पूर्ति होती है। इसलिए उसमें केवल प्रतीत्यङ्गता ही नहीं है किन्तु कार्याङ्गता भी होती है। जैसे 'प्रतितिष्ठन्ती ह वा य एता रात्री रुपयन्ति' अर्थात् जो रात्रिसत्र याग करते हैं, वे प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। इस प्रकार श्रूयमाण अधिकार युक्त रात्रिसत्र विधि का अधिकार अंश अर्थात् अमुकफल का अधिकारी होगा रात्रिसत्र याग करने वाला व्यक्ति– यह वाक्यार्थ अर्थवाद वाक्य से ही प्राप्त होता है। कहीं पर परिस्थिति यह होती है कि विधिवाक्य के अर्थ के सम्बन्ध में सन्देह प्राप्त होने पर अर्थवादात्मक वाक्य शेष से वाक्यार्थ का निश्चय होता है। जैसे 'अक्ताः शर्कराः उपदधाति' अर्थत् अञ्जित शर्कराएँ निकट में रखी जायें। यहाँ पर किसके द्वारा अञ्जित? क्या घी के द्वारा या तेल के द्वारा अथवा चर्वी के द्वारा? इस प्रकार सन्देह उपस्थित होने पर अर्थवाद के अनुसार घी में मसली र्शकराएँ रखी जायें यह जाना जाता है।

इस प्रकार अर्थवाद वाक्य विधिवाक्य के साथ एक वाक्यतापन्न होकर प्रामाण्य को

अस्ति प्रतीत्यन्वयिता हि तेषां
क्वचिच्च कार्यान्वयिता तु दृष्टा।।
यद्वा स्वरूपपरतामपि संस्पृशन्ति
प्रामाण्यवर्म त इमे न परित्यजन्ति।
नैयायिका हि पुरुषातिशयं वदन्तो
वृत्तान्तवर्णनमपोह्य यथार्थमाहुः।।
आदित्ययूपवचनादिषु तु स्वरूप
याथार्थ्यमित्थमुपपादयितुं न शक्यम्।
गौणीं तु वृत्तिमवलम्ब्य कृता तदर्थ-
व्याख्येति तेष्वपि न विप्लवनावकाशः।।

[मन्त्रप्रामाण्याक्षेपः]

अथेदानीं मन्त्रा विचार्यन्ते किमर्थप्रकाशनद्वारेण विध्यर्थोपयोगिता तेषामुतोच्चारणमात्रेणेति। ननूभयथापि प्रामाण्याविशेषात् किं तद्विचारेण। न हीदं शास्त्रं वेदस्यार्थविचाराय मीमांसावत्प्रवृत्तम्। अपि तु प्रामाण्यनिर्णयायैवेति। सत्यम्, प्रामाण्यनिर्णयायेदं शास्त्रं प्रवृत्तम्। अविवक्षितार्थत्वे तु मन्त्राणामप्रतिपादक-

प्राप्त करते हैं। कहीं पर अर्थवाद वाक्य को प्रतीत्यन्वयिता अर्थात् प्रतीति गत उपभोग होता है और कहीं पर कार्यान्वयिता होती है अर्थात् क्रिया में उसका उपयोग होता है। अथवा स्वरूपपरता को भी प्राप्त करने वाले ये अर्थवाद वाक्य प्रामाण्य रूपी कवच का नहीं त्याग करते हैं। नैयायिक गण मानव गत अतिशय को स्वीकार करते हुए अर्थवाद वाक्यों में यथार्थ वृत्तान्त वर्णन भी मानते हैं। 'यूप आदित्य है' इत्यादि कथन स्थल में इस प्रकार स्वरूप की यथार्थता उपपादन योग्य नहीं है, इसलिए गौणी वृत्ति को अवलम्बन करके व्याख्या की गयी है। अतः उन वाक्य स्थलों में भी विप्लवन का अर्थात् असङ्गति का अवकाश नहीं है।

मन्त्रों के प्रामाण्य पर आक्षेप।

अब यहाँ मन्त्र पर विचार उपस्थित किया जा रहा है। क्या अर्थ प्रकाशन के द्वारा विध्यर्थ में मन्त्रों का उपयोग विवक्षित है या उनका उपयोग उच्चारण के मात्र द्वारा विवक्षित है? इस पर यह कहा जा सकता है कि निश्चय ही दोनों प्रकारो से उन में प्रमाण्य समान रूप से होगा। ऐसी परिस्थिति में इस पर विचार करने से क्या लाभ? यह न्यायशास्त्र तो मीमांसाशास्त्र की तरह वेद के अर्थ के विचारार्थ प्रवृत्त नहीं हैं। किन्तु उसमें प्रामाण्य के निर्णयार्थ ही यह शास्त्र प्रवृत्त है। तो इसका उत्तर यह है कि यह सत्य है यह शास्त्र प्रामाण्य के निर्णयार्थ ही प्रवृत्त है किन्तु अविवक्षितार्थ मानने पर मन्त्रों में अप्रतिपादकत्व रूप अप्रामाण्य ही आपन्न हो उठेगा और फिर उनकी समानता के कारण वेद के ब्राह्मण

त्वलक्षणमप्रामाण्यमेव भवेत्तत्सामान्याद्वेदब्राह्मणवाक्यानामपि तथाभावप्रसङ्ग इति, वेदस्य कर्मावबोधार्थत्वं हीयते। न च संशयविपर्ययजननमेवाप्रामाण्यम्, अज्ञान जनकत्वमप्यप्रामाण्यमेव। तदुच्यते उच्चारणमात्रोपकारिणो मन्त्राः कुतः। तथा विनियोगोपदेशात्। उरु प्रथा उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति। यद्यर्थप्रकाशनोपकारिणो मन्त्राः। सामर्थ्यादेव प्रथनोपयोगो मन्त्रोऽयमिति किमर्थं प्रथने विनियुज्यते वचनेन। यथा साक्षः पुरुषः परेण चेन्नीयते नूनमक्षिभ्यां न पश्यतीति गम्यते। अग्नीदग्नीन् विहरेति च करोत्येवासौ ऋत्विगग्निविहरणं किं वचनेन? उच्चारणमात्रोपकारिणि मन्त्रे तदुच्चारणादेवादृष्टं किंचिदुपकारजातं कल्प्यते वाक्यक्रमनियमाच्चाविवक्षितार्थान् मन्त्रानवगच्छामः। नियतपदक्रमा हि मन्त्राः पठ्यन्ते, यद्यर्थप्रतिपादनेनोपकुर्युः नियतक्रमाश्रयणमनर्थकं स्यात् क्रमान्तरेणापि तदर्थावगमसम्पत्तेः।

इतश्चाविवक्षितार्था मन्त्राः अविद्यमानार्थप्रकाशिनो हि केचिद् दृश्यन्ते। यथा 'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यानाविवेश' इति। न हि चतुःशृङ्गं त्रिपादं द्विशिरस्कं सप्तहस्तं किञ्चिद्

वाक्यों में भी अप्रमाणता की आपत्ति हो उठेगी। इसका कुफल यह होगा कि वेद की कर्मबोधकता त्यक्त हो उठेगी। केवल संशय और विपर्यय को उत्पन्न करना ही अप्रामाण्य नहीं है किन्तु ज्ञान को न पैदा करना भी अप्रामाण्य ही है। तो इसका उत्तर कहा जा रहा है कि मन्त्र उच्चारण मात्र में उपयोगी होते हैं। क्योंकि वैसा उनका विनियोग पाया जाता है। उदाहरण जैसे 'उरुप्रथा उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति' यहाँ पर। यदि मन्त्रों को अर्थ प्रकाशनकारी माना जाय तो उस मन्त्र में विद्यमान प्रकाशन सामर्थ्य से ही प्रथन उपपन्न हो जायगा, फिर यह मन्त्र क्यों प्रथन के समय वचन के द्वारा विनियोग में लाया जाता है? जैसे नहीं भी अन्धा रहने वाला व्यक्ति यदि औरों के द्वारा लाया जाता देखा जाता है तो यही मालूम पड़ता है कि यह और के द्वारा लाया जाने वाला व्यक्ति देखता नहीं है। 'अग्नीदग्नीन् बिहर' यह मन्त्र पढ़ते हुए जो अग्नि का विहरण किया जाता है वहाँ वह व्यक्ति अग्नि विहरण तो करता ही है फिर उस मन्त्र के पढ़ने का क्या प्रयोजन?

और जब मन्त्रों को उच्चारण मात्र में उपयोगी माना जाता है तो उसके उच्चारण से ही कोई अदृष्ट विशेष बनता है– ऐसी कल्पना की जाती है। वाक्यगत क्रम के नियम से भी मन्त्रों को अविवक्षितार्थक हम लोग समझते हैं। निश्चित क्रमयुक्त रूप में ही मन्त्र पढ़े जाते हैं। यदि मन्त्र अर्थ के प्रतिपादन वा क्रिया में उपकार पहुँचाये तो नियत क्रम का आश्रयण निरर्थक हो उठेगा। क्रमान्तर से भी तो अर्थ का अवगम सम्पन्न होता ही है। इसलिए भी मन्त्र अविवक्षितार्थक मान्य हैं क्योंकि कुछ मन्त्र असम्भव अर्थ के प्रकाशक होने वाले भी पाये जाते हैं। जैसे 'चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यानाविवेश' यह मन्त्र। चार शींग वाला, तीन पांव वाला,

यज्ञसाधकमस्ति यदनेन प्रकाश्येत। अतश्चैवम् अचेतनप्रैषप्रदर्शनाद् 'ओषधे त्रायस्वैनमि'ति न ह्योषधिर्बुद्ध्यते त्राणाय नियुक्तास्मीति। शृणोत ग्रावाण इति चोदाहरणम्। न ह्यचेतना ग्रावाणः श्रोतुं नियुज्यन्ते। अपि च अदितिर्द्यौरन्तरिक्षमिति विप्रतिषिद्धमभिवदन्ति मन्त्राः। कथं सैव द्यौस्तदेवान्तरिक्षं भवितुमर्हति। केषांचिच्च मन्त्राणामर्थो ज्ञातुमेव न शक्यते ते कथमर्थप्रकाशनेनोपकुर्युः। अम्यक्सा त इन्द्र ऋष्टिरिति शृण्येव जर्फरी तुर्फरीतु इति, इन्द्रः सोमस्य करकेति च। तस्मादविवक्षितार्था मन्त्राः।

अपि चोच्चारणमुभयथाऽपि कर्त्तव्यं मन्त्राणामदृष्टाय वार्थप्रत्यायनाय वा यतोऽर्थमपि नानुच्चारिताः शब्दाः प्रत्याययितुमुत्सहन्ते। तस्मादवश्यकर्त्तव्येऽस्मिन्नुच्चारणे तत एव यज्ञोपकारे सिद्धे किमर्थप्रतिपादनद्वारपरिग्रहेण प्रयोजनमिति।

[मन्त्रप्रामाण्यसमर्थनम्]

तत्रोच्यते, किं मन्त्रेभ्योऽर्थप्रतीतिरेव नास्ति किं वा भवन्त्यपि निर्निमित्ताऽसौ उत सन्निमित्तापि ग्रहैकत्वप्रतीतिवदविवक्षितेति। न तावत्प्रतीतिरेव नास्ति

दो शिर वाला, सात हाथ वाला कोई यज्ञ का साधक तो है नहीं। जिसे यह मन्त्र समझायेगा। इसलिए और भी 'अचेत प्रैष' भी देखा जाता है। जैसे 'ओषधे त्रायस्वैनम्' अर्थात् है ओषधी! इन्हे बचाओ, एसा वेदवाक्य पाया जाता है। ओषधी तो यह समझती नहीं कि मैं त्राण के लिए अर्थात् बचाने के लिए नियुक्त हुई हूँ। इसी प्रकार 'शृणोत ग्रावाणः' यह भी वेद वाक्य उदाहरण है। अचेतन पत्थर सुनने के लिए नियुक्त नहीं किये जा सकते। और यह भी कि 'अदितिर्द्यौरन्तरिक्षम्' अर्थात् द्युलोक और अन्तरिक्ष अदिति है– यह विरुद्ध जैसी बात मन्त्र कहते हैं। द्युलोक और अन्तरिक्ष दोनों वही अदिति कैसे हो सकती है? कुछ मन्त्र तो ऐसे हैं जिनका कुछ भी अर्थ ज्ञात ही नहीं हो सकता है। फिर वे मन्त्र कैसे अर्थ प्रकाशन के द्वारा उपकार कर पायेंगे? जैसे 'अम्यक्सा त इन्द्र ऋष्टिरिति शृण्येव जर्फरी तुर्फरी तु' यह और 'इन्द्रः सोमस्य करका' यह भी। इसलिए सारे मन्त्र अविवक्षित अर्थ वाले हैं। और यह भी कि उच्चारण तो उभयथा अर्थात् विवक्षितार्थक मानने पर भी करना ही होगा अर्थ के प्रत्यायनार्थ किंवा अदृष्टार्थ। क्योंकि उच्चारण के बिना तो मन्त्र अर्थ का प्रकाशन भी नहीं ही कर सकते। इसलिए उच्चारण अवश्य कर्त्तव्य होने पर उसी से यज्ञ का उपकार सिद्ध हो जायेगा तो क्यों फिर अर्थ प्रतिपादन का परिग्रह किया जाय! उसका क्या प्रयोजन?

मन्त्रों के प्रामाण्य का समर्थन।

इस पर कहा जाता है – तो क्या मन्त्रों से अर्थ प्रतीति होती ही नहीं? या वह होती तो है परन्तु वह बिना कारण ही यों हो जाती है? या सकारण रूप में होने पर भी ग्रह गत एकत्व की प्रतीति के समान अविवक्षित होती है? यह नहीं कि सर्वथा अर्थ की प्रतीति

शब्दार्थसम्बन्धव्युत्पत्तिसंस्कृतमतीनां 'बर्हिर्देवसदनं दामी'त्येवमादिमन्त्रश्रवणे सति तदर्थप्रतीतेः स्वसंवेद्यत्वात्। नाप्यसौ निर्निमित्ता लोकवत्पदानामेवात्र निमित्तत्वात्। अव्युत्पत्तिरपि नास्ति, य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकाः त एव तेषामर्थो इति, लोकव्यवहारतस्तद्व्युत्पत्तिसम्भवात्। नापि सम्भवन्त्यपि मन्त्रेभ्योऽर्थप्रतीतिः ग्रहैकत्वप्रतीतिवदविवक्षिता भवितुमर्हति। अविवक्षानिबन्धनस्य कस्यचिदप्यभावात्। ग्रहादिवचनान्तरनिर्ज्ञातसंख्यत्वात्सोमावसेकनिर्हरणस्य च सन्मार्गकार्यस्य सर्वग्रहसाधारणत्वात् ग्रहमिति विभक्तेश्च कर्मकारकसमर्पणमात्रेणापि सार्थक्योपपत्तेः युक्तमेकत्वमविवक्षितमिति कथयितुम्। इह तु बर्हिर्देवसदनं दामीत्येवमादिवाक्यक्रियमाणं क्रतूपयोगिद्रव्यादिप्रकाशनं तस्य विध्यपेक्षितत्वान्मन्त्रेण स्मृतं कर्म करोति तथा क्रियमाणमभ्युदयकारि भवति इति। न यज्ञाङ्गप्रकाशनमविवक्षितम्। अतो नोच्चारणमात्रोपकारिणो मन्त्राः। जपमन्त्राणां तु पावमानीं जपेदिति विधिनैव

होती ही नहीं। क्योंकि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की व्युत्पत्ति से अर्थात् बोध से संस्कृतमति वाले लोगों को 'बर्हिर्देवसदनं दामि' इत्यादि मन्त्रों का श्रवण होने पर उसके अर्थ की प्रतीति होती है – यह अनुभव सिद्ध ही है। वह निर्निमित्त अर्थात् कारण के बिना ही होती है, यह भी नहीं। क्योंकि वाक्य प्रयोग स्थल के समान वैदिक मन्त्र वाक्य स्थल में भी यतः पद ही निमित्त होते हैं अर्थात् कारण होते हैं, व्युत्पत्ति नहीं होती है। यह भी बात नहीं कही जा सकती। क्योंकि वैदिक भी शब्द वे ही होते हैं, जो लौकिक होते हैं और अर्थ भी उन शब्दों के वे ही होते हैं, इस लोक व्यवहार से उसकी व्युत्पत्ति हो सकती है। यह भी नहीं कि अर्थ प्रतीति होती तो है किन्तु वह विवक्षित नहीं है, जिस प्रकार कि ग्रहगत अर्थात् यज्ञपात्रगत एकत्व की विवक्षा होती नहीं। क्योंकि कोई भी अविवक्षा का कारण देखा जा नहीं रहा है, उसका अभाव है। ग्रहस्थल में तो ग्रहगत संख्या आदि वचनान्तर से ही प्राप्त रहते हैं और उस सोम के अवसेक का निर्वाह, जो कि सन्मार्ग का कार्य होता है, सकल ग्रह साधारण होने के कारण 'ग्रहं' यहाँ श्रूयमाण विभक्ति का सार्थक्य यतः अपने कर्म कारक के अर्थात् पात्र भूत के ग्रहमात्र समर्पण से भी उपपन्न हो सकता है। अतः वहाँ एकत्व की अविवक्षा है – यह कहना युक्त अर्थात् उचित कहा जा सकता है। किन्तु यहाँ तो 'बर्हिर्देव सदनं दामि' इत्यादि वाक्य प्रमाण के द्वारा क्रियमाण क्रतूपयोगी द्रव्य आदि का प्रकाशन उसके लिए विधानार्थ अपेक्षित होने के कारण कर्म को मन्त्र के द्वारा स्मृत करता है। और उस प्रकार से अर्थात् मन्त्र के द्वारा स्मृत होकर किया जाने वाला कर्म यतः अभ्युदय देने वाला होता है, इसलिए यज्ञाङ्ग का प्रकाशन अविवक्षित नहीं ठहराया जा सकता।

इसलिए वहाँ मन्त्र को उच्चारण मात्र का उपकारी नहीं कहा जा सकता। जपमन्त्रों की तो 'पवमानीं जपेत्' अर्थात् पवमान से सम्बन्धित मन्त्रों का जप करना चाहिए– इस विधि वाक्य से जपमात्र में ही अपेक्षित कहा गया है। इसलिए वहाँ अर्थ का प्रकाशन कोई

तावन्मात्रापेक्षणान्नार्थेन प्रकाशितेन प्रयोजनमिति किं तत्र क्रियते, यत्र तु जपेदिति विधिर्न श्रूयते, न तत्र तदर्थः प्रतीयमानोऽपेक्ष्यमाणश्चोपेक्षितुं युक्तः।

ननु यदि जपेदिति विधेर्वैष्णव्यादिषु नार्थो विवक्ष्यते तर्हि स्वाध्यायोऽध्येतव्य इत्यक्षरग्रहणमात्रविधानात्सर्वस्यैव वेदस्याविवक्षितार्थत्वं स्यात्। एतच्च शास्त्रान्तरे विस्तरतो निर्णीतम्। इह तु वितन्यमानमस्माकमवान्तरविचारवाचालतामाविष्करोतीति न प्रतन्यते।

यत्तु तदर्थविनियोगोपदेशादित्यविवक्षितार्थत्वमुक्तं तत्र उरु प्रथा उरु प्रथस्वेति लिङ्गादेव मन्त्रस्य प्रथनविनियोगसिद्धेः कामं तद्विधायकं वचनमनर्थकं भवतु प्राप्तानुवादकत्वाद् न तु प्रतीयमानो मन्त्रादर्थस्त्यक्तुं युक्तः। तत्किं वचनमनर्थकमेव नानर्थकं प्रतिपन्नार्थविषयं तु तत्, अर्थवादार्थं वा तद्वचनम्। यज्ञपतिमेव तत्प्रथयतीति तद्यज्ञपतिं यजमानमेव प्रजया पशुभिः प्रथयतीति। क्वचित्तु गुणार्थविधानं यथा तां चतुर्भिरादत्ते इति। एवमग्नीदग्नीन् विहरेत्यादावपि द्रष्टव्यम्।

यत्तु नियतपदक्रमत्वादुच्चारणमात्रोपयोगिनो मन्त्रा इति। तदप्यसाधु,

प्रयोजन नहीं रखता इसलिए वहाँ अर्थ काशन से क्या किया जायगा? परन्तु जहाँ 'जपेत्' अर्थात् जप करना इस प्रकार विधान सुना जाता नहीं, वहाँ प्रतीयमान तथा अपेक्ष्यमाण मन्त्रार्थ उपेक्षित हो यह उचित नहीं। इस पर यह कहा जा सकता है कि यदि 'जपेत्' इस प्रकार विधान के कारण 'वैष्णवी' आदि के स्थल में मन्त्रार्थ की विवक्षा नहीं मानी जाय तो 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इसके द्वारा अक्षर मात्र का विधान मानकर सारे ही वेदार्थ की अविवक्षा हो जायेगी?. तो इसका उत्तर यह है कि यह तो विस्तार पूर्वक शास्त्रान्तर में अर्थात् मीमांसा शास्त्र में निर्णीत हो चुका है। अतः यहाँ उसका विस्तार पूर्वक विचार उपस्थित करने पर वह मुझमें अवान्तर विचार वाचालता बतलायेगा। अतः उस पर विस्तृत विचार नहीं किया जा रहा है। यह जो कहा गया है कि क्रिया के उपदेश प्रयुक्त अविवक्षितार्थता होगी, उस पर कहना यह है कि 'उरुप्रथा उरु प्रथस्व' इस लिङ् के प्रयोग से ही मन्त्र के प्रथन का विनियोग सिद्ध हो जायगा। इसलिए वहाँ उसका विधायक वचन आपके कथनानुसार अनर्थक हो जायगा। क्योंकि वहाँ वह प्राप्त का ही अनुवाद करता है। परन्तु तत्प्रयुक्त अर्थात् प्राप्त का अनुवादक होने के कारण मन्त्र से प्रतीयमान अर्थ का त्याग नहीं किया जा सकता है। तो क्या वचन अनर्थक ही होगा? नहीं अनर्थक नहीं होगा किन्तु प्रतिपन्न अर्थ विषयक होगा। अथवा अर्थ कहने के लिए वचन होगा। यज्ञपति को ही वह प्रथित करता है अर्थात् विवृद्ध बनाता है। अर्थात् वह यज्ञपति को अर्थात् यजमान को ही प्रजा एवं पशुओं के द्वारा प्रथित बनाता है, सम्पन्न बनाता है। कहीं तो 'गुण' के लिए विधान होता है। जैसे 'तां चतुर्भिरादत्ते' यहाँ। इसी प्रकार 'अग्नीदग्नीन् विहर' इत्यादि स्थल में भी द्रष्टव्य है।

यह जो कहा जाता है कि पढ़ते समय पद का क्रम नियत रहे, यह आवश्यक होता है।

मीमांसकानामनादित्वाद्वेदस्य तत्क्रमलङ्घनानुपपत्तेः। यथोक्तम् 'अन्यथा करणे चास्य बहुभ्यः स्यान्निवारणम्' इति। 'अस्माकमपि यादृगीश्वरप्रणीतो वेदः तदन्यथाकरणे किमध्येतृणां स्वातन्त्र्यमस्ति। तस्मान्नार्थविवक्षायै मन्त्रक्रमः प्रभवति ब्राह्मणवाक्यक्रमवत्।

यदपि चत्वारि शृङ्गेत्यविद्यमानार्थवचनमाशङ्कितम्। तदप्यनभिज्ञतया यज्ञस्य वैष गुणवादेन संस्तवः। चत्वारि शृङ्गा इति वेदा उक्ताः, त्रयोऽस्य पादा इति सवनानि, द्वे शीर्षे इति दम्पती यजमानौ, सप्त हस्तास इति च्छदांसि, त्रिधा बद्ध इति मन्त्रब्राह्मणकल्पैर्निबद्धः, वृषभ इति कामान् वर्षति, रोरवीतीति स्तोत्रशस्त्रप्रयोग-बाहुल्याच्छब्दायमानः महो देवो मर्त्यानाविवेशेति मनुष्यकर्तृकत्वेनैवमेष यज्ञः स्तुतो भवति। तद्यथा चक्रवाकमिथुनस्तनी हंसदन्तावली शैवालकेशी काशवसनीति नदी स्तूयते।

इसलिए मन्त्र उच्चारण मात्र में उपयोगी होते हैं, सो भी सही नहीं है। क्योंकि मीमांसकों के मत में तो वेद अनादि है, इसलिए उनके मत में क्रम का लङ्घन उपपन्न हो नहीं सकता है। जैसा कि कहा गया है कि 'अन्यथा करने पर बहुतों के द्वारा उसका निवारण अर्थात् विरोध किया जायेगा' और हम अध्येता लोगों को भी ईश्वर के द्वारा जैसा वेद रचा गया है उसको अन्यथा करने में क्या स्वातन्त्र्य है? अर्थात् नहीं है।

इसलिए मन्त्र का क्रम अर्थ की विवक्षा से नहीं होता है उसी प्रकार जिस प्रकार ब्राह्मण वाक्य का क्रम। 'चत्वारि शृङ्गा' इत्यादि मन्त्रों को जो अविद्यमानार्थक अर्थात् अर्थरहित बतलाया गया है और उसे लेकर आशङ्का उपस्थित की गयी है, वह भी अनभिज्ञता मूलक ही ज्ञातव्य है। क्योंकि यज्ञ का ही गुणवाद के द्वारा वह स्तव किया गया है। 'चत्वारि शृंगाः' इसके द्वारा चार वेद कहे गये हैं। 'त्रयोऽस्य पादाः' इसके द्वारा तीन 'सवन' बतलाये गये हैं। 'द्वे शीर्षे' इसके द्वारा 'यजमान दम्पती' अर्थात् यज्ञ करने वाले स्त्री पुरुष कहे गये हैं। 'सप्त हस्तासः' यह कहकर सात छन्द कहे गये हैं। 'त्रिधा बद्धः' कहकर यह बतलाया गया है कि वह यज्ञरूपी वृषभ (१) मन्त्र (२) ब्राह्मण और (३) कल्प इन तीनों से बँधा हुआ होता है। यज्ञको 'वृषभ' इस दृष्टिकोण से कहा गया है कि वह फल की वर्षा करता है। 'रोरवीति' इसका अभिप्रेत अर्थ यह है कि स्तोत्र शस्त्र और प्रयोग के बाहुल्य से वह शब्दायमान है। 'महोदेवो मर्त्यानाविवेश' इसके द्वारा यह कहा गया है कि वह मनुष्य कर्त्तृक होता है। इस प्रकार यह यज्ञ स्तुत होता है। अर्थात् उसकी स्तुति की जाती है। जिस प्रकार चक्रवाकमिथुनस्तनी अर्थात् चक्रवाक पक्षी की जोड़ी को ही स्तन रूपमें अति आकर्षक रूपमें धारण करने वाली, 'हंसदन्तावली' अर्थात् हंस की पङ्क्ति को दांत की पंक्ति रूप में धारण करने वाली, 'शैवालकेशिनी' अर्थात् सेवार को ही केश बनाने वाली और 'काश वसनी' अर्थात् काश के फूलों को ही वस्त्र रूप में अपनाने वाली इस प्रकार नदी की स्तुति की जाती है।

ओषधे त्रायस्वैनमिति चेतनवन्नियोगस्तस्याः स्तुत्यर्थः। शृणोत ग्रावाण इति प्रतारनुवाकस्तुतिः। इत्थं नामैष प्रातरनुवाकः प्रशस्यो यदचेतना ग्रावाणोऽपि शृणुयुः। अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमिति गुणवादादप्रतिषेधः। तद्यथा लोके त्वमेव मे माता त्वमेव मे पिता त्वमेव भगिनी त्वमेव मे भ्रातेति।

यत्तु केषांचिन्मन्त्राणामर्थो न ज्ञायते इति पुरुषापराधः। अर्थावगमोपायेषु बहुषु सत्स्वपि तदन्वेषणालसः पुरुषो नार्थमवगच्छति न पुनर्मन्त्रोऽत्रापराध्यति। ब्राह्मणवाक्यवदुपायतस्तदर्थावगमदर्शनात्। उपायश्च प्रथमस्तावद्वृद्धव्यवहार एव तुल्यत्वाल्लोके वेदे शब्दार्थानां य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकास्त एव चैषामर्था इति।

यद्यपि च अग्णिर्वृत्राणि जङ्घनदिति वेदे कृतणत्वमग्निशब्दं पठन्ति। उत्ताना वै देवगवा वहन्ति वनस्पते हिरण्यपर्ण प्रदिवस्ते अर्थमिति लौकिकवैदिकयोः शब्दयोरर्थयोश्च नानात्वमिवाशङ्क्यते। तथापि तथात्वं प्रत्यभिज्ञानेनावधार्य ईषद्विकृतास्त एव वेदे इति लौकिक्येव व्युत्पत्तिः। लोकप्रसिद्धिविप्रतिषेधे तु शास्त्रवित्प्रसिद्धिः प्रमाणीक्रियते। यथा

'ओषधे त्रायस्वेनम्' अर्थात् हे ओषधी! इनकी रक्षा करो यह ओषधी की स्तुति के लिए कहा गया है। 'शृणोत ग्रावाणः' यह प्रातः अनुवाक की स्तुति की गयी है। अभिप्राय यह है कि यह प्रातः अनुवाक ऐसा है कि इसे पत्थर भी अर्थात् अज्ञ से अज्ञ जन भी सुनने लगते हैं। 'अदिति द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' अर्थात् द्युलोक अदिति है और अन्तरिक्ष अदिति है – इसे लेकर आक्षेप इसलिए नहीं किया जा सकता है कि वह गुणवाद है। अर्थात् गौण रूप से कहा गया है। जिस प्रकार कि लोक में भी कहा जाता है कि तुम्हीं मेरी माता हो और तुम्ही मेरे पिता हो। बहन भी तुम्ही हो और भाई भी तुम्ही हो। और कुछ मन्त्रों के जो अर्थ नहीं ज्ञात होते हैं। वह मानव का दोष है। बहुत से अर्थावगम के उपाय होने पर भी उसके अन्वेषण में अलस व्यक्ति अर्थबोध नहीं करता है। उसमें मन्त्र का कोई अपराध नहीं है। क्योंकि ब्राह्मण वाक्य की तरह वहाँ उपाय से अर्थ का बोध होता ही है। अर्थावबोध का पहला उपाय है वृद्ध का व्यवहार, लोक और वेद दोनों जगह यतः अर्थ और शब्द तुल्य ही होते हैं। जो ही शब्द लौकिक होते हैं वे ही वैदिक भी होते हैं और उनके अर्थ भी दोनों जगह वे ही होते हैं।

यद्यपि वेद में 'अग्णिर्मित्राणि' इस प्रकार 'अग्नि' इस शब्द के अन्दर 'न' को 'ण' पढ़ा जाता है एवं 'उत्ताना वै देवगवा वहन्ति वनस्पते हिरण्यपर्ण प्रदिवस्ते अर्थम्' यहाँ पर वैदिक और लौकिक शब्दों के अर्थों में नानात्व की शङ्का सी की जाती है फिर भी प्रत्यभिज्ञा के द्वारा अवधारण करके कुछ विकार युक्त रूपमें वे ही शब्द वेद में भी गृहीत है अर्थात् पठित होते हैं। यही लौकिकी व्युत्पत्ति होती है अर्थात् लौकिक बोध होता पाया जाता है। लोक प्रसिद्धि के द्वारा विरोध प्राप्त होने पर शास्त्रज्ञों की प्रसिद्धि को प्रमाण माना

यवमयश्चरुर्वाराही उपानहौ वैतसे कटे प्राजापत्या सञ्चिनोतीति यववराहवेतसशब्दा दीर्घशूकसूकरवञ्जुलकेषु शिष्टप्रसिद्धा नियम्यन्ते न प्रियङ्गुकृष्णशकुनिजम्बूष्विति। यत्र तु शिष्टप्रसिद्धिः नास्ति तत्र म्लेच्छेभ्योऽपि तदर्थव्युत्पत्तिराश्रीयते। यथा पिकनेमतामरसशब्देषु। म्लेच्छप्रसिद्धेरप्यभावे निगमनिरुक्तव्याकरणवशेन धातुतोऽर्थः परिकल्पनीयः। तेनाश्विनसूक्तप्रक्रमाज्जरणमरणनिमित्तौ जर्फरी तुर्फरी तू इति द्विवचनान्तसरूपावेतौ शब्दावश्विनोर्वाचकाविति गम्यते। एवमन्यत्राप्युत्प्रेक्षणीयम्। तदनेनापि निमित्तेन न मन्त्राणामविवक्षितार्थत्वं वक्तव्यम्।

अमी तस्मादर्थप्रकटनमुखेनैव दधति
क्रियार्थत्वं मन्त्रा न तु पठनमात्रेण जपवत्।
न तद्द्वारेणापि श्लथयितुमतः शक्यत इदं
प्रमाणत्वं वेदे सकलपुरुषार्थामृतनिधौ।।

[नामधेयप्रामाण्याक्षेपः]

इदमिदानीं परीक्ष्यते, उद्भिदा यजेत, चित्रया यजेत पशुकामः, अग्निहोत्रं

जाता है। जैसे 'यवमयश्चरुः' अर्थात् चरु नामक द्रव्य जौ का बना होना चाहिए। 'वाराही उपानहौ' अर्थात् दोनों जूते सूगर के चमड़े के हों। 'वैतसे कटे प्राजपत्याः सञ्चिनोति' अर्थात् वेत के आसन पर बैठकर प्राजापत्य गण सञ्चयन करते हैं इत्यादि वैदिकवाक्य स्थलों में 'यव' 'वराह' और 'वेतस' ये शब्द दीर्घ शूङ्दार अन्नविशेष, सूगर और वेंत रूप शिष्ट प्रसिद्ध अर्थ में ही नियमित किये जाते हैं। प्रियङ्गु अर्थात् काङ्नी, काला पक्षी और जामुन अर्थ में नहीं नियमित किये जाते हैं, और जहाँ पर शिष्टजनों की प्रसिद्धि अर्थात् प्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग नहीं पाये जाते हैं, वहाँ म्लेच्छजनों की प्रसिद्धि के अनुसार शब्द के अर्थ का बोध निश्चित होता है, जैसे पिक नेम तामरस आदि शब्द के प्रयोग स्थलमें। जहाँ म्लेच्छ जनों की भी प्रसिद्धि का अभाव होता है, वहाँ निगम, निरुक्त और व्याकरण के अनुसार धातु को देखकर अर्थ कल्पनीय होता है। इस लिए आश्विन सूक्त के उपक्रम प्रयुक्त 'जरण' और 'मरण' को निमित्त रखकर 'जर्फरी' और 'तुर्फरी' ये द्विवचनान्त जैसे शब्द 'अश्वि' के वाचक हैं– यह कल्पना की जाती है। इसी प्रकार अन्यत्र भी कल्पना करनी चाहिए। इसलिए एतन्मूलक भी मन्त्रों को अविवक्षितार्थक नहीं कहा जा सकता। इसलिए ये मन्त्र जप के समान पढ़ने मात्र में अर्थात् उच्चारण मात्रमें उपयोग को नहीं प्राप्त करते हैं किन्तु अर्थ के बोधन क्रम से ही क्रियार्थता अर्थात् मुख्यफल के उपायभूत क्रिया की सम्पादकता को प्राप्त करते हैं। इसलिए सभी पुरुषार्थों के लिए अमृत सागर कल्प इस वेद में किसी भी प्रकार से प्रदर्शित प्रश्न प्रामाण्य को शिथिल करने में समर्थ नहीं हो सकता है।

नामधेय के प्रामाण्य पर आक्षेप।

अब यहाँ यह परीक्षा की जा रही है कि 'उद्भिदा यजेत' अर्थात् उद्भित् नामक याग

जुहुयात्स्वर्गकामः, श्येनेनाभिचरन् यजेत, वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेतेति श्रूयते। तत्र किमुद्भिदेति चित्रयेति अग्निहोत्रमिति श्येनेनेति वाजपेयेनेति गुणविधय एते तत्तत्कर्मनामधेयानि वेति। किमनेन परीक्षितेन प्रयोजनम्। उभयत्रापि प्रामाण्यं नोपपद्यते इति। तदर्थमेवेदं परीक्ष्यते यदि तावद्व्रीहिभिर्यजेत दध्ना जुहोतीतिवद् गुणः कश्चिदुद्भिदादिपदैर्विधीयते अनेन द्रव्यविशेषेण यागः कर्त्तव्य इति। सदा भावार्थस्य यज्यादेरन्यतोऽवगतिर्मृग्या। अनवगते भावार्थे गुणविधानस्यानुपपन्नत्वात्। आग्नेयोऽष्टाकपालो भवति अग्निहोत्रं जुहोतीति विध्यन्तरेण भावार्थे चोदिते तत्र व्रीहिभिर्यजेत दध्ना जुहोतीति।

ननु वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेतेत्यनेनैव वाक्येन यागाख्यो भावार्थः चोदयिष्यते, गुणश्च तस्मिन् वाजपेयाख्यो विधास्यते इति को दोषः। कथं न दोषः, अर्थद्वयविधानेन वाक्यभेदप्रसङ्गात्। यागेन स्वाराज्यं कुर्यादित्येकोऽर्थः, वाजपेयेन गुणेन यागं कुर्यादिति

करना चाहिए। 'चित्रया यजेत पशुकामः' अर्थात् पशुफल की इच्छा रखने वाले को चाहिए कि 'चित्रा' नामक याग करे। 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' अर्थात् स्वर्ग फल की कामना करने वाले लोग 'अग्निहोत्र' नामक याग करें। 'श्येनेनाभिचरन् यजेत्' अर्थात् मारण आदि अभिचार कर्म करने वाले लोग 'श्येन' नामक याग करें। तथा 'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत' अर्थात् स्वाराज्य फल का इच्छुक व्यक्ति 'वाजपेय' नामक याग करे इत्यादि, वेद में विधिवाक्य सुने जाते हैं। इस पर यह पूछा जा सकता है कि इस परीक्षा से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? उत्तर यह ज्ञातव्य है कि दोनों पक्षों में प्रामाण्य उपपन्न होगा नहीं, इसीलिए यहाँ परीक्षा उपस्थित की जा रही है। यदि यह कहा जाय कि 'ब्रीहिभिर्यजेत' अर्थात् 'ब्रीहि से याग करना चाहिए' और 'दध्ना जुहोति' अर्थात् दही से हवन करना चाहिए इत्यादि विधिवाक्य स्थल के समान कोई गुण अर्थात् हवनीय द्रव्य 'उद्भित्' आदि शब्दों अर्थात् नामों के द्वारा विहित माना जाता है कि इस द्रव्य के द्वारा याग कर्तव्य है, इस प्रकार अर्थ करने पर भावार्थ अर्थात् कर्त्तव्य क्रियात्मक याग खोजना पड़ेगा। क्योंकि जब तक क्रिया का ही पता नहीं है तब तक गुण का अर्थात् हव्यद्रव्य का विधान उपपन्न नहीं हो सकता है। 'आग्नेयोऽष्टा कपालो भवति' अर्थात् अष्टाकपालनामक याग आग्नेय होता है, फलतः अग्निदेवता के लिए अष्टाकपाल याग करना चाहिए। 'अग्निहोत्रं जुहोति' अर्थात् अग्निहोत्र याग करना चाहिए इस प्रकार वाक्यान्तर के द्वारा कर्तव्य क्रिया की प्राप्ति के अनन्तर ही वहाँ 'ब्रीहिभिर्यजेत' अर्थात् ब्रीही से याग करना चाहिए। 'दध्ना जुहोति' अर्थात् दही से हवन करना चाहिए। इस प्रकार गुण का विधान उपपन्न होता हुआ पाया जाता है।

इस पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या क्षति है, एक ही वाक्य से दोनों ही काम लिये जायेंगे। 'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत' इसी विधिवाक्य से भावभूत याग भी विहित होगा और उस याग में हव्य वाजपेय नामक गुण का भी विधान होगा। दोनों साथ

द्वितीयोऽर्थः। न च सकृदुच्चारितं वाक्यमर्थद्वयविधानाय प्रभवति।

ननु यजेतेति रूपसाम्यादुभयत्रापि संबध्यते। यजेत स्वाराज्यकामो वाजपेयेन चेति तुल्यमस्योभयत्रापि रूपम्। न रूपसाम्यस्यासिद्धत्वात्, स्वाराज्यं प्रति यजिरप्राप्तत्वाद्विधीयते गुणं च प्रति प्राप्तत्वादनूद्यते। अनवगते हि कर्मणि गुणविधानमघटमानमित्यवश्यं गुणविधिपक्षे गुणं प्रति यजिः प्राप्तत्वादुद्देश्यो भवति प्रधानं च। स एव स्वराज्यं प्रति विधेयत्वादुपादेयो गुणश्चेति विरुद्धरूपापत्तेर्न यजिरुभाभ्यां युगपत्संबन्धुमर्हति। यः स्वाराज्यं साधयितुमिच्छेत् स यजेतेत्यन्यद्रूपम्। यद्यजेत तद्वाजपेयेनेत्यन्यद्रूपम्। तस्माद्भावार्थप्राप्तौ प्रमाणान्तरापेक्षणाद् गुणविधिपक्षे तदप्रमाणं वचनम्। अथैष दोषो मा भूदिति नामधेयपक्ष आश्रीयते तदैषामुद्भिदादिपदानां विस्पष्टमेवानर्थक्यम्। यावदेवोक्तं भवति यजेतेति तावदेव वाजपेयेनेति। एवमानार्थक्यादन्यत्राप्यसमाश्वासः।

ही एक ही वाक्य से विहित होंगे। इस में क्या दोष दिखलाया जा सकता है? तो इसका उत्तर यह है कि क्यों नहीं दोष होगा? याग और उसमें प्रयुक्त होने वाले द्रव्य दोनों का विधान एक ही वाक्य से मानने पर वाक्यभेद दोष आपन्न होगा। उक्त विधि वाक्य का एक अर्थ यह होगा कि 'वाजपेययाग कर के स्वाजाज्य फल की सिद्धि की जाय और दूसरा उस वाक्य का अर्थ यह होगा कि 'वाजपेय नामक द्रव्य के हवन द्वारा' वाजपेय याग को सम्पन्न किया जाय। एक वाक्य इस प्रकार दो विधानों के लिए समर्थ नहीं हो सकता है।

इस पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि 'यजेत' इस विधि के स्वरूप में समता के कारण उसे दोनों ओर सम्बद्ध किया जा सकता है कि स्वाराज्य फल चाहने वाला व्यक्ति वाजपेय नामक याग वाजपेय नामक द्रव्य से करे। स्वरूप तो दोनों जगह समान ही 'याग करे' इसका रह जाता है। तो इसका उत्तर यह है कि नहीं, रूप की समानता असिद्ध है। याग स्वाराज्य के प्रति अप्राप्त होने के कारण विहित होता है और गुण के प्रति प्राप्त होने के कारण अनूदित होता है। कर्म के अनवगत होने पर गुण का विधान हो नहीं सकता है, इसलिए गुण के प्रति याग प्राप्त होने के कारण उद्देश्य होता है और प्रधान भी। वही स्वाराज्य के प्रति विधेय होने के कारण उपादेय होता है और गुण भी होगा– यह विरुद्ध रूप की आपत्ति हो पड़ेगी। इसलिए एक ही समय याग दोनों से सम्बद्ध हो नहीं सकता है। 'जो व्यक्ति स्वाराज्य फल की सिद्धि चाहे वह वाजपेय याग करे' यह एक और स्वरूप होता है, तथा 'याग जो करेगा, वह वाजपेय के द्वारा करे' यह एक दूसरा स्वरूप। इसलिए क्रियात्मक भावार्थ की प्राप्ति हो जाने पर प्रमाणान्तर की अपेक्षा होने से गुणविधि के पक्ष में वह अप्रमाण हो उठता है। और यदि यह दोष नहीं प्राप्त हो इसलिए नामधेय पक्ष का आश्रयण कर लिया जाता है तो इन उद्भित् आदि पदों का आनर्थक्य प्राप्त होता है। क्योंकि 'याग' कहने से जो अर्थ प्राप्त होगा 'वाजपेय' कहने पर भी वही अर्थ प्राप्त होगा। इस प्रकार नामधेय पक्ष में विधिवाक्य में अनर्थकता दोष प्राप्त होने पर वेद के रूप में तत्तुल्यता प्रयुक्त समग्र वेद में अनर्थकता की शङ्का से वेद पर अविश्वास हो उठेगा।

[नामधेयप्रामाण्याक्षेपनिरासः]

अत्रोच्यते गुणविधिपक्षे यथा भवानाह तथैव। नामधेयपक्ष एव तु श्रेयानित्यभ्युपगम्यते। तथा हि भावार्थस्य फलं प्रति करणत्वात्तत्सामानाधिकरण्येन तृतीया प्रयुज्यते तत्र वाजपेयेनेति। साध्यश्च भवन् भावार्थः करणभावमनुभवतीति साध्यत्वापेक्षया तत्सामानाधिकरण्येन क्वचिद् द्वितीयापि प्रयुज्यते अग्निहोत्रं जुहोतीति।

ननु गुणवन्नामापि विधातव्यमेवानभिहितस्यानवगमात्। ततश्च गुणविधिपक्षस्पृशो वाक्यभेदादिदोषास्तदवस्था एव। नैतदेवम्, न ह्यस्य कर्मण इदं नाम वेदितव्यमिति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धं वेदो विदधाति। यागेन तु केनचित्प्रवर्त्तमानं नामधेयमवगम्यते एव। उद्भेदनमनेन पशूनां क्रियते इत्युद्भिदिदम्। दधिमधुघृतं धाना उदकं उत्संसृष्टं प्राजापत्यमिति नानाविधविचित्रद्रव्यसाध्यत्वाच्चित्रा सा। अग्नये होत्रमस्मिन्नित्यग्निहोत्रं यथैव श्येनो निपत्यादत्ते एवमनेन द्विषन्तं भ्रातृव्यमादत्ते इत्यर्थवादात् श्येन इव श्येनो यागः। वाजमन्नं

नामधेय के प्रामाण्य पर आक्षेप का निरास।

अब उस आक्षेप पर कहा जा रहा है। गुणविधि के पक्ष में तो आप ने जो कहा है वैसा ही है। नामधेय पक्ष ही श्रेयस्कर है। जैसे कि भावार्थ यतः फल के प्रति करण होता है अतः उसके समानाधिकरण रूप में अर्थात् अभिन्न रूप में तृतीया उक्त होती है वहाँ, 'वाजपेयेन' इस प्रकार भावार्थ साध्य होता हुआ करणभाव का अनुभव करता है। इसलिए साध्यता की अपेक्षा करके कहीं द्वितीया भी प्रयुक्त होती है, यथा 'अग्निहोत्रं जुहोति' अर्थात् अग्निहोत्र याग सिद्ध करना चाहिए। इस पर पूछा यह जाता है यथा गुण के समान नाम भी तो विधातव्य ही होता है। क्योंकि कहे बिना वह भी अनवगत ही रहता है।

और तब गुणविधि पक्ष में आपन्न होने वाले वाक्य भेद आदि दोष तदवस्थ ही होंगे। तो इसका उत्तर है कि नहीं, ऐसा नहीं है। वेद 'इस कर्म का यह नाम है' इस प्रकार नाम का विधान नहीं कर रहा है कि इस प्रकार संज्ञा और संज्ञी का सम्बन्ध ज्ञातव्य है। किन्तु याग से अर्थात् कुछ उपाय कर के प्रकृष्ट रूप में वर्त्तमान नामधेय अर्थात् नाम अवगत हो ही जाता है। पशुओं का उद्भेदन करता है अर्थात् मानों उसे निकाल डालता है, फलतः, यजमान को पशु प्राप्त कराता है इसलिए प्रकृत याग होता है उद्भित् नामवाला। 'दधि मधु धृतं धाना उदकं' इत्यादि के द्वरा चित्र अर्थात् विविध प्रकार के द्रव्यों द्वारा साधनीय होने के कारण इष्टि कहलाती है चित्रा। अग्नि देवता के लिए हवन दिया जाता है, इस याग में, इसलिए यह अग्निहोत्र कहलाता है। जिस प्रकार श्येन दुश्मन पर झपट पड़ता है, उसी प्रकार यह याग भी यजमान के दुश्मन पर झपट पड़ता है। बाझ पक्षी को पोसने वाले शिकारी के समान इस याग के द्वारा अपने पर द्वेष रखने वाले दुश्मन को यजमान भी इस श्येन याग के द्वारा अपने कब्जे में कर डालता है – अर्थात् उसे नष्टकर डालता है, इस अर्थवाद के अनुसार यह श्येन पक्षी के समान है। वाज अर्थात् अन्न इस याग में पीया जाता

पीयतेऽस्मिन्निति वाजपेयो यागः। तस्मात्कर्मनामान्येतानि।

यत्तु नामधेयपक्षे नैरर्थक्यमाशङ्कितं तदपि न चारु। नामापि गुणफलोपलब्धे अर्थवदिति अभियुक्तैः परिहृतत्वात्। एवंनामेदं कर्मेत्यवगम्यते। तत्र गुणो द्रव्यदेवतादिः फलं च तस्य स्वर्गः पश्चादवगम्यते इति। तस्मान्नामधेयपदानामविरुद्धोऽन्वयः। क्वचित्पुनरप्राप्ते भावार्थे सगुणमेव तत्कर्म चोद्यते। यथा आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाऽच्युतो भवति इति। यथा वा एतस्यैव रेवतीषु वारवन्तीयमग्निष्टोमसाम कृत्वा पशुकामो ह्येतेन यजेतेति। अलं शास्त्रान्तरोक्तगहनकथाविस्तरेणेति नास्ति नामधेयद्वारेणापि प्रामाण्याक्षेपः। सर्वप्रकारमेव सिद्धं वेदप्रमाणत्वमिति।

वेदप्रामाण्यसिद्ध्यर्थमित्थमेताः कथाः कृताः।
न तु मीमांसकख्यातिं प्राप्तास्मीत्यभिमानतः।।

[कार्य एवार्थे पदसङ्गतिग्रहः]

नन्वेवं विध्यर्थवादमन्त्रनामधेयानां कार्योपयिकत्वदर्शनात् कार्य एवार्थे वेदः प्रमाणमित्युक्तं स्यात्। ततः किं? सिद्धेऽर्थे तस्य प्रामाण्यं हीयते। ततोऽपि किं भूयान्

है, इसलिए यह याग वाजपेय कहलाता है। इसलिए ये सभी कर्म के नाम हैं। नामधेय पक्ष में जो निरर्थकता की शङ्का उठायी गई है, वह भी सुन्दर अर्थात् सही नहीं है। क्योंकि अभियुक्तों के द्वारा दोष का परिहार इस प्रकार किया गया है कि नाम भी गुण और फल की उपलब्धि के कारण सार्थक होता है। क्योंकि यह कर्म ऐसा है – यह नाम से अवगत होता है। वह द्रव्य और देवता आदि गुण हैं और फल इस याग का स्वर्ग आदि है– यह पीछे समझा जाता है। और कहीं यह परिस्थिति होती है कि भावार्थ अर्थात् क्रिया की अप्राप्ति होने पर गुण सहित ही कर्म विहित होता है – जैसे 'आग्नेयोऽष्टाकपालो' इत्यादि अर्थात् अमावास्या और पूर्णिमा में अग्निदेवता वाला अष्टाकपाल नाम का याग करना चाहिए। अथवा 'एतस्यैव रेवतीषु वारवन्तीयमग्निष्टोमं साम' इत्यादि अर्थात् इसी की रेवती में वारवन्तीय अग्निष्टोम साम करके पशुकाम व्यक्ति यह याग करें। ऐसे स्थलों में गुण सहित याग का विधान होता है। अब यहाँ शास्त्रान्तर में उक्त कठिन कथा का विस्तार उचित नहीं है। इसलिए नामधेय को लेकर भी वेद के प्रामाण्य पर आक्षेप नहीं किया जा सकता है। अतः सब प्रकार से वेद का प्रामाण्य सिद्ध हुआ। वेद में प्रामाण्य की सिद्धि के लिए यहाँ इस प्रकार इतने विचार उपस्थित किये गये हैं। मैं मीमांसक होने की ख्याति प्राप्त कर चुका हूँ इस अभिमान से नहीं।

कार्य अर्थ में ही पद के सम्बन्ध का ज्ञान होता है

इस पर प्रश्न यह उपस्थित किया जाता है कि विधि, अर्थवाद, मन्त्र और नामधेय इन सब का प्रयोग अर्थवाद में ही होता पाया जाता है। इसे दृष्टि में रखते हुए वेद कार्य अर्थ में ही प्रमाण माना जा पायेगा। यदि इस पर यह कहा जाय? तो इससे क्या? तो होगा

भूतार्थाभिधायिग्रन्थराशिरुपेक्षितो भवेत्। सकलस्य च वेदस्य प्रामाण्यं प्रतिष्ठापयितुमेतत्प्रवृत्तं शास्त्रम्। अत्र केचिदाहुः सर्वस्यैव वेदस्य कार्येऽर्थे प्रामाण्यम्। तथा हि गृहीतसम्बन्धः शब्दोऽर्थमवगमयति सम्बन्धग्रहणं चास्य वृद्धव्यवहारात्। वृद्धानां च व्यवहारः पानीयमानय, गां बधान, ग्रामं गच्छेति कार्यप्रतिपादकैरेव शब्दैः प्रवर्त्तते इति, तत्रैव व्युत्पद्यन्ते बालाः। प्रयोजनोद्देशेन हि वृद्धा वाक्यानि प्रयुञ्जते। न च सिद्धार्थाभिधायिना प्रवृत्तिनिवृत्ती अनुपदिशता शब्देन किञ्चित् प्रयोजनमभिनिर्वर्त्तत इति, तस्य न प्रयोगयोग्यत्वम्। अप्रयुज्यमानस्य च न सम्बन्धग्रहणम्। अगृहीतसम्बन्धस्य च न प्रतिपादकत्वम्। अप्रतिपादकस्य च न प्रामाण्यम्। अपि च आख्यातपदोच्चारणमन्तरेण निराकाङ्क्षप्रत्ययानुत्पादादवश्यमाख्यातयुक्तं वाक्यं प्रयोक्तव्यम्। आख्यातपदेन साध्यरूपोऽर्थ उच्यते, नामधेयपदेन च सिद्धः। भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते इति वाक्यस्य साध्यार्थनिष्ठतेति न भूतार्थविषयं

यह कि सिद्ध अर्थ में वद का आप्रामाण्य प्राप्त हो उठेगा। फिर यदि यह पूछा जाय कि उससे भी क्या हो जायेगा? तो उस पर वक्तव्य यह समझना चाहिए कि भूत अर्थात् सिद्ध अर्थ को कहने वाला वेद ग्रन्थराशि उपेक्षित हो उठेगा। और परिस्थिति यह है कि यह शास्त्र समग्र वेद में प्रामाण्य स्थापनार्थ प्रवृत्त है। इस पर कुछ लोग यह कहते हैं कि सारा का सारा वेद कार्य अर्थ में ही प्रमाण है सिद्ध अर्थ में नहीं। ऐसा इसलिए कि गृहीत सम्बन्ध ही शब्द अर्थ को समझाता है। और अर्थ के साथ शब्द का सम्बन्ध समझा जाता है वृद्धजनों के व्यवहार से। और वृद्धों का व्यवहार 'पानी लाओ' 'गाय बांधो' 'गांव जाओ' इत्यादि कर्तव्य के प्रतिपादक शब्दों अर्थात् वाक्यों के द्वारा ही प्रवृत्त होता है, इसलिए बालक गण वहाँ ही व्युत्पत्तिलाभ करते हैं। प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर ही वृद्ध जन वाक्यों का प्रयोग करते हैं। सिद्ध अर्थ के प्रतिपादक शब्द, जो कि प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का उपदेश नहीं देते हैं, उससे कोई भी प्रयोजन निष्पन्न नहीं होता है इसलिए उसमें प्रयोग योग्यता मानी नहीं जा सकती है। जो शब्द प्रयुज्यमान ही नहीं होगा उसके सम्बन्ध का ज्ञान भी नहीं हो सकता है। जिस शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता है वह प्रतिपादक नहीं होता है। और अप्रतिपादक शब्द में प्रामाण्य नहीं हो सकता है। और यह भी कि वाक्य के अन्दर आख्यात पद का उच्चारण न होने पर उसके बिना निराकांक्ष रूप में अर्थात् पूर्ण निश्चय रूप में प्रतीति का उत्पाद नहीं होता है। इसलिए अवश्य ही आख्यात पद युक्त रूप में ही वाक्य का प्रयोग करना होगा। आख्यात पद के द्वारा साध्य ही अर्थ कहा जाता है, और नामधेय पद से सिद्ध अर्थ। भूत और भव्य के समुच्चारण स्थल में भूत पदार्थ अर्थात् सिद्ध पदार्थ भव्य पदार्थ के लिए अर्थात् साध्य क्रिया के लिए उपदिष्ट होता है। इसलिए वाक्यों को साध्य अर्थ निष्ठ अर्थात् साध्य अर्थ परक माना जाता है। अतः भूत अर्थात् सिद्ध अर्थ के सम्बन्ध में, उसे अर्थात् वाक्य को प्रामाण्य नहीं होता है। क्योंकि

तस्य प्रामाण्यम्। अतश्च कार्येऽर्थे शब्दस्य प्रामाण्यम्। यतश्च कार्यरूपोऽर्थः शब्दस्यैव विषय इति। न च शब्दः प्रमाणतां सिद्धेऽर्थे लभते। सिद्धोऽर्थः प्रसिद्धत्वादेव प्रमाणान्तरपरिच्छेदयोग्य इति तत्प्रतिपादने तत्प्रमाणान्तरसव्यपेक्षः शब्दो भवति। ततश्च तद्ग्राहिणः प्रमाणान्तरस्यैव तत्र प्रामाण्यं स्यान्न शब्दस्य। शब्दश्च तदुपस्थापनमात्रनिष्ठ एव स्यात्। तस्माच्छब्दप्रामाण्यमिच्छता कार्य एवार्थे तत्प्रामाण्यमङ्गीकर्त्तव्यमिति।

[अकार्येऽपि पदसङ्गतिग्रहोपपादनम्]

अत्रोच्यते, यद् ब्रूषे कार्य एवार्थे वाक्यस्य व्युत्पत्तिरिति। तदयुक्तम्, एवं हि सिद्धरूपोऽयं तस्यार्थ इति। कथं त्वयोच्यते, न ह्यलब्धव्युत्पत्तेः शब्दादर्थप्रत्ययो युज्यते। अर्थप्रतीतिश्च ततो दृश्यते व्युत्पत्तिश्च तत्र नास्तीति चित्रम्। न च कार्यपरैरेव शब्दैः लोकव्यवहारो वर्त्तमानोपदेशकेभ्योऽपि व्यवहारप्रवृत्तेस्तत्रापि व्युत्पतिर्भवत्येव। अपि चाङ्गुल्यादिना पुरोऽवस्थितमर्थं निर्दिश्य यदा कश्चित्कथयत्यस्येदं नामेति तदा कार्योपदेशमन्तरेणापि भवत्येव व्युत्पत्तिः। अस्माच्छब्दादयमर्थः प्रतिपत्तव्य इति कार्योपदेश

कार्य स्वरूप अर्थ शब्द का ही विषय होता है। वह शब्द सिद्ध अर्थ में ही प्रमाणता को लाभ करता है। सिद्ध अर्थ प्रसिद्ध होने के कारण ही प्रमाणान्तर से परिच्छेद योग्य होता है। इसलिए वह उस अर्थ के प्रतिपादन में प्रमाणान्तर की अपेक्षा करता है। अतः उसके ग्राहक प्रमाणान्तर का प्रामाण्य ही वहाँ अर्थात् उस अर्थ के लिए होगा शब्द का नहीं। शब्द तो केवल उस अर्थ का उपस्थापन करेगा। इसलिए जो लोग यह चाहते हैं कि शब्द प्रमाण बने उनका यह कर्त्तव्य होगा कि वह कार्य अर्थ में शब्द को प्रमाण माने।

अकार्य अर्थात् सिद्ध अर्थ में भी पद के सम्बन्ध का उपपादन

इस पर अब कहा जा रहा है कि – यह जो कह रहे हो कि कार्य अर्थ में ही वाक्य की व्युत्पत्ति है यह – कथन अयुक्त है। सिद्ध भी उसी प्रकार शब्द का अर्थ होता है जिस प्रकार साध्य। यदि यह पूछा जाय कि यह तुम कैसे कहते हो? तो कहना यह है कि अलब्ध व्युत्पत्ति व्यक्ति को शब्द से अर्थ का प्रत्यय नहीं होता है। उसका होना युक्त नहीं कहा जा सकता। अर्थ की प्रतीति सिद्ध शब्द से भी होती पायी जाती है। तब वहाँ व्युत्पत्ति नहीं है अर्थात् सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता है– यह आश्चर्य की बात है। यह सही नहीं कि कार्य परक अर्थात् कार्यमात्र बोधक शब्द से लोक व्यवहार होता है। क्योंकि वर्त्तमान को कहने वाले शब्द से भी व्यवहार होता पाया ही जाता है। इसलिए वहाँ भी व्युत्पत्ति माननी ही होगी। और सामने विद्यमान किसी विषय की ओर अङ्गुली निर्देश कर के जब कोई यह कहता है कि 'इसका यह नाम है' तब क्रिया के उपदेश के बिना भी व्युत्पत्ति होती ही है अर्थात् शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का ग्रह होता ही है कि इस शब्द से यह अर्थ प्रतिपत्तव्य अर्थात् ज्ञातव्य है। वैसा भी उपदेश कार्योपदेश ही होता है– यह नहीं कहा जा सकता है।

एवासौ इति चेत् तादृशानामक्षराणामश्रवणात्। अस्येदं नामेति हि श्रूयते नास्मादयं प्रतिपत्तव्य इति। अस्येदं नामेत्येषामेवाक्षराणामेषोऽर्थ इति चेद् न, अपदार्थस्य वाक्यार्थत्वायोगात्, न चैवं कल्पयितुमपि शक्यते, अस्येदं नामेत्येतावतैव च तत्प्रतिपत्तिसिद्धेः प्रतिपत्तिकर्त्तव्यताभिधानस्य निष्प्रयोजनत्वात्। कार्यपरादपि शब्दाद् व्युत्पत्तिर्भवन्ती न वाक्यार्थमात्रपर्यवसायिनी भवति। किं त्वेकैकपदादावापोद्वाप द्वारकपदार्थपर्यन्ता सा भवति। पदार्थव्युत्पत्तिसंस्कृतमतेश्चाभिनवकविविरचित वर्त्तमानापदेशश्लोकश्रवणेऽपि वाक्यार्थप्रतीतिर्दृश्यत एवेति नाव्युत्पत्तिकृतमप्रामाण्यम्। न चासौ भूतार्थप्रतिपादकशब्दजनिता प्रतीतिर्बाध्यते संदिग्धा वा। तेन प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरकरणकप्रतीतिवत् प्रमाणफलमेव सा भवितुमर्हति।

यत्पुनरभ्यधायि कार्येऽर्थे प्रमाणान्तरनिरपेक्षतया प्रमाणं भवति शब्दः, न सिद्धेऽर्थे प्रमाणान्तरसापेक्षत्वादिति। तदसत्, प्रवर्त्तयितुमेव न शक्नोति इत्यवोचाम, वक्ष्यामश्च वाक्यार्थचिन्तायामपि। प्रमाणान्तरसापेक्षत्वं तस्य प्रत्युत प्रामाण्यमावहति। किं चेदं सापेक्षत्वमिति वक्तव्यम्। किं सिद्धार्थाभिधायिनः शब्दस्योत्पत्तावेव प्रमाणान्तरापेक्षत्वम्

क्योंकि तादृश नामाक्षर तो वहाँ सुना नहीं जाता है। क्योंकि यही तो सुना जाता है कि 'इसका यह नाम है'। 'इससे यह ज्ञातव्य है' इस प्रकार तो नहीं सुना जाता है। इसका यह नाम है इन अक्षरों का भी तो फलितार्थ यही है कि 'इस नाम से यह समझा जाय' यह यदि कहा जाय तो सो नहीं। क्योंकि अपदार्थ अर्थात् पद का अर्थ न होने वाला वाक्यार्थ नहीं हो सकता है। ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती। क्योंकि 'इसका यह नाम है' इतने मात्र से ही संज्ञासंज्ञि सम्बन्ध की प्रतिपत्ति सिद्ध हो जाती है। प्रतिपत्ति की कर्त्तव्यता का अभिधान अतः निष्फल है। कार्य परक शब्द से भी जब व्युत्पत्ति की सिद्धि होती है तो वह वाक्यार्थ मात्र पर्यवसायिनी नहीं होती है। किन्तु एक एक पद से आवापोद्वाप द्वारक पदार्थ पर्यन्त तक पहुचाने वाली वह होती है। पदार्थ की व्युत्पत्ति से संस्कृत अन्तःकरण वाले व्यक्ति को अभिनव कवि के द्वारा रचित वर्तमान परिस्थिति मात्र को बतलाने वाले श्लोक के श्रवण से भी वाक्यार्थ की प्रतीति होती पायी ही जाती है। इसलिए वहाँ के उस वाक्य को अव्युत्पत्ति के कारण अप्रमाण नहीं कहा जा सकता है। भूत मात्र अर्थ को विषय करने वाली वह प्रतीति बाधित नहीं होती है और न सन्देहात्मक होती है। इसलिए प्रत्यक्ष आदि प्रमाणान्तर से होने वाली प्रतीति के समान प्रमाण का फल ही हो सकती है। पुनः यह जो कहा गया है कि शब्द कार्य अर्थ में प्रमाणान्तर निरपेक्ष रूप में प्रमाण होता है किन्तु सिद्ध अर्थ के सम्बन्ध में वह उस प्रकार प्रमाण नहीं होता है । क्योंकि सिद्ध अर्थ में वह प्रमाणान्तर सापेक्ष रूप से प्रमाण होता है। सो ठीक नहीं। वह केवल प्रवृत्त नहीं करा सकता है। इतना ही मैं कह आया हूँ। और वाक्यार्थ विचार के अवसर हम पुनः बतलायेंगे। प्रामाणान्तर सापेक्षता तो प्रत्युत उसमें प्रामाण्य का आधान करती है। और 'प्रामाणान्तर सापेक्षत्व' मे 'सापेक्षत्व' क्या है? यह भी कहना होगा। क्या सिद्ध अर्थ को

उत तद्विषयस्य प्रमाणान्तरपरिच्छेदयोग्यत्वमित्युभयथाऽतिप्रसङ्गः, उत्पत्तौ प्रमाणान्तर सव्यपेक्षतया यद्यप्रामाण्यं वर्ण्यते, हन्त हतमनुमानं तस्योत्पत्तौ प्रत्यक्षादिसापेक्षत्वात्। वर्णितं च तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानमिति। तद्विषयस्य प्रमाणान्तरग्रहणयोग्यतायां तु तदप्रामाण्ये प्रत्यक्षादीनां सर्वेषामप्रामाण्यं प्राप्नोति प्रमाणसंप्लवस्य प्राक् प्रतिपादितत्वात्। अपि च विधियुक्तेष्वपि वैदिकेषु लौकिकेषु वाक्येष्वधीष्व, गां बधान, ग्रामं गच्छेत्येवमादिष्वन्वयव्यतिरेकाभ्यां हिताहितप्राप्तिपरिहारसाधनसामर्थ्यावगमेन प्रवृत्तिसिद्धेः, विनियोगमात्रनिष्ठ एव विधिर्भवति। अप्रवृत्तप्रवर्तनात्मक निरपेक्षनिजव्यापारवैधुर्यात् कार्यपरत्वानुपपत्तेः, अनुवादमात्रं विधिवचनमिति कार्यार्थप्रामाण्यवादिनां सर्वमेव लौकिकं वाक्यमप्रमाणं स्यात्।

ये तु भूतार्थवादिषु प्रवृत्तिनिवृत्तिकारिषु विधिनिषेधौ कल्पयन्ति ते नितरामृजवः। श्रूयमाणोऽपि विधिरनुवादी भवति यत्र तत्रार्थतः कल्प्यते इति किमन्यदेतत्परमार्जवम्। प्रवृत्तौ तु तत्र विधिरप्रयोजक एव अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पुरुषार्थसाधनसामर्थ्यावगमात्

बतलाने वाले शब्द की उत्पत्ति में ही प्रमाणान्तर सापेक्ष होना? या उसके विषय का प्रमाणान्तर के द्वारा परिच्छेद योग्य होना? इन दोनों पक्षों में अतिप्रसङ्ग प्राप्त होता है। उत्पत्ति में प्रमाणान्तर की अपेक्षा बतलाकर यदि प्रतीति में अप्रामाण्य वर्णित होता है तो हाय! नष्ट हुआ अनुमान। क्योंकि उसकी उत्पत्ति में प्रत्यक्ष आदि की अपेक्षा होती है। वर्णन किया गया है कि 'त्रिविधि अनुमान तत्पूर्वक अर्थात् प्रत्यक्ष पूर्वक होता है। यदि उसके विषय की प्रमाणान्तर योग्यता को प्रमाणान्तर सव्यपेक्षता कहा जायेगा और तत्प्रयुक्त प्रतीति को अप्रमाण कहा जायेगा, तो प्रत्यक्ष आदि सब को अप्रामाण्य प्राप्त हो उठेगा। क्योंकि प्रमाण सम्प्लव पहले प्रतिपादित हो चुका है। और यह भी कि विधियुक्त भी लौकिक और वैदिक वाक्यों में जैसे कि 'अधीष्व' अर्थात् अध्ययन करो, गाय बांधो, गाँव जाओ, इत्यादि स्थलों में अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा हित और अहित की प्राप्ति और उसके परिहार के प्रति सामर्थ्य का अवगम होने के कारण प्रवृत्ति की यतः सिद्धि होती है अतः विधि विनियोगमात्र निष्ठ अर्थात् तन्मात्र बोधक होता है। अप्रवृत्त व्यक्ति को प्रवृत्त कराना रूप निरपेक्ष अपने व्यापार से विधुरता के कारण कार्यपरत्व की उपपत्ति नहीं होती। अतः विधि वचन अनुवाद मात्र होकर रह जाता है। अतः कार्यमात्र अर्थ में शब्द को प्रमाण मानने वाले के मत में सभी लौकिक वाक्य अप्रमाण हो उठेंगे।

जो लोग प्रवृत्ति निवृत्ति कारी भूतार्थवाद स्थलों में विधि और निषेध की कल्पना किया करते हैं, वे अत्यन्त सरल हैं। जहाँ पर अर्थात् जब कि श्रूयमाण भी विधि अनुवादी हो जाता है, यह प्राप्त हो रहा है, वहाँ अर्थात् उस स्थल में उसकी फलतः कल्पना की जाती है – ऐसा मानने से अधिक ऋजुता अर्थात् सरलता और क्या हो सकती है? वहाँ प्रवृत्ति में तो विधि अप्रयोजक अर्थात् अकिञ्चित्कर ही होता है। क्योंकि अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा पुरुषार्थ साधनता के अवगम से अथवा प्रवृत्तिशील व्यक्ति पर आप्तता के निर्णय के

पुरुषप्रत्ययाद्वा लोकेषु प्रवृत्तिसिद्धेः। तत्रैतत्स्यात् लौकिकवाक्यानां विवक्षापरत्वान्न कार्यार्थत्वम्।

अपि च पौरुषेयाद्वचनादेवमयं पुरुषो वेदेति भवति प्रत्ययो नैवमर्थप्रतीतिः। वैदिकानि पुनरपौरुषेयतया कार्यपराण्येव वाक्यानीति। एतदपि न पेशलम्, अपौरुषेयस्य वचसः प्रतिक्षिप्तत्वात्। वेदेऽपि कर्तुरीश्वरस्य साधितत्वात्। न च पुरुषवचनमपि विवक्षापरमिति दर्शितम्। तथा हि न विवक्षा वाक्यार्थो देवदत्त गामभ्याज कृष्णां दण्डेनेति पदग्रामे विवक्षावाचिनः पदस्याश्रवणात्। अपदार्थस्य वाक्यार्थत्वानुपपत्तेः। न च विषभक्षणवाक्यस्येव परगृहे भोजननिवृत्तौ पौरुषेयवचसो विवक्षायां तात्पर्यशक्तिरपि प्रभवति। न हि सर्वात्मनाभिधात्रीं शक्तिमवधीर्येव तात्पर्यशक्तिः प्रसरतीति न विवक्षापरत्वम्। कथं तर्हि पुरुषवचनादुच्चारितात् विवक्षावगम इति चेद् अनुमानादिति ब्रूमः। कार्यत्वात्पदरचनायाः पुरुषेच्छापूर्वकत्वमनुमीयते। अर्थावगमपुरःसरं च पुरुषवचनाद्विवक्षानुमानमेवमयं वेद एवमयं विवक्षतीति अर्थोपरागरहितस्य विवक्षामात्रस्य जीवतां निसर्गत एव सिद्धेः। अयमर्थो विवक्षित इत्यर्थोपरज्यमाना तु विवक्षा न

कारण लोक प्रवृत्ति की सिद्धि देखी जाती है। अतः वहाँ यह होगा कि लौकिक वाक्य विवक्षा पर होते हैं, अतः कार्यार्थता नहीं हो सकती है। और पौरुषेय वाक्य से अर्थात् उसे सुनकर 'यह व्यक्ति ऐसा समझता है, ऐसा श्रोता को बोध होता है, वह अर्थ प्रतीति नहीं होती है। वैदिक वाक्य फिर अपौरुषेय होने के कारण कार्य परक अर्थात् कार्य अर्थ के बोधक होते हैं – यह कहना भी पेशल अर्थात् सुन्दर नहीं है। क्योंकि वाक्य सभी पौरुषेय होते हैं, उसकी अपौरुषेयता खण्डित हो चुकी है। यतः वेद के भी कर्त्ता ईश्वर सिद्ध किये जा चुके हैं। पुरुष वचन भी विवक्षा पर होता नहीं– यह दिखलाया जा चुका है। इसे यों समझा जाय कि वाक्य का अर्थ विवक्षा नहीं है। क्योंकि 'देवदत्त! तुम उस काली गाय को डंडे के सहारे ले आओ' इस पद समुदाय के अन्दर कोई विवक्षा का वाचक पद नहीं सुना जाता है। और जो पद का अर्थ नहीं है, उसमें वाक्यार्थता नहीं उपपन्न हो सकती है।

'विष खाओ' इत्यादि वाक्य स्थल के समान पौरुषय वाक्य का 'शत्रु के घर में नहीं खाना चाहिए' इत्यादि किसी भी अर्थ को समझने के लिए अपेक्षित विवक्षा को समझाने वाली तात्पर्य शक्ति ही प्रसार पा सकती है। इसलिए वाक्यों को विवक्षा बोधक नहीं कहा जा सकता है। इस पर प्रश्न यह उपस्थापित हो सकता है कि तब लोगों के द्वारा वचन का उच्चारण किये जाने पर विवक्षा का अवगम अर्थात् बोध कैसे होता है? तो इसका उत्तर यह हम लोग कह रहे हैं कि अनुमान से विवक्षा का बोध होता है। पदों की रचनाएं नियमित रूप में वक्ता की इच्छा के अनन्तर ही होती हैं, यह अनुमान किया जाता है। 'ये यह जानते हैं' 'ये यह कहना चाहते हैं' इस प्रकार वाक्यार्थ बोध पूर्वक वक्ता के वाक्य से विवक्षा का अनुमान होता है। अर्थ के सम्बन्ध से रहित केवल विवक्षा का तो जीवित व्यक्ति में स्वभाववश ही सिद्धि हो जाती है। 'यह अर्थ विवक्षित है' इस प्रकार अर्थ से

शक्यार्थेऽनवगतेऽवगन्तुम्। अर्थश्चेत्प्रथममवगतो वाक्यान्न तर्हि तद्विवक्षापरम्। अर्थपरमेव भवितुमर्हति। लोकवाक्यानां विवक्षापरत्वे बाह्येऽर्थे सम्बन्धग्रहणासम्भावाद्वेदादपि वाक्यार्थावगमो न स्यादित्यलं प्रसङ्गेन। तस्मान्न कार्यपरत्वेनैव शब्दस्य प्रामाण्यम्।

यत्पुनरभाणि नाख्यातशून्यं वाक्यं प्रयोगार्हं, तेन विना नैराकाङ्क्ष्यानुपपत्तेः। आख्यातस्य च भव्यरूपोऽर्थो न नाम्नामिव भूतो भूतभव्यसमुच्चारणे च भूतं भव्यायोपदिश्यते इति सर्वत्र कार्यपरत्वम्। तदपि न सांप्रतम्, पुत्रस्ते जातः कन्या ते गर्भिणीति सुखदुःखकारिणामनुपदिष्टप्रवृत्तिनिवृत्तिकानामनाख्यातानामपि वाक्यानां लोके प्राचुर्येण प्रयुज्यमानत्वात्।

अथ सुखी भव दुःखी भवेति तत्र कार्यपरत्वं व्याख्यायते। तदपि न युक्तम्, ईदृशानामक्षराणामश्रवणात्। कल्पनायाश्च निष्फलत्वात्। न हि भवेत्युपदेशादसौ सुखी भवति सुखी भवितुं वा क्वचित्प्रवर्तते। उपाये पूर्वमेव प्रवृत्तत्वात्। उपेये च प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। किं तु पुत्रजन्मश्रवणत एवासौ सुखीभवति तथा कस्यचिदुत्तरीयावगुण्ठिततनोर्निद्रायमाणस्य

सम्बद्ध विवक्षा तो जब तक अर्थ का अवगम न हो जाय तब तक समझी नहीं जा सकती है। और इसके अनुसार अर्थ यदि पहले ही हो जाय तो वाक्य को विवक्षा परक अर्थात् विवक्षा अर्थक नहीं कहा जा सकता है। वाक्य को अर्थ परके अर्थात् अर्थ बोधक ही मानना होगा। वाक्य अर्थ बोधक ही होगा। लौकिक वाक्यों को विवक्षा परक मानने पर लोक बाह्य अर्थ में सम्बन्ध का ज्ञान सम्भव न होने के कारण वेद आदि स्थल में भी वाक्यार्थ का बोध नहीं हो पायेगा। अब अधिक विचार व्यर्थ है। इसलिए शब्द को कार्य परक मानने पर ही प्रमाण नहीं कहा जा सकता।

यह जो कहा गया है कि आख्यात प्रत्यय रहित वाक्य प्रयोगार्ह नहीं होता है। क्योंकि आख्यात पद के बिना आकांक्षा की पूर्ति उपपन्न नहीं होती। आख्यात का भव्य अर्थात् कार्य स्वरूप नामों के अर्थों के समान भूत अर्थात् सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि भूत और भव्य के समुच्चारण स्थल में भूत अर्थात् सिद्ध अर्थ भव्य के लिए अर्थात् कार्य अर्थ को समझाने के लिए ही उपदिष्ट होता है। इसलिए सर्वत्र वाक्य की कार्य परता ही माननी होगी। तो वह भी उचित नहीं है। क्योंकि 'तेरे घर पुत्र उत्पन्न हुआ है, और अविवाहित कन्या गर्भिणी हो गयी है' इत्यादि सुखद एवं दुःखद, प्रवृत्ति और निवृत्ति के उपदेश से रहित आख्यात पद से शून्य वाक्यों का भी प्रयोग लोक में प्रचुर रूप में होता हुआ पाया ही जाता है। इस पर यदि यह कहा जाय कि वहाँ 'तुम सुखी होओ' 'तुम दुःखी होओ' इस प्रकार अर्थ अभिप्रेत होने के कारण वाक्य में कार्यपरता अर्थात् कार्य की बोधकता व्याख्यात होती है, तो यह कथन भी युक्ति युक्त नहीं है। क्योंकि वैसे अक्षर तो नहीं सुने जाते हैं। और वैसी कल्पना का कोई फल नहीं है। क्योंकि वह 'होओ' इस प्रकार उपदेश से तो सुखी नहीं होता है। और वैसा सुनकर सुखी होने के लिए प्रवृत्तिशील भी नहीं होता

क्वचित्केनचित्केलिना रज्जुवेष्टितवपुषः केनचित्प्रयुज्यमानं रज्ज्वा वेष्टितोऽसीति वचः श्रवणपथमवतरति। तत्सिद्धार्थबोधकमपि प्रमाणम्। न च तत्र मा भैषीरिति प्रयोगकल्पनाप्रयोजनम्, रज्जुवेष्टनप्रत्ययादेव भयनिवृत्तेः सिद्धत्वात्। तथा च विषम विषधराधिष्ठितोऽयमध्वा निधियुक्तोऽयं भूभाग इति भूतार्थख्यापकं वचो दृश्यते, न च तद प्रमाणम्। न च तत्र मा गास्त्वमनेनाध्वना निधिं गृहाणेति विधिनिषेधपरत्वं युक्तम्, एषां पदानामश्रवणात्।

ननु वक्तुः प्रेक्षापूर्वकारितया निष्प्रयोजनवचनानुच्चारादवश्यं मा गा गृहाणेति कार्याक्षराणि हृदये परिस्फुरन्ति कथंचिदालस्यादिना नोच्चारितानीति। नैतद्युक्तम्, प्रेक्षापूर्वकारित्वादेव वक्तुः यथावस्थितवस्तुस्वरूपमात्रख्यापकवचनोच्चारणमेव युक्तम्। अर्थात्प्रवृत्तिनिवृत्त्योः सिद्धत्वात्। पराभिप्रायस्य चानवस्थित्वेन नियतोपदेशानुपपत्तेः।

है। क्योंकि उपायार्थ तो पहले ही प्रवृत्त हुआ रहता है। और उपेय सुख दुःख आदि में प्रवृत्ति उपपन्न होने वाली नहीं है। किन्तु पुत्र के जन्म को सुनकर ही सम्बोध्य श्रोता सुखी होता है।

इसी प्रकार जहाँ कोई व्यक्ति कपड़े से बदन ढककर यदि सोया रहता है और किसी क्रीड़ाशील व्यक्ति के द्वारा रस्सों से लपेट दिया जाता है तो वह व्यक्ति जागते हुए अपने को हठात् सांप के द्वारा वेष्टित समझते हुए डर के कारण आंख भी नहीं खोल पाता है। उस समय किसी के द्वारा यह कहा जाता है कि 'तुम रस्सी से लपेट दिये गये हो' और वह वाक्य उसके द्वारा सुना जाता है, वह भय रहित हो उठता है।

इसलिए सिद्ध अर्थ को समझाने वाला भी वाक्य प्रमाण होता है। वहाँ पर यह नहीं कल्पना की जा सकती कि 'तुम मत डरो' इस वाक्य की कल्पना वह श्रोता व्यक्ति करता है। उसका कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि उस व्यक्ति को भय की निवृत्ति यही समझकर हो जाती है कि मैं रस्सी से लपेट दिया गया हूँ। तदनुसार ही 'यह मार्ग भयानक सर्पों से भरा है' 'यह स्थान रत्न की खान से युक्त है' इस प्रकार सिद्ध मात्र अर्थ का ख्यापक वाक्य प्रयुक्त होता हुआ पाया जाता है। वह वाक्य अप्रमाण नहीं होता है। और 'तुम इस मार्ग से मत जाओ' 'खान से रत्न निकाल डालो' इस प्रकार वाक्य को जोड़कर उक्त वाक्य को भी विधि निषेध परता अर्थात् विधि निषेध बोधकता होती है – यह कथन भी युक्त नहीं है। क्योंकि उन पदों का वहाँ श्रवण नहीं होता है। इस पर यदि यह कहा जाय कि वक्ता विचार पूर्वक ही कुछ बोलता है। ऐसी परिस्थिति में वाक्य का उच्चारण निष्प्रयोजन न होने के कारण उक्त वाक्यों के प्रयोग स्थलों में 'मत जाओ' 'ग्रहण करो' इत्यादि कार्यता बोधक शब्द अवश्य ही परिस्फुरित होते हैं। हाँ, आलस्यवश उनका उच्चारण भले ही न किया गया हो– तो यह कथन भी युक्त नहीं। क्योंकि वक्ता के विवेकी होने के कारण ही वस्तु स्थिति मात्र के ख्यापक वचन का ही उच्चारण युक्त होगा। प्रवृत्ति और निवृत्ति तो

सर्पबन्धजीविनो हि सपन्नगः पन्था उपादेयतयावभाति वीतरागस्य च ब्रह्मविदो वित्तैषणा व्युत्थितस्य गोविन्दस्वामिन इव निधिरपि हेयतया परिस्फुरतीति कस्मै किमुपदिश्यताम्। वस्तुस्वरूपे तु कथिते यथाहृदयवर्त्तिरागद्वेषानुवर्तनेन कश्चित्तत्र प्रवर्ततां कश्चित्ततो निवर्त्ततामिति भूतार्थकथनमेव लोके प्रेक्षावान् करोति न विधिनिषेधौ प्रयोक्तुमर्हतीति।

येऽपि ब्रुवते सर्वत्र प्रतिपत्तिकर्त्तव्यताविधानमेवादौ वेदितव्यम्। अविधिकस्य वाक्यस्य प्रयोगानर्हत्वादिति तेऽपि न साधु बुध्यन्ते। विदितशब्दार्थसम्बन्धस्य पुंसः शब्दश्रवणे सति प्रतिपत्तेः स्वतः सिद्धत्वेनानुपदेश्यत्वात्। असिद्धायां वा प्रतिपत्तौ प्रतिपत्तिकर्त्तव्यतापि कुतः प्रतीयेत।

ननु कार्यार्थप्रतिपादकं पदमन्तरेण पदान्तराणि संसर्गमेव न भजन्ते कार्याकाङ्क्षानिबन्धत्वात्सम्बन्धस्य, तेन सर्वत्र कार्यपरत्वम्। उच्यते, नैष नियमः कार्य्याकाङ्क्षागर्भ एव सर्वत्र सम्बन्ध इति। वर्त्तमानापदेशकानामपि प्रेक्षापूर्वकारिवाक्या-

फलतः सिद्ध ही हो जायेगी। दूसरों के अभिप्राय व्यवस्थित नहीं होते है, इसलिए नियत भाव से उपदेश उपपन्न होता नहीं है। सांप को पकड़कर ही जीवन चलाने वाले व्यक्ति के लिए सर्प बहुल मार्ग उपादेय रूप में ही अवभात होता है। वित्त की एषणा से रहित बीतराग ब्रह्मज्ञ व्यक्ति के लिए गोविन्द स्वामी के समान रत्न की खान भी त्याज्य रूप में ही पारिस्फुरित होती है। इसलिए किसे क्या उपदेश दिया जाय?

वस्तु स्वरूप के कथन करने पर अपने अपने हृदय की परिस्थिति के अनुसार अर्थात् राग और द्वेष आदि के कारण कोई उससे प्रवृत्त हो जाय, और कोई उससे निवृत्त हो जाय एतदर्थ सिद्ध अर्थ का ही कथन प्रेक्षावान् व्यक्ति करता है। वह विधि या निषेध का प्रयोग नहीं कर सकता है। कुछ लोग जो यह कहते हैं कि सर्वत्र वाक्य प्रयोग स्थल में बोध की कर्तव्यता का विधान ही प्रतिपत्तव्य अर्थात् ज्ञातव्य होता है। क्योंकि विधि रहित वाक्य प्रयोग योग्य होता नहीं है। उनके उत्तर में कहना यह है कि 'वे भी सही नहीं समझते हैं'। क्योंकि जो व्यक्ति पहले शब्द और अर्थ के बीच होने वाले सम्बन्ध को समझ लेता है, उसे ही शब्द सुनने पर प्रतिपत्ति होती है, जो कि स्वतः सिद्ध होती है। अतः उस प्रतिपत्ति को उपदेश्य नहीं ठहराया जा सकता है। यदि प्रतिपत्ति ही असिद्ध हो तो उस प्रतिपत्ति में कर्तव्यता भी कैसे प्रतीत होगी?

इस पर यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि कार्य अर्थ के प्रतिपादक पद के बिना तो अन्य पद समुदाय आप से सम्बन्ध को ही नहीं प्राप्त करते हैं। क्योंकि सम्बन्ध कार्य की आकांक्षा मूलक हुआ करता है। इसलिए सर्वत्र वाक्य प्रयोग स्थल में कार्यपरता मान्य होगी। तो इसके उत्तर में वक्तव्य यह है कि यह कोई नियम नहीं है कि सर्वत्र सम्बन्ध कार्याकांक्षागर्भ ही होता है। क्योंकि वर्तमान को बतलाने वाले भी विवेचकों के वाक्य परस्पर सम्बद्ध अर्थ के प्रतिपादक होते पाये जाते हैं। 'दश दाड़िम हैं' इस प्रकार के वाक्य

नागितरेतरसंसृष्टार्थप्रतीतिजनकत्वदर्शनात्। न हि दशदाडिमादिवाक्यसदृशि वर्तमानापदेशीनि वचांसि न भवन्ति। कार्यनिबन्धने हि सम्बन्धे तद्रहितानामनन्वय एव स्यात्। दर्शितश्चान्वयः पूर्वोदाहृतवाक्यानाम्। अपि च लिङन्तपदयुक्तेऽपि वाक्ये पदान्तरार्थानां परस्परमन्वयो दृश्यते एव। स कथं समर्थयिष्यते, कार्याकाङ्क्षानिबन्धने हि कार्ये सर्वेषामन्वयो न परस्परमिति।

अथ ब्रूयात् सर्वथा कार्यसम्बन्धे प्रथममवगते सति पश्चादरुणैकहायनीन्यायेन वाक्यीयः परस्परान्वयोऽपि सेत्स्यतीति। हन्त तर्हि परस्परान्वये कार्याकाङ्क्षा कारणम्। तर्ह्यरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या सोमं क्रीणातीति द्रव्यगुणयोर्विभक्त्या सोमक्रयं प्रति अङ्गताया युक्तत्वात्प्रथमं क्रयसम्बन्ध एव तयोर्गम्यते यश्च पाश्चात्यः परस्परान्वयस्तत्र कार्यपारतन्त्र्यापादिका विभक्तिरकारणम् सत्यामपि तस्यां शुक्लः पट इति सामानाधिकरण्यप्रयोगेणान्वयसिद्धेः। तस्मात्कार्यैक्यनिबन्धनोऽन्वय इति नियमो य उच्यते सोऽपि कल्पनामात्रप्रभवो न प्रमाणव्यवस्थागम्य इति।

नहीं होते है, ऐसी बात नहीं है। पूर्व कथित वाक्य स्थलों में अन्वय दिखलाया जा चुका है। और यह भी कि लिङन्त युक्त वाक्य स्थल में भी पदार्थान्तरों के बीच पारस्परिक अन्वय देखा ही जाता है। वह कैसे समर्थित हो पायेगा? सम्बन्ध को कार्याकांक्षा निबन्धन मानने पर सब पदार्थों का सम्बन्ध कार्य के साथ अर्थात् क्रिया मात्र के साथ मानना होगा, परस्पर वह नहीं हो पायेगा जैसा कि होता पाया जाता है।

यदि पूर्वपक्षी की ओर से यह कहा जाय कि पहले आवश्यक रूप में कार्य का अर्थात् क्रिया का सम्बन्ध अवगत हो जाने पर पीछे 'अरुणया एक हायन्या' इत्यादि के दृष्टान्त से अर्थात् 'लाल एवं पीली आंख वाली एक साल की बछिया से सोम खरीदना चाहिए, इस विधि वाक्य स्थलीय विचार के अनुसार वाक्य सम्बन्धी पारस्परिक अन्वय भी सिद्ध होगा। तो उस के सम्बन्ध में उत्तर यह है कि हाय तब तो परस्परान्वय में कार्याकांक्षा कारण रूप में मान्य होगी। तब तो 'अरुणया पिङ्गाक्ष्या' इत्यादि वाक्य स्थल में द्रव्य अर्थात् बछिया और गुण लाल रंग आदि वाचक शब्द में श्रूयमाण विभक्ति के आधार पर सोम के क्रयण के प्रति अङ्गता युक्त होने के कारण पहले क्रयण के साथ सम्बन्ध ही उन दोनों का अर्थात् द्रव्य और गुण का अवगत होता है। और पीछे जो होता है परस्पर का अन्वय, उसके प्रति कार्य पारतन्त्र्य की आपादिका विभक्ति कारण नहीं होगी। क्योंकि उसके न होने पर भी 'शुक्ल पट है' इस प्रकार सामानाधिकरण्य रूप में अर्थात् समान विभक्तिक रूप में अन्वय की सिद्धि हो सकती है। इसलिये यह नियम जो कहा जाता है कि कार्यैक्यनिबन्धन अर्थात् क्रियैक्य मूलक अन्वय होता है वह भी उचित नहीं है। क्योंकि वह कथन मनगढ़न्त है प्रामाणिक नहीं, प्रमाण व्यवस्था पर आधारित नहीं है।

यत्तु भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यत इत्ययमपि न सार्वत्रिको नियमः। विपर्ययस्यापि व्रीहीन् प्रोक्षतीत्यादौ दर्शनादलं वा दर्शपूर्णमासप्रकरणनिवेशानुज्झितकार्यमुखप्रेक्षणदैन्येन व्रीहिप्रोक्षणोदाहरणेन।

आत्मा ज्ञातव्य इति तु सिद्धपर एव साध्योपदेशः। नह्यत्र कर्म किञ्चित् साध्यं प्रधानमुपदिश्यतेऽधिकाराश्रवणात्। न च विश्वजिदादिवदधिकारिकल्पना काचिदुपदिश्यते। न च कर्मप्रवृत्तिहेतुत्वमात्मज्ञानस्येति वक्ष्यामः। अर्थवादस्त्वर्थवाद एव नाधिकारिकल्पनाय प्रभवति। तस्मादपहतपाप्मत्वादिगुणयुक्तात्मस्वरूपनिष्ठत्वमेव तत्रावतिष्ठते। तस्मिन्नवगते पुरुषान्तरप्रार्थनादैन्यानुपपत्तेः, स एव ह्युत्तमः पुरुषार्थः। स च सिद्ध एव न साध्यः। यत्नस्तु कृतबुद्धीनामविद्योपरमायैवेति व्याचक्षते।

ज्ञातव्य इति प्रतिपत्तिकर्त्तव्यतापरोऽयं विधिरिति चेन्न, प्रतिपत्तेः प्रमितित्वात् प्रमितेश्च प्रमेयनिष्ठत्वाज्ज्ञातव्य इति कर्मणि च कृत्यप्रत्ययनिर्देशात्कर्मणश्चेप्सिततमत्वात्तत्

यह भी जो कहा जाता है कि भूत और भव्य के समुच्चारण स्थल में भूत भव्य के लिए उपदिष्ट होता है। सो भी सार्वत्रिक नहीं है। क्योंकि 'ब्रीहीन् प्रोक्षति' अर्थात् ब्रीहिका प्रोक्षण करना चाहिए' इत्यादि स्थल में विपरीत भी देखा जाता है। अथवा इस ब्रीहि प्रोक्षण उदाहरण के उपस्थापन की आवश्यकता नहीं है, जहाँ कि दर्शपौर्णमास याग में निवेश प्रयुक्त कार्य के मुख के प्रेक्षण प्रयुक्त दीनता का त्याग नहीं हो पाता है। 'आत्मा ज्ञातव्यः' अर्थात् आत्मा ज्ञातव्य है यहाँ पर तो सिद्ध आत्मा के लिए ही साध्य ज्ञान का उपदेश किया गया पाया जाता है। यहाँ पर कोई भी कर्म प्रधान भाव से साध्य रूप में उपदिष्ट नहीं हो रहा है। क्योंकि अधिकार का श्रवण हो नहीं रहा है। 'विश्वजिता यजेत' अर्थात् विश्वजित् नामक यज्ञ करना चाहिए – यहाँ के समान किसी अधिकारी की कल्पना का भी उपदेश नहीं होता है। आत्मज्ञान को कर्म में प्रवृत्ति के प्रति हेतुता नहीं है – यह हम आगे चलकर कहेंगे। अर्थवाद तो अर्थवाद ही होता है अर्थात् वह क्रिया की ही प्रशंसा या निन्दा करता है। इसलिए वह अधिकारी की कल्पना में समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए वहाँ पर अपहत पाप्मता आदि गुण से युक्त आत्मा में परिनिष्ठित होना ही नहीं अभिप्रेत रह जाता है। क्योंकि उस आत्मा की अवगति हो जाने पर अन्य व्यक्ति के समक्ष याचना प्रयुक्त दैन्य का अवसर नहीं रह जाता है वहीं उत्तम पुरुषार्थ है। वह सिद्ध ही होता है साध्य नहीं। तदर्थ प्रयत्न तो कृतबुद्धिजनों को अविद्या के उपरमार्थ ही कर्त्तव्य होता है – ऐसा विज्ञ जन कहते हैं। 'ज्ञातव्यः' यह विधिवाक्य प्रतिपत्ति की कर्तव्यता को बतलाता है – ऐसा कहा जायेगा तो वह भी नहीं। क्योंकि प्रतिपत्ति है प्रमिति और वह प्रमिति होती है 'प्रमेय निष्ठ' अर्थात् प्रमेय विषयक फलतः विषय का विशेषण। और 'ज्ञातव्यः' यहाँ पर 'कृत्य' प्रत्यय कर्म अर्थ में होता है – यह व्याकरण शास्त्र का आदेश है। और 'ईप्सिततम' अर्थात् अधिक इष्ट ही 'कर्म' होता है। इसलिए कर्म परता ही अवगत होती है।

परत्वमेवावगम्यते। विधिस्त्वत्र प्रसरन् क्व प्रसरेत्। फलं तावद्विधेर्न विषय एव। यथाह भट्टः 'फलांशे भावनायाश्च प्रत्ययो न विधायक' इति। उपायस्तु ज्ञानमेव ज्ञानं च ज्ञेयनिष्ठमित्युक्तम्।

यस्तु यमनियमादि प्रतिपत्तीतिकर्त्तव्यताप्रकारोपदेशः सोऽपि तथाविधात्मरूपाधिगतये सत्यासत्यस्वभावनामरूपप्रपञ्चविलापनद्वारा तत्रोपयुज्यते इति सिद्धतन्त्रमेव साध्यम्।

तिष्ठतु वा यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानात्मज्ञानयोगीतिकर्त्तव्यताविधिः। अन्येऽपि ज्योतिष्टोमादिविधयस्तन्निष्ठा एवेति वेदान्तिनः। साध्यस्य सर्वस्य क्षयित्वेनानुपादेयत्वात् सिद्धस्य ब्रह्मण एवानाद्यविद्यातीतस्यानपायिनः पुरुषार्थत्वात्। स्तोकस्तोकप्रपञ्चविलापनद्वारेणोत्तमाधिकारयोग्यत्वापादनाद् ब्रह्मप्राप्त्यौपयिका एव सर्वविधयः। तथा च मनुः –

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ।।इति।

विधान यहाँ पांव फैलाता हुआ कहाँ फैलेगा? फल तो विधि का विषय होता ही नहीं है। जैसा कि भट्ट ने कहा है कि 'प्रत्यय फलांश में भावना का विधायक नहीं होता है।' प्रकृत में उपाय तो ज्ञान ही है और वह ज्ञेय निष्ठ ही होता है अर्थात् ज्ञातव्य वस्तु का विशेषण ही होता है – यह कहा जा चुका है। यम नियम आदि और प्रतिपत्ति की इतिकर्त्तव्यता के प्रभेद का जो उपदेश दिया गया है, वह भी वहाँ पर सत्यासत्य स्वभाव वाले नाम और रूप के विस्तार के प्रविलापन द्वारा उपयोगी होता है। इसलिए साध्य सिद्ध के ही अधीन हो जाता है। अथवा यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और आत्मसाक्षात्कारात्मक समाधि – इन योगियों की इतिकर्त्तव्यता के विधान की बात रहे अर्थात् उसे छोड दिया जाय। अन्य भी ज्योतिष्टोम आदि का विधान सिद्धवस्तुनिष्ठ ही होते हैं – ऐसा वेदान्ती लोग कहते हैं। क्योंकि उनके मत में सभी साध्य क्षयी होने के कारण उपादेय नहीं हो पाते हैं। केवल अनादि अविद्या को पार कर जाने वाले अपाय रहित अर्थात् सभी विकारों से रहित सिद्ध ब्रह्म ही पुरुषार्थ है। इसलिए सारे विधान धीरे-धीरे प्रपञ्च के प्रविलापन द्वारा उत्तम अधिकार स्वरूप योग्यता का सम्पादन पूर्वक ब्रह्म की प्राप्ति में ही अनुकूल होते हैं। जैसा कि मनु ने कहा है कि 'त्रैविद्य जनों के द्वारा स्वाध्याय व्रत, होम, इज्या तथा पुत्र महायज्ञ एवं यज्ञों को अपना कर अपना देह ब्रह्मज्ञान योग्य बनाया जाता है। इसलिए वेद का प्रामाण्य सिद्ध अर्थ में ही वेदान्तियों ने कहा है। सारे

एवं तत् सिद्धे खलु वेदस्याहुः प्रमाणतामर्थे।
सर्वस्तावद्विषयो बहु वक्तव्यः प्रमाणता तु गिराम्।।
किंतन्त्रता भवति कस्य तयोरितीयं
चर्चा चिराय न महत्युपयुज्यते नः।
सन्तोषवृत्तिमवलम्ब्य वयं हि वेद-
प्रामाण्यमात्रकथनाय गृहीतयत्नाः।।
प्रामाण्यसाधनविधावुपयोगि यच्च
वक्तव्यमत्र तदवादि यथोपयोगम्।
वक्तव्यमिष्टमपि किञ्चिदिहाभिदध्म-
स्तच्छ्रूयतां यदि न धीः परिखिद्यते वः।।

इति श्रीजयन्तभट्टकृतौ न्यायमञ्जर्यां चतुर्थमाह्निकम्

विषय विविध प्रकार से वक्तव्य होते हैं। वहाँ प्रामाण्य वेदवाणी का है। किस को 'किंतन्त्रता' होती है अर्थात् कौन किस शास्त्र को लेकर चलता है – यह चर्चा, जो कि चिरकाल से चलने के कारण बड़ी लम्बी है, हम लोगों के लिए उपयोगी नहीं है। अतः सन्तोष वृत्ति का अवलम्बन करके हम लोग वेद में प्रामाण्य के स्थापनार्थ ही यत्नवान् हैं। प्रामाण्य की सिद्धि में जो वक्तव्य रूपमें उपयोगी है, वह यहाँ उपयोग के अनुरूप कह दिया गया है। यदि आप लोगों का अन्तःकरण सुनते सुनते खिन्न न हो पड़ा हो तो कुछ इष्ट वक्तव्य हम कह रहे हैं, उसे आप लोग सुनें।

जयन्त भट्ट कृत न्यायमञ्जरी का चतुर्थ आह्निक समाप्त।